

प्रकाशक :

सरस्वती पुस्तक भंडार
११२, हाथीखाना, रतनपोल
अहमदाबाद—३८०००१
फोन ५३५६६९२

प्रथम संस्करण १९३९
पुनर्मुद्रण १९९६

मूल्य—₹००

मुद्रक :-

हिमोशु लेज़र सिस्टम
४६, सस्कृत नगर, रोहिणी सेक्टर १४
दिल्ली—११००८५
दूरभाष—७२६२०००, ७८६२१८३

Saraswati Oriental Series No.-8



AKALAṆKAGRANTHATRAYAM

[SVOPAJÑAVIVṚTI-SAHITAM LAGHĪYASTRAYAM,
NYĀYAVINIŚCAYAḤ AND PRAMĀṆASAṅGRAHAḤ]

OF

SRĪ BHATTĀKALAṆKADEVA

EDITED WITH CRITICAL NOTES, VARIANT READINGS,
INTRODUCTION AND INDEXES ETC.

By

NYAYACHARYA PANDIT MAHENDRA KUMAR SHASTRI
JAINA & PRĀCĪNA NYĀYATĪRTHA

PUBLISHED BY

SARASWATI PUSTAK BHANDAR

AHMEDABAD - 380001

Published By:

SARASWATI PUSTAK BHANDAR

112, Hathukhana, Ratanpol

Ahmedabad-380001

Phone • 5356692

First Edition 1939

Reprint 1996

Price • Rs 300

Printed at :

Humanshu Laser System

46, Sanskrit Nagar,

Rohini Sect 14, Delhi 110085

Ph 7262000 / 7862183

समर्पणम्—

१—विभाति सदृक्षवपुर्गणेशप्रसादवर्णी गुरुसदीयः ।
प्रसादतो यस्य निरस्य विभं करोमि निभं सकलेप्सितार्थम् ॥

२—मञ्जुलजैनहितैषीत्याख्यं पत्रं प्रचारयन् प्रथितः ।
पूर्णगवेषणमभितः सञ्चितजैनेतिहासश्च ॥
नाथुरामप्रेमी सन्ततमुत्साहयन्नतिप्रेम्णा ।
न्यायकुमुदसम्पादनलयं चेतो ममाकाशीत् ॥

३—श्रीजैनवाणीप्रणयी मुसद्दीलालः स्वधर्मस्य निपेवकोऽस्ति ।
यस्यानुकम्पाभिरहं चिराय स्याद्वादविद्यालयमाश्रयामि ॥

तेनोदाहृतनाम्नां सतां त्रयाणां करारविन्देषु ।
अमलाकलङ्कशालत्रयं कयादर्प्यते मोदात् ॥

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारेण

ग्रन्थानुक्रम

१ प्रास्ताविक (मुनि जिनविजयजी) १-६

२ प्राक्कथन (पं० सुलालजी) ७-१३

३ सम्पादकीय वक्तव्य १-१०

(सम्पादनभाषा, संस्करण परिचय, संशोधन-
सामग्री, आभारप्रदर्शन)

४ प्रस्तावना (पं० महेन्द्रकुमार) ११-१०६

(१) ग्रन्थकार ११-३२

जन्मभूमि-पितृकुल ११-१३

समय विचार १३-१७

अकलंक के ग्रन्थों की तुलना १७-३२

भर्तृहरि-कुमारिल १७-१८

भर्तृहरि-धर्मकीर्ति १८

कुमारिल-धर्मकीर्ति १८

धर्मकीर्ति का समय २१-२४

भर्तृहरि-अकलंक २४

कुमारिल-अकलंक २४

धर्मकीर्ति-अकलंक २५

प्रज्ञाकरगुप्त-अकलंक २६-२९

कर्णकगोमि-अकलंक २९-३०

धर्मोत्तर-अकलंक २९-३०

शान्तरक्षित-अकलंक ३१-३२

(२) ग्रन्थ ३३-१०६

ब्राह्मस्वरूप परिचय ३३-४२

(ग्रन्थत्रय की अकलंककर्तृकता, नाम का
इतिहास तथा परिचय, रचना शैली)

आन्तरिक विषय परिचय ४३-१०६

प्रमाणनिरूपण ४३-७५

प्रमाणसामान्य ४३

प्रमाणसम्प्लव ४४

ज्ञान का स्वपरसंबन्धनविचार ४५-४७

प्रत्यक्ष ४८-५२

सर्वज्ञत्वविचार ५२-५७

परोक्ष ५७-६५

वाद ६५-६६

जय-पराजय व्यवस्था ६६-६७

जाति ६७

श्रुत ६७-७०

वेदापील्वैयत्वविचार ७०-७२

प्रमाणभाषा ७२

ज्ञानके कारणों का विचार ७२-७४

प्रमाण का फल ७५

प्रमेयनिरूपण ७५-८४

प्रमाण का विषय ७५-७६

ध्रौव्य और सन्तान ७६-७८

विभ्रमवाद संबन्धनादिसादनिरास ७८-८२

भूतचैतन्यवादनिरास - ८२-८४

मयनिरूपण ८५-१००

जैनदृष्टि का आधार और स्थान ८५-९२

नय ९२-९४

नैगमादिनय विवेचन ९४-१००

निरूपणनिरूपण १००-१०१

सप्तमगोनिरूपण १०१-१०६

सप्तमंगी १०१-१०३

सकलादेश-विकलादेश १०३-१०४

संशयादिदूषण १०५-१०६

५ ग्रन्थत्रय का विषयातुक्रम १०७-११६

६ लघीयस्त्रय (मूलग्रन्थ) १-२६

७ न्यायविनिश्चय " २६-६४

८ प्रमाणसंग्रह " ६७-१२७

९ टिप्पण १३१-१८२

लघीयस्त्रय टिप्पण १३१-१५४

न्यायविनिश्चय टिप्पण १५५-१७०

प्रमाणसंग्रह टिप्पण १७१-१८०

टिप्पणपरिशिष्ट १८१-१८२

१० परिशिष्ट १-६०

१ लघीयस्त्रय-कारिकानुक्रम १-२

२ लघीयस्त्रय-भवतरण २

३ न्यायविनिश्चय-कारिकानुक्रम ३-१२

४ प्रमाणसंग्रह-कारिकानुक्रम १३-१४

५ प्रमाणसंग्रह-भवतरण १४

६ लघीयस्त्रयादिग्रन्थत्रयगत दार्शनिक

लाक्षणिक नामसूची १५-५२

७ टिप्पणोपयुक्त ग्रन्थसंकेतविवरण ५३-५७

८ टिप्पणनिर्दिष्ट आचार्यसूची ५७

९ लघीयस्त्रयादिग्रन्थत्रयवाङ्मय

अकलंकोक्त गद्यपद्यसूची ५८-६०

११ शुद्धि-पाठभेद ६०



AKALĀṆKA GRANTHATRAYAM

(SVOPAJÑAVHĀRTI-SAHITAM LAGHĪYASTHAYAM, NYĀYALĪNISĒTHAYAM,
PRAMĀṆASĀNGRAHAŚĒTHAYAM)

OF

ŚRĪ BHATTĀKĀLĀṆKADEVA

EDITED WITH: -CRITICAL NOTES, VARIANT READINGS, INTRODUCTION
AND INDEXES ETC

BY

Nyayacharya Pandit Mahendra Kumar Śāstri

JAINA & JĀṬVĪNA NYĀYASTHITHA, DIRECTOR OF "ŚĀSTRĪYĀCHĀRYĀ" &
NYĀYĀCHĀRYĀ ŚĀSTRĪYĀNĀM ŚĒTHA KĀNHADEVAŚĒTHĀ,
PUNJAB, PERSIA

PRINTED BY

THE SĀNCHĀLAKA-SĪNGHĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

AHMEDABAD CALCUTTA

श्रीमद्भट्टकलङ्कदेवविरचितम्

अकलंकग्रन्थत्रयम्

[स्वोपज्ञविवृतिसहितं लघीयस्त्रयम्, न्यायविनिश्चयः, प्रमाणसंग्रहश्च ।]

[न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारशास्त्रिनिर्मितटिप्पणादिसहितम्]



सम्पादक

न्यायाचार्य परिडित महेन्द्रकुमारशास्त्री जैन-प्राचीनन्यायतीर्थ

सम्पादक—“न्यायकुमुदचन्द्र”

न्यायाध्यापक श्री स्याद्वाद जैन महाविद्यालय, मदेनी, बनारस ।



प्रकाशन कर्ता

संचालक—सिंधी जैन ग्रन्थमाला

अहमदाबाद—कलकत्ता

प्रास्ताविक

सिंधी जैन ग्रन्थमाला के १२ वे मणिके रूपमें पाठको के करकमलमें, आज यह

अकलकग्रन्थत्रय नामक पुस्तक उपस्थित की जा रही है। इस ग्रन्थत्रय के कर्ता भट्ट श्रीअकलकदेव जैनधर्म के दिगम्बर संप्रदाय के एक महान् ज्योतिर्वर आचार्य थे। जैनमतसम्मत खास खास सिद्धान्तों और पदार्थों की प्रमाणपरिष्कृत व्याख्या और तर्कामित प्रतिष्ठा करने में इन आचार्य का शायद सर्वाधिक कर्तृत्व है। आर्हतमत के दार्शनिक विचारों की मौलिक सुश्रुखला के व्यवस्थित सकलन का कार्य मुख्यतया इन तीन आचार्यों ने किया है—१ दिवाकर सिद्धसेन, २ स्वामी समन्तभद्र और ३ भट्ट अकलकदेव। इनमें प्रथम के दो आचार्य आविष्कारक कोटिके हैं और भट्ट अकलक समुच्चापक और प्रसारक कोटिके हैं। सिद्धसेन और समन्तभद्र, इन दोनों में कौन पूर्वकालीन हैं और कौन पश्चात्कालीन इसका अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हो पाया। ज्ञाननयन पंडित सुखलालजी ने सम्मतितर्क आदि की प्रस्तावना में, तथा जैन-इतिहासान्वेषक प० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार ने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक पुस्तक में, इस विषय की यद्यपि खूब ऊहापोहपूर्ण आलोचना और विवेचना की है, तथापि अभी इसमें और भी अधिक प्रमाण और अधिक अन्वेषण की आवश्यकता अपेक्षित है इसमें सन्देह नहीं।

साम्प्रदायिक मान्यतानुसार दिवाकर सिद्धसेन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रभावक पुरुष हैं और स्वामी समन्तभद्र दिगम्बर सम्प्रदाय के। तथापि इन दोनों आचार्यों को दोनों सम्प्रदायों के अनुगामी विद्वानों ने, समान श्रद्धास्पद और समान प्रामाणिक के रूपमें स्वीकृत और उल्लिखित किया है। जिस आदर के साथ सिद्धसेनसूरि की कृतियों श्वेताम्बर साहित्य में प्रतिष्ठित हैं उसी आदर के साथ वे दिगम्बर साहित्य में भी उद्धृत हैं और जो सम्मान दिगम्बर साहित्य में समन्तभद्राचार्य को समर्पित है वही सम्मान श्वेताम्बर साहित्य में भी सुस्रुत है। इन दोनों की कृतियों में, परस्पर संप्रदाय-भेद की कोई विरलेवात्मक व्याख्या सूचन न होकर, समन्वयात्मक व्याख्या ही विशेषतः विवेचित होने से, इन दोनों का स्थान, दोनों संप्रदायों में समान सम्मान की कोटि का पात्र बना हुआ है।

भट्ट अकलकदेव, स्वामी समन्तभद्र के उपरि सिद्धान्तों के उपस्थापक, समर्थक, विवेचक और प्रसारक हैं। जिन मूलभूत तात्त्विक विचारों का और तर्क-सत्रादों का स्वामी समन्तभद्र ने उद्बोधन या आविर्भाव किया उन्हींका भट्ट अकलकदेव ने अनेक तरह से उपबृंहण, विरलेषण, संचयन, समुपस्थापन, संकलन और प्रसारण आदि किया।

इस तरह भट्ट अकलंकदेव ने जैसे समन्तभद्रोपज्ञ आर्हतमतप्रकर्षक पदार्थों का परिस्फोट और विकास किया वैसे ही पुरातन-सिद्धान्त-प्रतिपादित जैन पदार्थों का भी, नई प्रमाण-परिभाषा और तर्कपद्धति से, अर्थोद्घाटन और विचारोद्बोधन किया। जो कार्य श्वेताम्बर संप्रदाय में जिनभद्रगणी, मल्लवादी, गन्वहस्ती और हरिभद्रसूरि ने किया वही कार्य दिगम्बर संप्रदाय में अनेक अंशों में अकेले भट्ट अकलंकदेव ने किया; और वह भी कहीं अधिक सुंदर और उत्तमरूपसे किया। अतएव इस दृष्टि से भट्ट अकलंकदेव जैन-वाङ्मयाकाश के यथार्थ ही एक बहुत बड़े तेजस्वी नक्षत्र थे। यद्यपि संकुचित विचार के दृष्टिकोण से देखने पर वे संप्रदाय से दिगम्बर दिखाई देते हैं और उस संप्रदाय के जीवन के वे प्रबल बलवर्द्धक और प्राणपोषक आचार्य प्रतीत होते हैं; तथापि उदार दृष्टि से उनके जीवनकार्य का सिंहावलोकन करने पर, वे समग्र आर्हतदर्शन के प्रखर प्रतिष्ठापक और प्रचण्ड प्रचारक विदित होते हैं। अतएव समुच्चय जैनसभ के लिये वे परम पूजनीय और परम श्रेष्ठ मानने योग्य युगप्रधान पुरुष हैं।

सिंधी जैन ग्रन्थमाला में, इस प्रकार इनकी कृतियों का यह संगुम्फन, माला के गौरव के सौरभ की समृद्धि का बतानेवाला और ज्ञानमधु-छोलुप चिह्न-भ्रमरगण को अपनी तरफ अधिक आकृष्ट करनेवाला होगा। ग्रन्थमाला के प्रतिष्ठाता श्रीमान् सिंधीजी, यद्यपि संप्रदाय की दृष्टिसे श्वेताम्बर समाज के एक प्रधान अग्रणी और जातिनेता पुरुष हैं; तथापि अपने उच्च संस्कार और उदार स्वभाव के कारण ये साम्प्रदायिक लुब्धता से सर्वथा परे हैं। जैन समाजके व्यापक गौरव का, ये साम्प्रदायिकता के रंगीन ओर विरूपदर्शी चशमे पहन कर उच्चावच अवलोकन नहीं करते। समुच्चय जैन साहित्यगत सुन्दर सुन्दर ग्रन्थरत्नों का, भेदभाव-निरपेक्ष, सुसंस्कृत रीति से समुद्धार करना और तद्द्वारा जगत् में समुच्चय जैन साहित्य का समादर बढ़ाना, यही इस ग्रन्थमाला के स्थापन में इनका आदर्श ध्येय है। इसी ध्येय के अनुसार, श्वेताम्बर साहित्य की संपत्तिरूप समके जानेवाले पूर्व प्रकाशित अन्यान्य ग्रन्थरत्नों के साथ, आज दिगम्बर साहित्य के मणिरूप इन कृतियों का भी सर्वप्रथम प्रकाशन किया जा रहा है। और भविष्य में अन्य भी ऐसे कई दिगम्बराचार्यकृत ग्रन्थरत्न यथासमय प्रकाशित किये जाने की भावना है।

सिंधीजी का यह आदर्श कार्य, जैन समाज के अन्यान्य धनिक जनो के लिये अनुकरणीय है। जहाँ तक हमारा खयाल है, जैन समाज में, अभी तक सिंधी जी के जैसा आदर्श उदारचेता, साहित्यप्रिय और ज्ञानोपासक कोई धनिक सज्जन अग्रसर नहीं हुए, जो इस प्रकार अपने द्रव्य का, अमेदभाव से सदुपयोग करने की इच्छा रखते हों। यद्यपि, श्रीमद् राजचन्द्रजी की प्रेरणा और भावना को लक्ष्यकर, उनके कुछ अनुयायी जनों में यह साम्प्रदायिक भाव शिथिल हुआ नजर आता है और उनके द्वारा संचालित रामचन्द्र ग्रन्थमाला में, जो बहुत वर्षों से बम्बई से प्रकाशित हो रही है—

रवेताम्बर और दिगम्बर दोनों संप्रदायों के कुछ ग्रन्थों का समान रूपसे प्रकाशन किया जाता है, तथापि उस ग्रन्थमाला का ध्येय शुद्ध साहित्यिक न होकर उसका ध्येय धार्मिक है। उसके पीछे जो प्रेरणा है वह एक अंश में असांप्रदायिक होकर भी, दूसरे अंश में बहुत कुछ सांप्रदायिक है। वह श्रीमद् राजचन्द्रजी के एक नये अतएव एक तीसरे ही संप्रदाय का प्रभाव, प्रकाश और प्रचार करने की दृष्टि से प्रकट की जाती है। सिंधी जैन ग्रन्थमाला के पीछे ऐसा कोई सङ्कुचित हेतु नहीं है। इसका हेतु विशुद्ध साहित्य-सेवा और ज्ञानज्योति का प्रसार करना है। जैन धर्म के पूर्वकालीन समर्थ विद्वान् अपने समाज और देश में, ज्ञानज्योति का प्रकाश फैलाने के लिये, यथाशक्ति अनेकानेक विषयों के जो छोटे बड़े अनेकानेक ग्रन्थनिबन्धन रूप दीपकों का निर्माण कर गये हैं, लेकिन देश काल की भिन्न परिस्थिति के कारण, अब वे वैसे क्रियाकारी न हो कर निर्वाणोन्मुखसे बन रहे हैं, उन्हीं ज्ञानदीपकों को, इस नवयुगीन-प्रदर्शित नई सङ्गोष्धनपद्धति से सुपरिमार्जित, सुपरिष्कृत और सुसज्जित कर, समाज और देश के प्रोक्षण में प्रस्थापित करना ही इस ग्रन्थमाला का एक मात्र ध्येय है। समाज और देश इससे तत्तद् विषयों में उदीप्त और उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश प्राप्त करें।

❀

❀

❀

प्रस्तुत ग्रन्थके संपादक और संपादन कार्य के विषय में पंडितवर श्रीसुखलाल जी ने अपने वक्तव्य में यथेष्ट निर्देश कर दिया है। एक तरह से पंडितजी के परामर्श से ही इस ग्रन्थ का संपादन कार्य हुआ है। संपादक पंडित श्रीमहेन्द्रकुमार जी अपने विषय के आचार्य हैं और तदुपरान्त खूब परिश्रमशील और अध्ययनरत अध्यापक हैं। आधुनिक अन्वेषणात्मक और तुलनात्मक दृष्टि से विषयों और पदार्थों का परिशीलन करने में यथेष्ट प्रवीण हैं। दार्शनिक, सांप्रदायिक और वैयक्तिक पूर्वग्रहों का पक्षपात न रख कर तत्त्वविचार करने की शैली के अनुगामी हैं। इससे भविष्य में हमें इनसे जैन साहित्य के गंभीर आलोचन-प्रत्यालोचन की अच्छी आशा है।

❀

ग्रन्थ के उपोद्घातरूप जो विस्तृत निबन्ध राष्ट्रभाषा में लिखा गया है, उसके अवलोकन से, जिज्ञासुओं को ग्रन्थगत हार्द का अच्छी तरह आकलन हो सकेगा, और साथ में बहुत से अन्यान्य तात्त्विक विचारों के मनन और चिन्तन की सामग्री भी इसमें उपलब्ध होगी। ग्रन्थकार मह्द अकलकदेव के समय के बारे में विद्वानों में कुछ मतभेद चला आ रहा है। इस विषय में पंडितजी ने जो कुछ नये विचार और तर्क उपस्थित किये हैं उन पर तज्ज्ञ विद्वान् यथेष्ट ऊहापोह करें। हम इस विषय में अभी अपना कुछ निर्णायक मत देने में असमर्थ हैं। प्रस्तावना के पृ० १४-१५ पर पंडितजी ने नन्दीचूर्ण के कर्तृत्व के विषय में जो शका प्रदर्शित की है—वह हमें संशोधनीय

भालूम देती है। शायद, सबसे पहले हमने ही अपने 'हरिमद्रसूरि का समयनिर्णय' नामक उस पुगने निबन्ध में यह सूचित किया था कि नन्दीचूर्णि के कर्ता जिनदास-गणी महत्तर है और वे ही निशीथचूर्णि और आवश्यकचूर्णि के कर्ता भी हैं। और नन्दीचूर्णि के प्रान्तोल्लेख से यह भी निर्धारित किया था कि—उसकी रचना शक-संवत् ५६८ (वि० स० ७३३) में समाप्त हुई थी। पंडितजी को चूर्णि का रचनाकाल तो मान्य सा लगता है लेकिन कर्ता के विषय में सन्देह है। इसके कर्ता जिनदासगणी ही हैं इसका कोई प्रमाण इन्हे नहीं दिखाई देता। साथ में, माढारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर के जैन केटलॉग से प्रो० H. R. कापडिया का मत भी प्रदर्शित किया है, जिसमें उन्होंने 'नन्दीचूर्णि के कर्ता जिनदास हैं यह प्रघोषमात्र है' ऐसा कहा है। प्रो० कापडिया ने यह प्रघोषमात्र है, ऐसा कथन किस आधार से किया है इसका हमें कोई ज्ञान नहीं है। लेकिन उस केटलॉग में जो नन्दीचूर्णि का प्रान्त पद्य स्वयं प्रोफेसर महाशय ने उद्धृत किया है उसमें तो, इस चूर्णि के कर्ता 'जिनदास गणी महत्तर' है, ऐसा प्रकट विधान किया हुआ मिलता है। यह ठीक है कि नन्दीचूर्णि का यह पद्य गूढ़ है और गूढ़ ही रूप में चूर्णिकार ने अपना नाम निर्देश किया है, जिससे प्रो० कापडिया इस गूढ़ भाव को समझने में असफल हुए हो। इसका विशेष विस्तार न करके हम सिर्फ यहाँ पर इतना ही सूचित कर देना चाहते हैं कि—इस पद्य का जो प्रथम पाद 'निरेणगामेत्त महासहाजिता' ऐसा लिखा हुआ है वह कुछ भ्रष्टा है, इसके बदले 'निरेणगामेत्त महासदाजिता' ऐसा पाठ चाहिए। इस पाद में कुल १२ अक्षर हैं और इन बारह अक्षरों को छोटपसोट कर क्रम में रखने से 'जिनदासगणिणा महत्तरेण' यह वाक्य निकल आता है। निशीथचूर्णि में भी इन्होंने इसी ढँग से अपना और अपने गुरु आदि का नामोल्लेख किया है। इसलिये नन्दीचूर्णि के भी कर्ता वही जिनदास गणी महत्तर है जो निशीथचूर्णि के कर्ता हैं यह निश्चित है।*

* प्रसंगबल, हम यहाँ पर इस नन्दीचूर्णि के रचना समय के विषय में भी कुछ निर्देश कर देना चाहते हैं। जिस तरह पंडित श्री महेन्द्रकुमारजी ने, इसके कर्तृत्व के विषय में शका की है इसी तरह कुछ विद्वान् इसके रचनाकाल के विषय में भी वैसे ही शका करते हैं। जिस तरह प्रो० कापडिया जैसे उक्त पद्य के मर्म को न समझ कर इसके कर्ता के नाम को 'प्रघोषमात्र' कह देने का साहस करते दिखाई देते हैं, वैसे कुछ विद्वान्, इस चूर्णि के प्रान्त में जो रचनाकाल निर्देशक पंक्ति है, उसके उत्तरे भाग को प्रक्षिप्त बतला कर, उसका अपलाप करते दिखाई देते हैं। उनका साहस तो इनसे भी बहुत बढ़ कर है। वे इस पंक्तिगत, उस वाक्याव का अपलाप करके ही नहीं चुप रहते, वे तो अपने छपाये हुए ग्रन्थों से उत्तरे वाक्याव को, स्वेच्छापूर्वक निकाल कर बाहर फेंक देने तक का अधिकार रखते हैं और बिना किसी प्रमाण बतलाए कह देना चाहते हैं कि किसी किसी प्रति में यह पाठ नहीं भी मिलता है और इसलिये यह प्रक्षिप्त है। इत्यादि।

नन्दीचूर्णि की जो प्रति छपाई गई है उसमें ऐसा ही किया गया नजर आ रहा है। इसके

इस सम्बन्ध के जो अन्य विचार हैं उन पर हमने अभी तक कोई विशेष विचार नहीं किया। निरीश्वरचूर्ण में जिस सिद्धिविनिश्चय नामक ग्रन्थ का निर्देश है वह अकलंक-कृत ही है या किसी अन्यकृत है इसका विशेष विचार आवश्यक है। सम्प्रदाय भेद के कारण एकही नामके दो दो ग्रन्थ रचे जाने के उदाहरणों का हमारे साहित्य में अभाव नहीं है। सिद्धपाण्डु, समयसार, नयचक्र, धर्मपरीक्षा आदि ऐसे अनेक समानात्मक ग्रन्थ

छपवानेवाले वे ही मुप्रसिद्ध भागमोक्षारक आचार्यवर्य श्रीसागरानन्द सूरि हैं, जिनकी ज्ञानोभासना के हम मन्त्र्यत्न प्रयासक हैं और जिनका शास्त्रव्यासग जैनसमाज के समग्र सामुदाय में सर्वोत्कृष्ट है। सूरिजी महाराज, हरिभद्रसूरि के उस समयनिर्णय के विरुद्ध हैं जो हमने अपने निबन्ध में निश्चित किया है। उसीके सन्तन्त्र में आपका यह मन्त्र्य है कि नन्दीचूर्ण के रचनासमय का जो निर्देश उसकी प्रान्त पक्षितने किया गया है वह ठीक नहीं है और इसलिये वह प्रक्षिप्त है। किसी ग्रन्थ में किसी पक्षित के प्रक्षिप्त होने की बात कोई आश्चर्यजनक नहीं होती। संकटों प्रथो में संकटों पक्षितया प्रक्षिप्त मिलती हैं। लेकिन यह पक्षित प्रक्षिप्त है या मौलिक है इसका विचार और निर्णय किसी प्रमाण के आधार से ही किया जाता है। बिना आधार के किया जानेवाला कथन विद्वानों को ग्राह्य नहीं हो सकता। अगर हमें किसी ग्रन्थमें की कोई शक्ति, उसकी पुरानी हस्तलिखित पोथियों में, भिन्न भिन्न शब्दोवाली या भाषाशब्दोवाली प्राप्त हो, तो हमें जरूर मानना पड़ेगा कि उस पक्षित की मौलिकता के विषय में कुछ न कुछ शक्यत्व अवश्य है। ऐसे शक्ति स्वको में सत्यान्वेपी विद्वानों का कर्तव्य होता है कि उन पक्षितयो का खूब सत्यतापूर्वक संशोधन और संपादन किया जाय और कहीं की प्रति में कौन पाठ मिलता है और कौन नहीं मिलता इसका प्रामाणिक परिचय दिया जाय। हो सके तो उसकी फोटो-प्रतिकृति भी प्रकट की जाय। ऐसा करनेसे हमारा कथन और मन्त्र्य सत्य का अधिक समर्थन करनेवाला होता है और हमारी प्रामाणिकता बढ़ती है। नन्दीचूर्ण के कर्ता चाहें जिस समय में हुए सिद्ध हो, हमें उसके बारे में यत्किंचित् भी कदाग्रह नहीं है, वैसे ही हरिभद्रसूरि के समय का जो निर्धारण हमने किया है उससे ग्रन्थया ही यदि वह किसी ग्रन्थ प्रामाणिक आधारों पर से सिद्ध हो सकता हो तो हम उसको उसी अण स्वीकार करने को उद्यत हो नहीं हैं, बल्कि उत्सुक भी हैं। हमारे लिये इसमें कोई आग्रह या पूर्वग्रह की बात नहीं है। हमारा आग्रह है प्रामाणिकता का। यदि, सागरानन्दसूरिजी महाराज, नन्दीचूर्ण की ऐसी कोई पुरानी हस्तलिखित प्रति का विश्वसनीय परिचय दें और पता बतायें, कि जिसमें उनको, विवादग्रस्त पक्षित के पाठोत्तर मिले हो या उसका सर्वथा अभाव ही वृष्टिगोचर हुआ हो, तो हम अवश्य उनके अनुग्रहीत होने और हम अपना भ्रम दूर कर नि शक्ति बनेंगे। ग्रन्थया हमारा यह सन्देश कि 'सूरिजी महाराज ने, सामिप्रय, नन्दीचूर्ण के उस उल्लेख को नष्ट कर देने का प्रयत्न किया है और वैसा करके अपने एक महान् पूर्वचार्य की कृति का और उसके साथ ही एक सार्वजनिक ऐतिहासिक तथ्यका अपलाप करने का निम्न अपराध किया है' दूर नहीं होगा। क्योंकि हमने जितनी प्रतियाँ इस ग्रन्थ की जहाँ कहीं बढारों में, देखी हैं उन सबमें, यह पक्षित बराबर छिड़ी हुई मिली है। सासकर, जबसे सागरानन्दसूरिजी की वह मुद्रित प्रति हमारे हाथ में आई तबसे हम इस विषयमें बड़ी सावधानी और बड़ी उत्सुकता के साथ इसका अन्वेषण कर रहे हैं कि कोई एक भी प्रति वैसी मिल जाय जिसमें सूरिजी का मुद्रित किया हुआ पाठभेद हो, जिससे हम अपनी शका की निवृत्ति कर सकें और अपने अन का निवारण कर मिथ्यात्व नष्ट कर सकें। अगर इस वस्तुत्व में हमारी कुछ श्रुद्धता शालूम दे तो साथ में उसे क्षमा की जाने की प्रार्थना है।

हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदायो में मिलते हैं और जिनके कर्ता भिन्न भिन्न हैं। इसी तरह बौद्ध और ब्राह्मण मत के साहित्य में भी ऐसे समनामक कई ग्रन्थ मिलते हैं। केवल ग्रन्थ ही नहीं, कई समनामक विद्वान् भी हमारे भूतकाल के इतिहास में, भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में और भिन्न भिन्न काल में हो चुके हैं, जिनका समयादि निश्चितता ज्ञात न हो सकने के कारण हमारे इतिहास की गुरुस्थिती बड़ी जटिल हो रही है। अगर किसी शास्त्रकार के विषय में कोई समयसूचक निर्देश मिल जाता है तो वह भी ठीक है या नहीं इसकी पूरी मीमांसा की अपेक्षा रखता है। समय सूचक सवत्सर भी, यदि उसके साथ किसी खास विशिष्ट नामका उल्लेख नहीं किया हुआ हो तो, विचारणीय होता है कि वह कौन सवत् है—शक है, विक्रम है, गुप्त है, हर्ष है या वैसा कोई और है। हमारे देश के पुराने लेखों में ऐसे कई संवत्तों का विधान किया हुआ मिलता है जिनका अभी कुछ पता नहीं चला है। जिन संवत्तों का प्रारंभ हम एक तरह से निश्चितता के साथ अमुक काल में हुआ मानते हैं, उनके बारे में भी कितनी ही ऐसी नई नई समस्याएं उपस्थित होती रहती हैं, जो मानी हुई निश्चितता को शकाशील बना देती हैं। इसलिये हमारे इन इतिहास की पहेलियों का ठीक ठीक वास्तविक उत्तर ढूंढ़ निकालना बड़ा कठिन कार्य है। हममें कोई शक नहीं है कि इसके लिये बहुत अन्वेषण, बहुत सशोधन, बहुत परिशीलन, और बहुत आलोचन-प्रत्यालोचन की आवश्यकता है। किसी प्रकार के अभिनिवेश से रहित होकर, केवल सत्य के शुद्ध स्वरूप को जानने की इच्छा से प्रेरित होकर, जो विद्वान् इस मार्ग में प्रवृत्त होते हैं वे ही अपना अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, दूसरे तो भ्रम की भूलभुलैया में आजीवन सटकते रहते हैं और अन्त तक प्रगति के मार्ग से पराङ्मुख बने रहते हैं। न उनको आगे बढ़ने का कोई रास्ता मिलता है और न वे आगे बढ़ सकते हैं। इतिहास और सत्त्वज्ञान विषयक इन जटिल समस्याओं का, निरभिनिवेशता के साथ आलोचन-प्रत्यालोचन करना और तद्द्वारा सम्यग्ज्ञान का, यथाशक्ति प्रकाश और प्रसार करना, यही एक प्रधान नीति, सिंधी जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले ग्रन्थों के संपादनकार्य में रखी गई है। और उसी नीति के आदर्शानुसार ये ग्रन्थरत्न सुयोग्य संपादक विद्वानों द्वारा संपादित और परिष्कृत होकर प्रसिद्ध हो रहे हैं। ग्रन्थमाला के संचालन में, इस प्रकार अपने इन सुहृद् मित्रों का जो हमें सहयोग प्राप्त हो रहा है उसके लिये हम इनके पूर्ण कृतज्ञ हैं।

आवणशकुला पत्रमी }
संवत् १९९६
ब न ई }

जिनविजय

प्राकृत्यन



§ १. प्राकृत्युग और संस्कृत्युग का अन्तर-

जैन परम्परा मे प्राकृत्युग वह है जिसमें एकमात्र प्राकृत भाषाओ मे ही साहित्य रचनेकी प्रवृत्ति थी । संस्कृत्युग वह है जिसमे संस्कृत भाषा मे भी साहित्यनिर्माण की प्रवृत्ति व प्रतिष्ठा स्थिर हुई । प्राकृत्युग के साहित्य को देखने से यह तो स्पष्ट जान पड़ता है कि उस समय भी जैन विद्वान् संस्कृत भाषासे, तथा संस्कृत दार्शनिक साहित्य से परिचित अवश्य थे । फिर भी संस्कृत्युग मे संस्कृत भाषा में ही शास्त्र रचने की ओर झुकाव होने के कारण यह अनिवार्य था कि संस्कृत भाषा, तथा दार्शनिक साहित्य का अनुशीलन अधिक गहरा तथा अधिक व्यापक हो । वाचक उमास्वाति के पहले की संस्कृत-जैन-रचना का हमें स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता । फिर भी सम्व है उनके पहले भी वैसी कोई रचना जैन-साहित्य में हुई हो । कुछ भी हो संस्कृत-जैन-साहित्य नीचे लिखी क्रमिक भूमिकाओ में विकसित तथा पुष्ट हुआ जान पड़ता है ।

१-तत्त्वज्ञान तथा आचार के पदार्थों का सिर्फ आगमिक शैली मे संस्कृत-भाषा में रूपान्तर, जैसे कि तत्त्वार्थभाष्य, प्रशमरति आदि ।

२-उसी शैली के संस्कृत रूपान्तर में कुछ दार्शनिक छाया का प्रवेश, जैसे सर्वार्थसिद्धि ।

३-इने गिने आगमिक पदार्थ (खासकर ज्ञानसम्बन्धी) को लेकर उसपर मुख्यतया तार्किकदृष्टि से अनेकान्तवाद की ही स्थापना, जैसे समन्तमद् और सिद्धसेन की कृतियाँ ।

४-ज्ञान और तत्त्वसम्बन्धी आगमिक पदार्थों का दर्शनान्तरीय प्रमाण शास्त्र की तरह तर्कबद्ध शास्त्रीकरण, तथा दर्शनान्तरीय चिन्तनो का जैन वाङ्मय में अधिकाधिक संगतीकरण, जैसे अकलंक और हरिभद्र आदि की कृतियाँ ।

५-पूजाचार्यों की तथा निजी कृतियों के ऊपर विस्तृत-विस्तृत टीकाएँ लिखना और उनमें दार्शनिक वादो का अधिकाधिक समावेश करना, जैसे विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, अमयदेव, वादिदेव आदि की कृतियाँ ।

६—श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय दोनो प्राचीन कृतियों की व्याख्याओं में तथा निजी मौखिक कृतियों में नव्यन्याय की परिष्कृत शैली का संचार, तथा उसी शैली की अपरिमित कल्पनावृत्तियों के द्वारा पुराने ही जैन-तत्त्वज्ञान तथा आचार सम्बन्धी पदार्थों का अभूत-पूर्व विशदीकरण, जैसे उपाध्याय यशोविजयजी की कृतियों ।

उपर्युक्त प्रकार से जैन-साहित्य का विकास व परिवर्द्धन हुआ है, फिर भी उस प्रबल तर्कयुग में कुछ जैन पदार्थ ऐसे ही रहे हैं जैसे वे प्राकृत तथा आगमिक युग में रहे । उनपर तर्क-शैली या दर्शनान्तरीय चिन्तन का कोई प्रभाव आज तक नहीं पड़ा है । उदाहरणार्थ—सम्पूर्ण कर्मशास्त्र, गुणस्थानविचार, पद्मव्यविचारणा, खासकर लोक तथा जीवविभाग आदि । सरांश यह है कि संस्कृत भाषा की विशेष उपासना, तथा दार्शनिक ग्रन्थों के विशेष परिशीलन के द्वारा जैन आचार्यों ने जैन तत्त्वचिन्तन में जो और जितना विकास किया है, वह सब मुख्यतया ज्ञान और तत्सम्बन्धी नय, अनेकान्त आदि पदार्थों के विषय में ही किया है । दूसरे ग्रन्थों में जो कुछ नयी चर्चा हुई भी है वह बहुत ही थोड़ी है और प्रासंगिक मात्र है । न्याय-वैशेषिक, सांख्य-मीमांसक, बौद्ध आदि दर्शनों के प्रमाणशास्त्रों का अवगाहन जैसे जैसे जैनपरम्परा में बढ़ता गया वैसे वैसे जैन आचार्यों की निजी प्रमाणशास्त्र रचनेकी चिन्ता भी तीव्र होती चली और इसी चिन्ता में से पुरातन पंचविध ज्ञानविभाग की भूमिका के उपर नये प्रमाणशास्त्र का महल खड़ा हुआ ।

३ २. सिद्धसेन और समन्तभद्र—

जैन परम्परा में तर्कयुग की या न्याय-प्रमाण-विचारणा की नींव डालने वाले ये ही दो आचार्य हैं । इनमें से कौन पहले या कौन पीछे है इत्यादि अभी सुनिश्चित नहीं है । फिर भी इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि उक्त दोनो आचार्य ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अनन्तर ही हुए हैं । नये साधनों के आधार पर सिद्धसेन दिवाकर का समय छठी शताब्दी का अन्त भी सम्भवित है । जो कुछ हो पर स्वामी समन्तभद्र के बारे में अनेकविध ऊहापोह के बाद मुझको अब अतिस्पष्ट हो गया है कि—वे ‘पूज्यपाद देवन्दी’ के पूर्व तो हुए ही नहीं । ‘पूज्यपाद के द्वारा स्तुत आस के समर्थन में ही उन्होंने आसमीमांसा लिखी है’ यह बात विद्यानन्द ने आसपरीक्षा तथा अष्टसहस्री में सर्वथा स्पष्टरूप से लिखी है । स्वामी समन्तभद्र की सब कृतियों की भाषा, उनमें प्रतिपादित दर्शनान्तरीय मत, उनकी युक्तियों, उनके निरूपण का ढंग और उनमें विद्यमान विचारविकास, यह सब वस्तु पूज्यपाद के पहले तो जैन परंपरा में न आई है न आने का समझ ही था । जो दिग्भाग, भर्तृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के साथ समन्तभद्र की कृतियों की वाद्यान्तर तुलना करेगा और जैन संस्कृत साहित्य के विकास-क्रम की ओर ध्यान देगा वह मेरा उपर्युक्त विचार बढ़ी सरलता से समझ लेगा ।

अधिक संभव तो यह है कि समन्तमद्र और अकलंक के बीच साक्षात् विद्या का सम्बन्ध हो; क्योंकि समन्तमद्र की कृति के ऊपर सर्वप्रथम अकलंक की ही व्याख्या है। यह हो नहीं सकता कि अनेकान्तदृष्टि को असाधारण रूप से स्पष्ट करनेवाली समन्तमद्र की विविध कृतियों में अतिविस्तार से और आकर्षक रूप से प्रतिपादित सप्तमंगियों को तत्त्वार्थ की व्याख्या में अकलंक तो सर्वथा अपनावे, जब कि पूज्यपाद अपनी व्याख्या में उसे छुएँ तक नहीं। यह भी संभव है कि—शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह-गत पात्रस्वामी शब्द स्वामी समन्तमद्र का ही सूचक हो। कुछ भी हो पर इतना निश्चित है कि श्वेताम्बर परंपरा में सिद्धसेन के बाद तुरन्त जिनमद्रगणि क्षमाश्रमण हुए और दिगम्बर परंपरा में स्वामी समन्तमद्र के बाद तुरन्त ही अकलंक आए।

३. जिनमद्र और अकलंक—

यद्यपि श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परंपरा में संस्कृत की प्रतिष्ठा बढ़ती चली। फिर भी दोनों में एक अन्तर स्पष्ट देखा जाता है, वह यह कि—दिगम्बर परंपरा संस्कृत की ओर झुकने के बाद दार्शनिक क्षेत्र में अपने आचार्यों को केवल संस्कृत में ही लिखने को प्रवृत्त करती है जब कि श्वेताम्बर परंपरा अपने विद्वानों को उसी विषय में प्राकृत रचनाएँ करने को भी प्रवृत्त करती है। यही कारण है कि श्वेताम्बरीय साहित्य में सिद्धसेन से यशोविजयजी तक कहीं दार्शनिक चिन्तनवाली प्राकृत कृतियों भी मिलती हैं। जब कि दिगम्बरीय साहित्य में मात्र संस्कृतनिबद्ध ही वैसी कृतियाँ मिलती हैं। श्वेताम्बर परंपरा का संस्कृत-युग में भी प्राकृत भाषा के साथ जो निकट और गंभीर परिचय रहा है, वह दिगम्बरीय साहित्य में विरल होता गया है। क्षमाश्रमण जिनमद्र ने अपनी प्रधान कृतियाँ प्राकृत में रचीं जो तर्कशैली की होकर भी आगमिक ही हैं। मझराक अकलंक ने अपनी विशाल और अनुपम कृति राजवार्त्तिक संस्कृत में लिखी, जो विशेषावश्यक भाष्य की तरह तर्कशैली की होकर भी आगमिक ही है। परन्तु जिनमद्र की कृतियों में ऐसी कोई स्वतन्त्र संस्कृत कृति नहीं है जैसी अकलंक की है। अकलंक ने आगमिक अन्य राजवार्त्तिक लिखकर दिगम्बर साहित्य में एक प्रकार से विशेषावश्यक के स्थान की पूर्ति तो की, पर उनका ध्यान शीघ्र ही ऐसे प्रश्न पर गया जो जैन-परंपरा के सामने जोरो से उपस्थित था। बौद्ध और ब्राह्मण प्रमाणशास्त्रों की कक्षा में खड़ा रह सके ऐसा न्याय-प्रमाण की समग्र व्यवस्था-वाला कोई जैन प्रमाण-अन्य आवश्यक था। अकलंक, जिनमद्र की तरह पाँच ज्ञान, नव आदि आगमिक वस्तुओं की केवल तार्किक चर्चा करके ही चुप न रहे, उन्होंने उसी पञ्चज्ञान, सप्तनय आदि आगमिक वस्तु का न्याय और प्रमाण-शास्त्ररूप से ऐसा विभाजन किया, ऐसा लक्षण प्रणयन किया, जिससे जैन न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के स्वतन्त्र प्रकरणों की माँग पूरी हुई। उनके सामने वस्तु तो आगमिक थी ही, दृष्टि और तर्क का मार्ग भी सिद्ध-

सेन तथा समन्तभद्र के द्वारा परिष्कृत हुआ ही था, फिर भी प्रबल दर्शनान्तरों के विकसित विचारों के साथ प्राचीन जैन निरूपण का तार्किक शैली में मेल बिठाने का काम जैसा तैसा न था जो कि अकलंक ने किया। यही सबब है कि अकलंक की मौलिक कृतियाँ बहुत ही संक्षिप्त हैं, फिर भी वे इतनी अर्थघन तथा सुविचारित हैं कि आगे के जैन न्याय का वे आधार बन गई हैं।

यह भी संभव है कि महारक अकलंक क्षमाश्रमण जिनभद्रकी महत्त्वपूर्ण कृतियों से परिचित होंगे। प्रत्येक मुद्दे पर अनेकान्त दृष्टि का उपयोग करने की राजवार्तिकगत व्यापक शैली ठीक वैसी ही है जैसी विशेषावरयक भाष्य में प्रत्येक चर्चा में अनेकान्त दृष्टि लागू करने की शैली व्यापक है।

§ ४ अकलंक और हरिभद्र आदि-

तत्त्वार्थभाष्य के वृत्तिकार सिद्धसेन गणि जो गन्धहस्तीरूपसे सुनिश्चित हैं, उनके और याकिनीसूनु हरिभद्र के समकालीनत्व के सम्बन्ध में मैं अपनी समावना तत्त्वार्थ के हिन्दी विवेचन के परिचय में बतला चुका हूँ। हरिभद्र की कृतियों में अभी तक ऐसा कोई उल्लेख नहीं पाया गया जो निर्निवादरूपसे हरिभद्र के द्वारा अकलंक की कृतियों के अवगाहन का सूचक हो। सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति में पाया जानेवाला सिद्धि-बिनिश्चय का उल्लेख अगर अकलंक के सिद्धिविनिश्चय का ही बोधक हो तो यह मानना पड़ेगा कि गन्धहस्ती सिद्धसेन कमसे कम अकलंक के सिद्धिविनिश्चय से तो परिचित थे ही। हरिभद्र और गन्धहस्ती अकलंक की कृतियों से परिचित हो या नहीं फिर भी अधिक समावना इस बातकी है कि अकलङ्क और गन्धहस्ती तथा हरिभद्र ये अपने दीर्घ जीवन में थोड़े समय तक भी समकालीन रहे होंगे। अगर यह समावना ठीक हो तो विक्रम की आठवीं और नववीं शताब्दी का अमुक समय अकलङ्क का जीवन तथा कार्यकाल होना चाहिए।

मेरी धारणा है कि विद्यानन्द और अनन्तवीर्य जो अकलङ्क की कृतियों के सर्व प्रथम व्याख्याकार हैं वे अकलङ्क के साक्षात् विद्याशिष्य नहीं तो अनन्तरवर्ती अवश्य हैं; क्योंकि इनके पहिले अकलङ्क की कृतियों के ऊपर किसी के व्याख्यान का पता नहीं चलता। इस धारणा के अनुसार दोनों व्याख्याकारों का कार्यकाल विक्रम की नववीं शताब्दी का उत्तरार्ध तो अवश्य होना चाहिए, जो अभी तक के उनके ग्रन्थों के आन्तरिक अवलोकन के साथ मेल खाता है।

§ ५ गन्धहस्तिभाष्य

दिगम्बर परम्परा में समन्तभद्र के गन्धहस्ति महाभाष्य होने की चर्चा कभी चल पड़ी

थी। इस बारे में मेरा असंदिग्ध निर्णय यह है कि—तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर या उसकी किसी व्याख्या के ऊपर स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा के अतिरिक्त कुछ भी लिखा ही नहीं है। यह कभी संभव नहीं कि समन्तभद्र की ऐसी विशिष्ट कृति का एक भी उल्लेख या अवतरण अकलक और विद्यानन्द जैसे उनके पदानुवर्ती अपनी कृतियों में बिना किए रह सके। वेशक अकलक का राजवार्तिक गुण और विस्तार की दृष्टिसे ऐसा है जिसे कोई भाष्य ही नहीं महामाष्य भी कह सकता है। श्वेताम्बर परंपरा में गन्धहस्ती की वृत्ति जब गणहस्तिमहामाष्य नाम से प्रसिद्ध हुई तब करीब गन्धहस्ती के ही समानकालीन अकलक की उसी तत्त्वार्थ पर बनी हुई विशिष्ट व्याख्या अगर दिगम्बर परंपरा में गन्धहस्ति-माष्य या गन्धहस्ति महामाष्य रूपसे प्रसिद्ध या व्यवहृत होने लगे तो यह कम दोनो फिरको की साहित्यिक परंपरा के अनुकूल ही है।

परन्तु हम राजवार्तिक के विषय में गन्धहस्ति-महामाष्य विशेषण का उल्लेख कहीं नहीं पाते। तेरहवीं शताब्दी के बाद ऐसा विरल उल्लेख मिलता है जो समन्तभद्र के गन्धहस्तिमाष्य का सूचन करता हो। मेरी दृष्टि में पीछे के ऐसे सब उल्लेख निराधार और किंवदन्तीमूलक हैं। तथा यह ही हो सकता है कि—अगर तत्त्वार्थ-महामाष्य या तत्त्वार्थ-गन्धहस्ति-महामाष्य नाम का दिगम्बर साहित्य में मेल बैठाना हो तो वह अकलक-कीय राजवार्तिक के साथ ही बैठ सकता है।



३६. प्रस्तुत संस्करण—

प्रस्तुत पुस्तक में अकलकीय तीन मौलिक कृतियाँ एक साथ सर्वप्रथम सम्पादित हुई हैं। इन कृतियों के सन्ध में तात्त्विक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से जितना साधन उपलब्ध है उसे विद्वान् सम्पादक ने टिप्पण तथा अनेक उपयोगी परिशिष्टों के द्वारा प्रस्तुत पुस्तक में सन्निविष्ट किया है। जो जैन, बौद्ध और ब्राह्मण, सभी परंपरा के विद्वानों के लिए मात्र उपयोगी ही नहीं बल्कि मार्गदर्शक भी है। वेशक अकलक की प्रस्तुत कृतियाँ अभी तक किसी पाठ्यक्रम में नहीं हैं तथापि उनका महत्त्व और उपयोगिता दूसरी दृष्टि से और भी अधिक है।

अकलकग्रन्थत्रय के सम्पादक पं० महेन्द्रकुमार जी के साथ मेरा परिचय छह साल का है। इतना ही नहीं बल्कि इतने अरसे के दार्शनिक चिन्तन के अखाड़े में हम लोग समशील साधक हैं। इससे मैं पूरा ताटस्थ्य रखकर भी नि संकोच कह सकता हूँ कि—पं० महेन्द्रकुमार जी का विद्याव्यायाम कम से कम जैन परंपरा के लिए तो सत्कारास्पद ही नहीं अनुकरणीय भी है। प्रस्तुत ग्रन्थ का बहुश्रुत सम्पादन उक्त कथन का साक्ष्य है। प्रस्तावना में विद्वान् सम्पादक ने अकलकदेव के समय के बारे में जो विचार प्रकट किया है,

मेरी समझ में अन्य समर्थ प्रमाणों के अभाव में वही विचार आन्तरिक यथार्थ तुलना मूलक होने से सत्य के विशेष निकट है। समयविचार में सम्पादक ने जो सूक्ष्म और विस्तृत तुलना की है वह तत्त्वज्ञान, तथा इतिहास के रसिकों के लिए बहुमूल्य भोजन है। ग्रन्थ के परिचय में सम्पादक ने उन सभी पदार्थों का हिन्दी में वर्णन किया है जो अकलकीय प्रस्तुत ग्रन्थत्रय में ग्रथित हैं। यह वर्णन सम्पादक के जैन और जैनेतर शास्त्रों के आकंठ पान का उद्धार मात्र है। सम्पादक की दृष्टि यह है कि—जो अभ्यासी जैन प्रमाण-शास्त्र में आने वाले पदार्थों को उनके असली रूप में हिन्दी भाषा के द्वारा ही अभ्यस्रम में जानना चाहे उन्हें वह वर्णन उपयोगी हो। पर उसे साधन्त सुन लेने के बाद मेरे ध्यान में तो यह बात आई है कि संस्कृत के द्वारा ही जिन्होंने जैनन्याय-प्रमाण शास्त्र का परिशीलन किया है वैसे जिज्ञासु अध्यापक भी अगर उस वर्णन को पढ़ जायेंगे तो संस्कृत मूलग्रन्थों के द्वारा भी स्पष्ट एवं वास्तविक रूप में अज्ञात, कई प्रमेयों को वे सुज्ञात कर सकेंगे। उदाहरणार्थ कुछ प्रमेयों का निर्देश भी कर देता हूँ—प्रमाणसम्भव, द्रव्य और सन्तान की तुलना आदि। सर्वज्ञत्व भी उनमें से एक है, जिसके बारे में सम्पादक ने ऐसा ऐतिहासिक प्रकाश डाला है जो सभी दार्शनिकों के लिए ज्ञातव्य है। विशेषज्ञों के ध्यान में यह बात बिना आए नहीं रह सकती कि—कम से कम जैनन्याय-प्रमाण के विद्यार्थियों के वास्ते तो सभी जैन संस्थाओं में यह हिन्दी विभाग वाचनीय रूप से अवश्य सिफारिश करने योग्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ उस प्रमाणमीमांसा की एक तरह से पूर्ति ही करता है जो थोड़े ही दिनों पहले सिंधी जैन सिरीज में प्रकाशित हुई है। प्रमाणमीमांसा के हिन्दी टिप्पणों में तथा प्रस्तावना में नहीं आए ऐसे प्रमेयों का भी प्रस्तुत ग्रन्थ के हिन्दी वर्णन में समावेश है, और उसमें आए हुए अनेक पदार्थों का सिर्फ दूसरी भाषा तथा शैली में ही नहीं बल्कि दूसरी दृष्टि, तथा दूसरी सामग्री के साथ समावेश है। अतएव कोई भी जैनतत्त्वज्ञान का एवं न्याय-प्रमाणशास्त्र का गभीर अभ्यासी सिंधी जैन सिरीज के इन दोनों ग्रन्थों से बहुत कुछ जान सकेगा।

प्रसंगवश मैं अपने पूर्व लेख की सुधारणा भी कर लेता हूँ। मैंने अपने पहले लेखों में अनेकान्त की व्याप्ति बतलाते हुए यह भाव सूचित किया है कि—प्रधानतया अनेकान्त तात्त्विक प्रमेयों की ही चर्चा करता है। अलबत्ता उस समय मेरा वह भाव तर्कप्रधान ग्रन्थों को लेकर ही था। पर इसके स्थान में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि—तर्कयुग में अनेकान्त की विचारणा भले ही प्रधानतया तात्त्विक प्रमेयों को लेकर हुई हो फिर भी अनेकान्तदृष्टि का उपयोग तो आचार के प्रदेश में आगमों में उतना ही हुआ है जितना कि तत्त्वज्ञान के प्रदेश में। तर्कयुगीन साहित्य में भी ऐसे अनेक ग्रन्थ बने हैं जिन में प्रधानतया आचार के विषयों को लेकर ही अनेकान्तदृष्टि का उपयोग हुआ है। अतएव समुच्चय रूप से यही कहना चाहिए कि अनेकान्तदृष्टि आचार और विचार के प्रदेश में एकसी लागू की गई है।

सिंधी जैन सिरीज के लिए यह सुयोग ही है कि जिसमें प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य की कृतियों का एक विशिष्ट दिगम्बर विद्वान् के द्वारा ही सम्पादन हुआ है। यह भी एक आकस्मिक सुयोग नहीं है कि दिगम्बराचार्य की अन्यत्र अलभ्य परन्तु श्वेताम्बरीय भायडार से ही प्राप्त ऐसी विरल कृति का प्रकाशन श्वेताम्बर परंपरा के प्रसिद्ध बाबू श्री बहादुर-सिंह जी सिंधी के द्वारा स्थापित और प्रसिद्ध ऐतिहासिक मुनि जिनविजय जी के द्वारा संचालित सिंधी जैन सिरीज में हो रहा है। जब मुझको विद्वान् मुनि श्री पुण्यविजय जी के द्वारा प्रमाणसंग्रह उपलब्ध हुआ तब यह पता न था कि वह अपने दूसरे दो सहोदरो के साथ इतना अधिक सुसज्जित होकर प्रसिद्ध होगा।

हिन्दू विश्वविद्यालय,
काशी
१४-८-१९३९ ई०

—मुखलाल संधवी

[जैनदर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी,
भूतपूर्व जैनवाङ्मयाध्यापक गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद]



येनाशेषकृतर्कविभ्रमतमो निर्मूलमुन्मीलितम् ।
स्फारागाधकृनीतिसार्थसरितो निःशेषतः शोषिताः ॥
स्याद्वादाप्रतिषप्रभूतकिरणैः व्याप्तं जगत् सर्वतः ।
स श्रीमान् अकलङ्कमानुरसमो जीयाञ्जिनेन्द्रः प्रभुः ॥
—प्रभाचन्द्रः

सम्पादकीय वक्तव्य

§ १. सम्पादन गाथा—

सन् १९३५ के अप्रैल माह में मैंने सिद्धिविनिश्चयटीका के पारायण के लिए उसकी एक कापी करना प्रारम्भ किया। उसने कई जगह 'प्रमाणसंग्रह' ग्रन्थ का नाम देखकर अकलङ्कृत प्रमाणसंग्रह के खोज करने की इच्छा हुई। जुलाई १९३५ में मान्यवर पंडित सुखलालजी जब ग्रीष्मावकाश के बाद काशी आए तो मैंने प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ की चर्चा उनसे की। पंडितजी जहां कहीं शास्त्रमण्डार देखने की सुविधा पाते हैं वही सूक्ष्मता से उसका निरीक्षण कर अतिमहत्त्व के ग्रन्थों को अपनी यादी में लिखवा लेते हैं। उन्होंने जब अपनी नोटबुक के पन्ने उलटबाये तो सचमुच पाठन के भंडार के चुने हुये ग्रन्थों में प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ का नाम दर्ज था। अभी यह निश्चितरूप से मालूम नहीं हुआ था कि यह हमारा इष्ट प्रमाणसंग्रह है या अन्य कोई।

पंडितजी ने सहज शास्त्ररसिक श्री मुनि प्रणयविजयजी को पत्र लिखा। उनका यह उत्तर पाकर कि 'उक्त प्रमाणसंग्रह अकलककर्तृक है तथा उसकी कापी मिजबाएँगे' हम लोग आनन्दविभोर हो गये, और मार्च १९३६ में उनके द्वारा मिजबाई गई फलन्मनोरथरूप कापी को पाकर तो सचमुच नाच ही उठे। पंडितजी ने इसकी सूचना और संक्षिप्त परिचय उसी समय 'वीर, जैनदर्शन तथा जैनसिद्धान्तभास्कर' आदि पत्रों में मिजवा दिया था। प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ को २-४ बार बाच जाने पर भी मुझे सन्तोष न हुआ; अतः उसके अक्षरशः वाचननिमित्त मैंने उसकी एक कापी की।

समस्त दर्शनशास्त्रों में भारतीय रूप से अखण्डभद्र पंडितजी ने इस प्रक्रिया के साथ ही साथ अकलङ्क के श्लोपज्ञविनृतियुक्त लघीयलघ्य को जो उस समय उपलब्ध था, एकही संग्रह में प्रकाशित करने की योजना बनाई और उसे सिंधी सीरिज के सम्पादक अपने पंडितरूप समशीलसखा मुनि जिनविजयजी से कही। मुनिजी ने कलाप्रिय बाबू बहादुरसिंहजी सिंधी के सद्बिचारानुसार संचालित और परिपोषित सिंधी सीरिज में इन्हीं प्रकाशित करना स्वीकार करके बाबूजी के साहित्यिक-असाम्प्रदायिकभाव को कार्यरूप में परिणत किया।

पंडित सुखलालजी की योजनाएँ वस्तुतः गहरी अर्थमयी तथा वैज्ञानिक होती हैं। उन्होंने जब तक न्यायकुमुदचन्द्र का कार्य चलता रहा तब तक मुझसे इसकी चर्चा ही नहीं की कि—मुझे इनका सम्पादन करना है। नवम्बर १९३७ में जब न्यायकुमुद का कार्य किनारे आलगा तब एक दिन टहलते समय उन्होंने अपनी चिरपोषित योजना बताई कि—'प्रमाणसंग्रह और लघीयलघ्य के साथ ही साथ न्यायविनिश्चयमूल को भी मिलाकर

‘अकलङ्क ग्रन्थत्रय’ को एक साथ प्रकाशित किया जाय और इनका सम्पादन मैं करूँ।’ मेरा अभी तक यही ख्याल था कि जिस प्रकार जैनतर्कशास्त्र प्रमाणमीमांसा आदि का कार्य हम लोग पंडितजी के सम्पादकत्व में आंशिक भार को उठा कर करते आए हैं उसी तरह प्रमाणसंग्रहादि का कार्य भी इसी संभूयकारिता में ही निष्पन्न होगा। पंडितजी का क्षीणशरीर पर अद्भुत पुष्टमनोगति एवं समुचित व्यवस्थाप्रणाली का ध्यान करके तो मुझे ऐसा लगा कि—पंडितजी क्यों मेरे ही ऊपर यह भार डाल रहे हैं ? क्या अब पंडितजी सचमुच सन्मतिर्तर्क की कार्यसमाप्तिकाल की भांति फिर लम्बा विश्राम करना चाहते हैं ? पर मेरी ये आशंकाएँ प्रमाणमीमांसा के अवशिष्ट कार्य के भार का विचार आते ही विलीन हो गईं। श्रुतः उस समय मीमांसा का कार्य इतना बाकी पड़ा था कि उसके निवटते निवटते ही करीब ११ साल का समय लग गया।

पंडितजी के इस स्नेहल आश्वासन के बीच कि—‘भाई, जिम्मेवारी तुम्हारी है कार्य तो हम लोगों का एक दूसरे की पूर्ण मदद से चलेगा ही’ मैंने इसका सम्पादन भार बड़े उत्साह से ले लिया; क्योंकि उनके साथ ३-४ वर्षों के प्रत्यक्षकार्यानुभव से मैं यह समझता ही था कि—पंडितजी के इतने का कहने अर्थ है—संपादन की रूपरेखा, योजना एवं व्यवस्था के निदर्शन का बौद्धिक भार लेना। इस तरह पूर्ण साधनों तथा आशस्त-वातावरण के बीच इसका सम्पादन चालू किया गया। उसका फलरूप यह संस्करण है।

इस संस्करण में मुद्रित श्लोपश्रवणसहित लघुयल्लय, न्यायविनिश्चय तथा प्रमाण-संग्रह ये तीनों ग्रन्थ सर्वप्रथम ही प्रकाशित हो रहे हैं। सिर्फ इतः पूर्वं लघुयल्लय की मूलकारिकाएँ अभयनन्दि की वृत्ति के साथ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुई हैं।

४ २. संस्करण परिचय—

प्रस्तुत संस्करण में प्रस्तावना के अतिरिक्त तीन स्थूल विभाग हैं—१ मूलग्रन्थ, २ टिप्पण, ३ परिशिष्ट। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

मूलग्रन्थ—मूलग्रन्थों में सर्वप्रथम लघुयल्लय ततः न्यायविनिश्चय फिर प्रमाणसंग्रह का मुद्रण हुआ है। इस क्रम में ग्रन्थों की रचनाकाल के इतिहास का आधार लिया है। रचनाशैली तथा विचारों की प्रौढ़ता का ध्यान से निरीक्षण करने पर मालूम होता है कि प्रस्तुतग्रन्थत्रय में लघुयल्लय ही अकलंकदेव की आबकृति है तथा प्रमाणसंग्रह अन्तिम। लघुयल्लय श्लोपश्रवणसहित मुद्रित कराया है। प्रभाचन्द्राचार्य ने इसके उपर १८ हजार श्लोक प्रमाण ‘न्यायकुसुमचन्द्र’ नाम की बृहत्काय टीका लिखी है। वह इतनी विस्तृत एवं शास्त्रार्थबहुल है कि उसमें से मूल कारिकाओं एवं विवृति को ढूँढ़ निकालना असम्भन्त कठिन है। फिर अभी तो उसके मात्र दो परिच्छेद ही मुद्रित हुए हैं, जिनमें सिर्फ ६ कारिकाओं की ही विवृति आती है। अतः अकलंक के हार्द को जानने के लिए यह आवश्यक हुआ कि इसका अखण्ड रूप से पृथक् मुद्रण हो। इन्हीं ग्रन्थों के शाब्दिक एवं

आर्थिक शिल्पाधार पर ही उत्तरकालीन आचार्यों ने जैनन्याय का महाप्रासाद खड़ा किया है। अकलंकदेव का वाक्यविन्यास एवं प्रतिपादनशैली इतनी दुरुवगाह है कि उसमें न्यायशास्त्र की योग्यभूमिका रखनेवाले लोगो को भी विना आलस्यन के सीधे ही प्रवेश करना वस्तुतः कठिन है। इसीलिए प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र से कारिकाओं के अनेक उत्पानवाक्यो से जुन कर वे उत्पान वाक्य दिए हैं, जिनसे कारिका का सामान्यतः प्रतिपाद्य अर्थ भी भासित हो जाय, और प्रतिपाद्य विषयों का स्थूल वर्गीकरण भी हो जाय।

इसी तरह न्यायविनिश्चय के ऊपर बाहिराजगूरुविरचित २० हजार श्लोक प्रमाण 'न्यायविनिश्चयविवरण' नाम की टीका उपलब्ध है, जो आज तक अमुद्रित है। उसमें न्यायविनिश्चय की कारिकाओं के शाब्दिक तथा आर्थिक दृष्टि से दस दस अर्थ तक किए गए हैं। साधारणतः २।३ अर्थ तो चलते ही हैं। उस लिखितविवरण से विषय-वर्गीकरण को ध्यान में रखकर कारिकार्यस्पर्शी उत्पानवाक्य न्यायविनिश्चय में छोटकार दे दिए हैं। उत्पानवाक्यों के द्वारा विषयावगाहन को सुलभ बनाने के लिए कहीं कहीं एक ही कारिका के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षों के अंशों को पृथक् उत्पान देकर छुपाना पड़ा है। इन उत्पानवाक्यों के विलुप्त अंश को इसलिए सक्षिप्त किया है कि—जिससे व्यर्थका संसार भी न बढ़े और आवश्यक भाग भी न छूटे।

प्रमाणसंग्रह की एक मात्र प्रति पाटन के भंडार में मिली। यह नितान्त अशुद्ध है। इसमें जो कारिकांश गद्यभाग में प्रतीक रूप से शामिल थे, उन्हें पृथक् करके कारिका के रूप में [] इस त्रैकिट में छुपाया है। प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ पर सिद्धि-विनिश्चयटीका के उल्लेखानुसार एक 'प्रमाणसंग्रहालंकार या प्रमाणसंग्रहमाध्य' नाम की टीका का पता तो चलता है; पर वह न जाने किस भंडार में कीटको का भोजन बनकर शास्त्रमर्कों की हास्यास्पद शास्त्रमक्ति का उदाहरण बन अपना जीवन निःशेष कर रही होगी। यद्यपि इसके विषयो का सामान्य विभाजन कर अपनी ओर से उत्पानवाक्य देने का पहिले विचार किया था; पर यह सोचकर कि—'जब लघुयत्न्य और न्याय-विनिश्चयमें प्राचीन टीकाकारों के ही उत्पानवाक्य दिए हैं तब इसमें अपनी ओर से अभी कुछ न लिखकर जैसा का तैसा मूलग्रन्थ ही प्रकाशित करना समुचित होगा' अपनी ओर से उत्पानवाक्य देने की इच्छा को निपयस्सुची में ही सीमित कर दिया और प्रमाण-संग्रह को विना किसी उत्पानवाक्य के मूलमात्र ही छुपाया है।

लघुयत्न्य में आए हुए अवतरणवाक्यों को इटासिक टाइप में " " डबल इनवर्टेड कामा में तथा प्रमाणसंग्रह के अवतरणवाक्यों को चालूटाइप में ही डबल इनवर्टेड कामा में छुपाया है। सब ग्रन्थों में कारिकाओं का टाइप चालू टाइप से बढ़ा रखा है।

टिप्पण्य—टिप्पण्य लिखते समय पहिले तो यह विचार कर लिखना शुरू किया

कि—प्रस्तुतग्रन्थगत खास खास शब्दों पर ऐतिहासिक एवं तात्त्विक विवेचन के साथ ही साथ भावोद्घाटन भी संस्कृत में ही किया जाय । तदनुसार ही लघुयन्त्रयके प्रमाणप्रवेश के प्रथमपरिच्छेद के टिप्पण लिखे मी । पीछे तो एक तरफ से इस कार्य की बहुसमय-साध्यता और विस्तार, तथा दूसरी ओर इने गिने विद्वानों के सिवाय साधारण अभ्यासियों के लिए इसकी अल्पोपयोगिता का विचार करने से यही उचित प्रतीत हुआ कि इस टिप्पणभाग को इतना विस्तृत न किया जाय । अतः मध्यममार्ग निकालकर मुख्यतया निम्नदृष्टियों के अनुसार टिप्पण लिखे हैं—

१—अकलङ्कदेव ने प्रस्तुतग्रन्थों में जिन पूर्ववर्ती और समवर्ती वादों या विचारों की समालोचना की है उन पूर्वपक्षीय विचारों का उन्हीं ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से अवतरण देकर समग्र तथा स्पष्टीकरण ।

२—यदि पूर्वपक्ष के आधारभूत पूर्वकालीन या समकालीन ग्रन्थ उपलब्ध न हो तब भी उन पूर्वपक्षीय विचारों का अन्य उत्तरकालीन ग्रन्थकारों के ग्रन्थों के अवतरण द्वारा भी स्पष्टीकरण ।

३—पूर्वपक्ष के भाव को समानतन्त्रीय ग्रन्थों में आए हुए पूर्वपक्ष के शब्दों द्वारा विशदीकरण । तात्पर्य यह कि—प्रस्तुतग्रन्थगत पूर्वपक्षीय विचारों का पूर्ववर्ती, समवर्ती और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से, तथा अकलङ्कदेवकी तरह उन पूर्वपक्षों का खंडन करने वाले बौद्धादिग्रन्थों से भी अवतरण देकर पूरा पूरा खुलासा करना ।

४—अकलङ्कदेव ने जिन शब्दों या विचारों द्वारा इतरमतों का निरसन किया है उन उत्तरपक्षीय शब्दों और विचारों की पूर्वकालीन, समकालीन तथा उत्तरकालीन ग्रन्थों से शाब्दिक और आर्थिक तुलना ।

५—प्रस्तुत तीनों ग्रन्थों के गद्य-पद्यांश जिन जिन ग्रन्थों में जिस जिस पाठभेद से उद्धृत मिलते हैं, उन ग्रन्थों का स्थलनिर्देश करके उन गद्यपद्यांशोंका पाठभेद के साथ आकलन । जिससे मूलग्रन्थों की पाठशुद्धि का समर्थन हो ।

६—प्रस्तुतग्रन्थगत कारिकाओं की अन्य आचार्यों द्वारा की गई विविध व्याख्याओं का तत्पदग्रन्थों से सञ्चयन ।

७—अकलङ्क के प्रस्तुतग्रन्थत्रयगत विचारों की जिन ग्रन्थों में आलोचना की गई है उन ग्रन्थों के उस आलोचनात्मक भाग का संकलन ।

८—प्रस्तुत ग्रन्थों में आए हुए दर्शनान्तरीय पारिभाषिक शब्दों का प्रामाणिक रूप से भावोद्घाटन ।

९—प्रमाणसंग्रह के टिप्पण लिखते समय यह बात और भी ध्यान में रखी गई है कि—इसकी कारिकाओं या गद्यभाग की अन्य ग्रन्थों में जो भी व्याख्या उपलब्ध हो उसका पूरा संग्रह किया जाय । जिससे इस ग्रन्थ की उत्थानवाक्य न देने की कमी भी यथासंभव पूर्ण हो जाय और असुकरमांग का अर्थ भी स्पष्ट हो जाय ।

इस टिप्पणसंग्रह में मुद्रित दार्शनिकग्रन्थों के सिवाय प्रमाणवार्तिक, प्रमाणवार्तिकालंकार, प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका प्रमाणवार्तिकमनोरथनन्दिनीटीका, हेतुत्रिन्दु, हेतुत्रिन्दुटीका, मोक्षकरीय तर्कभाषा, सिद्धिविनिश्चयटीका से उद्धृत मूल सिद्धिविनिश्चय, नयचक्रवृत्ति आदि असम्प्लिखित तथा ग्रूपपुस्तकों का विशिष्ट उपयोग किया गया है। इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थत्रय की यावत् ऐतिहासिक और तात्त्विक सामग्री के संग्रह करने का समग्र प्रयत्न किया है।

टिप्पण में जिस ग्रन्थ का पाठ दिया गया है उस ग्रन्थ का नाम [] इस त्रेकिट में दिया गया है, शेष द्रष्टव्य ग्रन्थों के नाम त्रेकिट के बाहिर दिए हैं।

परिशिष्ट—इस संस्करण में १ महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट लगाए हैं। इन ग्रन्थों की कारिकाओं के आधे भाग भी अन्य ग्रन्थों में उद्धृत पाए जाते हैं, अतः कारिकाओं के आधे आधे भागों का अनुक्रम बनाया है, जिससे अनुक्रम बनाने का उद्देश सर्वोपयोगी में सफल हो।

१—लघीयलक्ष्य के कारिकार्थ का अकारादिक्रमसे अनुक्रम।

२—लघीयलक्ष्य में आए हुए अवतरणवाक्यों का अनुक्रम।

३—न्यायविनिश्चय के कारिकार्थ का अनुक्रम।

४—प्रमाणसंग्रह के कारिकार्थ का अनुक्रम।

५—प्रमाणसंग्रह के अवतरणवाक्यों की सूची।

६—लघीयलक्ष्यादिग्रन्थत्रय के सभी व्याख्यात्मक और दार्शनिक शब्दों की सूची।

७—टिप्पणसंग्रह में उपयुक्त ग्रन्थों के संकेत का विवरण तथा स्थलनिर्देश।

८—टिप्पणनिर्दिष्ट आचार्यों की सूची।

९—अकलंकदेव के नाम से अन्य ग्रन्थों में उद्धृत उन गद्यपद्यभागों की सूची, जो प्रस्तुतग्रन्थत्रय में नहीं हैं। इसमें उन्हीं गद्यपद्यभागों का संग्रह किया है, जिन्हें ग्रन्थकारों ने अकलंककार्त्तृकरूप से उद्धृत किया है।

प्रस्तावना—इसके दो विभाग किए हैं—गहिला ग्रन्थकार से सम्बन्ध रखता है, तथा दूसरा ग्रन्थों से।

ग्रन्थकार विभाग में अकलंकदेव के समयनिर्णय के लिए उपयोगी नवीन सामग्री का संकलन है। इसमें ग्रन्थों का आन्तरिक परीक्षण कर उन विशिष्ट एवं तथ्य विचारों का चयन है जिनके आधार से विचार करने पर ग्रन्थकार के इतिहास विवेचन में खासी मदद मिलेगी। अभी तक के इस दिशा में हुए प्रयत्न बाह्यनिरीक्षण से अधिक सम्बन्ध रखते हैं।

ग्रन्थविभाग में ग्रन्थों का वास्तव्यरूप, उनका अकलंककार्त्तृत्व, उनके नाम का

इतिहास तथा विस्तृत आन्तरिक विषयपरिचय है। आन्तरिक विषयपरिचय में अकलङ्कदेव के प्रस्तुत ग्रन्थों में आए हुए विचारों का विषयदृष्टि से विवेचन है। यह परिचय प्रस्तुतग्रन्थत्रय के हार्द को समझने में तो सहायक होगा ही पर इससे भी अधिक मदद न्यायशास्त्र की साधारण भूमिकावाले जैनन्याय के प्रवेशार्थियों को देगा। इस विषयपरिचय में प्रस्तुतग्रन्थत्रय का सार तो आ ही गया है, साथ ही साथ बहुत से महत्वपूर्ण विषयों का स्वतन्त्र विवेचन भी है। इससे जैनन्याय के विशिष्ट अभ्यासी भी नवीन विचार-सामग्री पा सकेंगे।

§ ३. संशोधन सामग्री—

लघीयस्त्रय सविवृति—न्यायकुमुदचन्द्र की ईश्वरमंडारवाली प्रति के प्रारम्भ में विवृति के ११ वृत्तिपत्र विद्यमान हैं। सर्वप्रथम इन्हीं पत्रोंके आधार से इसकी टीका न्यायकुमुदचन्द्र से मैनें और मित्रवर पं० कैलाशचन्द्रजी ने विवृति का पूरा सकलन किया था। उन वृत्ति विवृति के पत्रों में करीब ६१ कारिकाओं की ही विवृति थी। इन वृत्ति पत्रों का भी प्रस्तुत संस्करण में उपयोग किया है। इनकी संज्ञा 'ई०' रखी है। इसके पश्चात् मास्टर मोतीलालजी संघी तथा पं० चैनसुखदासजी काव्यतीर्थ की कृपा से जयपुर से एक विवृति की प्रति प्राप्त हुई। यह प्रति प्रायः शुद्ध है। इस प्रति के मिलने से सकलित विवृति को पूर्णता तथा प्रामाणिकता प्राप्त हुई। इस प्रति का 'ज०' संकेत रखा है। इसमें कुल १५ पत्र हैं। एक पत्रमें १३ पंक्तियाँ हैं। एक दो पत्रोंमें १२ तथा ११ पंक्तियाँ भी हैं। पत्र की लम्बाई चौड़ाई "१०½×४½" इंच है। एक पंक्ति में ४१-४२ अक्षर हैं।

न्यायविनिश्चय—न्यायविनिश्चयमूल की कोई प्रति आज तक नहीं मिली। इसका उद्धार न्यायविनिश्चयविवरण से किया गया है। 'अनेकान्त' (द्वितीयवर्ष पृ० १०४) में पं० जगलकिशोरजी मुख्तार ने इसकी उद्धार कथा में लिखा है कि—'इसके उद्धार का सर्वप्रथम प्रयत्न पं० जिनदास-पार्षनाथ शास्त्री सोलापुर ने किया। वह उद्धृत अंश मुख्तार सा० को प्राप्त हुआ। मुख्तार सा० ने उसकी बहुत सी त्रुटियाँ निकालकर पं० भाणिकचन्द्रजी सहारनपुर की सहायता से उसे क्रमबद्ध तथा पूर्णप्राय किया।' यह कापी मुख्तार सा० द्वारा इसके सम्पादनकाल में मुझे प्राप्त हुई।

इसके बाद दूसरा प्रयत्न स्यादादिविद्यालय के धर्माध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने किया। मुख्तार सा० के संग्रह से उसका मिलान करने पर मालूम हुआ कि—मुख्तार सा० के संग्रह में कुछ कारिकाश विवरण में आए हुए पूर्वपक्षीय ग्रन्थों के थे। इन्होंने कुछ नवीन पर सन्दिग्ध पक्षों का पता लगाया। जब यह निश्चय हुआ कि—प्रस्तुत संस्करण में न्यायविनिश्चय मूल भी छपाया जाय, तो मैनें भी न्यायविनिश्चयविवरण से मूलभाग

छोटना शुरू किया, और उसी के आधार से प्रेस कापी बनाई। मुस्तार सा० के संग्रह से मिलान करने पर, जिसमें पं० कैलाशचन्द्रजी के परिवर्तनों की भी सूचना थी, मैंने अपने संग्रह को पं० कैलाशचन्द्रजी के संग्रह से बहुत कुछ मिलता जुलता पाया। बाद में कारिकाओं की संख्या तथा पाठ के निर्णयार्थ पं० कैलाशचन्द्रजी के संग्रह से मिलान भी किया।

मुस्तार सा० के संग्रह में तो विवादग्रस्त कारिकाओं की संख्या ५-६ है। जिसे मुस्तार सा० ने पं० कैलाशचन्द्रजी की सूचनानुसार विचाराधीन रखा है। पर पं० कैलाशचन्द्रजी तथा मेरे संग्रह में पारस्परिक विचार विमर्श के बाद विवादग्रस्त कारिका सिर्फ एक ही बची है। प्रथमपरि० की चौथी 'हिताहितासि' वाली कारिका पं० कैलाशचन्द्रजी मूल की नहीं मानते हैं। उनका विचार है कि-न्यायविनिश्चयविवरण की प्रति में 'खल-क्षणमसङ्कीर्णं' कारिका पर ११७ का अंक पड़ा है। जो मेरे संग्रह से यदि 'हिता-हितासि' वाली कारिका निकाल दी जाय तो ठीक बैठता है। अर्थात् ११७। वां अंक उसपर आयागा। आधी कारिका का हर पत्र तो किसी श्लोक को ३ चरण का मानने से भी हो सकता है। मेरा विचार है कि-जिस तरह अन्य कारिकाएँ हम लोगो ने व्याख्यान के आधार से ही संकलित की हैं उसी तरह जब इस कारिका का भी यथावत् व्याख्यान विवरण में पाया जाता है तब इसे भी मूल की ही मानना चाहिए। इस कारिका में इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण करने के बाद ही विवरण में शका की गई है कि-अनिन्द्रियप्रत्यक्ष तथा अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण क्यों नहीं कहा? इसका उत्तर यह दिया है कि वृत्ति में इसका लक्षण है। इससे भी मालूम होता है कि-अकलङ्कदेव ने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का लक्षण तो कारिका में किया है तथा अनिन्द्रिय और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण वृत्ति में। ११७ वाली सख्याका निर्वाह तो तीन कारिकाओं को तीन तीन चरण वाली मानकर भी किया जा सकता है। बाकी कारिकाओं के विषय में मेरा तथा पं० कैलाशचन्द्रजी का प्रायः समान मत है।

इस तरह तीन भिन्न संग्रहों के आधार से न्यायविनिश्चय मूल का संपादन किया गया है। न्यायविनिश्चयविवरण की बनारसवाली प्रति अत्यन्त अशुद्ध ही नहीं है, किन्तु उसमें कई जगह ४-४ पत्र तक के पाठ छूटे हैं, २-४ पक्तियाँ छूटना तो साधारणसी बात है। मैंने इसकी शुद्धि के लिए मूडविट्टी के वीरवाणीविलास भवन से न्यायविनिश्चयविवरण की ताडपत्रीय प्रति बुलाई। प्रति कमन्दी अक्षरो में है। अतः एक कनडी-वाचक की सहायता से कारिकाओं के मूलस्थलों के विवरणों को शुद्ध किया और छूटे हुए पत्रों में से मूलांश का संग्रह किया। इतना समझ प्रयत्न होने पर यह संग्रह पाठकों के सामने आया है। मैं स्वयं अभी इसकी पूर्णता के विषय में निःशंक नहीं हूँ; क्योंकि-सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० ६६ B) में आए हुए "कथमन्यथा न्यायविनिश्चये

सहस्रवो गुणाः इत्यस्य 'सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् । शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्भूतः कान्तासभागमे ॥' इत्युदाहरणं स्यात्" इस अवतरण से मालूम होता है कि— 'सुखमाह्लादनाकारं' कारिका न्यायविनिश्चय की है । पर विवरण में यह कारिका मूल की नहीं मालूम होती; क्योंकि एक तो इसका व्याख्यान नहीं किया गया, दूसरे विवरण (पृ० २३० B) में यह कारिका 'तदुक्तं स्याद्वादमहार्णवे' लिखकर विना किसी उत्थानवाक्य के उद्धृत पाई जाती है । हाँ, इतना विश्वास अवश्य है कि—यह संग्रह शुद्धि के बहुत पास होगा ।

प्रमाणसंग्रह—मैं पहिले लिख आया हूँ कि—प० सुखलालजी और मुनि पुण्य-विजयजी के प्रयत्न से इसकी प्रतिलिपि प्राप्त हुई । उसी प्रतिलिपि के अनुसार प्रेसकापी की गई थी । प्रेसकापी का ताड़पत्र से मिलान तथा कुछ शुद्धपाठों की मूचना श्रीमान् मुनि पुण्यविजयजी ने की । प्रमाणसंग्रह की यह एक मात्र प्रति अत्यन्त अशुद्ध है । इसकी मूलप्रति के अनुसार शुद्धता के लिए मुनि पुण्यविजयजी ने इसके प्रूफों का मिलान भी ताड़पत्र की प्रति से किया है । इसका परिचय भी मुनिजी ने इस प्रकार लिखा है—

पाठन के संघवी के पाठों के ताड़पत्रीय पुस्तक भंडार की यह प्रति है । डब्बा नं० १३५, प्रति नं० २ है । इस पोथी में खीनिर्वाण केवलमुक्ति आदि निम्नलिखित १४ प्रकरणात्मक ग्रन्थ हैं—

१—खीनिर्वाण, पत्र ११—१३ तक, संस्कृत, शाकटायनकृदन्तपादकृत, श्लोक ४१ ।

२—केवलमुक्ति, पत्र १३—१५ तक, संस्कृत, शाकटायनकृदन्तपादकृत, श्लोक ३३ ।

३—मोक्षोपदेशपञ्चाशक, पत्र १५—१८ तक, संस्कृत, मुनिचन्द्रसूक्त, श्लोक ५१ ।

४—प्रमाणसंग्रह, पत्र ६०—६२ तक, संस्कृत, अकलङ्कदेवकृत ।

५—ईश्वरकर्तृत्वप्रकरण, पत्र ६३—६८ तक, संस्कृत, चन्द्रप्रभकृत ।

६—ब्राह्मणजातिनिराकरण, पत्र ६८—१०४ तक, संस्कृत ।

७—बोटिकप्रतिपेव, पत्र १०४—१०८ तक, संस्कृत, हरिभद्रसूक्त ।

८—सर्वज्ञव्यवस्थाप्रकरण, पत्र १०८—१२१ तक, संस्कृत ।

९—क्षणिकवादनिरासप्रकरण, पत्र १२२—१२७ तक, संस्कृत ।

१०—गणकारिका रत्नटीकासमेत, पत्र १२८—१५५, संस्कृत, मासवैद्यकृत ।

११—यमप्रकरण, पत्र १५५—१५६ तक, संस्कृत, विशुद्धमुनि पङ्गोचर शिष्यकृत, श्लोक २१ ।

१२—लकुलिशप्रार्थना, पत्र १५७, संस्कृत, श्लोक १३ ।

१३—कारणपदार्थ, पत्र १५७—१५८ तक, संस्कृत, श्लोक ३६ ।

१४—पुराणोक्तस्कन्दनामानि, पत्र १५८, संस्कृत, श्लोक ७ ।

इनमें प्रमाणसंग्रह पत्र ६० से ६२ में है ।

पत्रों की लम्बाई चौड़ाई "१४ $\frac{1}{2}$ " \times "२ $\frac{1}{2}$ " इंच है। एक पत्र में ४ से ८ तक पंक्तियाँ हैं। दो विभाग में लिखा गया है। एक पंक्ति में ६०-६३ अक्षर है। तादृशपत्रीय प्रतियों के पत्र प्रायः छोटे बड़े होते हैं। इस प्रति में १ $\frac{1}{2}$ इंच से लेकर २ $\frac{1}{2}$ इंच तक के चौड़े पत्र हैं।

लिपि के ऊपर से प्रति १२ वीं सदी की लिखी हुई मालूम होती है। प्रति में लेखक का पुष्पिका लेख नहीं है। प्रति में कहीं कहीं किसी विद्वान् वाचक ने अक्षर सुधारे हैं, अवग्रह, पदच्छेद तथा टिप्पण भी किये हैं।

प्रति की लिपि सुन्दर, स्वच्छ तथा स्पष्ट है। हाँ, कुछ अक्षरों में विपर्यास हुआ है। जैसे कि-श के बदले स, स के बदले श बहुत जगह लिखा है। सकल के बदले शकल शास्त्र के बदले सास्त्र इत्यादि। व और ब का भेद तो लेखक ने रखा ही नहीं है। निम्न अक्षरों को समझने में भ्रम होता है-व ध, त्व न्व न्व, व्य ब्र व्य, न्त न्न त्त, न् क आदि। कहीं कहीं परसवर्ण किया है। व्यजन न् के बदले नु तथा नु के बदले न्, कु के बदले क अपवा क लिखा है। कर्म धर्म शर्म तर्क सर्व इत्यादि शब्द द्विव करके लिखे हैं। प्रति प्राचीन, अच्छा तथा सुरक्षित है। कहीं कहीं दीमक के जाने के निशान मालूम होने हैं; पर प्रति के अक्षर खराब नहीं हुए हैं।

अन्य प्रमाणसंग्रह-मद्रास प्रान्त की प्राइवेट लाइब्रेरियों के सूचीपत्र में निम्नस्थानों पर प्रमाणसंग्रह का पता चला है-

कोटलाग नं० १४६७-अन्नस्वामी श्रौति भवानी (coimbatore)

२३०-सरस्वती मंडारकमेटी Tnnavalli kkeni (ट्रिनिवेल)

३१७०-सीताराम शास्त्रियर आस्थानपंडित मैसूर।

५०६-Attan Alaka PPangar of Alvar Truna Pari (Tinnivelly)

५३८७-अन्नस्वामी ऑफ श्रीरंगम् (त्रिचनापल्ली)

५८०७-विद्वान् श्रीरंगाचारिअर of shri valli Puttur (Tinnivelly)

मेने इन सब स्थानों को जवानी पत्र लिखे पर कहीं से कुछ भी उत्तर नहीं मिला। मालूम नहीं कि इन स्थानों में प्रमाणसंग्रह अकलंकित जैन ग्रन्थ है या अन्य कोई अजैन प्रमाणसंग्रह। अड्यार लाइब्रेरी के सूचीपत्र में भी प्रमाणसंग्रह का नाम था। खोज करने पर मालूम हुआ कि-वह कोई अजैन ग्रन्थ है और उसमें दायभाग के प्रमाणों का संग्रह है। शास्त्रसिद्ध महानुभावों को उक्त स्थानों में प्रमाणसंग्रह की खोज करनी चाहिए।

§ ४. आभार प्रदर्शन-

अद्वैत ब्रह्मादृष्टि पं० सुखलालजी-आपने अत्यन्त कठिनाता से प्राप्त प्रमाणसंग्रह ग्रन्थ के सम्पादनका भार मुझे सौंपा। आपकी अमूल्य तथा मार्मिक सूचनाओं के अनुसार ही इसका सम्पादन किया गया है। आपकी सूक्ष्मादृष्टि एवं सत्साहित्य-प्रवृद्धिविषयक

उदारभाव से मैं बिना किसी कठिनाई के इसका सम्पादन करने में समर्थ हुआ । ग्रन्थ के टिप्पण हिन्दीलेखन आदि सभी कार्य आपकी सूचना एवं परामर्श के अनुसार ही हुए हैं । सिंधी ग्रन्थमाला के संस्थापक सदाशय बाबू बहादुरसिंह जी सिंधी—जो बिना किसी सम्प्रदायभेद के उत्तम साहित्य का अकल्पित औदार्य से प्रकाशन कर संस्कृति के इस अंग की भी सुदृढ़ रक्षा कर रहे हैं । ग्रन्थमाला के संपादक विद्वान् मुनि श्रीजिनविजयजी—जिनकी सुसंस्कृत कार्यप्रणाली से ग्रन्थमाला का सर्वाङ्ग सुन्दर प्रकाशन हो रहा है, तथा जिनने सम्पादन के आभ्यन्तर एवं बाह्य स्वरूपनिर्धारण में अपने चिरकालीन सम्पादन प्रकाशन के अनुभव से अनेकों सूचनाएँ दीं ।

मुनि श्रीपुण्यविजयजी—आपने प्रमाणसंग्रह की प्रेसकापी को तथा प्रूफों को ताड़पत्र से मिलाकर अनेक शुद्ध पाठों की सूचना दी । प्रमाणसंग्रह का प्रतिपरिचय भी आपने ही लिखा है । आप जैसा निःस्वार्थ साहित्यप्रेम अन्यत्र कम दिखाई देता है । आप की इस सहज परकार्यपरायणता से मुझे बड़ा आरवासन मिला है । भाई पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री—आपकी सहायता से ही सर्वप्रथम विवृति का संकलन किया गया था । आपने अपने संकलित न्यायविनिश्चय से हमें जब जरूरत हुई तब कारिकानिर्णय, अष्टाद्विशोधन तथा पाठान्तर देने में सहज जातुल्य से पूर्ण योग दिया । पं० छुगलकिशोरजी मुस्तार—आपने बड़े श्रम से तैयार किया हुआ न्यायविनिश्चयमूल का लिखित संग्रह पं० सुखलालजी का पत्र पाते ही तुरन्त भेज दिया । जिसके आधार से कारिकानिर्णय आदि में बड़ी सहायता मिली ।

त्रिपिटिकाचार्य मित्तुवर राहुलसाकुलयायन—आपने अपनी असाधारण कर्मठता से प्राप्त प्रमाणवार्तिक, प्रमाणवार्तिक मनोरयनन्दिनी टीका, प्रमाणवार्तिक श्लोपज्ञवृत्ति और श्लोपज्ञवृत्ति टीका के प्रूफ दिए, तथा प्रमाणवार्तिकालंकार की सर्वथा अलभ्य प्रेसकापी से नोट लेने दिए । आप की इस आन्तरिक उदारता के कारण मैं टिप्पणों में अलभ्य अवतरणों का संग्रह कर सका हूँ । मि० P. तमकस्त M. A. ने हेतुविन्दुमूल देखने दिया ।

कविरत्न पं० कैनसुखदासजी, तथा मास्टर मोतीलालजी संघी जयपुर ने लघुयल्लय-ल्लविवृति की प्रति भेजी । पं० लोकनाथ पारवनाथ शास्त्री मूढविद्री ने न्यायविनिश्चया-ल्लङ्कार की प्रति भेजी । भाई पं० दलसुखजी न्यायतीर्थ ने छपाई परिशिष्ट आदि बनाने की सूचनाएँ दीं । प्रो० श्रीकण्ठशास्त्री मैसूर तथा प्रो० ए. एन. उपाध्याय कोल्हापुर ने अकलङ्क के समय विषयक अपने भन्तव्य की पत्र द्वारा विस्तार से सूचना दी । अतएव मैं उक्त महानुभावों का आन्तरिक आभार प्रदर्शन करता हूँ । इति शम् ।

श्रुतपत्रमी, ज्येष्ठ शुक्ल ५, }
वीरनिर्वाण स० २४६६ }
स्याम्राव विद्यालय काशी }

सम्पादक—

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री

प्रस्तावना

१. ग्रन्थकार

श्रीमद्भद्रकालकृष्णदेव की जीवनगाथा न तो उन्होने स्वयं ही लिखी है और न तन्निष्ठ-समयवर्ती किन्हीं दूसरे आचार्यों ने ही। उपलब्ध कथाकोशों में सबसे पुराने हरिप्रेषकृत कथाकोश में समन्तभद्र और अकलंक जैसे युगप्रधान आचार्यों की कथाएँ ही नहीं हैं। हरिप्रेष ने स्वयं अपने कथाकोश का समाप्तिकाल शकसंवत् ८५३ (ई० १४१) लिखा है। प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोश में अकलंक की कथा मिलती है। पं० नाथूराम जी प्रेमी इसका रचनाकाल विक्रमकी चौदहवीं सदी अनुमान करते हैं। प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश की ही ब्रह्मचारी नेमिदत्त ने विक्रमसंवत् १५७५ के आसपास पथरूप में परिवर्तित किया है। देवचन्द्रकृत कनबी भापा की 'रामावलीकथे' में भी अकलंक की कथा है। इसका रचनाकाल १६ वीं सदी के बाद है। इस तरह कथाग्रन्थों में चौदहवीं सदी से पहिले का कोई कथाग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें अकलंक का चरित्र तो क्या निर्देश तक भी हो। अकलंकदेव के ६०० वर्ष बाद की इन कथाओं का इतिवृत्त विद्वान् पूरे पूरे रूप में अनुसरण नहीं करते हैं। इनके सिवाय अकलंक के शास्त्रार्थ का उल्लेख मल्लिषेय-प्रशस्ति में है। यह प्रशस्ति विक्रमसंवत् ११८५ में लिखी गई थी। अकलंक के पिता का नाम राजवार्तिक प्रथमाध्याय के अन्त में आए हुए 'जीयाञ्चिर' श्लोक में 'लघुहृन्व' लिखा हुआ है। इस तरह अकलंक के जीवनवृत्त की सामग्री नहीं बच है। जो है भी वह इतनी बाद की है कि उस पर अन्य प्रबल साधक प्रमाणों के अभाव में सहसा जोर नहीं दिया जा सकता।

पं० नाथूरामजी प्रेमी ने कथाकोश आदि के आधार से जैनहितैषी (भाग ११ श्रृंखला ७-८) में अकलंकदेव का जीवन वृत्तान्त लिखा है। उसीके आधार से न्याय-कुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में भी बहुत कुछ लिखा गया है। यहां में उसका पिष्टपेषण न करके सिर्फ उन्हीं मुद्दों पर कुछ विचार प्रकट करूँगा, जिनके विषय में अभी कुछ नया जाना गया है तथा अनुमान करने के लिए प्रेरकसामग्री संकलित की जा सकी है। खास कर समयनिर्णयार्थ कुछ आभ्यन्तर सामग्री उपस्थित करना ही इस समय मुख्यरूप से प्रस्तुत है; क्योंकि इस दिशा में जैसी गुंजाइश है वैसा प्रयत्न नहीं हुआ।

§ १. जन्मभूमि-पितृकुल—

प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोश तथा उसीके परिवर्तितरूप ब्रह्मचारी नेमिदत्त के आराधनाकथाकोश के लेखानुसार अकलंक का जन्मस्थान मान्यखेट नगरी है। वे वहां के राजा

शुभतुंग के मंत्री पुरुषोत्तम के ज्येष्ठ पुत्र थे। श्री देवचन्द्रकृत कनड़ी भाषाके राजावलीकथे नामक ग्रन्थ में उन्हें काञ्ची के जिनदास ब्राह्मण का पुत्र बताया है। इनकी माता का नाम जिनमती था। तीसरा उल्लेख राजवार्तिक के प्रथम अध्यायके अन्तमें पाया जाने वाला यह श्लोक है—

“जीयाच्चिरमकलंकत्रज्ञा लघुहव्वत्तृपतिवरतनयः ।

अनवरतनिखिलजननुतविधः प्रशस्तजनहृदयः ॥”

इस श्लोकके अनुसार वे लघुहव्व राजाके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र थे। विद्वानों की आजतक की पर्यालोचना से ज्ञात होता है कि वे राजावलीकथे का वर्णन प्रमाणकोटि में नहीं मानते और कथाकोश के वर्णन की अपेक्षा उनका मुकाब राजवार्तिक के श्लोक की ओर अधिक दिखाई देता है।

मुझे तो ऐसा लगता है कि—लघुहव्व और पुरुषोत्तम एक ही व्यक्ति हैं। राष्ट्रकूट-वंशीय इन्द्रराजद्वितीय तथा कृष्णराजप्रथम भाई भाई थे। इन्द्रराज द्वितीय का पुत्र दन्तिदुर्गद्वितीय अपने पिता की मृत्यु के बाद राज्याधिकारी हुआ। कर्नाटक प्रान्त में पिता को अव्व या अप्प शब्द से कहते हैं। सम्भव है कि दन्तिदुर्ग अपने चाचा कृष्णराज को भी अव्व शब्द से कहता हो। यह तो एक साधारणसा नियम है कि जिसे राजा ‘अव्व’ कहता हो, उसे प्रजा भी ‘अव्व’ शब्द से ही कहेगी। कृष्णराज जिसका दूसरा नाम शुभतुंग था, दन्तिदुर्ग के बाद राज्याधिकारी हुआ। मालूम होता है कि—पुरुषोत्तम कृष्णराज के प्रथम से ही लघु सहकारी रहे हैं, इसलिए स्वयं दन्तिदुर्ग एवं प्रजाजन इनको ‘लघु अव्व’ शब्द से कहते होंगे। बाद में कृष्णराज के राज्यकाल में ये कृष्णराज के मंत्री बने होंगे। कृष्णराज अपनी परिणत अवस्था में राज्याधिकारी हुए थे। इसलिये यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि—पुरुषोत्तम की अवस्था भी करीब करीब उतनी ही होगी और उनका ज्येष्ठ पुत्र अकलंक दन्तिदुर्ग की समा में, जिनका उपनाम ‘साहसतुंग’ कहा जाता है, अपने हिमशीतल की समा में होने वाले शास्त्रार्थ की बात कहे। पुरुषोत्तम का ‘लघुअव्व’ नाम इतना रूढ़ हो गया था कि अकलंक भी उनके असली नाम पुरुषोत्तम की अपेक्षा प्रसिद्ध नाम ‘लघुअव्व’ अधिक पसन्द करते होंगे। यदि राजवार्तिकवाला श्लोक अकलंक या तत्समकालीन किसी अन्य आचार्य का है तो उसमें पुरुषोत्तम की जगह ‘लघुअव्व’ नाम आना स्वाभाविक ही है। ‘लघुअव्व’ एक ताल्लुकेदार होकर भी विशिष्ट राजमान्य तो थे ही और इसीलिए वे भी नृपति कहे जाते थे। अकलंक उनके वरतनय-ज्येष्ठ पुत्र या श्रेष्ठ पुत्र थे।

यद्यपि अभी तक इतिहास से यह मात्सर्य हो सका है कि—मान्यखेट राजधानी की प्रतिष्ठा महाराज अमोघवर्ष ने की थी। पर इसमें सभी ऐतिहासिक विद्वानों का एकमत नहीं है। यह तो सम्भव है कि अमोघवर्ष ने इसका जीर्णोद्धार करके पुनः प्रतिष्ठा की हो,

क्योंकि अमोघवर्ष के पहिले भी 'मान्यपुर, मान्यान्' आदि उल्लेख मिलते हैं। अथवा यह मान भी लिया जाय कि अमोघवर्ष ने ही मान्यखेट को प्रतिष्ठित किया था। तब भी इससे कथाकोश की बातें सर्वथा अप्रामाणिक नहीं कही जा सकती। इससे तो इतना ही कहा जा सकता है कि—कथाकोशकार के समय में राष्ट्रकूटवशीय राजाओं की राजधानी आमतौर से मान्यखेट प्रसिद्ध थी और इसीलिये कथाकोशकार ने शुभतुंग की राजधानी भी मान्यखेट लिख दी है।

यदि पुरुषोत्तम और लघुअब्ब के एक ही व्यक्ति होने का अनुमान सत्य है तो कहना होगा कि अकलकदेव की जन्मभूमि मान्यखेट के ही आस पास होगी तथा पिता का असली नाम पुरुषोत्तम तथा प्रचलित नाम 'लघुअब्ब' होगा। 'लघुअब्ब' की जगह 'लघुहब्ब' का होना तो उच्चारण की विविधता और प्रति के लेखनवैचित्र्य का फल है।

§ २. समय विचार—

अकलक के समय के विषय में मुख्यतया दो मत हैं। पहिला स्वर्गीय डॉ० के० वी० पाठक का और दूसरा प्रो० श्रीकण्ठशास्त्री तथा प० जुगलकिशोर मुस्तार का। डॉ० पाठक मछिपेयाग्रशस्ति के 'राजन् साहसतुंग' श्लोक के आधार से इन्हें राष्ट्रकूटवशीय राजा दन्तिदुर्ग या कृष्णराज प्रथम का समकालीन मानते हैं, और अकलकचरित के—
“विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाञ्जुपि । कालेऽकलकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥”
इस श्लोक के 'विक्रमार्कशकाब्द' शब्द का शकसंवत् अर्थ करते हैं। अतः इनके मतानुसार अकलकदेव शकसंवत् ७०० (ई० ७७८) में जीवित थे।

दूसरे पक्ष में श्रीकण्ठशास्त्री तथा मुस्तारसा० 'विक्रमार्कशकाब्द' का विक्रमसंवत् अर्थ करके अकलक देवकी स्थिति विक्रम सं० ७०० (ई० ६४३) में बतलाते हैं।

प्रथममत का समर्थन स्व० डॉ० आर० जी० भायडारकर, स्व० डॉ० सतीशचन्द्र त्रिबाभूपण तथा प० नाथूरामजी प्रेमी आदि विद्वानों ने किया है। इसके समर्थनार्थ हरिवंशपुराण (१।३१) में अकलकदेव का स्मरण, अकलक द्वारा धर्मकीर्ति का खडन तथा प्रभाचन्द्र के कथाकोश में अकलक को शुभतुंग का मन्त्रिपुत्र बतलाया जाना आदि युक्तियाँ प्रयुक्त की गई हैं।

दूसरे मत के समर्थक प्रो० ए० एन० उपाध्ये और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि हैं। इस मत के समर्थनार्थ वीरसेन द्वारा धवलाटीका में राजवार्तिक के अवतरण लिये जाना, हरिभद्र के द्वारा 'अकलंक न्याय' शब्द का प्रयोग, सिद्धसेनगणि का सिद्धि-विनिरचय वाला उल्लेख, जिनदासगणि महत्तर द्वारा निशीथचूर्णि में सिद्धिविनिश्चय का दर्शनप्रभावक शास्त्ररूपसे लिखा जाना आदि प्रमाण दिए गए हैं।

१ इन दोनों मतों के समर्थन की सभी युक्तियों का विस्तृत संग्रह न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में देखना चाहिए।

हमारी विचारसरणि—किसी एक आचार्य का या उसके ग्रन्थ का अन्य आचार्य समकालीन होकर भी उल्लेख और समालोचन कर सकते हैं, और उत्तरकालीन होकर भी। पर इस में हमें इस बात पर ध्यान रखना होगा कि उल्लेखादि करनेवाला आचार्य जैन है या जैनेतर। अपने सम्प्रदाय में तो जब मामूली से थोड़ा भी अच्छा व्यक्ति, जिसकी प्रवृत्ति इतरमत निरसन के द्वारा मार्गप्रभावना की ओर अधिक होती है, बहुत जल्दी ख्यात हो जाता है, तब असाधारण विद्वानों की तो बात ही क्या? स्वसम्प्रदाय में प्रसिद्धि के लिये अधिक समय की आवश्यकता नहीं होती। अतः स्वसम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा पूर्वकालीन तथा समकालीन आचार्यों का उल्लेख किया जाना ठीक है। इतना ही नहीं; पर स्वसम्प्रदाय में तो किसी बृद्ध आचार्य द्वारा असाधारणप्रतिभाशाली युवक आचार्य का भी उल्लेख होना संभव है। पर अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा समालोचन या उल्लेख होने योग्य प्रसिद्धि के लिए कुछ समय अवश्य ही अपेक्षित होता है। क्योंकि १२-१३ सौ वर्ष पूर्व के साम्प्रदायिक वातावरण में असाधारण प्रसिद्धि के बिना अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों पर इस प्रकार की छाप नहीं पड़ सकती, जिससे वे उल्लेख करने में तथा समालोचन या अनुसरण करने में प्रवृत्त हो। अतः सम्प्रदायान्तर के उल्लेख या समालोचन करने वाले आचार्य से समालोच्य या उल्लेखनीय आचार्य के समय में समकालीन होने पर भी १५-२० वर्ष जितने समय का पौर्वापर्य मानना विशेष सयुक्तिक जान पड़ता है। यद्यपि इसके अपवाद मिल सकते हैं और मिलते भी हैं; पर साधारणतया यह प्रणाली सत्यमार्गेन्मुख होती है। दूसरे समानकालीन लेखकों के द्वारा लिखी गई विरहस्त सामग्री के अभाव में ग्रन्थों के आन्तरिकपरीक्षण को अधिक महत्त्व देना सत्य के अधिक निकट पहुँचने का प्रशस्त मार्ग है। आन्तरिक परीक्षण के सिवाय अन्य बाह्य साधनों का उपयोग तो खींचतान करके दोनों ओर किया जा सकता है, तथा लोग करते भी हैं। मैं यहाँ इसी विचार पद्धति के अनुसार विचार करूँगा।

अकलंक के ग्रन्थों के आन्तरिक अवलोकन के आधार से मेरा विचार स्पष्टरूप से अकलंक के समय के विषय में डॉ० पाठक के मत की ओर ही अधिक झुकता है। हाँ, मेरी समर्थनपद्धति डॉ० पाठक की समर्थन पद्धति से मिल है। मैं पहिले विरोधी मत की उन एक दो खास युक्तियों की आलोचना करूँगा जिनके आधार पर उनका मत स्थिर है, फिर उन विचारों को विस्तार से लिखूँगा जिनसे मेरी मति डॉ० पाठक के मतसमर्थन की ओर झुकती है।

आलोचना—(१) निशीथचूर्णि में सिद्धिविनिश्चय का दर्शनप्रभावकरूप से उल्लेख है तो सही। यह भी ठीक है कि इसके कर्ता जिनदासगणिमहत्तर हैं, क्योंकि निशीथचूर्णि के अन्त में दी हुई गाथा से उनका नाम स्पष्टरूपसे निकल आता है। पर अभी इस

चूर्णि के रचनाकाल का पूरा निश्चय नहीं है। यद्यपि नन्दीचूर्णि की प्राचीन और विश्वसनीय प्रति में उसका रचनासमय शक ५१८ (ई० ६७६) दिया है पर इसके कर्त्ता जिनदासगणिमहत्तर है यह अभी संदिग्ध है। इसके कारण ये हैं—

१—अभी तक परम्परागत प्रसिद्धि ही ऐसी चली आ रही है कि नन्दीचूर्णि जिनदास की है, पर कोई साधकप्रमाण नहीं मिला। माण्डारकर प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिर के जैनागम कैंटलॉग में प्रो० H B कापडिया ने स्पष्ट लिखा है कि—नन्दीचूर्णि के कर्त्ता जिनदास हैं यह प्रघोषमात्र है।

२—निशीथचूर्णि की तरह नन्दीचूर्णि के अन्त में जिनदास ने अपना नाम नहीं दिया।

३—नन्दीचूर्णि के अन्त में पाई जाने वाली—

“गिरेण गामेत्त महासहा जिता, पस्यती सख जगद्धिताकुला।

कमद्धिता वीसेत्त चितितक्खरो फुडं कहेयं अभिहाणकम्मूणा ॥”

इस गाना के अक्षरों को छोट पलटने पर भी ‘जिनदास’ नाम नहीं निकलता।

४—नन्दाध्ययन टीका के रचयिता आचार्य मलयगिरि को भी चूर्णिकार का नाम नहीं मालूम था; क्योंकि वे अपनी टीका में पूर्वटीकाकार आचार्यों का स्मरण करते समय हरिमद्रसूरि का तो नाम लेकर स्मरण करते हैं जब कि हरिमद्र के द्वारा आधार रूप से अबलम्बित चूर्णि के रचयिता का वे नामोल्लेख नहीं करके ‘तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोऽस्तु’ इतना लिखकर ही चुप हो जाते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि—आचार्य मलयगिरि चूर्णिकार के नाम से अपरिचित थे; अन्यथा वे हरिमद्र की तरह चूर्णिकार का नाम लिखे बिना नहीं रहते।

अतः जब नन्दीचूर्णि की और निशीथचूर्णि की एककर्तृकता ही अनिश्चित है तब नन्दीचूर्णि के समय से निशीथचूर्णि के समय का निश्चय नहीं किया जा सकता। इस तरह अनिश्चितसमयवाला निशीथचूर्णि का सिद्धिविनिश्चय वाला उल्लेख अकलंक का समय ई० ६७६ से पहिले ले जाने में साधक नहीं हो सकता।

(२) अकलंकचरित के ‘विक्रमार्क शकाब्द’ वाले उल्लेख को हमें अन्य समर्थ प्रमाणों के प्रकाश में ही देखना तथा संगत करना होगा; क्योंकि अकलंकचरित १५ वीं १६ वीं शताब्दी का ग्रन्थ है। यह अकलंक से करीब सात आठ सौ वर्ष बाद बनाया गया है। अकलंकचरित के कर्त्ता के सामने यह परम्परा रही होगी कि ‘सर्वत्र

१ माण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर के जैनागम कैंटलॉग (Part II. P. 302) में मलयगिरिचरित लिखित तीन नन्दिचूर्णविवरणों का परिचय है। उनमें चूर्णिकार तथा हरिमद्र का निम्न श्लोकों में स्मरण किया है—

“नन्दाध्ययन पूर्व” प्रभावितं येन विषममाचार्यम् । तस्मै श्रीचूर्णिकृते नमोऽस्तु विदुषे परोपकृते ॥१॥

मय्ये समस्तभूषीठं यज्ञो यस्याभिबद्धत । तस्मै श्रीहरिमद्राय नमोऽस्ति विषयिने ॥२॥”

७०० में अकलंक का शास्त्रार्थ हुआ था; पर उन्हें यह निश्चित मालूम नहीं था कि—यह संवत् विक्रम है या शक अथवा और कोई ? आगे लिखे हुए ‘अकलंक के ग्रन्थों की तुलना’ शीर्षक स्तम्भ से यह स्पष्ट हो जायगा कि अकलंक ने मर्तुहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, कर्णकगोमि आदि आचार्यों के विचारों की आलोचना की है। कुमारिल आदि का कार्यकाल सन् ६५० ई० से पहिले किसी भी तरह नहीं जाता; क्योंकि मर्तुहरि (सन् ६०० से ६५०) की आलोचना कुमारिल आदि के ग्रन्थों में पाई जाती है। यदि विक्रमार्क शकान्द से विक्रमसंवत् विवक्षित किया जाय तो अकलंक को कुमारिल आदि से पूर्वकालीन नहीं तो ज्येष्ठ तो अवश्य ही मानना पड़ेगा। यह अकलंक के द्वारा जिन अन्य आचार्यों की समालोचना की गई है, उनके समय से स्पष्ट ही विरुद्ध पड़ता है। अतः हम इस श्लोक को इतना महत्त्व नहीं दे सकते, जिससे हमें सारी वस्तुस्थिति को उलट कर मर्तुहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर और कर्णकगोमि को, जिनमें स्पष्टरूप से पौराण्य है खींचतान कर समान काल में लाना पड़े। अकलंकदेव के ग्रन्थों से मालूम होता है कि उनका बौद्धदर्शनविषयक अभ्यास धर्मकीर्ति तथा उनके शिष्यों के मूल एवं टीकाग्रन्थों का था। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि—उन्होंने वसुवन्धु या दिग्नाग के ग्रन्थ नहीं देखे थे। किन्तु बौद्धों के साथ महान् शास्त्रार्थ करनेवाले अकलंक को उन पूर्वग्रन्थों का देखना भर पर्याप्त नहीं था, उन्हें तो शास्त्रार्थ में खण्डनीय जटिल युक्तिजाल का विशिष्ट अभ्यास चाहिए था। इसलिये शास्त्रार्थ में उपयोगी दलीलों के कोटिक्रम में पूर्ण निष्णात-अकलंक का महान् बाद विक्रम ७०० में असम्व मालूम होता है; क्योंकि धर्म-कीर्ति आदि का ग्रन्थरचनाकाल सन् ६६० से पहिले किसी तरह सम्व नहीं है। सारांश यह कि—हमें इस उल्लेख की संगति के लिए अन्य साधक एवं पोषक प्रमाण खोजने होंगे। मैंने इसी दिशा में यह प्रयत्न किया है।

अन्य हरिमद्र, सिद्धसेनगणि आदि द्वारा अकलंक का उल्लेख, हरिवंशपुराण में

१ हरिवंशपुराण के “इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिध्याकरणेक्षण । देवस्य देवसप्तस्य न वरन्ते गिरः कथम् ॥” (१-३१) इस श्लोक में प० कलाशचन्द्रजी देवनन्दि का स्मरण मानते हैं। उसके लिये ‘देवसप्तस्य’ की जगह ‘देववन्द्यस्य’ पाठ शुद्ध बताते हैं (भ्यामकुपुत्र प्रस्ता०)। पर इस श्लोक का ‘इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिध्याकरणेक्षण’ विशेषण ध्यान देने योग्य है। इसका तात्पर्य यह है कि—वे देव इन्द्र चन्द्र अर्क जैनेन्द्र व्याडि आदि व्याकरणों के इक्षिन्-ब्रष्टा-विशिष्ट अभ्यासी थे। देवनन्दि इन्द्र आदि व्याकरणों के अभ्यासी तो हो सकते हैं पर जैनेन्द्र व्याकरण के तो वे रचयिता थे। यदि देवनन्दि का स्मरण हरिवंशकार को करना या तो वे ‘जैनेन्द्रकर्तुः’ या जैनेन्द्रप्रणेतुः ऐसा कोई पद रखते। एक ही पद में जैनेन्द्र के कर्ता तथा इन्द्रादि व्याकरणों के अभ्यासी देवनन्दि का उल्लेख व्याकरणशास्त्र के नियमों से विरुद्ध है। देवनन्दि का स्मरण मानने के लिए ‘देवसप्तस्य’ की जगह ‘देववन्द्यस्य’ पाठ रूप कल्पनागौरव का, तथा ‘देवनन्दस्य’ पाठ के अन्ध रूप में देवनन्दि का संकेत मानने रूप विलम्बकल्पना का भार व्यर्थ ही डोना पड़ता है। अतः इस श्लोक में शब्दशास्त्रनिष्णात अकलंक का ही स्मरण मानना चाहिए।

अकलंक का उल्लेख, वीरसेन द्वारा राजवार्तिक के अवतरण लिये जाना आदि ऐसे रबरप्रकृतिक प्रमाण हैं, जिन्हें खींचकर कहीं भी बिठाया जा सकता है। अतः उनकी निराधार खींचतान में मैं अपना तथा पाठको का समय खर्च नहीं करूँगा।

§ ३. अकलंक के ग्रन्थों की तुलना—

हमें अकलंक के ग्रन्थों के साथ जिन आचार्यों के ग्रन्थों की तुलना करना है उनके पारस्परिक पौर्वापर्य एवं समय के निर्णय की खास आवश्यकता है। अतः तुलना लिखने के पहिले उन खास खास आचार्यों के पौर्वापर्य तथा समय के विषय की आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इसमें प्रथम मर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित आदि आचार्यों के समय आदि का विचार होगा फिर इनके साथ अकलंक की तुलना करके अकलंकदेव का समय निर्णीत होगा।

मर्तृहरि और कुमारिल—इस्तिग के उल्लेखानुसार मर्तृहरि उस समय के एक प्रसिद्ध वैयाकरण थे। उस समय इनका वाक्यविषयकचर्चावाला वाक्यपदीय ग्रन्थ प्रसिद्ध था। इस्तिग ने जब (सन् ६२१) अपना यात्रा वृत्तान्त लिखा तब मर्तृहरि की मृत्यु हुए ४० वर्ष हो चुके थे। अतः मर्तृहरि का समय सन् ६००-६५० तक सुनिश्चित है। मर्तृहरि शब्दाद्वैत दर्शन के प्रस्थापक थे। मीमांसकधुरीण कुमारिल ने मर्तृहरि के वाक्यपदीय से अनेकों श्लोक उद्धृत कर उनकी समालोचना की है। यथा—

“अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याख्यलक्षणम् ।

अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥” [वाक्यपदीय २।१२१]

तन्त्रवार्तिक (पृ० २५१-२५३) में यह श्लोक दो जगह उद्धृत होकर आलोचित हुआ है। इसी तरह तन्त्रवार्तिक (पृ० २०६-१०) में कुमारिल ने वाक्यपदीय के “तत्त्वावबोध, शब्दाना नास्ति व्याकरणादृते” (वाक्यप० १।७) अंश को उद्धृत कर उसका खडन किया है। मीमांसारलोकवार्तिक (वाक्याधिकरण श्लोक ५१ से) में वाक्यपदीय (२।१-२) में आए हुए दशविध वाक्यलक्षणों का समालोचन किया है। मर्तृहरि के स्फोटवाद की भी आलोचना कुमारिल ने (मी० श्लो० स्फोटवाद) बड़ी प्रखरता से की है। डॉ० के. वी. पाठक ने यह निर्धारित किया है कि—कुमारिल इसवी सन् की ८ वीं शताब्दी के पूर्वभाग में हुए हैं। डॉ० पाठक के द्वारा अन्विष्ट प्रमाणों से इतना तो स्पष्ट है कि कुमारिल मर्तृहरि (सन् ६५०) के बाद हुए हैं। अतः कम से कम उनका कार्यकाल सन् ६५० के बाद तो होगा; पर वे इतने बाद तो कभी नहीं हो सकते। मेरे ‘धर्मकीर्ति और कुमारिल’ के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि—कुमारिल मर्तृहरि के बाद होकर भी धर्मकीर्ति के कुछ पूर्व हुए हैं; क्योंकि धर्मकीर्ति ने कुमारिल के विचारों का खडन किया है। डॉ० पाठक कुमारिल और धर्मकीर्ति के पारस्परिक पौर्वापर्य के विषय में अभ्रान्त नहीं थे। यही कारण है कि—वे कुमारिल का समय ई०

८ वीं का पूर्वभाग मानते थे। धर्मकीर्ति का समय आगे सन् ६२० से ६६० तक निश्चित किया जायगा। अतः कुमारिल का समय सन् ६०० से ६८० तक मानना ही समुचित होगा।

मर्तृहरि और धर्मकीर्ति—कुमारिल की तरह धर्मकीर्ति ने भी मर्तृहरि के स्फोटवाद तथा उन के अन्य विचारों का खंडन अपने प्रमाणवार्तिक तथा उसकी स्तोपज्ञवृत्ति में किया है। यथा—

१—धर्मकीर्ति स्फोटवाद का खंडन प्रमाणवार्तिक (३।२५१ से) में करते हैं।

२—मर्तृहरि की—“नादेनाहितबीजायामन्त्येन च्चनिना सह।

आवृत्तिपरिपाकार्या बुद्धौ शब्दोऽवभासते ॥” [वाक्यप० १।८५]

इस कारिका में वर्णित वाक्यार्थबोधप्रकार का खंडन धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक स्तोपज्ञवृत्ति (३।२५३) में इस प्रकार उल्लेख कर के करते हैं—

“समस्तवर्णसंस्कारकत्या अन्यया बुद्ध्या वाक्यावधारणमित्यपि मिथ्या।”

अतः धर्मकीर्ति का समय मर्तृहरि के अनन्तर मानने में कोई सन्देह नहीं है।

कुमारिल और धर्मकीर्ति—डॉ० विद्याभूषण आदि को विश्वास था कि कुमारिल ने धर्मकीर्ति की आलोचना की है। मद्रास युनि० से प्रकाशित बृहती के द्वितीय भाग की प्रस्तावना में प्रो० रामनाथ शास्त्री ने उक्त मन्तव्य की पुष्टि के लिये मीमांसाश्लोकवार्तिक के ४ स्थल (मी० श्लो० पृ० ६६ श्लो० ७६, पृ० ८३ श्लो० १३१, पृ० १४४ श्लो० ३६, पृ० २५० श्लो० १३१) भी खोज निकाले हैं। मालूम होता है कि—इन स्थलों की पार्थसारथिमिश्र विरचित न्यायरत्नाकर व्याख्या में जो उत्थान वाक्य दिए हैं, उन्हीं के आधार से ही प्रो० रामनाथ जी ने उन श्लोकों को धर्मकीर्ति के मतखंडनपरक समझ लिया है। यहाँ पार्थसारथिमिश्र की तरह, जो कुमारिल से ४-५ सौ वर्ष बाद हुए हैं, शास्त्रीजी भी भ्रम में पड़ गए हैं। क्योंकि उन श्लोकों में कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जिसके बल पर उन श्लोकों का अर्थ साक्षात् धर्मकीर्ति के मतखंडनपरक रूप में लगाया जा सके। ४-५ सौ वर्ष बाद हुए टीकाकार को, जिसकी दृष्टि ऐतिहासिक की अपेक्षा तात्त्विक अधिक है ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है। इसी तरह डॉ० पाठक का यह लिखना भी अभ्रान्त नहीं है कि—“मीमांसा श्लोकवार्तिक के शून्यवाद प्रकरण में कुमारिल ने बौद्धमत के ‘बुद्धात्मा प्राज्ञा प्राज्ञक रूप से मित्र दिखाई देता है’ इस विचार का खंडन किया है। श्लोकवार्तिक की व्याख्या में इस स्थान पर सुचरितमिश्र धर्मकीर्ति का निम्न श्लोक, जिसको शंकराचार्य और सुरेश्वराचार्य ने भी उद्धृत किया है, बारम्बार उद्धृत करते हैं—

“अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितश्चे

ब्राह्मग्राहकसवित्तिभेदानिव लक्षते ॥”

इससे यह मालूम होता है कि कुमारिल धर्मकीर्ति के

डॉ० पाठक जिन श्लोको की व्याख्या में मुक्ति

उद्धृत किए जाने का जिक्र करते हैं, व श्लोक हैं—

“मत्पक्षे यद्यपि स्वच्छो ज्ञानात्मा परमार्थतः । तत्र

चित्राभिद्वित्रहेतुत्वाद्वासनाभिरुपपन्नत्वात् । तादृश

प्रविभक्तमिदोपलब्ध नान्यमर्थमपेक्षते ॥” [मै० १००

इन श्लोकों की व्याख्या में न केवल इन

भी ‘अविभागोऽपि’ श्लोक को उद्धृत कर

श्लोको की शब्दावली का ध्यान से पर्यवेक्षण

श्लोको को सीधे तौर से पूर्वपक्ष के निर्णय

शब्दावली ‘अविभागोऽपि’ श्लोक की

यद्यपि आर्थिक दृष्टि से ‘अविभागोऽपि’ श्लोक

बैठ सकती है। पर यह विषय स्वयं धर्मकीर्ति

के पूर्वज आचार्य बसुबन्धु आदि ने

सिद्धि आदि ग्रन्थों में बड़े विस्तार से

जिम प्रमाणमुचय पर धर्मकीर्ति ने

विवेचन होगा ही । स्थिरमति आदि

मात्रतासिद्धि पर मान्य आदि रचके

धर्मकीर्ति तो उक्त मत के अनुवादक हैं ।

उद्धृत श्लोक के बल पर कुमारिल को

अब में कुछ ऐसे स्थल

कि धर्मकीर्ति ही कुमारिल का

१—कुमारिल ने शिवरामायण

अपने हाथ किए गए सर्वत्र

“धर्मत्रयनिर्णयस्तु केवलोऽपि

अर्थात् धर्मत्रय के निगम

मत्र पदार्थों के जाननेवाले

धर्मकीर्ति प्रमाणवर्ति

१ यह श्लोक कुमारिल

के

३

॥१॥

तान्त

मैपाल,

मैलभद्र ।

मुक्तिसंगत

मय मृत्यु हो

मस्त विद्वानो

गीति का नाम

धर्मकीर्ति जैसे

ले

ही पूरे जोर से सिद्ध करते हैं, उन्हें सुगत की सर्वज्ञता अनुपयोगी मालूम होती है। वे लिखते हैं कि—

“हेयोपादेयतत्त्वस्य साम्युपायस्य वेदकः । यः प्रमाणमसाविष्टः न तु सर्वस्य वेदकः ॥
दूरं पर्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पर्यतु । प्रमाणं दूरदर्शी चेदेत गृध्राणुपासहे ॥”

[प्रमाणवा० १।३४-३५]

अर्थात्—जो हेय-दुःख, उपादेय-निरोध, हेयोपाय-समुदय, और उपादेयोपाय-मार्ग इन चार आर्यसत्त्वों का जानता है वही प्रमाण है। उसे समस्त पदार्थों का जाननेवाला होना आवश्यक नहीं है। वह दूर-अतीन्द्रिय पदार्थों को जाने या न जाने, उसे इष्टतत्त्व का परिज्ञान होना चाहिए। यदि दूरवर्ती पदार्थों का द्रष्टा ही उपास्य होता हो तब तो हम को दूरद्रष्टा गृध्रो की उपासना पहिले करनी चाहिए।

२—कुमारिल ने शब्द को नित्यत्व सिद्ध करने में जिन क्रमबद्ध दलीलों का प्रयोग किया है धर्मकीर्ति उनका प्रमाणवार्तिक में (३।२६५ से आगे) खण्डन करते हैं।

३—कुमारिल के ‘वर्णानुपूर्वी वाक्यम्’ इस वाक्यलक्षण का धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।२५९) में ‘वर्णानुपूर्वी वाक्यं चेत्’ उल्लेख करके उसका निराकरण करते हैं।

४—कुमारिल के “नित्यस्य नित्य एवार्थः कृतकस्याप्रमाणता” [मी० श्लो० वेदनि० श्लो० १४] इस वाक्य का धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में उल्लेख करके उसकी मखौल उड़ाते हैं—

“मिथ्यात्वं कृतकेष्वेव दृष्टमित्यकृतक वचः ।

सत्यार्थं व्यतिरेकेण विरोधिव्यापनाद् यदि ॥” [प्रमाणवा० ३।२८२]

५—कुमारिल के “अतोऽत्र पुनर्मितत्वादुपपत्ता मृषार्थता” [मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १६९] इस श्लोक का खण्डन धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक स्तोपचतुष्टि (३।२९१) में किया है—“ततो यत्किञ्चिन्मिथ्यार्थं तत्सर्वं पौरुषेयमित्यनिश्चयात् ।”

६—कुमारिल ने “आप्तवादाविसवादसामान्यादनुमानता” दिग्नाग के इस वचन की मीमांसाश्लोकवार्तिक में (पृ० ४१८ और ९१३) में समालोचना की है। इसका उत्तर धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।२९६) में देते हैं।

७—कुमारिल श्लोकवार्तिक (पृ० १६८) में निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का निम्नरूप से वर्णन करते हैं—

“अस्ति क्षालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमृकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥”

धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक (२।१४१) में इसका “केचिदिन्द्रियजत्वादर्बालधीवद-कल्पनाम् । आहुर्बाला .” उल्लेख करके खण्डन किया है।

८—कुमारिल वेद के अपौरुषेयत्वसमर्थन में वेदाध्ययनवाक्यत्व हेतु का भी प्रयोग करते हैं—

“वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥” [मी० श्लो० पृ० ६४६]

धर्मकीर्ति अपौरुषेयत्वसाधक अन्य हेतुओं के साथ ही साथ कुमारिल के इस हेतु का भी उल्लेख करके खडन करते हैं—

“यथाऽयमन्यतोऽश्रुत्वा नेम वर्णपदक्रमम् ।

वक्तुं समर्थः पुरुषः तथान्योऽपीति कथन ॥” [प्रमाणवा० ३।२४०]

प्रमाणवार्तिकस्वोपजवृत्ति के टीकाकार कर्णकगोमि इस श्लोक की उत्थानिका इस प्रकार देते हैं—“तदेव कर्तुरस्मरणादिति हेतु निराकृत्य अन्यदपि साधनम् वेदस्याध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् इति दूषयितुमुपन्यस्यति यथेत्यादि ।” इससे स्पष्ट है कि—इस श्लोक में धर्मकीर्ति कुमारिल के वेदध्ययनवाच्यत्व हेतु का ही खडन कर रहे हैं ।

इन उद्धरणों से यह बात असन्दिग्धरूप से प्रमाणित हो जाती है कि—धर्मकीर्ति ने ही कुमारिल का खडन किया है न कि कुमारिल ने धर्मकीर्ति का । अतः भर्तृहरि का समय सन् ६०० से ६५० तक, कुमारिल का समय सन् ६०० से ६८० तक, तथा धर्मकीर्ति का समय सन् ६२० से ६६० तक मानना समुचित होगा । धर्मकीर्ति के इस समय के समर्थन में कुछ और विचार भी प्रस्तुत किए जाने हैं—

धर्मकीर्ति का समय—डॉ० विद्याभूषण आदि धर्मकीर्ति का समय सन् ६३५ से ६५० तक मानते हैं । यह प्रसिद्धि है कि—धर्मकीर्ति नालन्दा विश्वविद्यालय के अग्र्यत्वं धर्मपाल के शिष्य थे । चीनी यात्री ह्वेनसांग जब सन् ६३५ में नालन्दा पहुँचा तब धर्मपाल अध्यक्षपद से निवृत्त हो चुके थे और उनका वयोवृद्ध शिष्य शीलभद्र अध्यक्षपद पर था । ह्वेनसांग ने इन्हीं से योगशास्त्र का अध्ययन किया था । ह्वेनसांग ने अपना यात्रा विवरण सन् ६४५ ई० के बाद लिखा है । उसने अपने यात्रावृत्तान्त में नालन्दा के प्रसिद्ध विद्वानों की जो नामावली दी है, उसमें ये नाम हैं—धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रमामित्र, जिनमित्र, ज्ञानमित्र, शीघ्रबुद्ध और शीलभद्र । धर्मकीर्तिका नाम न देने के विषय में साधारणतया यही विचार है, और वह युक्तिसंगत भी है कि—धर्मकीर्ति उस समय प्रारम्भिक विद्यार्थी होंगे ।

मिश्र राहुलसाह्यायन जी का विचार है कि—“धर्मकीर्तिकी उस समय मृत्यु हो चुकी होगी । चूँकि ह्वेनसांग को तर्कशास्त्र से प्रेम नहीं था और यतः वह समस्त विद्वानों के नाम देने को बाध्य भी नहीं था, इसी लिए उसने प्रसिद्ध तार्किक धर्मकीर्ति का नाम नहीं लिया ।” राहुलजी का यह तर्क उचित नहीं मालूम होता; क्योंकि धर्मकीर्ति जैसे युगप्रधानतार्किक का नाम ह्वेनसांग को उसी तरह लेना चाहिए था जैसे कि उसने

पूर्वकालीन नागार्जुन या वसुबन्धु आदि का लिया है। तर्कशास्त्र से प्रेम न होने पर भी गुणमति स्थिरमति जैसे विज्ञानवादी तार्किकों का नाम जब डुएनसाग लेता है तब धर्मकीर्ति ने तो बौद्धदर्शन के विस्तार में उनसे कहीं अधिक एव ठोस प्रयत्न किया है। इसलिए धर्मकीर्ति का नाम लिया जाना न्यायप्राप्त ही नहीं था, किन्तु डुएनसाग की सहज गुणानु-रागिता का बोतक भी था। यह ठीक है कि—डुएनसाग सबके नाम लेने को बाध्य नहीं था, पर धर्मकीर्ति ऐसा साधारण व्यक्ति नहीं था जिसकी ऐसी उपेक्षा अनजान में भी की जाती। फिर यदि धर्मकीर्ति का कार्यकाल गुणमति स्थिरमति आदि से पहिले ही समाप्त हुआ होता तो इनके ग्रन्थों पर धर्मकीर्ति की विशालग्रन्थराशि का कुछ तो असर मिलना चाहिए था। जो उनके ग्रन्थों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। डुएनसाग ने एक जिनमित्र नामके आचार्य का भी उल्लेख किया है। इत्सिंग के “धर्मकीर्ति ने ‘जिन’ के पश्चात् हेतुविद्या को और सुधारा” इस उल्लेख के अनुसार तो यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि धर्मकीर्ति का कार्यकाल ‘जिन’ के पश्चात् था; क्योंकि डुएनसाग के ‘जिनमित्र’ और इत्सिंग के ‘जिन’ एक ही व्यक्ति मालूम होते हैं। अतः यही उचित मालूम होता है कि—धर्मकीर्ति उस समय युवा थे जब डुएनसाग ने अपना यात्राविवरण लिखा।

दूसरा चीनी यात्री इत्सिंग था। इसने सन् ६७१ से ६८५ तक भारतवर्ष की यात्रा की। यह सन् ६७५ से ६८५ तक दस वर्ष नालन्दा विश्वविद्यालय में रहा। इसने अपना यात्रावृत्तान्त सन् ६८१-८२ में लिखा है। इत्सिंग ने नालन्दा विश्वविद्यालय की शिक्षाप्रणाली आदि का अच्छा वर्णन किया है। वह विद्यालय के सम्प्रतिष्ठ ज्ञातकों की चर्चा के सिलसिले में लिखता है कि—“प्रत्येक पीढ़ी में ऐसे मनुष्यों में से केवल एक या दो ही प्रकट हुआ करते हैं जिनकी उपमा चाँद या सूर्य से होती है और उन्हें नाग और हाथी की तरह समझा जाता है। पहिले समय में नागार्जुनदेव, अश्वघोष, मध्यकाल में वसुबन्धु, असङ्ग, संघमद और भवविवेक, अन्तिम समय में जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ, जिनप्रभ ऐसे मनुष्य थे।” (इत्सिंग की भारतयात्रा पृ० २७७) इत्सिंग (पृ० २७८) फिर लिखते हैं कि—“धर्मकीर्ति ने ‘जिन’ के पश्चात् हेतुविद्या को और सुधारा। प्रज्ञागुप्त ने (मतिपाल नहीं) सभी विपक्षी मतों का खण्डन करके सच्चे धर्म का प्रतिपादन किया।” इन उल्लेखों से मालूम होता है कि—सन् ६८१ तक में धर्मकीर्ति की प्रसिद्धि ग्रन्थकार के रूप में हो रही थी। इत्सिंग ने धर्मकीर्ति के द्वारा हेतुविद्या के सुधारने का जो वर्णन किया है वह सम्भवतः धर्मकीर्ति के हेतुबिन्दु ग्रन्थ को लक्ष्य में रखकर किया गया है, जो हेतुविद्या

१ विभागके प्रमाणसमुच्चय पर विवेकविरचित टीका उपलब्ध है। सम्भव है वे जिनेन्द्र ही डुएनसाग के जिनमित्र हों।

का एक प्रधान ग्रन्थ है। वह इतना परिष्कृत एवं हेतुविद्या पर सर्वाङ्गीण प्रकाश डालनेवाला है कि केवल उसीके अध्ययन से हेतुविद्या का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है।

इत्सिंग के द्वारा धर्मपाल, गुणमति, स्थिरमति आदि के साथ ही साथ धर्मकीर्ति तथा धर्मकीर्ति के टीकाकार शिष्य प्रज्ञागुप्त का नाम लिए जाने से यह मालूम होता है कि—उसका उल्लेख किसी खास समय के लिए नहीं है किन्तु एक ८० वर्ष जैमे लम्बे समय वाले युग के लिए है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि—धर्मकीर्ति इत्सिंग के यात्राविवरण लिखने तक जीवित थे। यदि राहुलजी की कल्पनानुसार धर्मकीर्ति की मृत्यु हो गई होनी तो इत्सिंग जिस तरह भर्तृहरि को धर्मपाल का समकालीन लिखकर उनकी मृत्यु के विषय में भी लिखता है कि—‘उसे मरे हुए अर्थात् ४० वर्ष हो गए’ उसी तरह अपने प्रसिद्ध ग्रन्थकार धर्मकीर्ति की मृत्यु पर भी ‘ऑप्स’ बड़ाए बिना न रहता।

यद्यपि इत्सिंग धर्मकीर्ति को हेतुविद्या के सुधारक रूप से लिखता है, परन्तु वह हेतुविद्या में पाण्डित्य प्राप्त करने के लिये पठनीय शास्त्रों की सूची में हेतुद्वाराशास्त्र, हेत्वाभासद्वार, न्यायद्वार, प्रज्ञप्तिहेतु, एकीकृत अनुमानों पर शास्त्र, आदि ग्रन्थों का ही नाम लेता है, धर्मकीर्ति के किसी भी प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम नहीं लेता। इसके ये कारण हो सकते हैं—इत्सिंग ने अपना यात्रा विवरण चाइनी भाषा में लिखा है अतः अनुवादकों ने जिन शब्दों का हेतुद्वार न्यायद्वार तथा हेत्वाभासद्वार अनुवाद किया है उनका अर्थ हेतु-बिन्दु और न्यायबिन्दु भी हो सकता हो। अथवा धर्मकीर्ति को हेतुविद्या के सुधारक रूप में जानकर भी इत्सिंग उनके ग्रन्थों से परिचित न हो। अथवा उस समय धर्मकीर्ति के ग्रन्थों की अपेक्षा अन्य आचार्यों के ग्रन्थ नालन्दा में विशेषरूप से पठन गठन में आते होंगे।

इस विवेचन से हमारा यह निश्चित विचार है कि—भर्तृहरि (सन् ६०० से ६५०) के साथ ही साथ उसके आलोचक कुमारिल (सन् ६२० से ६८०) की भी आलोचना करने वाले, तथा प्रमाणवार्तिक, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, प्रमाणविनिश्चय, सन्तानान्तरसिद्धि, वादन्याय, सम्बन्ध परीक्षा आदि ६ ग्रौह, विस्तृत और सटीक प्रकरणों के रचयिता धर्मकीर्ति की समयावधि सन् ६२५—६५० में आगे लग्नी ही होगी। और वह अवधि सन् ६२० से ६६० तक रखनी समुचित होगी। इससे इत्सिंग के द्वारा धर्मकीर्ति के नाम का उल्लेख न होने का, तथा इत्सिंग द्वारा होनेवाले उल्लेख का वास्तविक अर्थ भी सगत हो जाता है। तथा तिब्बतीय इतिहासलेखक तारानाथ का धर्मकीर्ति को तिब्बत के राजा चोद् त्सन् गम् पो का, जिसने सन् ६२६ से ६८६ तक राज्य किया था, समकालीन लिखना भी युक्तियुक्त सिद्ध हो जाता है।

अकलकदेव ने भर्तृहरि कुमारिल तथा धर्मकीर्ति की समालोचना के साथ ही साथ प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, धर्मोत्तर आदि के विचारों का भी आलोचन किया है। इन सब आचार्यों के ग्रन्थों के साथ अकलक के ग्रन्थों की आन्तरिक तुलना अकलक के

समयनिर्णय में खास उपयोगी होगी। इसलिए अकलंक के साथ उक्त आचार्यों की तुलना क्रमशः की जाती है—

भर्तृहरि और अकलंक—भर्तृहरि के स्फोटवाद की आलोचना के सिलसिले में अकलंक देव ने अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक (पृ० २३१) में वाक्यपदीय की (१।७६) “इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्योभयस्य वा ।” इस कारिका में वर्णित इन्द्रियसंस्कार, शब्द-संस्कार तथा उभयसंस्कार रूप तीनों पक्षों का खंडन किया है।

राजवार्तिक (पृ० ४०) में वाक्यपदीय की “शाब्देषु प्रक्रियाभेदैरविधैवोपवर्ण्यते” [वाक्यप० २।२३५] यह कारिका उद्धृत की गई है। सिद्धिविनिश्चय (सिद्धिवि० टी० पृ० ५४६ से) के शब्दसिद्धि प्रकरण में भी स्फोटवाद का खंडन है। शब्दाद्वैतवाद का खंडन भी सिद्धिविनिश्चय में (टी० पृ० ४५८ से) किया गया है।

कुमारिल और अकलंक—अकलंकदेव के ग्रन्थों में कुमारिल के मन्तव्यों के आलोचन के साथ ही साथ कुछ शब्दसादृश्य भी पाया जाता है—

१—कुमारिल सर्वज्ञका निराकरण करते हुए लिखते हैं कि—

“प्रत्यक्षाद्यविसवादि प्रमेयत्वादि यस्य च ।

सद्भाववारेणे शक्तं को नु त कल्पयिष्यति ॥” [मी० श्लो० पृ० ८५]

अर्थात्—जब प्रत्यक्षादिप्रमाणों से अबाधित प्रमेयत्वादि हेतु ही सर्वज्ञ का सद्भाव रोक रहे हैं तब कौन उसे सिद्ध करने की कल्पना भी कर सकेगा ?

अकलंकदेव इसका प्रतिवन्दि उत्तर अपनी अष्टशती (अष्टसह० पृ० ५८) में देते हैं कि—“तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्पाति त कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितु वा” अर्थात्—जब प्रमेयत्व और सत्त्व आदि अनुमेयत्व हेतु का पोषण कर रहे हैं तब कौन चेतन उस सर्वज्ञ का प्रतिषेध या उसके सद्भाव में सशय कर सकता है ?

२ तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित के लेखानुसार कुमारिल ने सर्वज्ञनिराकरण में यह कारिका भी कही है कि—

“दश हस्तान्तरं व्योम्नो यो नामोद्भूतस्य गच्छति ।

न योजनशतं गन्तुं शक्नोऽभ्यासतैरपि ॥” [तत्त्वस० पृ० ८२६]

अर्थात्—यह समझ है कि कोई प्रयत्नशील पुरुष अभ्यास करने पर अधिक से अधिक १० हाथ ऊँचा कूद जाय; पर सैकड़ों वर्षों तक कितना भी अभ्यास क्यों न करे वह १०० योजन ऊँचा कभी भी नहीं कूद सकता। इसी तरह कितना भी अभ्यास क्यों न किया जाय ज्ञान का प्रकर्ष अतीन्द्रियार्थ के जानने में नहीं हो सकता।

अकलंकदेव सिद्धिविनिश्चय (टीका पृ० ४२५ B.) में इसका उपहास करते हुए लिखते हैं कि—

“दश हस्तान्तरं व्योम्नो नोल्खेरन् भवादृशः । योजनाना सहस्रं किं बोल्खेदधुना नरैः ॥”

अर्थात्—जब शारीरिक असामर्थ्य के कारण आप दस हाथ भी जेंचा नहीं कूद सकते तब दूसरो से हजार गोजन कूदने की आशा करना व्यर्थ है। क्योंकि अमुक मर्यादा से जेंचा कूदने में शारीरिकगुरुत्व बाधक होता है।

३—कुमारिल ने जैनसम्मत केवलज्ञान की उत्पत्ति को आगमाश्रित मानकर यह अन्योन्याश्रय दोष दिया है कि—‘केवलज्ञानं ह्येव विना आगम की सिद्धिर्नर्हा हो सकती तथा आगम सिद्धि ह्येव विना केवलज्ञान की उत्पत्ति नर्हा हो सकती’—

“एव ये, केवलज्ञानमिन्द्रियाचनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषय जीवस्य परिकल्पितम्॥

“नर्ते तदागमात्सिद्धोत् न च तेनागमो विना ।” [मी० श्लो० पृ० ८७]

अकलंकदेव न्यायविनिश्च (का० ४१२-१३) में भीमासारलोकवार्तिक के शब्दों को ही उद्धृत कर इसका उत्तर यह देते हैं कि—सर्वज्ञ और आगम की परम्परा अनादि है। इस पुरुष को केवलज्ञान पूर्व आगम से हुआ तथा उस आगम की उत्पत्ति तत्पूर्व सर्वज्ञ से। यथा—

“एव यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्। नर्ते तदागमात्सिद्धोत् न च तेन विनागमः ॥

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिगमो मतः। प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरित्यते ॥”

शाब्दिक तुलना—

“पुरुषोऽन्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ।” [मी० श्लो० पृ० ६१५]

“प्रत्यक्षप्रतिसिद्धेः कुण्डलादिषु सर्पवत् ।” [न्यायवि० का० ११७]

“तदयं भावः स्वभावेऽपि कुण्डलादिषु सर्पवत् ।” [प्रमाणसं० पृ० ११२]

धर्मकीर्ति और अकलंक-अकलक ने धर्मकीर्ति की केवल मार्मिक समालोचना ही नहीं की है, किन्तु परपक्ष के खडन में उनका शाब्दिक और आर्थिक अनुसरण भी किया है। अकलक के साहित्य का बहुभाग बौद्धों के खडन से भरा हुआ है। उसमें जहाँ धर्मकीर्ति के पूर्वज दिग्नाग आदि विद्वानों की समालोचना है वहाँ धर्मकीर्ति के उशरकालीन प्रज्ञाकर तथा कर्णकगोमि आदि के विचारों का भी निरसन किया गया है। अकलंक और धर्मकीर्ति की पारस्परिक तुलना कुछ उद्धरणों द्वारा स्पष्ट रूप से नीचे की जाती है—

१—धर्मकीर्ति के सन्तानान्तरसिद्धि प्रकरण का पहिला श्लोक यह है—

“बुद्धिपूर्वा क्रिया दृष्ट्वा स्वदेहेऽन्यत्र तद्ग्रहात् । मन्यते बुद्धिसद्भाव सा न येष्टु न तेषु धीः ॥”

अकलंकदेव ने राजवार्तिक (पृ० १६) में इसे ‘तदुक्तम्’ लिख कर उद्धृत किया है, तथा सिद्धिविनिश्चय (द्वितीय परि०) में तो ‘ज्ञायते बुद्धिरन्यत्र अस्मान्तैः पुरुषैः कचित्’ इस हेरफेर के साथ मूल में ही शामिल करके इसकी समालोचना की है।

२—हेतुविन्दु प्रथमपरिच्छेद का “अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रेक्षावान् प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेषते” यह वाक्य सधीयस्वय की स्तोपज्ञविवृति (पृ० ३) में मूलरूप से पाया जाता है। हेतुविन्दु की—

“पक्षधर्मस्तदशेन व्याप्तो हेतुस्त्रिवैव सः । अविनाभावनियमाद् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥”

इस आधकारिका की आलोचना सिद्धिविनिश्चय की हेतुलक्षणसिद्धि में की गई है ।

३—प्रमाणविनिश्चय के “सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्विधोः” वाक्य की अष्टशती (अष्टसह० पृ० २४२) में उद्धरण देकर आलोचना है ।

४—वादन्याय की—“असाधनाङ्गवचनमदोपेक्षावन् द्वयोः ।

निग्रहस्यानमन्यतु न युक्तमिति नेष्यते ॥”

इस आधकारिका की समालोचना न्यायविनिश्चय (का० ३७८) में, सिद्धिविनिश्चय के जल्पसिद्धि प्रकरण में, तथा अष्टशती (अष्टसह० पृ० ८१) में हुई है ।

५—प्रमाणवार्तिक स्वोपज्ञवृत्ति का “तस्मादेकस्य भावस्य यावन्ति पररूपाणि तावत्स्वस्तदपेक्षाः तदसम्भवि कार्यकारणाः तस्य मेदात् यावन्त्यश्च व्यावृत्तयः तावत्यः श्रुतयः ।” यह अश अष्टशती (अष्टसह पृ० १३८) के “ततो यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि” इस अश से शब्द तथा अर्थदृष्ट्या तुलनीय है ।

६—प्रमाणवार्तिक की आलोचना तथा तुलना के लिए उपयोगी अवतरण न्याय-विनिश्चयादि ग्रन्थों में प्रचुर रूप से पाए जाते हैं । ये सब अवतरण प्रस्तुतग्रन्थत्रय के टिप्पणों में संगृहीत किए हैं । देखो—लघी० टि० पृ० १३१-१३३, १३६-१३८, १४१, १४२, १४६, १४७, १५२ तथा न्यायविनिश्चय टि० पृ० १५५-१५७, १५८-१७० में आए हुए प्रमाणवार्तिक के अवतरण ।

प्रज्ञाकरगुप्त और अकलङ्क-धर्मकीर्ति के टीकाकारों में प्रज्ञाकरगुप्त एक मर्मज्ञ टीकाकार है । ये केवल टीकाकार ही नहीं हैं किन्तु कुछ अपने खतन्त्र विचार भी रखते हैं । इनका समय अभी तक पूर्ण रूप से निश्चित नहीं है । डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण उन्हें १० वीं सदी का विद्वान् बताते हैं । मित्तु राहुल सांकृत्यायनजी ने टिवेटियन गुरुपरम्परा के अनुसार इनका समय सन् ७०० दिया है । इनका नामोल्लेख अनन्त-वीर्य सिद्धिविनिश्चयटीका में, विद्यानन्द अष्टसहस्री में, तथा प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड में करते हैं । जयन्तभट्ट ने (न्यायम० पृ० ७४) जिनका समय ईस्वी ८ वीं का मध्य भाग है, इनके वार्तिकालङ्कार के “एकमेवेद सविद्वप ऋषिषादाशनेकाकारविवर्त्त पर्यायः तत्र यथेष्टं संज्ञा-क्रियन्ताम्” इस वाक्य का खडन किया है । अतः इनका समय ८ वीं सदी का प्रारम्भिक भाग तो होना ही चाहिये । इत्सिंग ने अपने यात्रा विवरण में एक प्रज्ञागुप्त नाम के विद्वान् का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—“प्रज्ञागुप्त (मतिपाल नहीं) ने सभी विपक्षी मतों का खडन करके सच्चे धर्म का प्रतिपादन किया ।” हमारे विचार से इत्सिंग के द्वारा प्रशंसित प्रज्ञागुप्त दूसरे व्यक्ति नहीं हैं । वे वार्तिकालङ्कार के रचयिता प्रज्ञाकरगुप्त ही हैं; क्योंकि इनके वार्तिकालङ्कार में विपक्ष खडन का भाग अधिक है ।

इस तरह सन् ६९१-८२ में लिखे गए यात्रा विवरण में प्रज्ञाकरगुप्त का नाम

होने से ये भी धर्मकीर्ति के समकालीन ही है। हाँ, धर्मकीर्ति वृद्ध तथा प्रज्ञाकर युवा रहे होंगे। अतः इनका समय भी करीब ६७० से ७२५ तक मानना ठीक है। यह समय मित्रु राहुलजी द्वारा सूचित टिबेटियन गुरुपरम्परा के अनुसार भी ठीक बैठता है। प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालंकार की मित्रु राहुलजी द्वारा की गई प्रेसकापी पलटने से मालूम हुआ कि प्रज्ञाकर ने मात्र प्रमाणवार्तिक की टीका ही नहीं की है; किन्तु कुछ अपने स्वतन्त्र विचार भी प्रकट किए हैं। जैसे—

१—सुष्ठु अवस्था मे ज्ञान की सत्ता नहीं मानकर जाग्रद् अवस्था के ज्ञान को प्रबोध अवस्थाकालीन ज्ञान में कारण मानना तथा भाविमरण को अरिष्ट—अपशकुन में कारण मानना। तात्पर्य यह कि—अतीतकारणवाद और भाविकारणवाद दोनों ही प्रज्ञाकर के द्वारा आविष्कृत हैं। वे वार्तिकालंकार में लिखते हैं कि—

“अविद्यमानस्य कारणमिति कोऽर्थः ? तदनन्तरभाविनी तस्य सत्ता, तदेतदानन्तर्य-मुभयापेक्षयापि समानम्। यथैव भूतापेक्षया तथा भाव्यपेक्षयापि। नचानन्तर्यमेव तत्त्वे निबन्धनम्, व्यवहितस्यापि कारणत्वात्।

गाढसुप्तस्य विज्ञान प्रबोधे पूर्ववेदनात्। जायते व्यवधानेन कालेनेति विनिश्चितम्॥ तस्मादन्यव्यतिरेकानुविधायित्वं निबन्धनम्। कार्यकारणभावस्य तद्भाविन्यपि विद्यते॥ भावेन च भावो भाविनापि लक्ष्यत एव। मृत्युप्रसूक्तमरिष्टमिति लोके व्यवहारः, यदि मृत्युर्न भविष्यन् भवेदेवम्भूतमरिष्टमिति।” [वार्तिकालंकार पृ० १७६]

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ११० A) का यह उल्लेख—“ननु प्रज्ञाकरमिमापेक्ष भाविरोहिण्युदयकार्यतया कृतिकोदयस्य गमकत्वात् कथं कार्यहेतौ नास्यान्तर्भावः”—इस बात का सबल प्रमाण है कि—प्रज्ञाकरगुप्त भाविकारणवादी थे। इसी तरह व्यवहितकारणवाद के सिलसिले में अनन्तवीर्य का यह लिखना कि “इति प्रज्ञाकरगुप्तस्यैव मतं न धर्मोत्तरादीनामिति मन्यते।” [सिद्धिवि० टी० पृ० १६१A.] प्रज्ञाकर के व्यवहितकारणवादी होने का खासा प्रमाण है। प्रज्ञाकर के इस मत को समकालीन धर्मोत्तर आदि तथा उत्तरकालीन शान्तरक्षित आदि नहीं मानते थे।

२—स्वप्नान्तिकशरीर—प्रज्ञाकर स्वप्न में स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर मानता है। स्वप्न में जो शरीर का दौड़ना, त्रास, भूख, प्यास, मेरुपर्वतादि पर गमन आदि देखे जाते हैं वे सब क्रियाएँ, मौजूदा स्थूलकाय के अतिरिक्त जो सूक्ष्मशरीर बनता है, उसीमें होती हैं। इस सूक्ष्मशरीर को वह स्वप्नान्तिकशरीर शब्द से कहता है। यथा—“यथा स्वप्नान्तिकः कायः त्रासलघनभावैः। जाग्रदेहविकारस्य तथा जन्मान्तरेष्वपि॥”

“स्वप्नान्तिकशरीरसञ्चारदर्शनात्” [वार्तिकालंकार पृ० १४८, १८४]

अनन्तवीर्याचार्य के सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० १३८ B.) में उल्लिखित “प्रज्ञाकरस्तु स्वप्नान्तिकशरीरवादी” वाक्य से स्पष्ट है कि यह मत भी प्रज्ञाकरगुप्त का था।

३—धर्मकीर्ति ने सुगत की सर्वज्ञता के समर्थन में अपनी शक्ति न लगाकर धर्मज्ञत्व का समर्थन ही किया है। पर प्रज्ञाकर धर्मज्ञत्व के साथ ही साथ सर्वज्ञत्व का भी समर्थन करते हैं। सर्वज्ञत्व के समर्थन में वे 'सत्यस्वप्रज्ञान' का दृष्टान्त भी देते हैं। यथा—

“इहापि सत्यस्वप्नदर्शिनोऽतीतादिकं सविदन्येव” [वार्तिकालंकार पृ० ३६]

४—पीतशंखादिज्ञानों के द्वारा अर्थक्रिया नहीं होती, अतः वे प्रमाण नहीं हैं, पर सत्यानमात्र अंश से होने वाली अर्थक्रिया तो उनसे भी हो सकती है, अतः उस अंश में उन्हें अनुमानरूप से प्रमाण मानना चाहिए, तथा अन्य अंश में संशयरूप। इस तरह इस एक ज्ञान में आशिक प्रमाणाता तथा आशिक अप्रमाणाता है। यथा—

“पीतशंखादिविज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात्। सत्यानमात्रार्थ-
क्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानम्; तथाहि—

‘प्रतिमास एवम्भूतो यः स न संस्थानवर्जितः। एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत् ॥’
ततोऽनुमानं सत्याने, संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च, अनेन
मणिप्रमाया मणिज्ञानं व्याख्यातम् ।” [वार्तिकालंकार पृ० ६]

अकलङ्कदेव ने प्रज्ञाकरगुप्त के उक्त सभी सिद्धान्तों का खंडन किया है। यथा—

१—अकलङ्कदेव ने सिद्धिविनिश्चय में जीव का स्वरूप बताते हुए ‘अभिज्ञः
सविद्यात्मार्यः स्वापप्रबोधादौ’ विशेषण दिया है। इसका तात्पर्य है कि—स्वाप और प्रबोध
तथा मरण और जन्म आदि में जीव अभिज्ञ रहता है, उसकी सन्तान विच्छिन्न नहीं
होती। इसीका व्याख्यान करते हुए उन्होंने लिखा है कि—‘तदभावे मिद्धादेरनुपपत्तेः’
यदि सुप्तादि अवस्थाओं में ज्ञान का अभाव माना जायगा तो मिद्धा-अतिनिद्रा मूर्च्छा आदि
नहीं बन सकेगी; क्योंकि सर्वथा ज्ञान का अभाव मानने से तो श्रुत्य ही हो जायगी।
मूर्च्छा और अतिनिद्रा व्यपदेश तो ज्ञानका सङ्काव मानने पर ही हो सकता है। हाँ,
उन अवस्थाओं में ज्ञान तिरोहित रहता है। अनन्तवीर्याचार्य ‘तदभावे मिद्धादेरनुपपत्तेः’
वाक्य का व्याख्यान निम्नरूप से करते हैं—“ननु स्वापे ज्ञानं नास्त्येव इति चेदत्राह—
‘तदभाव इत्यादि’ ज्ञानस्य असति मिद्धादेः अनुपपत्तेः इति। मिद्धो निद्रा आदिः यस्य
मूर्च्छादिः तस्यानुपपत्तेः मरणोपपत्तेः अवस्थाचतुष्टयाभावः तदवस्थ एव ।” [सिद्धिवि० टी०
पृ० ५७६ A] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि—अकलङ्कदेव सुषुप्तावस्था में ज्ञान नहीं मानने
वाले प्रज्ञाकर का खंडन करते हैं। अत एव वे न्यायविनिश्चय (का० २२२) में भी जीव-
स्वरूप का निरूपण करते हुए ‘सुषुप्तादौ बुद्धः’ पद देते हैं। इसके अतिरिक्त व्यवहित-
कारणवाद पर भी उन्होंने आक्षेप किया है। (देखो सिद्धिवि० टी० पृ० १६१ A ।)

इसके सिवाय अकलङ्कदेव सिद्धिविनिश्चय प्रथमपरिच्छेद में स्पष्टरूप से लिखते हैं
कि—“ न हि स्वापादौ चित्तचैतसिकान्गमभाव प्रतिपद्यमानान् प्रमाणमस्ति ” अर्थात्—
जो लोग स्वापादि अवस्थाओं में निर्विकल्पक और सविकल्पकज्ञान का अभाव मानते

हैं उनका ऐसा मानना प्रमाणहीन है। इस पंक्ति से अकलङ्क के द्वारा प्रज्ञाकर के अतीतकारणवाद के ऊपर किए गए आक्षेप की बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है।

२-न्यायविनिश्चय (का० ४७) में अकलङ्कदेव ने प्रज्ञाकर के स्वमान्तिकशरीर का अन्तःशरीर शब्द से उल्लेख करके पूर्वपक्ष किया है। सिद्धिविनिश्चय (टीका पृ० १३८ B.) में भी अकलङ्क ने स्वमान्तिक शरीर पर आक्रमण किया है।

३-अकलङ्कदेव प्रज्ञाकर की तरह सर्वज्ञता के समर्थन में न्यायविनिश्चय (कारि० ४०७) में स्वम का दृष्टान्त देते हैं। तथा प्रमाणसंग्रह (पृ० १६) में तो स्पष्ट ही सत्यसमज्ञान का ही उदाहरण उपस्थित करते हैं। यथा—“स्वयंप्रमुखलङ्घनार्हः स्वार्थालोक-परिस्फुटमवभासते सत्यस्वभवत् ।”

४-जिस प्रकार प्रज्ञाकरगुप्त ने पीतशंखादिज्ञान को संस्थानमात्र अंश में प्रमाण तथा इतरांश में अप्रमाण कहा है। उसी तरह अकलङ्क भी लघीपक्षय तथा अष्टशती में द्विचन्द्रज्ञान को चन्द्रांश में प्रमाण तथा द्वित्वांश में अप्रमाण कहते हैं। दोनों ग्रन्थों के भवतरण के लिए देखो—सची० टि० पृ० १४० पं० २० से। अष्टशती में तो अकलङ्कदेव प्रज्ञाकर गुप्त की संस्थानमात्र में अनुमान मानने की बात पर आक्षेप करते हैं। यथा—“नापि लैङ्गिकं लिंगलिंगिसम्बन्धाप्रतिपत्तेः अन्यथा दृष्टान्तेतरयोरैकत्वात् किं केन कृतं स्यात् ।” [अष्टश० अष्टसह० पृ० २७७]

इसके अतिरिक्त हम कुछ ऐसे वाक्य उपस्थित करते हैं जिससे प्रज्ञाकर और अकलङ्क के ग्रन्थों की शब्दिक और आर्थिक तुलना में बहुत मदद मिलेगी।

“एकमेवेदं सविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्त पर्यायः तत्र यथेष्टं संज्ञाः क्रियन्ताम्” [वार्तिकालंकार]

“हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तज्ञानवृत्तेः प्रकृतेरपरां चैतन्यवृत्तिं कः प्रेक्षावान् प्रतिजानीते ।” [सिद्धिवि० टी० पृ० ५२६ B.] शेष के लिए देखो—सची० टि० पृ० १३५ पं० ३१, न्यायवि० टि० पृ० १५६ पं० ११, पृ० १६२ पं० १३, पृ० १६५ पं० २०।

प्रज्ञाकरगुप्त ने प्रमाणवार्तिक की टीका का नाम प्रमाणवार्तिकालंकार रखा है। इसीलिए उत्तरकाल में इनकी प्रसिद्धि ‘अलङ्कारकार’ के रूप में भी रही है। अकलङ्कदेव का ‘तत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार’ या ‘तत्त्वार्थवार्तिकन्याख्यानालंकार’ नाम भी वार्तिकालंकार के नामप्रभाव से अज्ञात नहीं मालूम होता। इस तरह उपर्युक्त दलीलों के आधार से कहा जा सकता है कि—अकलङ्कदेव ने धर्मकीर्ति की तरह उनके टीकाकार शिष्य प्रज्ञाकरगुप्त को देखा ही नहीं था किन्तु उनकी समालोचना भी बट कर की है।

कर्णकगोमि और अकलङ्क—धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रथम-स्वार्थानुमान परिच्छेद पर ही वृत्ति बनाई थी। इस वृत्ति की कर्णकगोमिरचित टीका के श्रृंखला हमारे सामने हैं। कर्णकगोमि के समय का विलक्षण ठीक निश्चय न होने पर भी इतना तो

उनके ग्रन्थ देखने से कहा जा सकता है कि—ये मंडनमिश्र के बाद के हैं। इन्होंने अनेकों जगह मण्डनमिश्र का नाम लेकर कारिकाएँ उद्धृत की हैं तथा उनका खंडन किया है। इनने प्रमाणवा० खट्ट० टीका (पृ० ८८) में ‘तदुक्तं मण्डनेन’ कहकर “आहुर्विधात् प्रत्यक्षं न निषेद्धं विपश्चितः। नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ॥” यह कारिका उद्धृत की है, तथा इसका खंडन भी किया है।

मण्डनमिश्र ने स्फोटसिद्धि (पृ० १६३) में मी० श्लोकवार्तिक (पृ० ५४२) की “वर्णा वा ध्वनयो वापि” कारिका उद्धृत की है, तथा विधिविवेक (पृ० २७६) में तन्त्र-वार्तिक (२।१।१) की ‘अभिधामावनामाहुः’ कारिका उद्धृत की है। इसलिए इनका समय कुमारिल (सन् ६०० से ६८०) के बाद तो होना ही चाहिए। वृहती द्वितीयभाग की प्रस्तावना में इनका समय सन् ६७० से ७२० सूचित किया है, जो युक्तियुक्त है।

अतः मण्डन का उल्लेख करनेवाले कर्णकगोमि का समय ७०० ई० के बाद होना चाहिए। ये प्रज्ञाकरगुप्त के उत्तरकालीन मालूम होते हैं; क्योंकि इन्होंने अपनी टीका में (पृ० १३७) ‘अलङ्कार एव अवस्तुत्वप्रतिपादनात्’ लिखकर वार्तिकालङ्कार का उल्लेख किया है। अतः इनका समय ६६० से पहिले होना संभव ही नहीं है।

अकलंकदेव ने प्रमाणसंग्रह में इनके मत की भी आलोचना की है। यथा—

जब कुमारिल आदि ने बौद्धसम्मत पक्षधर्मत्वरूप पर आक्षेप करते हुए कहा कि कृतिकोदयादि हेतु तो शकटोदयादि पक्ष में नहीं रहते, अतः हेतु का पक्षधर्मत्वरूप अव्य-मिचारी कैसे कहा जा सकता है? तब इसका उत्तर कर्णकगोमि ने अपनी खट्टसिद्धिटीका में इस प्रकार दिया है कि—काल को पक्ष मानकर पक्षधर्मत्व घटाया जा सकता है। यथा—“तदा च स एव कालो धर्मी तत्रैव च साध्यानुमान चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्ष-धर्मत्वम् ? [प्रमाणवा० खट्ट० टी० पृ० ११]

अकलंकदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—यदि कालादि को धर्मी मान-कर पक्षधर्मत्व सिद्ध करोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा। यथा—“कालादिधर्मिकल्पनाया-मतिप्रसङ्गः।” [प्रमाणसं० पृ० १०४]

धर्मोत्तर और अकलंक-अज्ञाकार की तरह धर्मोत्तर भी धर्मकीर्ति के यशस्वी टीकाकार हैं। इन्होंने प्रमाणविनिश्चय न्यायविन्दु आदि पर टीका लिखने के सिवाय कुछ स्वतन्त्र प्रकरण भी लिखे हैं। न्यायविनिश्चयविवरणकार (पृ० ३६० B) के लेखानुसार मालूम होता है कि—अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय (का० १६२) में धर्मोत्तर (न्यायवि० टी० पृ० १६) के मानसप्रत्यक्ष विषयक निचारों की आलोचना की है। इसी तरह वे न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० २६ B) में लिखते हैं कि—चूर्णि में अकलंकदेव ने धर्मोत्तर के (न्यायविन्दुटीका पृ० १) आदिवाक्यप्रयोजन तथा शास्त्रशरीरोपदर्शन का प्रतिक्षेप किया है। यह चूर्णि अकलंकदेव की ही है; क्योंकि—“तथा च सूक्तं चूर्णौ

देवत्य वचनम्' इस उल्लेख के साथ ही एक श्लोक न्यायविनिश्चयविवरण में उद्धृत देखा जाता है (देखो इसी ग्रन्थ का परिशिष्ट ६ वां)। इसी तरह अनन्तवीर्याचार्य ने सिद्धिविनिश्चय के अनेक वाक्यों को धर्मोत्तर के खडन रूप में सूचित किया है। धर्मोत्तर करीब करीब प्रज्ञाकर के समकालीन मालूम होते हैं।

शान्तरक्षित और अकलंक—धर्मकीर्ति के टीकाकारों में शान्तरक्षित भी अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्होंने वादन्याय की टीका के सिवाय तत्त्वसंग्रह नाम का विशाल ग्रन्थ भी लिखा है। इनका समय सन् ७०५ से ७६२ तक माना जाता है। (देखो तत्त्वसंग्रह की प्रस्तावना) अकलंक और शान्तरक्षित की तुलना के लिए हम कुछ वाक्य नीचे देते हैं—

“वृत्ते शाखाः शिलाश्वाङ्ग इत्येषा लौकिका मतिः।” [तत्त्वसं० पृ० २६७]

“तानेव पर्यन् प्रत्येति शाखा वृत्तेऽपि लौकिकः।” [न्यायविनि० का० १०४,
प्रमाणसं० का० २६]

“अविकल्पमविभ्रान्त तद्योगीश्वरानामसम्।” [तत्त्वसं० पृ० ६३४]

“अविकल्पकमभ्रान्त प्रत्यक्षं न पटीयसाम्।” [न्यायवि० का० १५५]

“एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः। निहन्तु हेतवोऽसत्ता-कोन त कल्पयिष्यति॥”
[तत्त्वसं० पृ० ८८५]

“तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्पाति त कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति सशयितु वा।” (अष्टश० अष्टसह० पृ० ५८)

इनके सिवाय शान्तरक्षित ने सर्वज्ञसिद्धि में ईक्षणिकादिविद्या का दृष्टान्त दिया है।

यथा—“अस्ति हीक्षणिकाद्याख्या विद्या या (या) सुविभाविता।

परचित्तपरिज्ञान करोतीदिव जन्मनि ॥” [तत्त्वसं० पृ० ८८८]

अकलंकदेव भी (न्यायवि० का० ४०७) सर्वज्ञसिद्धि में ईक्षणिकाविद्या का दृष्टान्त देते हैं।

इन अवतरणों से अकलंक और शान्तरक्षित के विन्वप्रतिविन्वभाव का आभास हो सकता है।

अकलंक के साथ की गई प्रज्ञाकर आदि की तुलना से यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है कि अकलंकदेव इनके उत्तरकालीन नहीं तो लघुसमकालीन तो अवश्य ही हैं। उक्त समस्त आचार्यों को खींच कर एक काल में किसी भी तरह नहीं रखा जा सकता। अतः भर्तृहरि के समालोचक कुमारिल, कुमारिल का निरसन करने वाले धर्मकीर्ति, धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्त तथा प्रज्ञाकरगुप्त के वार्तिकालंकार के बाद बनी हुई कर्णकगोमि की टीका तक का आलोचन करने वाले अकलंक किसी भी तरह कुमारिल और धर्मकीर्ति के समकालीन नहीं हो सकते। धर्मकीर्ति के समय से इनको अवश्य ही कम से कम ५० वर्ष बाद रखना होगा। इन पचास वर्षों में प्रमाणवार्तिक की टीका वार्तिकालंकार की रचना तथा कर्णकगोमि की टीका की रचना होगी,

और उसने इतनी प्रसिद्धि पाई होगी कि जिससे वह अकलंक जैसे तार्किक को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। अतः अकलंक का समय ७२० से ७८० तक मानना चाहिए। पुराने जमाने में आज जैसे प्रेस डॉक आदि शीघ्र प्रसिद्धि के साधन नहीं थे, जिनसे कोई लेखक या ग्रन्थकार ५ वर्ष में ही दुनिया के इस छोर से उस छोर तक ख्याति प्राप्त कर लेता है। फिर उस समय का साम्प्रदायिक वातावरण ऐसा था जिससे काफी प्रसिद्धि या विचारों की मौलिकता ही प्रतिपक्षी विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकती थी, और इस प्रसिद्धि में कम से कम १५-२० वर्ष का समय तो लगना ही चाहिए। इस विवेचना के आधार पर हम निम्न आचार्यों का समय इस प्रकार रख सकते हैं—

भट्टहरि ६०० से ६५० तक	प्रज्ञाकर ६७० से ७२५ तक
कुमारिल ६०० से ६८० तक	कर्णकगोमि ६१० से ७५० तक
धर्मकीर्ति ६२० से ६१० तक	शान्तरक्षित ७०५ से ७६२ तक
धर्मोत्तर ६५० से ७२० तक	अकलंक ७२० से ७८० तक

तात्पर्य यह कि— भट्टहरि की अन्तिम कृति वाक्यपदीय सन् ६५० के आसपास बनी होगी। वाक्यपदीय के श्लोकों का खंडन करने वाला कुमारिल का मीमांसारलोक-वार्तिक और तन्त्रवार्तिक जैसा महान् ग्रन्थ सन् ६६० से पहिले नहीं रचा गया होगा। कुमारिल के मीमांसारलोकवार्तिक की समालोचना जिस धर्मकीर्तिकृत बृहत्क्याय प्रमाण-वार्तिक में है, उसकी रचना सन् ६७० के आसपास हुई होगी। प्रमाणवार्तिक पर प्रज्ञाकरगुप्त की अतिविस्तृत वार्तिकालंकार टीका सन् ६८५ के करीब रची गई होगी। वार्तिकालंकार का उल्लेख करने वाली कर्णकगोमि की विशाल प्रमाणवार्तिकरबोपबृद्धि-टीका की रचना ७२० से पहिले कम संभव है। अतः इन सब ग्रन्थों की आलोचना करने वाले अकलंक का समय किसी भी तरह सन् ७२० से पहिले नहीं जा सकता। अकलंक चरित के '७०० विक्रमार्कशताब्द' वाले उल्लेख को हमें इन्हीं प्रमाणों के प्रकाश में देखना है। यदि १६ वीं सदी के अकलंक चरित की वीं हुई शास्त्रार्थ की तिथि ठीक है तो वह विक्रमसंवत् की न होकर शक संवत् की होनी चाहिए। शकसंवत् का उल्लेख भी 'विक्रमार्कशताब्द' शब्द से पाया जाता है। अकलंक का यह समय मानने से प्रमाणचन्द्र के कथाकोश का उन्हें शुभतुंग (कृष्णराज प्र० राज्य सन् ७५८ के बाद) का मन्त्रिपुत्र वतचाना, मल्लिषेणप्रशस्ति का साहसतुंग (दन्तिदुर्गादि०, राज्य सन् ७४५-७५८) की समा में उपस्थित होना आदि घटनाएँ युक्तिसंगत समयवाली सिद्ध हो जाती हैं। सोलहवीं सदी के अकलंकचरित की अपेक्षा हमें १४ वीं सदी के कथाकोश तथा १२ वीं सदी की मल्लिषेणप्रशस्ति को अप्रस्थान देना ही होगा, जब कि उसके साधक तथा पोषक अन्य आन्तरिक प्रमाण उपलब्ध हो रहे हैं। इति।



२. ग्रन्थ

[बाह्यस्वरूपपरिचय]

§ १. ग्रन्थत्रय की अकलङ्ककर्तृकता-

प्रस्तुत ग्रन्थत्रय के कर्त्ता प्रखर तार्किक, वाग्मी श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेव हैं। अकलङ्क-देव की यह शैली है कि—वे अपने ग्रन्थों में कहीं न कहीं 'अकलङ्क' नाम का प्रयोग करते हैं। कहीं वह प्रयोग जिनेन्द्र के विशेषणरूप से हुआ है तो कहीं ग्रन्थ के विशेषणरूप से और कहीं किसी लक्ष्य के लक्षणभूत शब्दों में विशेषणरूप से।

लघीयल्लय के प्रमाणनयप्रवेश के अन्त में आए हुए 'कृतिरियं सकलवादिचक्र-चक्रवर्तिनो भगवतो भट्टाकलङ्कदेवस्य' इस पुष्पिकावाक्य से, कारिका नं० ५० में प्रयुक्त 'प्रेक्षावानकलङ्कमेति' पद से, तथा कारिका नं० ७८ में कथित 'भगवदकलङ्कानाम्' पद से ही लघीयल्लय की अकलङ्ककर्तृकता स्पष्ट है और अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धिविनिश्चय-टीका (पृ० ६६ B) में उद्धृत "तदुक्तम् लघीयल्लये-प्रमाणफलयोः " इस वाक्य से, आचार्य विद्यानन्द द्वारा प्रमाणपरीक्षा (पृ० ६६) एवं अष्टसहस्री (पृ० १३४) में 'तदुक्तमकलङ्कदेवैः' कहकर उद्धृत लघीयल्लय की तीसरी कारिका से, तथा तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक (पृ० २३६) में 'अत्र अकलङ्कदेवाः प्राहुः' करके उद्धृत लघीयल्लय की १० वीं कारिका से लघीयल्लय की अकलङ्ककर्तृकता समर्थित होती है। आचार्य मलय-गिरि आवरयकनिर्युक्ति की टीका (पृ० ३७० B.) में 'तथा चाह्यकलङ्क' कहकर लघीयल्लय की ३० वीं कारिका उद्धृत करके लघीयल्लय की अकलङ्ककर्तृता का अनुमो-दन करते हैं।

न्यायविनिश्चय कारिका नं० ३८६ में प्रयुक्त 'विलम्बैरकलङ्करत्ननिचयन्यायो' पद से, तथा कारिका नं० ४८० में 'आमव्यादकलङ्कमङ्गलफलम्' पद के प्रयोग से केवल न्यायविनिश्चय की अकलङ्ककर्तृकता द्योतित ही नहीं होती; किन्तु न्यायविनिश्चय-विवरणकार वादिराजसूरि के उल्लेखों से तथा आचार्य अनन्तवीर्यद्वारा सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० २०८ B.) में, एवं आचार्य विद्यानन्द द्वारा आसपरीक्षा (पृ० ४६) में 'तदुक्तम-कलङ्कदेवैः' कहकर उद्धृत की गई इसकी ५१ वीं कारिका से इसका प्रबल समर्थन भी होता है। आचार्य धर्ममूषण ने तो न्यायदीपिका (पृ० ८) में 'तदुक्तं भगवद्विरकलङ्कदेवैः न्यायविनिश्चये' लिखकर न्यायविनिश्चय की तीसरी कारिका उद्धृत करके इसका अस-न्दिग्ध अनुमोदन किया है।

बनाकर बाकी को गद्य भाग में लिखते हैं। अतः विषय की दृष्टि से गद्य और पद्य दोनों मिलकर ही ग्रन्थ की अखण्डता स्थिर रखते हैं। धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक की वृत्ति भी कुर्खु इसी प्रकार की है। उसमें भी कारिकोक्त पदार्थ की पूर्ति तथा स्पष्टता के लिए बहुत कुछ लिखी गया है। अकलङ्क के प्रमाणसंग्रह का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि—
अकलङ्क के गद्यभाग को हम शुद्ध वृत्ति नहीं कह सकते, क्योंकि शुद्ध वृत्ति में मात्र मूलकारिकों का व्याख्यान होना ही आवश्यक है, पर लघीयल्लय की विवृति या प्रमाणसंग्रह के गद्यभाग में व्याख्यानात्मक अंश नहीं के ही बराबर है। हाँ, कारिकोक्त पदों को आधार बनाकर उसी विषय का शेष वक्तव्य गद्यरूप में उपस्थित कर दिया है। व्याख्याकार प्रभावचन्द्र ने इसको विवृति माना है और वे कारिका का व्याख्यान करके जब गद्य भाग का व्याख्यान करते हैं तब 'विवृति विवृण्वाह' लिखते हैं। विवृति शब्द का प्रयोग हमारे विचार से खालिस टीका या वृत्ति के अर्थ में न होकर तत्सम्बद्ध शेष वक्तव्य के अर्थ में है। १

लघीयल्लयमे चर्चित विषय संक्षेप में इस प्रकार है—

प्रथमपरि० में—सम्बन्धज्ञान की प्रमाणाता, प्रत्यक्ष परोक्ष का लक्षण, प्रत्यक्ष के साव्यवहारिक और मुख्य रूप से दो भेद, साव्यवहारिक के इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष रूपसे भेद, मुख्यप्रत्यक्ष का समर्थन, साव्यवहारिक के अवग्रहादिरूप से भेद तथा उनके लक्षण, अवग्रहादिके बह्वादिरूप भेद, भावेन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय के लक्षण, पूर्व पूर्वज्ञान की प्रमाणाता में उत्तरोत्तर ज्ञानों की फलरूपता आदि विषयों की चर्चा है।

द्वितीयपरि० में—द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का प्रमाणविषयत्व तथा अर्थक्रियाकारित्व, नित्यैकान्त तथा क्षणिकैकान्त में क्रमयोगपञ्चरूपसे अर्थक्रियाकारित्व का अभाव, निष्प्रमाणने पर विक्रिया तथा अविक्रिया का अविरोध आदि प्रमाण के विषय से सम्बन्ध रखनेवाले विचार प्रकट किए हैं।

तृतीयपरि० में—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, तथा अभिनिबोध का शब्दयोजना से पूर्व अवस्था में मतिव्यपदेश तथा उत्तर अवस्था में श्रुतव्यपदेश, व्याप्ति का ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा असम्भव होने से व्याप्तिग्राही तर्क का प्रामाण्य, अनुमान का लक्षण, जलचन्द्र के दृष्टान्त से कारण हेतु का समर्थन, कृतिकोदय आदि पूर्वचर हेतु का समर्थन, अदृश्यानुपलब्धि से भी परचैतन्य आदि का अभावज्ञान, नैयायिकाभिमत उपमान का सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव, प्रत्यभिज्ञान के वैसदृश्य आपेक्षिक प्रतियोगि आदि भेदों का निरूपण, बौद्ध मत में स्वभावादि हेतुओं के प्रयोग में कठिन्ता, अनुमानानुमेयव्यवहार की वास्तविकता एवं विकल्पबुद्धि की प्रमाणाता आदि परोक्षज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विषयों की चर्चा है।

चतुर्थपरि० में—किसी भी ज्ञान में ऐकान्तिक प्रमाणाता या अप्रमाणाता का निषेध करके प्रमाणाभास का स्वरूप, सविकल्पज्ञान में प्रत्यक्षाभासता का अभाव, अविसंवाद

‘प्रमाणनयप्रवेश’ एक अखण्ड प्रकरण नहीं था, वे उसे दो स्वतन्त्र प्रकरण मानते थे । इसका आधार यह है कि—सिद्धिविनिरचय टीका (पृ० ५७२ B.) में शब्दनयादि का लक्षण करके वे लिखते हैं कि “ एतेषामुदाहरणानि नयप्रवेशकप्रकरणादवगन्तव्यानि ”—इनके उदाहरण नयप्रवेशकप्रकरण से जानना चाहिए । यहां नयप्रवेश को स्वतन्त्र प्रकरण रूप में उल्लेख करने से अनुमान किया जा सकता है कि अनन्तवीर्य की दृष्टि में प्रमाणप्रवेश और नयप्रवेश दो प्रकरण थे । और यह बहुत कुछ संभव है कि उनने ही प्रवचनप्रवेश को मिलाकर इनकी ‘लघीयलक्ष्य’ संज्ञा दी हो । उस समय प्रवेशक और लघु ग्रन्थो को प्रकरण शब्द से कहने की परम्परा थी । जैसे न्यायप्रवेशप्रकरण, न्याय-विन्दुप्रकरण आदि । अनन्तवीर्य के इस लघीयलक्ष्य संज्ञाकरण के बाद तो इनकी प्रमाण-नयप्रवेश तथा प्रवचनप्रवेश संज्ञा लघीयलक्ष्य के तीन प्रवेशो के रूप में ही रही ग्रन्थ के नाम के रूप में नहीं ।

अस्तु, लघीयलक्ष्य नाम का इतिहास जान लेने के बाद अब हम इसका एक अखण्ड ग्रन्थ के रूप में ही वर्णन करेंगे; क्योंकि आज तक निर्विवाद रूप से यह एक ही ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत चला आ रहा है । इस ग्रन्थ में तीन प्रवेश हैं—१ प्रमाण प्रवेश, २ नय प्रवेश, ३ निक्षेप प्रवेश । प्रमाण प्रवेश के चार परिच्छेद हैं—१ प्रत्यक्ष परिच्छेद, २ विषय परिच्छेद, ३ परोक्ष परिच्छेद, ४ आगम परिच्छेद । इन चार परिच्छेदों के साथ नयप्रवेश तथा प्रवचन प्रवेश को मिलाकर कुल ६ परिच्छेद स्वोपज्ञविधुति की प्रति में पाए जाते हैं । लघीयलक्ष्य के व्याख्याकार आ० प्रभाचन्द्र ने प्रवचनप्रवेश के भी दो परिच्छेद करके कुल सात परिच्छेदों पर अपनी न्यायकुमुदचन्द्र व्याख्या लिखी है । प्रवचनप्रवेश में जहाँ तक प्रमाण और नय का वर्णन है वहाँ तक प्रभाचन्द्र ने जठरों परिच्छेद, तथा निक्षेप के वर्णन को स्वतन्त्र सातवों परिच्छेद माना है ।

लघीयलक्ष्य में कुल ७८ कारिकाएँ हैं । मुद्रित लघीयलक्ष्य में ७७ ही कारिकाएँ हैं । उसमें ‘लक्षणं क्षणिकैकान्ते’ (का० ३५) कारिका नहीं है । नयप्रवेश के अन्त में ‘मोहेनैव परोऽपि’ इत्यादि पद्य भी विधुति की प्रति में लिखा हुआ मिलता है । पर इस पद्य का प्रभाचन्द्र तथा अमयनन्दि ने व्याख्यान नहीं किया है, तथा उसकी मूलग्रन्थ के साथ कोई संगति भी प्रतीत नहीं होती, अतः इसे प्रक्षिप्त समझना चाहिए । प्रथम परि० में ६॥, द्वि० परि० में ३, तृ० परि० में १२, चतु० परि० में ७, पंचम परि० में २१, तथा ६ प्रवचन प्र० में २८, इस तरह कुल ७८ कारिकाएँ हैं ।

मूल लघीयलक्ष्य के साथ ही स्वयं अकलंकदेव की संक्षिप्त विधुति भी इसी संस्करण में मुद्रित है । यह विधुति कारिकाओं का व्याख्यानरूप न होकर उसमें सूचित विषयों की पूरक है । अकलंकदेव ने इसे मूल रखेकों के साथ ही साथ लिखा है । मात्स्य होता है कि—अकलंक देव जिस पदार्थ को कहना चाहते हैं, वे उसके अमुक अंश की कारिका

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का वर्णन है। यदि धर्मकीर्ति का प्रमाणविनिश्चय के अतिरिक्त भी कोई न्यायविनिश्चय ग्रन्थ है तब तो ज्ञात होता है कि—प्रस्तावविभाजन तथा नामकरण की कल्पना में उसी ने कार्य किया है। यह भी संभव है कि—प्रमाणविनिश्चय को ही बादिदेवसूरि ने न्यायविनिश्चय समझ लिया हो। इसके तीन प्रस्तावों में निम्न-विषयों का विवेचन है—

प्रथम प्रत्यक्षप्रस्ताव में—प्रत्यक्ष का लक्षण, इन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण, प्रमाणसम्बन्ध-सूचन, चक्षुरादिवृद्धियों का व्यवसायात्मकत्व, विकल्प के अमिलापवत्त्व आदि लक्षणों का खंडन, ज्ञान को परोक्ष मानने का निराकरण, ज्ञान के स्वसंवेदन की सिद्धि, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञाननिरास, अचेतनज्ञाननिरास, साकारज्ञाननिरास, निराकारज्ञानसिद्धि, संवेदना-द्वैतनिरास, विभ्रमवादनिरास, बहिरर्थसिद्धि, चित्रज्ञानखण्डन, परमाणुरूप बहिरर्थ का निराकरण, अवयवों से भिन्न अवयवी का खण्डन, द्रव्य का लक्षण, गुणपर्याय का स्वरूप, सामान्य का स्वरूप, अर्थ के उत्पादादादित्रयात्मकत्व का समर्थन, अपोहरूप सामान्य का निरास, व्यक्ति से भिन्न सामान्य का खंडन, धर्मकीर्तिसम्मत प्रत्यक्षलक्षण का खंडन, बौद्ध-कल्पित स्वसंवेदनयोगिमानसप्रत्यक्षनिरास, साध्यकल्पित प्रत्यक्षलक्षण का खंडन, नैयायिक के प्रत्यक्ष का समालोचन, अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का लक्षण आदि विषयों का विवेचन किया गया है।

द्वितीय अनुमानप्रस्ताव में—अनुमान का लक्षण, प्रत्यक्ष की तरह अनुमान की बहिरर्थविषयता, साध्य-साध्याभास के लक्षण, बौद्धादिमतों में साध्यप्रयोग की असमभवा, शब्द का अर्थवाचकत्व, शब्दसंकेताग्रहणप्रकार, भूतचैतन्यवाद का निराकरण, गुणगुणि भेद का निराकरण, साधन-साधनाभास के लक्षण, प्रमेयत्व हेतु की अनेकान्तसाधकता, सत्त्वहेतु की परिणामित्वप्रसाधकता, त्रैरूप्य खंडन पूर्वक अन्यथानुपपत्तिसमर्थन, तर्क की प्रमाण्याता, अनुपलम्भहेतु का समर्थन, पूर्वचर उत्तरचर और सहचरहेतु का समर्थन, असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर हेत्वामासों का विवेचन, दूषणाभास लक्षण, जातिलक्षण, जयेतरव्यवस्था, दृष्टान्त-दृष्टान्ताभास विचार, वाद का लक्षण, निग्रहस्थानलक्षण, वादाभासलक्षण आदि अनुमान से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का वर्णन है।

तृतीय प्रवचनप्रस्ताव में—प्रवचन का स्वरूप, सुगत के आसत्त्व का निरास, सुगत के कथ्यात्मत्त्व तथा चतुरार्यसत्यप्रतिपादकत्व का परिहास, आगम के अपौरुषेयत्व का खण्डन, सर्वज्ञत्वसमर्थन, ज्योतिर्ज्ञानोपदेश सत्यस्वप्नज्ञान तथा इक्षणिकादिविषा के दृष्टान्त द्वारा सर्वज्ञत्वसिद्धि, शब्दनित्यत्वनिरास, जीवादितत्त्वनिरूपण, नैरात्म्यभावना की निरर्थकता, मोक्ष का स्वरूप, सप्तमंगीनिरूपण, स्याद्वाद में दिए जाने वाले सशयादि दोषों का परिहार, स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि का प्रामाण्य, प्रमाण का फल आदि विषयों का विवेचन है।

लघीयलक्ष्य की तरह न्यायविनिश्चय पर भी स्वयं अकलङ्ककृत विवृति अवश्य रही है। जैसा कि न्यायविनिश्चयविवरणकार (पृ० १२० B.) के 'वृत्तिमध्यवर्तित्वात्'

और विसवाद से प्रमाण-प्रमाणाभासव्यवस्था, विप्रकृतविषयों में श्रुत की प्रमाणाता, हेतुवाद और आतोक्तरूप से द्विविध श्रुत की अविसेवादि होने से प्रमाणाता, शब्दों के विवक्षावाचित्व का खण्डन कर उनकी अर्थवाचकता आदि श्रुत सम्बन्धी बातों का विवेचन किया गया है। इस तरह प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल का निरूपण कर प्रमाणप्रवेश समाप्त होता है।

पंचमपरि० में—नय दुर्नय के लक्षण, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूप से मूलभेद, सत्त्वरूप से समस्त वस्तुओं के ग्रहण का समग्रहनयत्व, ब्राह्मवाद का समग्रभासात्व, बौद्धा-मिमत् एकान्तप्रणिगता का निरास, गुण गुणी, धर्म धर्मों की गौरव मुख्य विवक्षा में नैगम-नय की प्रवृत्ति, वैशेषिकसम्मत गुणगुण्यादि के एकान्त भेद का नैगमाभासात्व, प्रामाणिक भेद का व्यवहारनयत्व, कार्पणिक भेद का व्यवहारभासात्व, कालकारकादि के भेद से अर्थभेद निरूपण की शब्दनयता, पर्यायभेद से अर्थभेदक कथनका समभिरुद्धनयत्व, क्रियाभेद से अर्थभेद प्ररूपण का एवभूतनयत्व, सामग्रीभेद से अभिन्नवस्तु में भी पदकारकी का समव आदि समस्त नयपरिवार का विवेचन है। यहाँ नयप्रवेश समाप्त हो जाता है।

६ प्रवचन प्रवेश में—प्रमाण, नय, और निक्षेप के कथन की प्रतिष्ठा, अर्थ और आलोके की ज्ञानकारणता का खंडन, अन्वकार को ज्ञान का विषय होने से आवरणरूपता का अभाव, तज्जन्म, ताद्रूप्य और तदव्यवसाय का प्रामाण्य में अप्रयोजकत्व, श्रुत के सकलादेश विकलावेश रूप से दो उपयोग, 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्य की विकलादेशरता, 'स्याजीव एव' इस वाक्य की सकलादेशरता, शब्द की विवक्षा से भिन्न यास्तविक अर्थ की वाचकता, नैगमादि सात नयों में से आदि के नैगमादि चार नयों का अर्थनयत्व, शब्दादि तीन नयों का शब्दनयत्व, नामादि चार निक्षेपों के लक्षण, अप्रस्तुत निराकरण तथा प्रस्तुत अर्थ का निरूपण रूप निक्षेप का फल, इत्यादि प्रवचन के अधिगमोपायभूत प्रमाण, नय और निक्षेप का निरूपण किया गया है।

न्यायविनिश्चय—धर्मकीर्ति का एक प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसकी रचना गद्यपद्यमय है। न्यायविनिश्चय नाम स्पष्टतया इसी प्रमाणविनिश्चय नाम का अनुकरण है। नाम की पसन्दगी में आन्तरिक विषय का निश्चय भी एक खास कारण होता है। सिद्धसेन दिवाकर ने अपने न्यायवतार में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों का विवेचन किया है। अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय में भी तीन प्रस्ताव रखे हैं—१ प्रत्यक्ष प्रस्ताव, २ अनुमान प्रस्ताव, ३ प्रवचन प्रस्ताव। अतः समझ है कि—अकलंक के लिए विषय की पसन्दगी में तथा प्रस्ताव के विभाजन में न्यायवतार प्रेरक हो, और इसीलिए उन्होंने न्याय-वतार के 'न्याय' के साथ प्रमाणविनिश्चय के 'विनिश्चय' का मेल बैठकर न्यायविनिश्चय नाम रखा हो। वादिदेवसूरि ने स्याद्वाद्दरत्नाकर (पृ० २३) में 'धर्मकीर्तिरपि न्यायविनि-श्चयस्य' यह उल्लेख करते लिखा है कि न्यायविनिश्चय के तीन परिच्छेदों में क्रमशः प्रत्यक्ष,

नुपत्तिरूप हेतुलक्षण का समर्थन, हेतु के उपलब्धि अनुपलब्धि आदि भेदों का विवेचन, पूर्वचर उत्तरचर और सहचरहेतु का समर्थन आदि हेतुसम्बन्धी विचार है।

पंचम प्रस्ताव में—१०॥ कारिकाएँ हैं। इनमें विरुद्धादि हेत्वाभासों का निरूपण, सर्वथा एकान्त में सत्त्वहेतु की विरुद्धता, सहोपलम्भनियमहेतु की विरुद्धता, विरुद्धाभ्यमिचारी का विरुद्ध में अन्तर्भाव, अज्ञात हेतु का अकिञ्चित्कर में अन्तर्भाव आदि हेत्वाभास विषयक प्ररूपण है, तथा अन्तर्व्याप्ति का समर्थन है।

षष्ठ प्रस्ताव में—१२॥ कारिकाएँ हैं। इनमें वाद का लक्षण, जयपराजय व्यवस्था का स्वरूप, जाति का लक्षण, दध्युप्युत्पादिके अभेदप्रसंग का बाल्युत्तरत्व, उत्पादादित्रयात्मकत्व-समर्थन, सर्वथा नित्य सिद्ध करने में सत्त्वहेतु का सिद्धसेनादि के मत से असिद्धत्वादितिरूपण आदि वादविषयक कथन है। अन्त में—धर्मकीर्ति आदि ने अपने ग्रन्थों में प्रतिवादियों के प्रति जिन आक्षेप आदि अपगण्डों का प्रयोग किया है उनका बहुत सुन्दर मुंहतोड़ उत्तर दिया है। लिखा है कि—शून्यवाद, संवृत्तिवाद, विज्ञानवाद, निर्विकल्पकदर्शन, परमाणुसन्नय को प्रत्यक्ष का विषय मानना, व्योहवाद तथा मिथ्यासन्तान ये सात बातें माननेवाला ही वस्तुतः जड़ है। प्रतिज्ञा को असाधन कहना, अद्वयानुपलब्धि को अगमक कहना आदि ही अहीकता—निर्लज्जता है। निर्विकल्पकप्रत्यक्ष के सिवाय सब ज्ञानों को आन्त कहना, साकार ज्ञान मानना, क्षणभङ्गवाद तथा असत्कार्यवाद ही पशुता के द्योतक हैं। परलोकन मानना, शास्त्रन मानना, तप दान देयता आदि से इन्कार करना ही अलौकिकता है। अतीन्द्रिय धर्माधर्म आदि में शब्द-वेद को ही प्रमाण मानना, किसी चेतन को उसका ज्ञाता न कहना ही तामस है। संस्कृत आदि शब्दों में साधुता असाधुता का विचार तथा उनके प्रयोग मात्र से पुण्य-पाप मानना ही प्राकृत-ग्रामीणजन का लक्षण है।

सप्तम प्रस्ताव में—१० कारिकाएँ हैं। इनमें प्रवचन का लक्षण, सर्वज्ञता में किए जाने वाले सन्देह का निराकरण, अपौरुषेयत्व का खंडन, तत्त्वज्ञानचारित्र की मोक्षहेतुता आदि प्रवचन सम्बन्धी विषयों का विवेचन है।

अष्टम प्रस्ताव में—१३ कारिकाएँ हैं। इनमें सप्तमंगी का निरूपण तथा नैगमादिनयों का कथन है।

नवम प्रस्ताव में—२ कारिकाएँ हैं। इनमें प्रमाण नय और निक्षेप का उपसंहार है।

१. रचनाशैली—

अकलङ्क के ग्रन्थ दो प्रकार के हैं—१ टीका ग्रन्थ, २ स्वतंत्र प्रकरण। टीका ग्रन्थों में राजवार्तिक तथा अष्टशती हैं। स्वतंत्र ग्रन्थों में लघीयलघयसन्निवृत्ति, न्यायविनिश्चय सवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय सवृत्ति और प्रमाणसंग्रह ये चार ग्रन्थ निश्चित रूप से अकलंककर्तृक हैं। परम्परागत प्रसिद्धि की दृष्टि से स्वरूपसम्बोधन, न्यायचूल्का, अकलंक प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रायश्चित्तसंग्रह आदि हैं, जिनके कर्त्ता प्रसिद्ध अकलंकदेव न होकर अन्य अकलंक हैं।

आदि वाक्यों से तथा सिद्धिविनिश्चयटीका (पृ० १२० A.) में न्यायविनिश्चय के नाम से उद्धृत "नचैतद्बहिरेव" आदि गद्यभाग से पता चलता है। न्यायविनिश्चयविवरण (पृ० १६१ B.) में 'तथा च सूक्तं चूर्णौ देवस्य वचनम्' कहकर "समारोपव्यवच्छेदाद्" रलोक उद्धृत मिलता है। बहुत कुछ समझ है कि इसी विवृतिरूप गद्यभाग का ही विवरणकार ने चूर्ण शब्द से उल्लेख किया हो। न्यायविनिश्चयविवरणकार वादिराज ने न्याय-विनिश्चय के केवल पद्यभाग का व्याख्यान किया है।

प्रमाणसंग्रह-प० मुखलालजी की कल्पना है कि—'प्रमाणसंग्रह नाम दिग्नाग के प्रमाणमसुचय तथा शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह का स्मरण दिलाता है।' यह कल्पना हृदय को लगती है। पर तत्त्वसंग्रह के पहिले भी प्रशस्तपादभाष्य का पदार्थसंग्रह नाम प्रचलित रहा है। समझ है कि संग्रहान्त नाम पर इसका भी कुछ प्रभाव हो। जैसा कि इसका नाम है वैसा ही यह ग्रन्थ वस्तुतः प्रमाणो-युक्तियों का संग्रह ही है। इस ग्रन्थ की भाषा और खासकर विषय तो अत्यन्त जटिल तथा कठिनता से समझने लायक है। अकलक के इन तीन ग्रन्थों में यही ग्रन्थ प्रमेयबहुल है। मालूम होता है कि यह ग्रन्थ न्यायविनिश्चय के बाद बनाया गया है, क्योंकि इसके कई प्रस्तावों के अन्त में न्यायविनिश्चय की अनेकों कारिकाएँ बिना किसी उपक्रम वाक्य के लिखी गई हैं। इसकी प्रौढ़-शैली से ज्ञात होता है कि यह अकलकदेव की अन्तिम कृति है, और इसमें उन्होंने अपने यावत् अवशिष्ट विचारों के लिखने का प्रयास किया है, इसीलिए यह इतना गहन हो गया है। इसमें हेतुओं के उपलब्धि अनुपलब्धि आदि अनेकों भेदों का विस्तृत विवेचन है; जब कि न्यायविनिश्चय में मात्र उनका नाम ही लिया गया है। अतः यह सहज ही समझा जा सकता है कि—यह न्यायविनिश्चय के बाद बनाया गया होगा।

इसमें ६ प्रस्ताव हैं, तथा कुल ८७½ कारिकाएँ।

प्रथम प्रस्ताव में—६ कारिकाएँ हैं। इनमें गत्यक्ष का लक्षण, श्रुत का प्रत्यक्षानुमानागमपूर्वकत्व, प्रमाण का फल, मुख्यप्रत्यक्ष का लक्षण आदि प्रत्यक्ष विषयक निरूपण है।

द्वितीय प्रस्ताव में—६ कारिकाएँ हैं। इनमें सृति का प्रामाण्य, प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणाता, तर्क का लक्षण, प्रत्यक्षानुपलम्भ से तर्क का उद्भव, कुतर्क का लक्षण, निवक्षा के बिना भी शब्दप्रयोग का संभव, परोक्ष पदार्थों में श्रुत से अविनाभावग्रहण आदि का वर्णन है। अर्थात् परोक्ष के भेद सृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क का निरूपण है।

तृतीय प्रस्ताव में—१० कारिकाएँ हैं। इनमें अनुमान के अवयव साध्य साधन का लक्षण, साध्याभास का लक्षण, सदसदेकान्त में साध्यप्रयोग की असम्भवाता, सामान्य-विशेषात्मक वस्तु की साध्यता तथा उसमें दिए जानेवाले संगयादि आठ दोषों का परिहार आदि का वर्णन है।

चतुर्थ प्रस्ताव में—११॥ कारिकाएँ हैं। इनमें निरूप का खडन करके अन्यथा-

रही है। धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्ति को देखकर तो यह और भी स्पष्ट मालूम होने लगता है कि उस समय कुछ ऐसी ही सूत्र रूप से लिखने की परम्परा थी। लेखनशैली में परिहास का पुट भी कहीं कहीं बड़ी व्यंजना के साथ मिलता है, जैसे—न्यायविनिश्चय में धर्मकीर्ति के—“जब सब पदार्थ द्रव्यरूपसे एक हैं तब दही और जेंट भी द्रव्यरूपसे एक हुए, अतः दही को खानेवाला जेंट को क्यों नहीं खाता ?” इस आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखा है कि—भाई, जैसे सुगत पूर्व भव में भृग ये, तथा भृग भी सुगत हुआ था, अतः सन्तानदृष्टि से एक होने पर भी आप भृग की जगह सुगत को क्यों नहीं खाते और भृग की बन्धना क्यों नहीं करते ? अतः जिस तरह वहाँ पर्यायभेद होने से बन्धत्व और स्वाधत्व की व्यवस्था है उसी तरह वही और जेंट के शरीर में पुद्गलद्रव्यरूपसे एकता होने पर भी पर्याय की अपेक्षा भिन्नता है। यथा—

“सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतस्तथा । तथापि सुगतो बन्धो मृगः खाद्यो यथेव्यते ॥
तथा वस्तुवलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः । चोदितो दधि खाटेति किमुष्टमभिधावति ॥”

[न्यायवि० ३।३७३-७४]

अकलंक के प्रकरणों का सूक्ष्मता से अनुसंधान करने पर मालूम होता है कि—अकलंकदेव की सीधी चोट बौद्धों के ऊपर है। इतरदर्शन तो प्रसंग से ही चर्चित हैं, और उनकी समालोचना में बौद्धदर्शन का सहारा भी लिया गया है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक से तो अनेकों पूर्वेपक्ष शब्दशः लेकर समालोचित हुए हैं। धर्मकीर्ति के साथ ही साथ उनके शिष्य एवं टीकाकार ब्रह्माकरगुप्त, कर्णकगोमि प्रभृति भी अकलंक के द्वारा शुक्तिजालों में लपेटे गए हैं। जहाँ भी मौका मिला सौत्रान्तिक या विज्ञानवादी के ऊपर पूरा पूरा प्रहार किया गया है। कुमारिल की सर्वज्ञताविरोधिनी शक्तियों प्रबलप्रमाणों से खण्डित की गई हैं। जैननिरूपण में समन्तभद्र, पूज्यपाद का प्रभाव होने पर भी न्यायविनिश्चय में सिद्ध-सेन दिवाकर के न्यायावतार तथा लघीयस्त्रय के नयनिरूपण में सम्प्रतिर्तक के नयकायड तथा मैत्रवादि के नयचक्र का भी प्रभाव है। उत्तरकालीन ग्रन्थकार अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अमरदेव, शान्तिसूरि, बादिराज, नादिदेव, हेमचन्द्र तथा यशोविजय आदि सभी आचार्यों ने अकलंक के द्वारा प्रस्थापित जैनन्यायकी रेखा का विस्तार किया तथा उनके वाक्यों को बड़ी श्रद्धा से उद्धृत कर अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।

अकलंक द्वारा प्रणीत व्यवस्था में अनुपपत्ति शान्तिसूरि तथा मलयगिरि आचार्य ने दिखाई है। शान्तिसूरि ने जैनतर्कवार्तिक में अकलङ्क द्वारा प्रमाणसंग्रह में प्रतिपादित प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमनिसिक्त त्रिविध श्रुत की जगह द्विविध-अनुमान और शब्दज श्रुत माना है। मलयगिरि आचार्य ने सन्ध्यनय में स्यात्पद के प्रयोग का इस आधार पर समालोचन किया है कि स्यात् पद का प्रयोग करने से तो प्रमाण और नय में कोई भेद नहीं रहेगा। पर इसका उत्तर उ० यशोविजय ने शुरुतत्त्वविनिश्चय में दे दिया है कि—मात्र स्यात् पद

राजवार्तिक के सिवाय प्रायः सभी ग्रन्थ अष्टशती जितने ८०० श्लोक प्रमाण ही मालूम होते हैं। धर्मकीर्ति के हेतुविन्दु, वादन्याय, प्रमाणविनिश्चय ग्रन्थ भी करीब करीब इतने ही छोटे हैं। उस समय सक्षिप्त पर अर्थबहुल, गमीर तथा तलस्पर्शी प्रकरणों की रचना का ही युग था।

अकलंक जब आगमिक-विषय पर कलम उठाते हैं तब उनके लेखन की सरलता, विशदता एवं प्रसाद गुण का प्रवाह पाठक को पढ़ने से ऊबने नहीं देता। राजवार्तिक की प्रसन्न रचना इसका अप्रतिम उदाहरण है। परन्तु जब वही अकलंक तार्किक विषयो पर लिखते हैं तब वे उतने ही दुरूह बन जाते हैं। अकलंक के प्रस्तुत संस्करण में सुदृष्ट प्रकरणग्रन्थ अत्यन्त जटिल, गूढ़ एवं इतने सक्षिप्त हैं कि कहीं कहीं उनका आधार लेकर टीकाकारों द्वारा किए गए अर्थ अकलंक के मनोगत थे या नहीं यह संदेह होने लगता है। अकलंक के प्रकरणों की यथार्थज्ञता का दावा करने वाले अनन्तवीर्य भी इनकी गूढ़ता के विषय में बरबस कह उठते हैं कि—

“देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तं तु सर्वथा। न जानीतेऽकलंकस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥”

अर्थात्—“अनन्तवीर्य भी अकलंक देव के पदों के व्यक्त अर्थ को नहीं जान पाता यह बड़ा आश्चर्य है।” ये अनन्तवीर्य उस समय अकलंक के प्रकरणों के मर्मज्ञ, तलस्पर्श समझ जाते थे। प्रभाचन्द्र एवं बादिराज अनन्तवीर्य की अकलंकीय प्रकरणों की तलस्पर्शिता का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—“भैने त्रिलोक के यावत् पदार्थों को संक्षेप-रूपसे वर्णन करनेवाली अकलंक की पद्धति को अनन्तवीर्य की उक्तियों का सैकड़ों बार अभ्यास करके समझ पाया है।” “अकलंक के गूढ़ प्रकरणों को यदि अनन्तवीर्य के वचनदीप प्रकट न करते तो उन्हें कौन समझ सकता था ?” आदि।

सविष्टति लघीयल्लय पर प्रभाचन्द्र की टीका उपलब्ध होने से तथा उसका विषय कुछ प्रारम्भिक होने से समझने में उतनी कठिनाई नहीं मालूम होती जितनी न्याय-विनिश्चय में। प्रमाणसंग्रह में तो यह कठिनाई अपनी चरम सीमा को पहुँच जाती है। एक ही प्रकरण में अनेक चर्चाओं का समावेश हो जाने से तो यह जटिलता और भी बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ—न्यायविनिश्चय में भूतचैतन्यवाद का निराकरण करते हुए जहाँ यह लिखा है कि ज्ञान भूतों का गुण नहीं है, वहीं लगे हाथ गुण शब्द का व्याख्यान तथा वैशेषिक के गुणगुणिभेद का खडन भी कर दिया है। समझनेवाला इससे विषय के वर्गीकरण में बड़ी कठिनाई का अनुभव करता है। अकलंकदेव का बह्दर्शन का गहरा अभ्यास तथा बौद्धशास्त्रों का अतुलमावनापूर्वक आत्मसात्करण ही उन के प्रकरणों की जटिलता में कारण मालूम होता है। वे यह सोचते हैं कि कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक सूक्ष्म और बहु पदार्थ ही नहीं किन्तु बहुविध पदार्थ लिखा जाय। उनकी यह शब्दसंक्षिप्तता बड़े बड़े प्रकाण्डपण्डितों को अपनी बुद्धि को मापने का मापदण्ड बन

प्रमाणसम्बन्ध विचार—यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि धर्मकीर्ति और उनके टीकाकार धर्मोत्तर ने अज्ञातार्थप्रकाश और अनधिगतार्थग्राहि शब्दों का प्रयोग करके प्रमाणसम्बन्ध का निषेध किया है। एक प्रमेय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति को प्रमाणसम्बन्ध कहते हैं। बौद्ध पदार्थों को एकक्षणस्थायी मानते हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ ज्ञान में कारण होता है। अतः जिस विवक्षित पदार्थ से कोई भी प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ कि वह पदार्थ दूसरे क्षण में नियम से नष्ट हो जाता है। इसलिए किसी भी अर्थ में दो ज्ञानों के प्रवृत्त होने का अवसर ही नहीं है। दूसरे, बौद्धों ने प्रमेय के दो भेद किए हैं—१ विशेष (स्वलक्षण), २ सामान्य (अन्यापोहरूप)। विशेष पदार्थ को विषय करने वाला प्रत्यक्ष है तथा सामान्य को जाननेवाले अनुमानादि विकल्पज्ञान। इस तरह विषयद्वैविध्य से प्रमाणद्वैविध्यात्मक व्यवस्था होने से कोई भी प्रमाण अपनी विषयमर्यादा को नहीं ऊँच सकता। इसलिए विजातीय प्रमाण की तो स्वनियत विषय से भिन्न प्रमेय में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। रह जाती है सजातीय प्रमाणान्तर के सम्बन्ध की बात, तो द्वितीय क्षण में जब वह पदार्थ रहता ही नहीं है तब सम्बन्ध की चर्चा अपने आप ही समाप्त हो जाती है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि—‘जैन तो पदार्थ को एकान्तक्षणिक नहीं मानते और न विषयद्वैविध्य को ही। जैन की दृष्टि से तो एक सामान्य-विशेषात्मक अर्थ सभी प्रमाणों का विषय होता है। तब अनधिगतार्थग्राहि पद का जैनोक्त प्रमाणलक्षण में क्या उपयोग हो सकता है?’ अकलंकदेव ने इसका उत्तर दिया है कि—वस्तु अनन्तधर्मवाली है। अमुक ज्ञान के द्वारा वस्तु के अमुक अंशों का निश्चय होने पर भी अगृहीत अंशों को जानने के लिए प्रमाणान्तर को अवकाश रहता है। इसी तरह जिन ज्ञात अंशों में संवाद हो जाने से निश्चय हो गया है, उन अंशों में भले ही प्रमाणान्तर कुछ विशेष परिच्छेद न करे पर जिन अंशों में असंवाद होने से अनिश्चय या विपरीतनिश्चय है उनका निश्चय करके तो प्रमाणान्तर विशेषपरिच्छेदक होने के कारण अनधिगतार्थग्राहिरूप से प्रमाण ही हैं। प्रमाणसम्बन्ध के विषय में यह बात और भी ध्यान देने योग्य है कि—अकलंकदेव ने प्रमाण के लक्षण में अनधिगतार्थग्राहि पद के प्रवेश करने के कारण अनिश्चितांश के निश्चय में या निश्चितांश में उपयोगविशेष होने पर प्रमाणसम्बन्ध माना है, जब कि नैयायिक ने अपने प्रमाणलक्षण में ऐसा कोई पद नहीं रखा, अतः उसकी दृष्टि से वस्तु गृहीत हो या अगृहीत, यदि इन्द्रियादि कारणकलाप मिल जाँय तो अवश्य ही प्रमाण की प्रवृत्ति होगी, इसी तरह उपयोग विशेष होया न हो, कोई भी ज्ञान इसलिए अप्रमाण नहीं होगा कि उसने गृहीत को ग्रहण किया है। तात्पर्य यह कि नैयायिक को प्रत्येक अवस्था में प्रमाणसम्बन्ध वीक्षित है।

अकलंकदेव ने बौद्धमत में प्रमाणसम्बन्ध की असंभवता के कारण ‘अनुमान की अप्रवृत्ति’ रूप दूषण देते हुए कहा है कि—जब आप के यहाँ यह नियम है कि प्रत्यक्ष के

के प्रयोग से प्रमाण और नय में भेदाभाव नहीं हो सकता । नयान्तरसापेक्ष नय यदि प्रमाण हो जाय तब तो व्यवहारादि सभी नयों को प्रमाण मानना होगा । इस तरह उपाध्यायजी ने अकलंक के मत का ही समर्थन किया है ।



आन्तरिक विषयपरिचय

इस परिचय में अकलंकदेव ने प्रस्तुत तीनो ग्रन्थों में जिन विषयों पर संक्षेप या विस्तार से जो भी लिखा है, उन विषयों का सामान्य परिचय तथा अकलंकदेव के वक्तव्य का सार दिया गया है । इससे योग्यभूमिकावाले जैनन्याय के ग्रन्थासिद्धि का अकलंक के ग्रन्थों में प्रवेश तो होगा ही, साथ ही साथ जैनन्याय के रसिक अध्यापकों को जैनन्याय से सम्बन्ध रखने वाले दर्शनान्तरीय विषयों की अनेको महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ भी मिल सकेंगी । इसमें प्रसंगतः जिन अन्य आचार्यों के मतों की चर्चा आई है उनके अवतरण देखने के लिए उस विषय के टिप्पणों को ध्यान से देखना चाहिए । इस परिचय को प्रपञ्चः नहीं लिखकर तीनो ग्रन्थों के मुख्य २ विषयों का सकलन करके लिखा है । जिससे पाठकों को विशेष सुविधा रहेगी । यह परिचय मुख्यतया से प्रमाण, प्रमेय, नय, निक्षेप और सप्तमंगीरूपसे स्थूल विभाग करके लिखा गया है ।

§ १. प्रमाणनिरूपण—

प्रमाणसामान्यविचार—समन्तमद और सिद्धसेन ने प्रमाणसामान्य के लक्षण में स्वपरावभासक, ज्ञान तथा बाधवर्जित पद रखे हैं, जो उस समय के प्रचलित लक्षणों से जैनलक्षण को व्यावृत्त कराते थे । साधारणतया ‘प्रमाकरण प्रमाणम्’ यह लक्षण सर्वमान्य था । विवाद था तो इस विषय में कि वह करण कौन हो ? न्यायभाष्य में करणरूपसे सन्निकर्ष और ज्ञान दोनों का स्पष्टतया निर्देश है । यद्यपि विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान को स्वसंवेदी मानते रहे हैं, पर वे करण के स्थान में सारूप्य या योग्यता को रखते हैं । समन्तमदवादि ने करण के स्थान में स्वपरावभासक ज्ञान पद रखके ऐसे ही ज्ञान को प्रमाण माना जो स्व और पर उभय का अवभासन करने वाला हो । अकलंकदेव ने इस लक्षण में अविश्ववादि और अनधिगतार्थवादि इन दो नए पदों का समावेश करके अवभासक के स्थान में व्यवसायात्मक पद का प्रयोग किया है । अविश्ववादि तथा अज्ञातार्थ-प्रकाश पद स्पष्टरूपसे धर्मकीर्ति के प्रमाण के लक्षण से आए हैं तथा व्यवसायात्मक पद न्यायसूत्र से । इनकी लक्षणसंघटना के अनुसार स्व और पर का व्यवसाय-निश्चय करनेवाला, अविश्ववादि-संशयादि समारोप का निरसन करनेवाला और अनधिगतार्थ को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण होगा ।

ज्ञान का सद्भाव ही असिद्ध है। अतः अविनाभाव का ग्रहण न होने से परकीय आत्मा में बुद्धि का अनुमान नहीं हो सकेगा।

ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद निराकरण—यदि प्रथमज्ञान का प्रत्यक्ष द्वितीयज्ञान से माना जाय और इसी तरह अस्वसंवेदी तृतीयादिज्ञान से द्वितीयादिज्ञानों का प्रत्यक्ष; तब अनवस्था नाम का दूषण ज्ञान के सद्भाव सिद्ध करने में बाधक होगा, क्योंकि जब तक आगे आगे के ज्ञान अपने स्वरूप का निश्चय नहीं करेंगे तब तक वे पूर्वपूर्वज्ञानों को नहीं जान सकेंगे। और जब प्रथमज्ञान ही अज्ञात रहेगा तब उसके द्वारा अर्थ का ज्ञान असंभव हो जायगा। इस तरह जगत् अर्थनिश्चयशून्य हो जायगा। एक ज्ञान के जानने में ही जब इस तरह अनेकानेक ज्ञानों का प्रवाह चलेगा, तब तो ज्ञान की विषयान्तर में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकेगी। यदि अप्रत्यक्षज्ञान से अर्थबोध माना जाय; तब तो हम लोग ईश्वरज्ञान के द्वारा भी समस्त पदार्थों को जानकर सर्वज्ञ बन जायेंगे, क्योंकि अभी तक हम लोग सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा अर्थों को इसी कारण से नहीं जान सकते थे कि वह हमारे स्वयं अप्रत्यक्ष है।

प्रकृतिपर्यायात्मकज्ञानवाद निरसन—यदि ज्ञान प्रकृति का विकार होने से अचेतन है तथा वह पुरुष के सचेतन द्वारा अनुभूत होता है; तो फिर इस अकिञ्चित्कर ज्ञान का क्या प्रयोजन ? क्योंकि उसी ज्ञानस्वरूपसञ्चेतक पुरुषानुभव के द्वारा अर्थ का भी परिज्ञान हो जायगा। यदि वह सञ्चेतन स्वप्रत्यक्ष नहीं है; तब इस अकिञ्चित्कर ज्ञान की सत्ता किससे सिद्ध की जायगी ? ज्ञान विषयक सञ्चेतना जो कि अनित्य है, अविकारी कूटस्थनित्य पुरुष का धर्म भी कैसे हो सकती है ? अतः ज्ञान परिणामी पुरुष का ही धर्म है और वह स्वार्थसंवेदक होता है। इसी तरह यदि अर्थसञ्चेतना स्वार्थसंवेदक है; तब तद्व्यतिरिक्त अकिञ्चित्कर पुरुष के मानने का भी क्या प्रयोजन ? यदि वह अस्वसंवेदक है; तब पूर्वज्ञान तथा पुरुष की सिद्धि किससे होगी ?

साकारज्ञानवाद निरास—साकारज्ञानवादी निराकारज्ञानवादियों को ये दूषण देते हैं कि—‘यदि ज्ञान निराकार है, उसका किसी अर्थ के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है; तब प्रतिकर्मव्यवस्था—घटज्ञान का विषय घट ही है पट नहीं—कैसे होगी ? तथा विषयप्रतिनियम न होने से सब अर्थ एकज्ञान के या सब ज्ञानों के विषय हो जायेंगे। विषयज्ञान और विषयज्ञानज्ञान में कोई भेद नहीं रहेगा। इनमें यही भेद है कि विषय-ज्ञान जहाँ केवल विषय के आकार होता है तब विषयज्ञानज्ञान अर्थ और अर्थकारज्ञान दोनों के आकार को धारण करता है। विषय की सत्ता सिद्ध करने के लिए ज्ञान को साकार मानना आवश्यक है।’ अकलङ्कदेव ने इनका समाधान करके ज्ञान को निराकार सिद्ध करते हुए लिखा है कि—विषयप्रतिनियम के लिए ज्ञान की अपनी शक्ति ही नियामक है। जिस ज्ञान में जिस प्रकार की जितनी शक्ति होगी उससे उतनी और उसी प्रकार की अर्थव्यवस्था होगी।

द्वारा वस्तु के समस्त गुणों का दर्शन हो जाता है; तब प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वांशतया गृहीत वस्तु में कोई भी अनविगत अंश नहीं बचा, जिसके ग्रहण के लिए अनुमान को प्रमाण माना जाय । अनुमान के विषयभूत अन्यापोद्गतरूप सामान्य में विपरीतारोप की संभावना नहीं है, अतः समारोपव्यवच्छेदार्थ भी अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता । अकलकोत्तरवर्ती आ० माणिक्यनन्दि ने अनविगतार्थ की जगह कुमारिल के अपूर्वार्थ पद को स्थान दिया । पर विद्यानन्द तथा उनके बाद अमरदेव, वादिदेव, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने अनविगत या अपूर्वार्थ विस्ती भी पद को अपने लक्षणों में नहीं रखा ।

ज्ञान का स्व-परसंवेदन विचार—ज्ञान के स्वरूपसंवेदन के विषय में निम्न वाद हैं—१ मीमांसक का परोक्षज्ञानवाद, २ नैयायिक का ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, ३ सांख्य का प्रकृतिपर्यायात्मक ज्ञान का पुरुष द्वारा संचेतनवाद, ४ बौद्ध का साकार-स्वसंवेदनज्ञानवाद, ५ जैन का निराकार-स्वसंवेदनज्ञानवाद । अकलंकदेव ने इतर वादों की समालोचना इस प्रकार की है—

परोक्षज्ञानवादनिरास—यदि ज्ञान को परोक्ष माना जाय अर्थात् ज्ञान स्वयं अपने स्वरूप को न जान सके, तब उस परोक्षज्ञान के द्वारा जाना गया पदार्थ हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकेगा; क्योंकि आत्मान्तर के ज्ञान से हमारे ज्ञान में यही स्वकीयत्व है कि वह हमारे स्वयं प्रत्यक्ष का विषय है, उसे हम स्वयं उसी के द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जब कि आत्मान्तर के ज्ञान को हम स्वयं उसी के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं करते । यही कारण है कि आत्मान्तर के ज्ञान के द्वारा हमें पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता । जब ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं तब उसकी सिद्धि अनुमान से भी कैसे होगी ? क्योंकि अस्वसंवेदित अर्थप्रकाश-रूप लिंग से अज्ञात धर्मि-ज्ञान का अविनाभाव ही गृहीत नहीं है । अर्थप्रकाश को स्वसंवेदित मानने पर तो ज्ञान की कल्पना ही निरर्थक हो जायगी; क्योंकि स्वार्थसंवेदी अर्थप्रकाश से स्व और अर्थ उभय का परिच्छेद हो सकता है । इसी तरह विषय, इन्द्रिय, मन आदि भी परोक्ष ज्ञान का अनुमान नहीं करा सकते; क्योंकि एक तो इनके साथ ज्ञान का अविनाभाव असिद्ध है, दूसरे इनके होने पर भी कभी कभी ज्ञान नहीं होता अतः ये व्यभिचारी भी हैं । यदि विषयजन्य ज्ञानात्मक सुखादि परोक्ष हैं; तब उनसे हमें अनुग्रह या परिताप नहीं हो सकेगा । अपने सुखादि को अनुमानग्राह्य मानकर अनुग्रहादि मानना तो अन्य आत्मा के सुख से व्यभिचारी है, अर्थात् परकीय आत्मा के सुखादि का हम उसकी प्रसाद-विषादादि चेष्टाओं से अनुमान तो कर सकते हैं पर उनसे अनुग्रहादि तो हमें नहीं होता । ज्ञान को परोक्ष मानने पर आत्मान्तर की बुद्धि का अनुमान करना भी कठिन हो जायगा । परकीय आत्मा में बुद्धि का अनुमान व्यापार वचनादि चेष्टाओं से किया जाता है । यदि हमारा ज्ञान हमें ही अप्रत्यक्ष है, तब हम ज्ञान का व्यापारादि के साथ कार्यकारणरूप अविनाभाव अपनी आत्मा में तो ग्रहण ही नहीं कर सकेंगे, अन्य आत्मा में तो अभी तक

मिकपरम्परा में स्पष्टरूपसे परोक्ष हैं। पर लोकव्यवहार तथा दर्शनान्तरो में इन्द्रिया-न्द्रियजज्ञान प्रत्यक्षरूपसे ही प्रसिद्ध तथा व्यवहृत होते हैं। यद्यपि अकलंकदेव के पहिले आ० सिद्धसेन दिवाकर ने अपने न्यायावतार में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द इन तीन प्रमाणों का कथन किया है, पर प्रमाणों की व्यावर्तक संख्या अभी तक अनिश्चित ही रही है। अकलंकदेव ने सूत्रकार की परम्परा की रक्षा करते हुए लिखा है कि—मति, स्मृति, सद्भा, चिन्ता और अभिनिबोध ज्ञान शब्दयोजना से पहिले मतिज्ञान तथा शब्दयोजना के अनन्तर श्रुतज्ञान कहे जायें। श्रुतज्ञान परोक्ष कहा जाय। मतिज्ञान में अन्तर्भूत मति—इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष को लोकव्यवहार में प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध होने के कारण तथा वैशबाश का सद्भाव होने से सव्यवहारप्रत्यक्ष कहा जाय। प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रियप्रत्यक्ष ये तीन मूलभेद हो।

इस वक्तव्य का यह फलितार्थ हुआ कि प्रत्यक्ष के दो भेद—१ साव्यवहारिक, २ मुख्य। साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद— १ इन्द्रियप्रत्यक्ष, २ अनिन्द्रियप्रत्यक्ष। इन्द्रियप्रत्यक्ष—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणादिज्ञान। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष—शब्दयोजना से पहिले की अवस्थावाले स्मृति, सद्भा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान। इस तरह अकलंकदेव ने प्रमाण के भेद किए जो निर्विवाद रूप से उत्तरकालीन ग्रन्थकारों द्वारा माने गए। हाँ, इसमें जो स्मृति, सद्भा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान को शब्दयोजना के पहिले अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहा है उसे किसी भी अन्य आचार्य ने स्वीकार नहीं किया। उन्हें सर्वांश में अर्थात् शब्दयोजना के पूर्व और पश्चात् दोनों अवस्थाओं ने परोक्ष ही कहा है। यही कारण है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ने लघीयलघय की 'ज्ञानमाष' कारिका का यह अर्थ किया है कि—'मति, स्मृति, सद्भा, चिन्ता और अभिनिबोधज्ञान शब्दयोजना के पहिले तथा शब्दयोजना के बाद दोनों अवस्थाओं में श्रुत हैं अर्थात् परोक्ष है।'।

यद्यपि जिनभद्रगणिकभाष्य ने अपने विशेषावश्यकभाष्य में प्रत्यक्ष के दो भेद करके इन्द्रियानिन्द्रियजप्रत्यक्ष को सव्यवहारप्रत्यक्ष कहा है, पर उन्होंने स्मृति आदि ज्ञानों के विषय में कुछ खास नहीं लिखा। इन्द्रियप्रत्यक्ष को सव्यवहारप्रत्यक्ष मान लेने से लोकप्रसिद्धि का निर्वह तथा दर्शनान्तरप्रसिद्धि का समन्वय भी हो गया और सूत्रकार का अभिप्राय भी सुरक्षित रह गया।

प्रत्यक्ष—सिद्धसेनदिवाकर ने प्रत्यक्ष का—'अपरोक्ष रूप से अर्थ को जानने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है' यह परोक्षलक्षणाश्रित लक्षण किया है। यद्यपि विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने की परम्परा बौद्धों में स्पष्ट है, फिर भी प्रत्यक्ष के लक्षण में अकलंक के द्वारा विशद पद के साथ ही साथ प्रयुक्त साकार और अजसा पद खास महत्त्व रखते हैं। बौद्ध निर्विकल्पज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। यह निर्विकल्पकज्ञान जैनपरम्परा में प्रसिद्ध-इन्द्रिय और पदार्थ के योग्यदेशावस्थितिरूप सन्निकर्ष के बाद उत्पन्न होने वाले,

इस स्व शक्ति को न मानकर ज्ञान को साकार मानने पर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'घटज्ञान घट के ही आकार क्यों हुआ पट के आकार क्यों नहीं हुआ ?' तदुत्पत्ति से तो आकारनियम नहीं किया जा सकता; क्योंकि जिस तरह घटज्ञान घट से उत्पन्न हुआ है उसी तरह इन्द्रिय, आलोक आदि पदार्थों से भी तो उत्पन्न हुआ है, अतः उनके आकार को भी उसे ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान विषय के आकार को यदि एकदेश से ग्रहण करता है; तब तो ज्ञान साध हो जायगा। यदि सर्वदेश से; तो ज्ञान अर्थ की तरह जड़ हो जायगा। समानकालीन पदार्थ किसी तरह अपना आकार ज्ञान में समर्पित कर सकते हैं पर अतीत और अनागत पदार्थों के जाननेवाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, अनुमानादि ज्ञान कैसे उन अविद्यमान पदार्थों के आकार हो सकते हैं ? हाँ, शक्तिप्रतिनियम मानने से अतीतादि पदार्थों का ज्ञान भली भाँति हो सकता है। ज्ञान का अमुक अर्थ को विषय करना ही अन्य पदार्थ से व्यावृत्त होना है। अतः ज्ञान को निराकार मानना ही ठीक है। अमूर्त ज्ञान में मूर्त अर्थ का प्रतिबिम्ब भी कैसे आ सकता है ?

सौत्रान्तिक को ज्ञान के साकार होने का 'ज्ञान में अर्थ का प्रतिबिम्ब पक्ता है।' यह अर्थ इष्ट या या नहीं यह तो विचारणीय है। पर विज्ञानवादी बौद्धों ने उसका खंडन यही अर्थ मानकर किया है और उसीका प्रतिबिम्ब अकलंककृत खंडन में है।

इस तरह अकलंक ने स्वार्थव्यवसायात्मक, अनधिगतार्थग्राह्य, अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण कहा है। इस लक्षण के अनधिगतार्थग्राह्य विशेषण के सिवाय बाकी अंश सभी जैन तार्किकों ने अपनाए हैं। अनधिगतार्थग्राह्य की परम्परा मायिक्यनन्दि तक ही चली। आ० हेमचन्द्र ने स्वनिर्णय को भी प्रमाण के व्यावर्तक लक्षण में नहीं रखा; क्योंकि स्वनिर्णय तो ज्ञानसामान्य का धर्म है न कि प्रमाणात्मक विशेषज्ञान का। अकलंकदेव ने जहाँ अज्ञानात्मक सन्निकर्षादि की प्रमाणात्ता का व्यवच्छेद प्रमितिक्रिया में अव्यवहित करण न होने के कारण किया है, वहाँ ज्ञानात्मक सशय और विपर्यय का विसंवादी होने से तथा निर्विकल्पज्ञान का संव्यवहारानुपयोगी होने के कारण निरास किया है। इसी संव्यवहारानुपयोगी पद से सुषुप्त चैतन्य के समान निर्विकल्पक-दर्शन भी प्रमाणाकोटि से बहिर्भूत है इसकी सूचना मिलती है।

प्रमाण के भेद-तत्त्वार्थसूत्र के 'तत्प्रमाणे' इस सूत्र को लक्ष्य में रखकर ही अकलंक ने प्रमाण के दो मूल भेद किए हैं। यद्यपि उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष के कई अवान्तर भेद मानना पड़े हैं। इसीलिए उनसे 'प्रमाणे इति संग्रहः' पद लेकर उस भेद के आधारभूत सूत्र की सूचना दी है। वे दो भेद हैं—एक प्रत्यक्ष, दूसरा परोक्ष। तत्त्वार्थसूत्र में मति (इन्द्रियान्द्रियप्रत्यक्ष), स्मृति, सद्भा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क), अभिनिबोध (अनुमान) इन ज्ञानों को मति से अनर्थान्तर अर्थात् मतिज्ञानरूप बताया है। मतिज्ञान का परोक्षत्व भी वहीं स्वीकृत है। अतः उक्तज्ञान जिनमें इन्द्रियान्द्रियप्रत्यक्ष भी शामिल है आग-

का योग्यदेशस्थितिरूप सम्बन्ध (सन्निकर्ष), ततः सामान्यावलोकन (निर्विकल्पक), ततः अवग्रह (सविकल्पक ज्ञान), ततः ईहा (विशेष जिज्ञासा), ततः अवाय (विशेष निरन्तर्य), अन्त में धारणा (सत्कार)।

सामान्यावलोकन से धारणापर्यन्त ज्ञान चाहे एक ही मत्पुपयोगरूप माने जाय या पृथक् पृथक् उपयोगरूप, दोनों अवस्थाओं में अनुस्यूत आत्मा की सत्ता तो मानना ही होगी, अन्यथा 'जो मैं देखने वाला हूँ, वही मैं अवग्रह तथा ईहादि ज्ञानवाला हूँ, वही मैं धारणा करता हूँ' यह अनुभवसिद्ध प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकेगा। इसी दृष्टि से अकलङ्कदेव ने दर्शन की अवग्रहरूप परिणति, अवग्रह की ईहारूप, ईहा की अवायरूप तथा अवाय की धारणारूप परिणति स्वीकार की है। अन्वित आत्मदृष्टिसे अमेद होने पर भी इन ज्ञानों में पर्याय की दृष्टिसे तो मेद है ही।

ईहा और धारणा की ज्ञानात्मकता—वैशेषिक ईहा को प्रयत्न नाम का पृथक् गुण तथा धारणा को भावनासत्कार नामक पृथक् गुण मानते हैं। अकलङ्कदेव ने इन्हे एक चैतन्यात्मक उपयोग की अवस्था होने के कारण ज्ञानात्मक ही कहा है, ज्ञान से पृथक् स्वतन्त्र गुणरूप नहीं माना है।

अवग्रहादि का परस्पर प्रमाण-फलभाव—ज्ञान के साधकतम अश को प्रमाण तथा प्रमित्यश को फल कहते हैं। प्रकृत ज्ञानों में अवग्रह ईहा के प्रति साधकतम होने से प्रमाण है, ईहा प्रमारूप होने से उसका फल है। इसी तरह ईहा की प्रमायता में अवाय फल है तथा अवाय को प्रमाण मानने पर धारणा फलरूप होती है। तात्पर्य यह कि—पूर्वपूर्वज्ञान साधकतम होने से प्रमाण है तथा उत्तरोत्तरज्ञान प्रमितिरूप होने से फलरूप है। प्रमाणफलभाव का ऐसा ही क्रम वैशेषिकादि अन्य दर्शनो में भी पाया जाता है।

मुख्य प्रत्यक्ष—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना होने वाले, अतीन्द्रिय, व्यवसायात्मक, विशद, सत्य, अव्यवहित, अलौकिक, अशेष पदार्थों को विषय करने वाले, अक्रम ज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं। वह सकल और विकल के मेद से दो प्रकार का है। सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान है। अवविज्ञान और मनःपर्ययज्ञान अमुक पदार्थों को विषय करने के कारण विकलप्रत्यक्ष है।

सर्वज्ञत्व विचार—प्राचीनकाल में भारतवर्ष की परम्परा के अनुसार सर्वज्ञता का सम्बन्ध भी मोक्ष के ही साथ था। मुमुक्षुओं में विचारणीय विषय तो यह था कि—मोक्ष के मार्ग का किसने साक्षात्कार किया है? इसी मोक्षमार्ग को धर्म शब्दसे कहते हैं। अतः 'धर्म का साक्षात्कार हो सकता है या नहीं?' इस विषय में विवाद था। एक पक्ष का, जिसके अनुगामी शबर, कुमारिल आदि भीमासक हैं, कहना था कि—धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तु को हम लोग प्रत्यक्ष से नहीं जान सकते, उसमें तो वेद का ही निर्बाध अधिकार है। धर्म की परिभाषा भी 'चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः' करके धर्म में चोदना-वेद

तथा सत्तात्मक महासामान्य का आलोचन करने वाले अनाकार दर्शन के समान है। अकलंकदेव की दृष्टि में जब निर्विकल्पकदर्शन प्रमाणकोटि से ही बहिर्भूत है तब उसे प्रत्यक्ष तो कहा ही नहीं जा सकता। इसी बात की सूचना के लिए उन्होंने प्रत्यक्ष के लक्षण में साकारपद रखा, जो निराकारदर्शन तथा बौद्धसम्मत निर्विकल्पप्रत्यक्ष का निराकरण कर निश्चयात्मक विशद ज्ञान को ही प्रत्यक्षकोटि में रखता है। बौद्ध निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद होनेवाले 'नीलमिदम्' इत्यादि प्रत्यक्षज विकल्पो को भी संव्यवहार से प्रमाण मान लेते हैं। इसका मूल यह है कि-प्रत्यक्ष के विषयभूत दृश्य-स्वलक्षण में विकल्प के विषयभूत विकल्प्य-सामान्य का आरोपरूप एकत्वाप्यवसाय करके प्रवृत्ति करने पर स्वलक्षण ही प्राप्त होता है। अतः विकल्पज्ञान संव्यवहार से विशद है। इसका निराकरण करने के लिए अकलंकदेव ने 'अस्त्रसा' पद का उपादान करके सूचित किया कि विकल्पज्ञान संव्यवहार से नहीं किन्तु अंजसा-परमार्थरूपसे विशद है।

अनुमान आदि ज्ञानों से अधिक विशेषप्रतिभास का नाम वैशद्य है। जिस तरह अनुमान आदि ज्ञान अपनी उत्पत्ति में लिंगज्ञान आदि ज्ञानान्तर की अपेक्षा करते हैं उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्ति में किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं रखता, यही अनुमानादि से प्रत्यक्ष में अतिरेक-अधिकता है।

— अकलंकदेव ने इतरवादिसम्मत प्रत्यक्षलक्षणों का निराकरण इस प्रकार किया है—
बौद्ध—जिसमें शब्दसंसर्ग की योग्यता नहीं है ऐसे निर्विकल्पकज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं सविकल्पज्ञान को नहीं, क्योंकि विकल्पज्ञान अर्थ के अभाव में भी उत्पन्न होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा यद्यपि अर्थ में रहने वाले क्षणिकत्वादि सभी धर्मों का अनुभव हो जाता है, पर वह नीलादि अंशों में 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पज्ञान के द्वारा व्यवहारसाधक होता है, तथा क्षणिकत्वादि अंशों में यथासंभव अनुमानादि विकल्पों द्वारा। अतः निर्विकल्पक 'नीलमिदम्' इत्यादि विकल्पों का उत्पादक होने से तथा अर्थ-स्वलक्षणा से उत्पन्न होने के कारण प्रमाण है। विकल्पज्ञान अस्पष्ट है; क्योंकि वह परमार्थसद स्वलक्षणा से उत्पन्न नहीं होता। सर्वप्रथम अर्थ से निर्विकल्प ही उत्पन्न होता है। निर्विकल्पक में असाधारण क्षणिक परमाणुओं का प्रतिभास होता है। उस निर्विकल्पक अवस्था में कोई भी विकल्प अनुभव में नहीं आता। विकल्पज्ञान कल्पितसामान्य को विषय करने के कारण तथा निर्विकल्पक के द्वारा गृहीत अर्थ को ग्रहण करने के कारण प्रत्यक्षभास है।

अकलंकदेव इसका निराकरण इस तरह करते हैं—अर्थक्रियार्थी पुरुष प्रमाण का अन्वेषण करते हैं। जब व्यवहार में साक्षात् अर्थक्रियासाधकता सविकल्पज्ञान में ही है तब क्यों न उसे ही प्रमाण माना जाय ? निर्विकल्पक में प्रमाणता खाने को आखिर आपको सविकल्पज्ञान तो मानना ही पड़ता है। यदि निर्विकल्प के द्वारा गृहीत नीलादंश को विषय करने

तर्ह सर्वज्ञता के लिए भी यत्न करे। जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है वे चाहे तो थोड़े से प्रयत्न से ही सर्वज्ञ बन सकते हैं। शान्तरक्षित भी इसी तरह धर्मज्ञता साधन के साथ ही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं और इस सर्वज्ञता को वे शक्तिरूप से सभी वीतरागो में मानते हैं। प्रत्येक वीतराग जब चाहें तब जिस किसी भी वस्तु को अनायास ही जान सकते हैं।

योग तथा वैशेषिक के सिद्धान्त में यह सर्वज्ञता अग्निमा आदि ऋद्धियो की तरह एक विभूति है जो सभी वीतरागो के लिए अवश्य प्राप्तन्य नहीं है। हाँ, जो इसकी साधना करेगा उसे यह प्राप्त हो सकती है।

जैन तार्किको ने प्रारम्भ से ही त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावज्ज्येयो के प्रत्यक्षदर्शन रूप अर्थ में सर्वज्ञता मानी है और उसका समर्थन भी किया है। यद्यपि तर्कयुग के पहिले 'जे एग जाणइ से सव्वं जाणइ'—जो एक आत्मा को जानता है वह सर्व पदार्थों को जानता है इत्यादि वाक्य जो सर्वज्ञता के मुख्य साधक नहीं है, पाए जाते हैं; पर तर्कयुग में इनका वैसा चाहिए वैसा उपयोग नहीं हुआ। समन्तभद्र आदि आचार्यों ने सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थों का प्रत्यक्षत्व अनुमेयत्व हेतु से सिद्ध किया है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, जब दोष और आवरण का समूल क्षय हो जायगा तब ज्ञान अनायास ही अपने पूर्णरूप में प्रकट होकर सम्पूर्ण अर्थ का साक्षात्कार करेगा। बौद्धो की तरह किसी भी जैनतर्कग्रन्थ में धर्मज्ञता और सर्वज्ञता का विभाजन कर उनमें गौण-मुख्य-भाव नहीं बताया गया है। सभी जैनतार्किको ने एकस्वरसे त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों के पूर्णपरिज्ञान अर्थ में सर्वज्ञता का समर्थन किया है। धर्मज्ञता तो उक्त पूर्ण-सर्वज्ञता के गर्भ में ही निहित मान ली गई है।

अक्रलंकदेव ने सर्वज्ञता तथा मुख्यप्रत्यक्ष के समर्थन के साथ ही साथ ब्रह्मकीर्ति के उन विचारो का खूब समालोचन किया है जिनमें बुद्ध को करुणावान्, शास्ता, तापि, तथा चातुरार्थसत्य का उपदेष्टा बताया है। साथ ही सर्वज्ञाभाव के विशिष्ट समर्थक कुमारिल की युक्तियों का खडन किया है। वे लिखते हैं कि—आत्मा में सर्वपदार्थों के जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में मल-ज्ञानावरण से आश्रित होने के कारण उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता पर जब चैतन्य के प्रतिबन्धक कर्म का पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस अप्राप्यकारी ज्ञान को समस्त अर्थों को जानने में क्या बाधा है? यदि अतीन्द्रियपदार्थों का ज्ञान न हो सके तो ज्योतिर्भिहो की ग्रहण आदि भविष्यदशाओ का जो अनागत होने से अतीन्द्रिय है, उपदेश कैसे होगा? ज्योतिर्ज्ञानोपदेश यथार्थ देखा जाता है, अतः यह मानना ही चाहिए कि उसका यथार्थ उपदेश साक्षाद्द्रष्टा माने बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्यस्वप्नदर्शन इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही माविराज्यलाभादि का यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भी माविपदार्थों में संवादक तथा स्पष्ट है। जैसे प्रश्न या ईक्षणिकादिविद्या अतीन्द्रिय पदार्थों का स्पष्ट मान करा देती है

स्वसंवेदनप्रत्यक्ष लक्षण—यदि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है तब तो स्वाप तथा मूर्च्छादिअवस्थाओं में ऐसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मानने में क्या बाधा है ? सुषुप्ताद्यवस्थाओं में अनुभवसिद्ध ज्ञान का निषेध तो किया ही नहीं जा सकता । यदि वृत्त अवस्थाओं में ज्ञान का अभाव हो तो उस समय योगियों को चतुःसत्यविषयक भावनाओं का भी विच्छेद मानना पड़ेगा ।

बौद्धसम्मत विकल्प के लक्षण का निरास—बौद्ध ‘अमिलापवती प्रतीतिः कल्पना’ अर्थात् जो ज्ञान शब्दसंस्पर्श के योग्य हो उस ज्ञान को कल्पना या विकल्पज्ञान कहते हैं । अकलंकदेव ने उनके इस लक्षण का खण्डन करते हुए लिखा है कि—यदि शब्द के द्वारा कहे जाने लायक ज्ञान का नाम कल्पना है तथा बिना शब्दसंश्रय के कोई भी विकल्पज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता; तब शब्द तथा शब्दाशयों के स्मरणात्मक विकल्प के लिए तद्वाचक अन्य शब्दों का प्रयोग मानना होगा, उन अन्यशब्दों के स्मरण के लिए भी तद्वाचक अन्यशब्द स्वीकार करना होंगे, इस तरह दूसरे दूसरे शब्दों की कल्पना करने से अनवस्था नाम का दूषण होगा । अतः जब विकल्पज्ञान ही सिद्ध नहीं हो पाता; तब विकल्पज्ञानरूप साधक के अभाव में निर्विकल्पक भी असिद्ध ही रह जायगा और निर्विकल्पक तथा सविकल्पक रूप प्रमाणद्वय के अभाव में सकल प्रमेय का भी साधक प्रमाण न होने से अभाव ही प्राप्त होगा । यदि शब्द तथा शब्दाशयों का स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक शब्दप्रयोग के बिना ही हो जाय, तब तो विकल्प का अमिलापवत्त्व लक्षण अव्याप्त हो जायगा । और जिस तरह शब्द तथा शब्दाशयों का स्मरणात्मक विकल्प तद्वाचक अन्य शब्द के प्रयोग के बिना ही हो जाता है । उसी तरह ‘नीलमिदम्’ इत्यादि विकल्प भी शब्दप्रयोग की योग्यता के बिना ही हो जायेंगे, तथा चक्षुरादिबुद्धियों शब्दप्रयोग के बिना ही नीलपीतादि पदार्थों का निश्चय करने के कारण स्वतः व्यवसायात्मक सिद्ध हो जायेंगी । अतः विकल्प का अमिलापवत्त्व लक्षण दूषित है । विकल्प का निर्दोष लक्षण है—समारोपविरोधीग्रहण या निश्चयात्मकत्व ।

सांख्य—श्रोत्रादि इन्द्रियो की वृत्तियों को प्रत्यक्षप्रमाण मानते हैं । अकलंक देव कहते हैं कि—श्रोत्रादि इन्द्रियो की वृत्तियों तो तैमिरिक रोगी को होने वाले द्विचन्द्रज्ञान तथा अन्य संशयादि ज्ञानों में भी प्रयोजक होती हैं, पर वे सभी ज्ञान प्रमाण तो नहीं हैं ।

नैयायिक—इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । इसे भी अकलंकदेव ने सर्वज्ञ के ज्ञान में अव्याप्त बताते हुए लिखा है कि—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थों को विषय करने वाला सर्वज्ञ का ज्ञान प्रतिनियतशक्तिवाली इन्द्रियों से तो उत्पन्न नहीं हो सकता, पर प्रत्यक्ष तो अवश्य है । अतः सन्निकर्ष अव्याप्त है ।

सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष—चार प्रकार का है—१ अवग्रह, २ ईहा, ३ अवाय, ४ धारणा । प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति का साधारण क्रम यह है कि—सर्वप्रथम इन्द्रिय और पदार्थ

प्र०—‘सर्वज्ञता आगमोक्तपदार्थों का यथार्थज्ञान एवं अभ्यास से होगी तथा आगम सर्वज्ञ के द्वारा कहा जायगा’ इस तरह सर्वज्ञ और आगम दोनों ही अन्योन्याश्रित—एक दूसरे के आश्रित होने से असिद्ध है ।

उ०—सर्वज्ञ आगम का कारक है । प्रकृत सर्वज्ञ का ज्ञान पूर्वसर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम के अर्थ के आचरण से उत्पन्न होता है, पूर्व आगम तत्पूर्वसर्वज्ञ के द्वारा कहा गया है । इस तरह बीजाकुर की तरह सर्वज्ञ और आगम की परंपरा अनादि मानी जाती है । अनादिपरम्परा में इतरेतराश्रय दोष का विचार अव्यवहार्य है ।

प्र०—जब आजकल पुरुष प्रायः रागादि दोष से दूषित तथा अज्ञानी देखे जाते हैं, तब अतीतकाल में भी किसी अतीन्द्रियार्थद्रष्टा की संभावना नहीं की जा सकती और न भविष्यकाल में ही ! क्योंकि पुरुषजाति की शक्तियों तीनों कालों में प्रायः समान ही रहती हैं; वे अपनी असुक मर्यादा नहीं लँघ सकती ।

उ०—यदि पुरुषातिशय को हम नहीं जान सकते तो इससे उसका अभाव नहीं होता । अन्यथा आजकल कोई वेद का पूर्णज्ञ नहीं देखा जाता अतः अतीतकाल में जैमिनि को भी उसका यथार्थज्ञान नहीं था यह कहना चाहिये । बुद्धि में तारतम्य होने से उसके प्रकर्ष की संभावना तो है ही । जैसे मलिन सुवर्ण अग्नि के ताप से क्रमशः पूर्ण निर्मल हो जाता है, उसी तरह सम्यग्दर्शनादि के अभ्यास से आत्मा भी पूर्णरूपसे निर्मल हो सकता है ।

प्र०—जब सर्वज्ञ रागी आत्मा के राग तथा दुःखी के दुःख का साक्षात्कार करता है तब तो वह स्वयं रागी तथा दुःखी हो जायगा ।

उ०—दुःख या राग को जाननेमात्रसे कोई दुःखी या रागी नहीं होता । राग तो आत्मा का स्वयं तद्रूप से परिणमन करने पर होता है । क्या कोई श्रोत्रियब्राह्मण मदिरा के रस का ज्ञान करनेमात्रसे मद्यपायी कहा जा सकता है ? राग के कारण मोहनीय आदि कर्म सर्वज्ञ से अत्यन्त उच्छिन्न हो गए हैं, अतः वे राग या दुःख को जाननेमात्रसे रागी या दुःखी नहीं हो सकते ।

प्र०—जब सर्वज्ञ के साधक और बाधक दोनों प्रकार के प्रमाण नहीं मिलते, तो उसकी सत्ता सविषय ही कहना चाहिए ।

उ०—साधक प्रमाण पहिले बता आए हैं तथा बाधकों का परिहार भी किया जा चुका है तब संदेह क्यों हो ? सर्वज्ञ के अभाव का साधन तो सर्वज्ञ हुए बिना किया ही नहीं जा सकता । जब हम त्रिकाख-त्रिलोकवर्ती यावत्पुरुषों का असर्वज्ञरूप में दर्शन कर सकेंगे तभी असर्वज्ञता सिद्ध की जा सकती है । पर ऐसी असर्वज्ञता सिद्ध करनेवाला व्यक्ति स्वयं अनायास ही सर्वज्ञ बन जायगा ।

धर्मकीर्ति ने बुद्ध को करुणावान् तथा हेयोपादेय तत्त्व का उपदेष्टा कहा है । अकलंक कहते हैं कि—जब आप समस्तधर्मों के आधारभूत आत्मा को ही नहीं मानते तब किस पर

को ही प्रमाण कहा है। ऐसी धर्मज्ञता में वेद को ही अन्तिम प्रमाण मानने के कारण उन्हें पुरुष में अतीन्द्रियार्थविषयक ज्ञान का अभाव मानना पड़ा। उन्होंने पुरुषों में राग द्वेष अज्ञान आदि दोषों की शंका होने से अतीन्द्रियार्थप्रतिपादक वेद को पुरुषकृत न मानकर उसे अपौरुषेय स्वीकार किया। इस अपौरुषेयत्व की मान्यता से ही पुरुष में सर्वज्ञता का अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा होनेवाली धर्मज्ञता का निषेध हुआ। कुमारिल इस विषय में स्पष्ट लिखते हैं कि—सर्वज्ञत्व के निषेध से हमारा तात्पर्य केवल धर्मज्ञत्व के निषेध से है। धर्म के सिवाय यदि कोई पुरुष संसार के समस्त अर्थों को जानना चाहता है, खुशी से जाने, हमें कोई आपत्ति नहीं है। पर धर्म का ज्ञान वेद के द्वारा ही होगा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं। इस तरह धर्म को वेद के द्वारा तथा धर्मतिरिक्त अन्य पदार्थों को यथासंभव अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा जानकर कोई पुरुष यदि टोटा में सर्वज्ञ बनता है, तब भी हमें कोई आपत्ति नहीं है।

दूसरा पक्ष बौद्धों का है। वे बुद्ध को धर्म-चतुरार्यसत्य का साक्षात्कार मानते हैं। इनका कहना है कि बुद्ध ने अपने निरास्रव शुद्धज्ञान के द्वारा दुःख, समुदय-दुःख के कारण, निरोध-मोक्ष, मार्ग-मोक्षोपाय इस चतुरार्यसत्यरूप धर्म का प्रत्यक्ष से ही स्पष्ट साक्षात्कार किया है। अतः धर्म के विषय में बुद्ध ही प्रमाण है। वे करुणा करके कषायज्वाला से झुलसे हुए ससारिज्जीवों के उद्धार की भावना से उपदेश देते हैं। इस मत के समर्थक धर्मकीर्ति ने लिखा है कि—हम 'संसार के समस्त पदार्थों का कोई पुरुष साक्षात्कार करता है कि नहीं' इस निरर्थक बात के झगड़े में नहीं पड़ना चाहते। हम तो यह जानना चाहते हैं कि—उसने इष्टतत्त्व-धर्म को जाना है कि नहीं? मोक्षमार्ग में अनुपयोगी संसार के कीड़े मकोड़ों आदि की सख्या के परिज्ञान का भला मोक्षमार्ग से क्या सम्बन्ध है? धर्मकीर्ति सर्वज्ञता का सिद्धान्ततः विरोध नहीं करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते हैं। वे सर्वज्ञता के समर्थकों से कहते हैं कि—माई, मीमांसकों के सामने सर्वज्ञता—त्रिकाश-त्रिलोकवर्ती समस्तपदार्थों का प्रत्यक्ष से ज्ञान—पर जोर क्यों देते हो? असली बिबाद तो धर्मज्ञता में है कि धर्म के विषय में धर्म के साक्षात्कर्त्ता को प्रमाण माना जाय या वेद को? उस धर्ममार्ग के साक्षात्कार के लिए धर्मकीर्ति ने आत्मा-ज्ञानप्रवाह से दोषों का अत्यन्तोच्छेद माना और उसके सावन नैरान्ध्याभावना आदि बताए हैं। तात्पर्य यह कि—जहाँ कुमारिल ने प्रत्यक्ष से धर्मज्ञता का निषेध करके धर्म के विषय में वेद का ही अन्याहत अधिकार सिद्ध किया है; वहाँ धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष से ही धर्म-मोक्षमार्ग का साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्ष के द्वारा होनेवाली धर्मज्ञता का जोरो से समर्थन किया है।

धर्मकीर्ति के टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्त ने सुगत को धर्मज्ञ के साथ ही साथ सर्वज्ञ-त्रिकाशवर्ती यावत् पदार्थों का ज्ञाता भी सिद्ध किया है। और लिखा है कि—सुगत की तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं यदि वे अपनी साधक अवस्था में रागादिविनिमुक्ति की

प्रत्यभिज्ञान—दर्शन और स्मरण से उत्पन्न होनेवाले, एकत्व सादृश्य विसदृश्य प्रतियोगि तथा दूरत्वादिरूपसे संकलन करनेवाले ज्ञान का नाम प्रत्यभिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञान यद्यपि स्मरण और प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है फिर भी इन दोनों के द्वारा अगृहीत पूर्वोत्तरपर्यायवर्ती एकत्व को विषय करने के कारण प्रमाण है। अविसंवादित्व भी प्रत्यभिज्ञान में पाया जाता है जो प्रमाणता का खास प्रयोजक है।

तर्क—प्रत्यक्ष—साध्यसाधनसद्भावज्ञान और अनुपलम्भ—साध्याभाव—साधनाभावज्ञान से उत्पन्न होनेवाला सर्वोपसंहाररूपसे साध्यसाधन के सम्बन्ध को ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क है। संक्षेप में अविनाभावरूप व्याप्ति को ग्रहण करनेवाला ज्ञान तर्क कहलाता है। जितना भी धूम है वह कालत्रय तथा त्रिलोक में अग्नि से ही उत्पन्न होता है, अग्नि के अभाव में कहींभी कमीभी नहीं हो सकता ऐसा सर्वोपसंहारी अविनाभाव प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से गृहीत नहीं होता। अतः अगृहीतप्राप्ति तथा अविसंवादक तर्क को प्रमाणभूत मानना ही चाहिये। सन्निहितपदार्थ को विषय करनेवाला अविचारक प्रत्यक्ष इतने विस्तृत क्षेत्रवाले अविनाभाव को नहीं जान सकता। मले ही वह एक अमुकस्थान में साध्यसाधन के सम्बन्ध को जान सके, पर अविचारक होने से उसकी साध्यसाधनसम्बन्धविषयक विचार में सामर्थ्य ही नहीं है। अनुमान तो व्याप्तिग्रहण के बाद ही उत्पन्न होता है, अतः प्रकृत अनुमान स्वयं अपनी व्याप्ति के ग्रहण करने का प्रयत्न अन्योन्याश्रयदोष आने के कारण नहीं कर सकता; क्योंकि जब तक व्याप्ति गृहीत न हो जाय तब तक अनुमानोत्पत्ति नहीं हो सकती और जब तक अनुमान उत्पन्न न हो जाय तब तक व्याप्ति का ग्रहण असंभव है। प्रकृत अनुमान की व्याप्ति किसी दूसरे अनुमान के द्वारा ग्रहण करने पर तो अनवस्था दूषण स्पष्ट ही है। इस तरह तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही उचित है।

जिनमें अविनाभाव नहीं है उनमें अविनाभाव की सिद्धि करनेवाला ज्ञान कुतर्क है। जैसे विवक्षा से वचन का अविनाभाव बतलाना, क्योंकि विवक्षा के अभाव में भी सुषुप्तादि अवस्था में वचनप्रयोग देखा जाता है। शास्त्रविवक्षा रहने पर भी मन्दबुद्धियों के शास्त्रव्याख्यानरूप वचन नहीं देखे जाते।

अनुमान—अविनाभावी साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। नैयायिक अनुमिति के कारण को अनुमान कहते हैं। उनके मत से परामर्शज्ञान अनुमान-रूप होता है। 'धूम अग्नि से व्याप्त है तथा वह धूम पर्वत में है' इस एकज्ञान को परामर्शज्ञान कहते हैं। बौद्ध त्रिरूपलिङ्ग से अनुमेय के ज्ञान को अनुमान मानते हैं।

साधन का स्वरूप तथा अविनाभावग्रहणप्रकार—साध्य के साथ जिसकी अन्यथातुपपत्ति-अविनाभाव निश्चित हो उसे साधन कहते हैं। अविनाभाव (विना-साध्य के अभाव में अ-नहीं भाव-होना) साध्य के अभाव में साधन के न होने को कहते हैं।

उसी तरह अतीन्द्रियज्ञान स्पष्ट भासक होता है । इस तरह साधक प्रमाणों को बताकर उन्होंने जो एक खास हेतु का प्रयोग किया है, वह है—‘सुनिश्चितासम्भवद्वैतसाधकप्रमाणत्व’ अर्थात् किसी भी वस्तु की सत्ता सिद्ध करने के लिए सबसे बड़ा प्रमाण यही हो सकता है कि उसकी सत्ता में कोई बाधक प्रमाण नहीं मिले । जैसे ‘मैं सुखी हूँ’ यहाँ सुख का साधक प्रमाण यही है कि—मेरे सुखी होने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है । चूँकि सर्वज्ञ की सत्ता में कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है, अतः उसकी निर्वाच सत्ता होनी चाहिए । इस हेतु के समर्थनार्थ उन्होंने विरोधियों के द्वारा कल्पित बाधकों का निराकरण इस प्रकार किया है—

प्र०—‘अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं हैं, क्योंकि वह वक्ता है, पुरुष है, जैसे कोई भी गली में घूमने वाला साधारण मनुष्य’ यह अनुमान बाधक है ।

उ०—वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व का कोई विरोध नहीं है, वक्ता भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी । ज्ञान की वढती में वचनों का हास नहीं होता ।

प्र०—वक्तृत्व विवक्षा से सम्बन्ध रखता है, अतः इच्छारहित निर्मोही सर्वज्ञ में वचनो की समावना ही कैसे है ? शब्दोच्चारण की इच्छा तो मोह की पर्याय है ।

उ०—विवक्षा के साथ वक्तृत्व का कोई अविनाभाव नहीं है । मन्दबुद्धि शास्त्रविवक्षा रखते हैं, पर शास्त्र का व्याख्यान नहीं कर सकते । सुपुत्रादि अवस्थाओं में वचन देखे जाते हैं पर विवक्षा नहीं है । अतः वचनप्रवृत्ति में चैतन्य तथा इन्द्रियो की पटुता कारण है । लेकिन उनका सर्वज्ञता के साथ कोई विरोध नहीं है । अथवा, वचन विवक्षाहेतुक भान भी लिए जायें पर सत्य और हितकारक वचन की प्रवृत्ति कराने वाली विवक्षा दोषवाली कैसे हो सकती है ? इसी तरह निर्दोष बीतराग पुरुषत्व सर्वज्ञता के साथ कोई विरोध नहीं रखता । अतः इन व्यभिचारी हेतुओं से साध्यसिद्धि नहीं हो सकती; अन्यथा ‘जैमिनि को यथार्थ वेदज्ञान नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है एव पुरुष है’ इस अनुमान से जैमिनि की वेदार्थज्ञता का भी निषेध भलीभाँति किया जा सकता है ।

प्र०—आजकल हमें किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता, अतः अनुपलम्भ होने से उसका अभाव ही मानना चाहिए ।

उ०—पूर्वोक्त अनुमानों से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है, अतः अनुपलम्भ तो नहीं कहा जा सकता । यह अनुपलम्भ आपको है, या ससार के समस्त जीवों को ? आपको तो इस समय हमारे चित्त में आने वाले विचारों की भी अनुपलब्धि है पर इससे उनका अभाव तो सिद्ध नहीं किया जा सकता । अतः स्वोपलम्भ अनैकान्तिक है । ‘सर्वको सर्वज्ञता अनुपलम्भ है’ यह बात तो सबके ज्ञानों का ज्ञान होने पर ही सिद्ध हो सकती है । और यदि किसी पुरुष को समस्त प्राणियों के ज्ञान का ज्ञान हो सके; तब तो वही पुरुष सर्वज्ञ हो जायगा । यदि समस्तजीवों के ज्ञान का ज्ञान नहीं हो सके; तब तो ‘सर्वको सर्वज्ञ का अनुपलम्भ है’ यह बात असिद्ध ही रह जायगी ।

सहचर हेतु—चन्द्रमा के इस भाग को देखकर उसके उस भाग का अनुमान, तराजू के एक पलड़े को नीचा देख कर दूसरे पलड़े के उँचे होने का अनुमान, रस चखकर रूप का अनुमान, तथा साक्षा देखकर गौ का अनुमान देखा जाता है। यहाँ रसादि सहचर हेतु हैं; क्योंकि इनका अपने साध्यों के साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति आदि कोई सम्बन्ध नहीं होने से ये कार्य आदि हेतुओं में अन्तर्भूत नहीं हैं। हाँ, अविनाभाव मात्र होने से ये हेतु गमक होते हैं।

अनुपलब्धि—बौद्ध दृश्यानुपलब्धि से ही अभाव की सिद्धि मानते हैं। दृश्य से उनका तात्पर्य ऐसी वस्तु से है कि—जो वस्तु सूक्ष्म अन्तरित या दूरवर्ती न हो तथा जो प्रत्यक्ष का विषय हो सकती हो। ऐसी वस्तु उपलब्धि के समस्त कारण मिलने पर भी यदि उपलब्ध न हो तो उसका अभाव समझना चाहिए। सूक्ष्मादि पदार्थों में हम लोगों के प्रत्यक्ष आदि की निवृत्ति होने पर भी उनका अभाव तो नहीं होता। प्रमाण से प्रमेय का सद्भाव जाना जा सकता है पर प्रमाण की अप्रवृत्ति से प्रमेय का अभाव नहीं माना जा सकता। अतः विप्रकृष्ट पदार्थों में अनुपलब्धि संशयहेतु होने से अभाव की साधिका नहीं हो सकती।

अकलंकदेव इसका निरास करते हुए लिखते हैं कि—दृश्यत्व का अर्थ प्रत्यक्षविषयत्व ही न होना चाहिए किन्तु प्रमाणविषयत्व करना चाहिए। इससे यह तात्पर्य होगा कि—जो वस्तु जिस प्रमाण का विषय होकर यदि उसी प्रमाण से उपलब्ध न हो तो उसका अभाव सिद्ध होगा। देखो—मृत शरीर में स्वभाव से अतीन्द्रिय परचैतन्य का अभाव भी हम लोग सिद्ध करते हैं। यहाँ परचैतन्य में प्रत्यक्षविषयत्वरूप दृश्यत्व तो नहीं है; क्योंकि परचैतन्य हमारे प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। वचन उष्णताविशेष या आकारविशेष आदि के द्वारा उसका अनुमान किया जाता है, अतः उन्हीं वचनादि के अभाव से चैतन्य का अभाव सिद्ध होना चाहिए। अदृश्यानुपलब्धि यदि संशय हेतु मानी जाय तो अपनी अदृश्य आत्मा की सत्ता भी कैसे सिद्ध हो सकेगी? आत्मादि अदृश्य पदार्थ अनुमान के विषय हैं; यदि हम उनकी अनुमान से उपलब्धि न कर सकें तब उनका अभाव सिद्ध कर सकते हैं। हाँ, जिन पिशाचादि पदार्थों को हम किसी भी प्रमाण से नहीं जान सकते उनका अभाव हम अनुपलब्धि से नहीं कर सकेंगे। तात्पर्य यह कि—जिस वस्तु को हम जिन जिन प्रमाणों से जानते हैं उस वस्तु का उन उन प्रमाणों की निवृत्ति से अभाव सिद्ध होगा।

अकलङ्क कृत हेतु के मेद—अकलंकदेव ने सद्भाव साधक ६ उपलब्धियों का वर्णन किया है—

- १ स्वभावोपलब्धि—आत्मा है, उपलब्ध होने से।
- २ स्वभावकार्योपलब्धि—आत्मा यी, स्मरण होने से।
- ३ स्वभावकारणोपलब्धि—आत्मा होगी, सत् होने से।

करुणा की जायगी तथा कौन करुणा करेगा ? कौन उसका अनुष्ठान करेगा ? ज्ञानक्षय तो परस्पर भिन्न है, अतः भावना किसी अन्यज्ञानक्षय को होगी तो मुक्ति किसी दूसरे ज्ञानक्षय को । दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ये चार आर्यसत्य तो तब ठीक हो सकते हैं जब दुःखादि के अनुभव करनेवाले आत्मा को स्वीकार किया जाय । इस तरह जीव जिसे ससार होता है तथा जो मुक्त होता है, अजीव जिसके सम्बन्ध से दुःख होता है, इन दो आधारभूत तत्त्वों को माने बिना तत्त्वसंख्या की पूर्णता नहीं हो सकती । दुःख को जैन लोग बन्ध तथा समुदय को आश्रय शब्द से कहते हैं । निरोध को मोक्ष तथा मार्ग को संवर और निर्जरा शब्द से कहते हैं । अतः चार आर्यसत्य के साथ जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वों को मानना ही चाहिये । जीव और अजीव इन दो मूल तत्त्वों के अनादिकाशील सम्बन्ध से ही दुःख आदि की सृष्टि होती है । बुद्ध ने हिंसा का भी उपदेश दिया है अतः मालूम होता है कि वे यथार्थदर्शी नहीं थे । इत्यादि । सद् आत्मा को हेय कहना, निरोध को जो असद्रूप है उपादेय कहना, उसके कारणों का उपदेश देना तथा असत् की प्राप्ति के लिये यत्न करना ये सब बातें उनकी असर्वज्ञता का दिग्दर्शन करने के लिए पर्याप्त हैं । अकल्क के द्वारा बुद्ध के प्रति किए गए अकरुणावच आदि आक्षेपों के लिए उम ममय की माम्प्रदायिक परिस्थिति ही जवाबदेह है, क्योंकि कुमारिल और धर्मकीर्ति आदि ने जैनो के ऊपर भी ऐसे ही कल्पित आक्षेप किए हैं ।

परोक्ष-अकल्कदेव ने तत्त्वार्थमूत्रकार के द्वारा निर्दिष्ट परोक्षज्ञानों में मतिज्ञान मति स्मृत्यादि ज्ञानों को नामयोजना के पहिले साव्यवहारिकप्रत्यक्ष कहकर नाम योजना होने पर उन्हीं ज्ञानों को श्रुतव्यपदेश दिया है और श्रुत को अस्यष्ट होने से परोक्ष कहा है । अर्थात् परोक्षज्ञान के स्मृति, मंजा, चिन्ता, अभिनिबोध तथा श्रुत-आगम ये पाँच भेद हुए । अकल्कदेव ने राजवाचिक में अनुमान आदि ज्ञानों को स्वप्रतिपत्तिकाल में (नामयोजना से पहिले) अनक्षरश्रुत तथा परातिपत्तिकाल में अक्षरश्रुत कहा है । लघीयलक्ष्य में मति (इन्द्रियानिन्द्रियगम्यत्वं) को नामयोजना के पहिले मतिज्ञान एवं साव्यवहारिकप्रत्यक्ष तथा शब्द-योजना के बाद उसे ही श्रुत कहना उनके समन्वय करने के उक्तद यत्न की ओर ध्यान खींचता है, और इससे यह भी मालूम होता है कि लघीयलक्ष्य बनाते समय वे अपनी योजना को दृढ़ नहीं कर सके थे, क्योंकि उनमें लघीयलक्ष्य में मति स्मृति आदि को अवस्थाविशेष में मतिज्ञान लिखने पर भी न्यायविनिश्चय में स्मरणादि ज्ञानों के ऐकान्तिक श्रुतत्व-परोक्षत्व का विधान किया है ।

स्मृति-स्मरण को कोई बारी गृहीतग्राही होने से तथा कोई अर्थ से उत्पन्न न होने के कारण अप्रमाण कहते आए हैं । पर अकल्कदेव कहते हैं कि-यद्यपि स्मरण गृहीतग्राही है फिर भी अविनिर्वादी होने से प्रमाण ही होना चाहिये । वह अविनिर्वादी पल्लभज्ञान का जनक भी है । स्मृति समारोप का व्यवच्छेद करने वाली है, अतः उसे प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं होना चाहिए ।

तरह 'अद्वैतवादी के प्रमाण है, अन्यथा इष्टसाधन और अनिष्टदूषण नहीं हो सकेगा।' इस स्थल में जब इस अनुमान के पहिले अद्वैतवादियों के यहाँ प्रमाण नामक धर्मी की सच्चा ही सिद्ध नहीं है तब पक्षधर्मत्व कैसे बन सकता है ? पर उक्त हेतुओं की स्वसाध्य के साथ अन्यथाऽनुपपत्ति (अन्यथा-साध्य के अभाव में-विपक्ष में अनुपपत्ति-असत्त्व) देखी जाती है, अतः वे सङ्केत हैं ।

धर्मकीर्ति के टीकाकार कर्णकगोमि ने शकटोदयादि का अनुमान कराने वाले कृतिकोदयादि वैयधिकरण हेतुओं में काल या आकाश को धर्मी बनाकर पक्षधर्मत्व घटाने की युक्ति का उपयोग किया है । अकलंकदेव ने इसका भी निराकरण करते हुए कहा है कि—यदि काल आदि को धर्मी बनाकर कृतिकोदय में पक्षधर्मत्व घटाया जायगा तब तो पृथिवीरूप पक्ष की अपेक्षा से महानसगतधूमहेतु से समुद्र में भी अग्नि सिद्ध करने में हेतु अपक्षधर्म नहीं होगा ।

सपक्षसत्त्व को अनावश्यक बताते हुए अकलंकदेव लिखते हैं कि—पक्ष में साध्य और साधन की व्याप्तिरूप अन्तर्व्याप्ति के रहने पर ही हेतु सर्वत्र गमक होता है । पक्ष से बाहिर—सपक्ष में व्याप्ति ग्रहण करने रूप बहिर्व्याप्ति से कोई लाभ नहीं । क्योंकि अन्तर्व्याप्ति के असिद्ध रहने पर बहिर्व्याप्ति तो असाधक ही है । जहाँ अन्तर्व्याप्ति गृहीत है वहाँ बहिर्व्याप्ति के ग्रहण करने पर भी कुछ खास लाभ नहीं है । अतः बहिर्व्याप्ति का प्रयोजक सपक्षसत्त्वरूप भी अनावश्यक है । इस तरह अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का व्यावर्तक रूप मानते हुए अकलंकदेव ने स्पष्ट लिखा है कि—जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ त्रिरूपता मानने से क्या लाभ ? जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ त्रिरूपता मानकर भी गमकता नहीं आ सकती । 'अन्यथानुपपन्नत्वं' यह कारिका तत्त्वसंग्रहकार के उल्लेखानुसार पात्रस्वामि की मालूम होती है । यही कारिका अकलंक ने न्यायविनिश्चय के त्रिलक्षण-खण्डनप्रकरण में लिखी है ।

हेत्वामास—नैयायिक हेतु के पाँच रूप मानते हैं, अतः वे एक एक रूप के अभाव में असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वामास मानते हैं । बौद्ध ने हेतु को त्रिरूप माना है, अतः उनके मत से पक्षधर्मत्व के अभाव से असिद्ध हेत्वामास, सपक्षसत्त्व के अभाव से विरुद्ध हेत्वामास तथा विपक्षसत्त्व के अभाव से अनैकान्तिक हेत्वामास, इस तरह तीन हेत्वामास होते हैं । अकलंकदेव ने जब अन्यथानुपपन्नत्व को ही हेतु का एकमात्र नियामक रूप माना है तब स्वभावतः इनके मत से अन्यथानुपपन्नत्व के अभाव में एक ही हेत्वामास माना जायगा, जिसे उन्होंने खरं लिखा है कि—वस्तुतः एक ही असिद्ध हेत्वामास है । अन्यथानुपपत्ति का अभाव कई प्रकार से होता है अतः विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्कर के भेद से चार हेत्वामास भी हो सकते हैं । इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

यह अविनाभाव प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से उत्पन्न होनेवाले तर्क नाम के प्रमाण के द्वारा गृहीत होता है। बौद्ध पक्षधर्मत्वादि त्रिरूपवाले साधन को सत्साधन कहते हैं। वे सामान्य से अविनाभाव को ही साधन का स्वरूप मानते हैं। त्रिरूप तो अविनाभाव के परिचायक मात्र है। वे तादात्म्य और तदुत्पत्ति इन दो सम्बन्धों से अविनाभाव का ग्रहण मानते हैं। उनके मत से हेतु के तीन भेद हैं—१ स्वभावहेतु, २ कार्यहेतु, ३ अनुपलब्धिहेतु। स्वभाव और कार्यहेतु विधिसाधक हैं तथा अनुपलब्धिहेतु निषेवसाधक। स्वभावहेतु में तादात्म्यसम्बन्ध, कार्यहेतु में तदुत्पत्तिसम्बन्ध तथा अनुपलब्धिहेतु में यथासम्भव दोनों सम्बन्ध अविनाभाव के प्रयोजक होते हैं।

अकलकदेव इसका निरास करते हैं कि—जहाँ तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध से हेतु में गमकत्व देखा जाता है वहाँ अविनाभाव तो रहता ही है, भले ही वह अविनाभाव तादात्म्य तथा तदुत्पत्तिप्रयुक्त हो, पर बहुतसे ऐसे भी हेतु हैं जिनका साध्य के साथ तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं है फिर भी अविनाभाव के कारण वे नियत साध्य का ज्ञान कराते हैं। जैसे कृतिकोदय से भविष्यत् शकटोदय का अनुमान। यहा कृतिकोदय का शकटोदय के साथ न तादात्म्य सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति ही। हेतुओं के तीन भेद मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि के सिवाय कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतु भी त्वनियतसाध्य का अनुमान कराते हैं।

कारणहेतु—बृह्म से ज्ञान का ज्ञान, चन्द्रमा से जल में पड़नेवाले उसीके प्रतिबिम्ब का अवाधित अनुमान होता है। यहाँ बृह्म या चन्द्र न तो ज्ञान या जलप्रतिबिम्बित चन्द्र के कार्य हैं और न स्वभाव ही। हाँ, निमित्तकारण अवश्य हैं। अतः कारणलिंग से भी कार्य का अनुमान मानना चाहिये। जिस कारण की सामर्थ्य अप्रतिबद्ध हो तथा जिसमें अन्य कारणों की विकलता न हो वह कारण अवश्य ही कार्योपादक होता है।

पूर्वचरहेतु—कृतिका नक्षत्र का उदय देखकर एक मुहूर्त के बाद रोहिणी नक्षत्र के उदय का अनुमान देखा जाता है। अब विचार कीजिए कि—कृतिका का उदय जिससे रोहिणी के उदय का अविशवादी अनुमान होता है, किस हेतु में शामिल किया जाय ? कृतिकोदय तथा रोहिण्युदय में कालभेद होने से तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः स्वभावहेतु में अन्तर्भाव नहीं होगा। तथा एक दूसरे के प्रति कार्यकारणभाव नहीं है अतः कार्य या कारणहेतु में उसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अतः पूर्वचरहेतु अतिरिक्त ही मानना चाहिए। इसी तरह आज सूर्योदय देखकर कल सूर्योदय होगा, चन्द्रग्रहण होगा इत्यादि भविष्यद्विषयों का अनुमान अमुक अविनाभावी पूर्वचर हेतुओं से होता है।

उत्तरचरहेतु—कृतिका का उदय देखकर एक मुहूर्त पहिले भरणी नक्षत्र का उदय हो चुका यह अनुमान होता है। यह उत्तरचरहेतु पूर्वोक्त किसी हेतु में अन्तर्भूत नहीं होता।

हैं उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिए। इससे मालूम होता है कि वे सामान्य से हेत्वाभासों की अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा रखते थे। इसके स्वतन्त्र हेत्वाभास होने पर उनका भार नहीं था। यही कारण है कि आ० माणिक्यनन्दि ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के लक्षण और भेद कर चुकने पर भी लिखा है कि—इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का विचार हेत्वाभास के लक्षणकाल में ही करना चाहिए। शास्त्रार्थ के समय तो इसका कार्य पक्षदोष से ही किया जा सकता है। आचार्य विद्यानन्द ने भी सामान्य से एक हेत्वाभास कह कर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक को उसीका रूपान्तर माना है। उनने भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के ऊपर भार नहीं दिया। बादिदेवसूरिआदि उत्तरकालीन आचार्यों ने असिद्धादि तीन ही हेत्वाभास गिनाए हैं।

साध्य—आ० दिग्नाग ने पक्ष के लक्षण में ईप्सित तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध ये दो विशेषण दिए हैं। धर्मकीर्ति ईप्सित की जगह इष्ट तथा प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध के स्थान में प्रत्याक्षाद्यनिराकृत शब्द का प्रयोग करते हैं। अकलंकदेव ने अपने साध्य के लक्षण में शक्य (अबाधित) अभिप्रेत (इष्ट) और अप्रसिद्ध इन तीन विशेषणों का प्रयोग किया है। असिद्ध विशेषण तो 'साध्य' शब्द के अर्थ से ही फलित होता है। साध्य का अर्थ है—सिद्ध करने योग्य, अर्थात् असिद्ध। शक्य और अभिप्रेत विशेषण बौद्धाचार्यों के द्वारा किए गए साध्य के लक्षण में आए हैं। साध्य का यह लक्षण निर्विवादरूप से माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों द्वारा स्वीकृत है। सिद्ध, अनिष्ट तथा बाधित को साध्याभास कहा है।

दृष्टान्त—जहाँ साध्य और साधन के सम्बन्ध का ज्ञान होता है उस प्रदेश का नाम दृष्टान्त है। साध्यविकल तथा साधनविकलादिक दृष्टान्ताभास हैं। इस तरह दृष्टान्त और दृष्टान्ताभास का लक्षण करने पर भी अकलंकदेव ने दृष्टान्त को अनुमान का अवयव स्वीकार नहीं किया। उनने लिखा है कि—सभी अनुमानों में दृष्टान्त होना ही चाहिए ऐसा नियम नहीं है, दृष्टान्त के बिना भी साध्य की सिद्धि देखी जाती है, जैसे बौद्ध के मत से समस्त पदार्थों को क्षणिकत्व सिद्ध करने में सत्त्व हेतु के प्रयोग में कोई दृष्टान्त नहीं है। अतः दृष्टान्त अनुमान का नियत अवयव नहीं है। इसीलिए उत्तरकालीन कुमारनन्दि आदि आचार्यों ने प्रतिज्ञा और हेतु इन दो को ही अनुमान का अवयव माना है। हाँ, मन्दबुद्धि शिष्यों की दृष्टि से दृष्टान्त, उपनय तथा निगमनादि भी उपयोगी हो सकते हैं।

धर्मी—बौद्ध अनुमान का विषय कल्पित सामान्य मानते हैं, क्षणिक स्वलक्षण नहीं। आ० दिग्नाग ने कहा है कि—समस्त अनुमान-अनुमेयव्यवहार बुद्धिकल्पित धर्मधर्मिन्याय से चलता है, किसी धर्मी की वास्तविक सत्ता नहीं है। अकलंकदेव कहते हैं कि—जिस तरह प्रत्यक्ष परपदार्थ तथा स्वरूप को विषय करता है उसी तरह अनुमान भी वस्तुभूत अर्थ को ही विषय करता है। हाँ, यह हो सकता है कि प्रत्यक्ष उस वस्तु को स्फुट तथा विशेषाकार रूप से ग्रहण करे और अनुमान उसे अस्फुट एवं सामान्याकार

- ४ सहचरोपलब्धि—आत्मा है, स्पर्शविशेष (शरीर में उष्णता विशेष) पाया जाने से ।
- ५ सहचरकार्योपलब्धि—कायव्यापार हो रहा है, वचनप्रवृत्ति होने से ।
- ६ सहचरकारणोपलब्धि—आत्मा सप्रदेशी है, सावयवशरीर के प्रमाण होने से । असम्बन्धहारसाधन के लिए ६ अनुपलब्धियाँ बताई हैं—
- १ स्वभावानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, अनुपलब्ध होने से ।
- २ कार्यानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कार्य नहीं पाया जाता ।
- ३ कारणानुपलब्धि—क्षणक्षयैकान्त नहीं है, उसका कारण नहीं पाया जाता ।
- ४ स्वभावसहचरानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, रूपविशेष (शरीर में आकारविशेष) नहीं पाया जाता ।

५ सहचरकार्यानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, व्यापार, आकारविशेष तथा वचनविशेष की अनुपलब्धि होने से ।

६ सहचरकारणानुपलब्धि—आत्मा नहीं है, उसके द्वारा आहार ग्रहण करना नहीं देखा जाता । सजीव शरीर ही स्वयं आहार ग्रहण करता है ।

सम्बन्धार के निषेध के लिए ३ उपलब्धियाँ बताई हैं—

- १ स्वभावविरुद्धोपलब्धि—पदार्थ नित्य नहीं है, परिणामी होने से ।
- २ कार्यविरुद्धोपलब्धि—लक्षणविज्ञान प्रमाण नहीं है, विसर्वाधी होने से । (?)
- ३ कारणविरुद्धोपलब्धि—इस व्यक्ति को परीक्षा का फल प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इसने अभावैकान्त का ग्रहण किया है ।

इस तरह सद्भावसाधक १ उपलब्धियाँ तथा अभावसाधक ६ अनुपलब्धियों को कण्ठोक्त कहकर इनके और अन्य अनुपलब्धियों के भेदप्रभेदों का इन्हीं में अन्तर्भाव किया है । साथ ही यह भी बताया है कि—धर्मकीर्ति के कथनानुसार अनुपलब्धियों केवल अभाव साधक ही नहीं हैं, किन्तु भावसाधक भी होती हैं । इसी संकेत के अनुसार माणिक्यनन्दि, विद्यानन्द तथा वादिदेवसूरि ने उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनों को उभय-साधक मानकर उनके अनेकों भेदप्रभेद किए हैं ।

त्रैरूप्य निरास—बौद्ध हेतु के तीन रूप मानता है । प्रत्येक सत्त्व हेतु में निम्न त्रिरूपता अवश्य ही पाई जानी चाहिए, अन्यथा वह सद्हेतु नहीं हो सकता । १ पक्ष-धर्मत्व—हेतु का पक्ष में रहना । २ सपक्षसत्त्व—हेतु का समस्त सपक्षों में या कुछ सपक्षों में रहना । ३ विपक्षासत्त्व—हेतु का विपक्ष में विलकुल नहीं पाया जाना । अकलकदेव इनमें से तीसरे विपक्षासत्त्व रूप को ही सद्हेतुत्व का नियामक मानते हैं । उनकी दृष्टि से हेतु का पक्ष में रहना तथा सपक्षसत्त्व कोई आवश्यक नहीं है । वे लिखते हैं कि—‘शक-टोदय होगा, कृतिकोदय होने से’ ‘भरणी का उदय हो चुका, कृतिका का उदय होने से’ इन अनुमानों में कृतिकोदय हेतु पक्षभूत शकट तथा भरणि में नहीं पाया जाता । इसी

अतः वे वाद को ही एक मात्र कथा रूप से स्वीकार करते हैं। उनने वाद का संक्षेप में 'समर्थवचन को वाद कहते हैं' यह बख्खण करके कहा है कि वादि-प्रतिवादियों का मध्यस्थों के सामने स्वपक्षसाधन-परपक्षदूषणवचन को वाद कहना चाहिए। इस तरह वाद और जल्प को एक मान लेने पर वे यथेच्छ कहीं वाद शब्द का प्रयोग करते हैं तो कहीं जल्प शब्द का। वितण्डा को जिसमें वादी अपना पक्षस्थापन नहीं करके मात्र प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन ही खण्डन करता है, वादाभास कहकर त्याज्य बताया है।

जयपराजयव्यवस्था—नैयायिक ने इसके लिए प्रतिज्ञाहानि आदि २२ निग्रहस्थान माने हैं। जिनमें बताया है कि यदि कोई वादी अपनी प्रतिज्ञा की हानि कर दे, दूसरा हेतु बोल दे, असम्बद्ध पद-वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी और परिषद न समझ पावे, हेतुदृष्टान्तादि का क्रम मंग हो जाय, अवयव न्यून कहे जायें, अधिक अवयव कहे जायें, पुनरुक्त हो, प्रतिवादी वादीकेद्वारा कहे गए पक्ष का अनुवाद न कर सके, उत्तर न दे सके, वादी के द्वारा दिए गए दूषण को अर्धस्वीकार कर खंडन करे, निग्रहार्ह के लिए निग्रहस्थान उद्गावन न कर सके, अनिग्रहार्ह को निग्रहस्थान बता देवे, सिद्धान्तविरुद्ध बोल जावे, हेत्वाभासों का प्रयोग करे तो निग्रहस्थान अर्थात् पराजय होगा। सामान्य से नैयायिकों ने विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति को निग्रहस्थान माना है। विप्रतिपत्ति—विरुद्ध या असम्बद्ध कहना। अप्रतिपत्ति—पक्षस्थापन नहीं करना, स्थापित का प्रतिपेध नहीं करना तथा प्रतिषिद्ध का उद्धार नहीं करना। प्रतिज्ञाहान्यादि २२ तो इन्हीं दोनों के ही विशेष प्रकार हैं।

धर्मकीर्ति ने इनका खंडन करते हुए लिखा है कि—जयपराजयव्यवस्था को इस तरह गुंठाले में नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादी का मात्र इसलिए निग्रह होना कि वह कुछ अधिक बोल गया या अमुक कायदे का पालन नहीं कर सका, सत्य और अहिंसा की दृष्टि से उचित नहीं है। अतः वादी और प्रतिवादी के लिए क्रमशः असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्गावन, ये दो ही निग्रहस्थान मानना चाहिये। वादी का कर्त्तव्य है कि वह सच्चा और पूर्ण साधन बोले। प्रतिवादी का कार्य है कि वह यथार्थ दोषों का उद्गावन करे। यदि वादी सच्चा साधन नहीं बोलता या जो साधन के अंग नहीं है ऐसे वचन कहता है तो उसका असाधनाङ्गवचन होने से पराजय होना चाहिए। प्रतिवादी यदि यथार्थ दोनों का उद्गावन न कर सके या जो दोष नहीं है उनका उद्गावन करे तो उसका पराजय होना चाहिए। इस तरह सामान्यलक्षण करने पर भी धर्मकीर्ति फिर उसी घपले में पड़ गए। उन्होंने असाधनाङ्गवचन तथा अदोषोद्गावन के विविध व्याख्यान करके कहा है कि अन्यथा या व्यतिरेक दृष्टान्त में से केवल एक दृष्टान्त से ही जब साध्यकी सिद्धि संभव है तो दोनों दृष्टान्तों का प्रयोग करना असाधनाङ्गवचन होगा। त्रिरूपवचन ही साधनाङ्ग है, उसका कथन न करना असाधनाङ्ग है। प्रतिज्ञा निगमनादि साधन के अंग नहीं हैं, उनका कथन असाध-

१ असिद्ध—सर्वथाव्यथात्—सर्वथा पक्ष में न पाया जानेवाला, अथवा सर्वथा जिसका साध्य से अविनाभाव न हो । जैसे शब्द अनित्य है चाक्षुष होने से ।

२ विरुद्ध—अन्यथाभावात्—साध्याभाव में पाया जानेवाला, जैसे सब क्षणिक हैं, सत् होने से । सत्त्वहेतु सर्वथाक्षणिकत्व के विपक्षभूत कथञ्चित्क्षणिकत्व में पाया जाता है ।

३ अनैकान्तिक—विपक्ष में भी पाया जाने वाला । जैसे सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त वक्तृत्वादिहेतु । यह निश्चितानैकान्तिक, सन्दिग्धनैकान्तिक आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है ।

४ अकिञ्चित्कर—सिद्ध साध्य में प्रयुक्त हेतु । अन्यथानुपपत्ति से रहित जितने त्रिलक्षण हेतु हैं उन सब को भी अकिञ्चित्कर समझना चाहिए ।

दिग्गताचार्य ने विरुद्धान्वयिचारी नाम का भी एक हेत्वाभास माना है । परस्पर विरोधी दो हेतुओं का एक धर्म में प्रयोग होने पर प्रथम हेतु विरुद्धान्वयिचारी हो जाता है । यह संशयहेतु होने से हेत्वाभास है । वर्मकीर्ति ने इसे हेत्वाभास नहीं माना है । वे लिखते हैं कि—प्रमाणसिद्धवैरूप्यवाले हेतु के प्रयोग होने पर विरोधी हेतु को अवसर ही नहीं मिल सकता । अतः इसकी आगमाश्रितहेतु के विषय में प्रवृत्ति मानकर आचार्य के वचन की संगति लगा लेनी चाहिए, क्योंकि शास्त्र अतीन्द्रियार्थविषय में प्रवृत्ति करता है । शास्त्रकार एक ही वस्तु को परस्पर विरोधी रूप से कहते हैं, अतः आगमाश्रित हेतुओं में ही यह संभव हो सकता है । अकलंकदेव ने इस हेत्वाभास का विरुद्धहेत्वाभास में अन्तर्भाव किया है । जो हेतु विरुद्ध का अन्यविचारी-विपक्ष में भी रहने वाला होगा वह विरुद्ध हेत्वाभास की ही सीमा में आयागा ।

अर्चटकृत हेतुविन्दुविवरण में एक षड्लक्षण हेतु माननेवाले मत का कथन है । पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षाद्व्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व, असंघतिपक्षत्व और ज्ञातत्व ये छह लक्षण हैं । इनमें ज्ञातत्व नाम के रूप का निर्देश होने से इस बादी के मत से 'अज्ञात' नाम का भी हेत्वाभास फलित होता है । अकलंकदेव ने इस 'अज्ञात' हेत्वाभास का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में अन्तर्भाव किया है । नैयायिकोक्त पाँच हेत्वाभासों में कालात्म्यापदिष्ट का अकिञ्चित्कर हेत्वाभास में, तथा प्रकरणसम का जो दिग्गता के विरुद्धान्वयिचारी जैसा है, विरुद्धहेत्वाभास में अन्तर्भाव समझना चाहिए । इस तरह अकलंकदेव ने सामान्य रूप से एक हेत्वाभास कह कर भी विशेषरूप से असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर इन चार हेत्वाभासों का कथन किया है ।

अकलंकदेव का अभिप्राय अकिञ्चित्कर को स्वतन्त्र हेत्वाभास मानने के विषय में सुरुद्ध नहीं मालूम होता । क्योंकि वे लिखते हैं कि—सामान्य से एक असिद्ध हेत्वाभास है । वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध के भेद से अनेक प्रकार का है । ये विरुद्धादि अकिञ्चित्कर के विस्तार हैं । फिर लिखते हैं कि—अन्यथानुपपत्तिरहित जितने त्रिलक्षण

सकता है। एक प्रत्यक्ष से तो उभय का ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि श्रावणप्रत्यक्ष अथे को विषय नहीं करता तथा चानुषादिप्रत्यक्ष शब्द को विषय नहीं करते। स्मृति तो निर्विषय एवं गृहीतग्राही होने से प्रमाण ही नहीं है। इसलिए शब्द अर्थ का वाचक न होकर विवक्षा का सूचन करता है। शब्द का वाच्य अर्थ न होकर कल्पित-बुद्धिप्रतिबिम्बित अन्यापोद्गरूप सामान्य है। इस लिए शब्द से होनेवाले ज्ञान में सत्यार्थता का कोई नियम नहीं है।

अकलंकदेव इसका समालोचन करते हुए कहते हैं कि—पदार्थ में कुछ धर्म सदृश तथा कुछ धर्म विसदृश होते हैं। सदृश धर्मों की अपेक्षा से शब्द का अर्थ में संकेत होता है। जिस शब्द में संकेत ग्रहण किया जाता है भले ही वह व्यवहारकाल तक नहीं पहुँचे पर तत्सदृश दूसरे शब्द से अर्थबोध होने में क्या बाधा है? एक घटशब्द का एक घट अर्थ में संकेत ग्रहण करने के बाद तत्सदृश यावद् घटों में तत्सदृश यावद् घट-शब्दों की प्रवृत्ति होती है। केवल सामान्य में संकेत नहीं होता; क्योंकि केवल सामान्य में संकेत ग्रहण करने से विशेष में प्रवृत्ति रूप फल नहीं हो सकेगा। न केवल विशेष में; अनन्त विशेषों में संकेत ग्रहण की शक्ति अस्मदादि पापर जनों में नहीं है। अतः सामान्य-विशेषात्मक-सदृशधर्मविशिष्ट शब्द और अर्थव्यक्ति में संकेत ग्रहण किया जाता है। संकेत ग्रहण के अनन्तर शब्दार्थ का स्मरण करके व्यवहार होता है। जिस प्रकार प्रत्यक्षबुद्धि अतीतार्थ को जान कर भी प्रमाण है उसी तरह स्मृति भी प्रमाण ही है। प्रत्यक्षबुद्धि में अर्थ कारण है, अतः वह एक क्षण पहिले रहता है ज्ञानकाल में नहीं। ज्ञानकाल में तो वह क्षणिक होने से नष्ट हो जाता है। जब अविस्मृतिप्रयुक्त प्रमाणात्ता स्मृति में है ही, तब शब्द सुनकर स्मृति के द्वारा अर्थबोध करके तथा अर्थ देखकर स्मृति के द्वारा तद्वाचक शब्द का स्मरण करके व्यवहार अच्छी तरह चलता ही है। यह अवश्य है कि—सामान्य-विशेषात्मक अर्थ को विषय करने पर भी अधिज्ञान स्पष्ट तथा शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। जैसे एक ही वृक्ष को विषय करनेवाला दूरवर्ती पुरुष का ज्ञान अस्पष्ट तथा समीपवर्ती का स्पष्ट होता है। स्पष्टता और अस्पष्टता विषयभेदप्रयुक्त नहीं हैं, किन्तु आवरणक्षयोप-शमादिसामग्रीप्रयुक्त है। जिस प्रकार अग्निभावास्वप्न से अर्थ का बोध करानेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अग्निवादी होने से प्रमाण है उसी तरह वाच्यवाचकस्वप्न से अर्थ का ज्ञान करानेवाला शब्दबोध भी ही प्रमाण होना चाहिए। यदि शब्द बाह्यार्थ में प्रमाण न हो; तब बौद्ध स्वयं शब्दों से अदृष्ट नदी, देश, पर्वतादि का अविस्मृति ज्ञान कैसे करते हैं? यदि कोई एकाग्र शब्द अर्थ की गैरमोज्ज्वली में प्रयुक्त होने से व्यभिचारी देखा गया तो मात्र इतने से सभी शब्दों को व्यभिचारी या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। जैसे प्रत्यक्ष या अनुमान कहीं कहीं अन्त देखे जाने पर भी अध्वान्त या अव्यभिचारि विशेषणों से युक्त होकर प्रमाण हैं उसी तरह आध्वान्त शब्द को बाह्यार्थ में प्रमाण मानना चाहिए। यदि हेतुवादरूप शब्द के द्वारा अर्थ का निश्चय न हो; तो

रूप से । पर इतने मात्र से एक वस्तुविषयक और दूसरा अवस्तु को विषय करनेवाला नहीं कहा जा सकता । जिस विकल्पज्ञान से आप धर्मवर्मिभाव की कल्पना करते हैं, वह विकल्पज्ञान निर्विकल्पक से तो सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि निर्विकल्पक—निश्चयशून्यज्ञान से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती । विकल्पान्तर से सिद्धि मानने में अनवस्था दूषण आता है । अतः विकल्प को स्व और अर्थ दोनों ही अशो में प्रमाण मानना चाहिए । जब विकल्प अर्थाश में प्रमाण हो जायगा; तब ही उसके द्वारा विषय किए गए धर्मों आदि भी सत्य एवं परमार्थ सिद्ध होंगे । यदि धर्मों ही मिथ्या हैं; तब तो उसमें रहने वाले साध्य-साधन भी मिथ्या एवं कल्पित ठहरेगे । इस तरह परम्परा से भी अनुमान के द्वारा अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकेगी । अतः धर्मों को प्रमाणसिद्ध मानना चाहिए केवल विकल्पसिद्ध नहीं । अकलकोत्तरवर्ती आ० माणिक्यनन्दि ने इसी आशय से परीक्षामुखसूत्र में धर्मों के तीन भेद किए हैं—१ प्रमाणसिद्ध, २ विकल्पसिद्ध, ३ उभयसिद्ध ।

अनुमान के भेद—न्यायसूत्र में अनुमान के तीन भेद किए हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट । साध्यतत्त्वकौमुदी में अनुमान के दो भेद पाए जाते हैं—एक वीत और दूसरा अवीत । वीत अनुमान के दो भेद—१ पूर्ववत्, २ सामान्यतोदृष्ट । साध्य के इन भेदों की परम्परा वस्तुतः प्राचीन है । वैशेषिक ने अनुमान के कार्यलिंगज, कारण-लिंगज, सयोगिलिंगज, विरोधिलिंगज और सप्रबायिलिंगज, इस तरह पाँच भेद किए हैं । अकलकदेव तो सामान्यरूप से एक ही अन्यथानुपपत्तिलिंगज अनुमान मानते हैं । वे इन अपूर्ण भेदों की परिगणना को महत्त्व नहीं देते ।

वाद—नैयायिक कथा के तीन भेद मानते हैं—१ वाद, २ जल्प, ३ वितण्डा । वीतरागकथा का नाम वाद है तथा विजिगीषुकथा का नाम जल्प और वितण्डा है । पक्ष-प्रतिपक्ष तो दोनों कथाओं में ग्रहण किए ही जाते हैं । हाँ, इतना अन्तर है कि—वाद में स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण प्रमाण और तर्क के द्वारा होते हैं, जब कि जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असदुत्तरो से भी किए जा सकते हैं । नैयायिक ने छलादि के प्रयोग को असदुत्तर माना है और साधारण अवस्था में उनके प्रयोग का निषेध भी किया है । वाद का प्रयोजन तत्त्वनिर्णय है । जल्प और वितण्डा का प्रयोजन है तत्त्वसरक्षण, जो छलजातिरूप असदुत्तरों से भी किया जा सकता है । जैसे खेत की रक्षा के लिए काटो की बारी लगाई जाती है उसी तरह तत्त्वसरक्षण के लिए काटो के समान छलादि के प्रयोग का अवलम्बन अमुक अवस्था में ठीक है । आ० धर्मकीर्ति ने अपने वादन्याय में छलादि के प्रयोग को बिल्कुल अन्याय्य बताया है । उसी तरह अकलकदेव अहिंसा की दृष्टि से किसी भी हालत में छलादि रूप असदुत्तर के प्रयोग को उचित नहीं समझते । छलादि को अन्याय्य मान लेने से जल्प और वाद में कोई भेद ही नहीं रह जाता ।

आदि पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जायेंगे। शब्द की उपादानभूत शब्दवर्णाएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि उनकी प्रत्यक्ष से उपलब्धि नहीं हो सकती। इसी तरह शब्द की उत्तर-पर्याय भी सूक्ष्म होने से अनुपलब्ध रहती है। क्रम से उच्चरित शब्दों में ही पद, वाक्य आदि सन्नाएँ होती हैं। यद्यपि शब्द सभी दिशाओं में उत्पन्न होते हैं पर उनमें से जो शब्द श्रोत्र के साथ सन्निकृष्ट होते हैं वही श्रोत्र के द्वारा सुने जाते हैं, अन्य नहीं। श्रोत्र को प्राप्यकारी कहकर अकलंकदेव ने बौद्ध के 'श्रोत्र को भी चक्षुरिन्द्रिय की तरह अप्राप्यकारी मानने के' सिद्धान्त का खण्डन किया है। इसतरह शब्द तात्वादि के संयोग से उत्पन्न होता है और वह श्रावणमध्यस्वभाव है। इसीमें इच्छानुसार संकेत करने से अर्थबोध होता है।

वेदापौरुषेयत्व विचार—मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। उनका कहना है कि धर्म में वेदवाक्य ही प्रमाण हो सकते हैं। चूँकि प्रत्यक्ष से अतीन्द्रिय पुण्यपापादि पदार्थों के ज्ञान की संभावना नहीं है, अतः अतीन्द्रिय धर्मादि का प्रतिपादक वेद किसी पुरुष की कृति नहीं हो सकता। आज तक उसके कर्त्ता का स्मरण भी तो नहीं है। यदि कर्त्ता होता तो अवश्य ही उसका स्मरण होना चाहिए था। अतः वेद अपौरुषेय तथा अनादि है। अकलंकदेव ने श्रुत को परमात्मप्रतिपादित बताते हुए कहा है कि—जब आत्मा ज्ञानरूप है तथा उसके प्रतिबन्धक कर्म हट सकते हैं, तब उसे अतीन्द्रियादि पदार्थों के ज्ञानने में क्या बाधा है? यदि ज्ञान में अतिशय असम्भव ही हो; तो जैमिनि आदि को वेदार्थ का पूर्ण परिज्ञान कैसे संभव होगा? सर्वत्र प्रमाणात्ता कारणगुणों के ही आधीन देखी जाती है। शब्द में प्रमाणात्ता का लानेवाला वक्ता का गुण है। यदि वेद अपौरुषेय है; तब तो उसकी प्रमाणात्ता ही सन्दिग्ध रहेगी। जब अतीन्द्रियदर्शी एक भी पुरुष नहीं है; तब वेद का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है? परम्परा तो मिथ्यार्थ की भी चल सकती है। यदि समस्तार्थज्ञान में शंका की जाती है; तब चंचल-इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों में कैसे विश्वास किया जा सकता है? यदि अपौरुषेय वेद अपने अर्थ का स्वतः विवरण करे, तब तो वेद के अंगभूत आधुवेद आदि के परिज्ञानार्थ मनुष्यों का पठन-पाठनरूप प्रयत्न निष्फल ही हो जायगा। अतः सामग्री के गुण-दोष से ही प्रमाणात्ता और अप्रमाणात्ता का सम्बन्ध मानना चाहिए। शब्द की प्रमाणात्ता के लिए वक्ता का सम्यग्ज्ञान ही एकमात्र अङ्कश हो सकता है। जब वेद का कोई अतीन्द्रियार्थद्वष्टा नियामक नहीं है, तब उसके अर्थ में अन्व-परम्परा ही हुई। आज तक अनादि काल वीत चुका, ऐसा अनाप्त वेद नष्ट क्यों नहीं हुआ? अनादि मानने से या कर्त्ता का स्मरण न होने से ही तो कोई प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि लोक में बहुतसे ऐसे म्लेच्छादिव्यवहार या गाली गलौज आदि पाए जाते हैं, जिनके कर्त्ता का आज तक किसी को स्मरण नहीं है, पर इतने मात्रसे वे प्रमाण तो नहीं माने जा सकते। इसलिए वेद के अर्थ में यथार्थता का नियामक अती-

नाहू है। यह सब लिखकर अन्त में उनमें यह भी सूचन किया है कि—स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरण जयलभ के लिए आवश्यक है।

अकलंकदेव आसावनाज्ञचन तथा अदोपोद्गावन के झगड़े को भी पसन्द नहीं करते। किसको साधनाहू माना जाय किसको नहीं, किसको दोष माना जाय किसको नहीं यह निर्णय स्वयं एक शास्त्रार्थ का विषय हो जाता है। अतः स्वपक्षसिद्धि से ही जय-व्यवस्था माननी चाहिए। स्वपक्षसिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक बोल जाय तो कुछ हानि नहीं। प्रतिवादी यदि विरुद्ध हेत्वाभास का उद्गावन करता है तो फिर उसे स्वतन्त्र रूप से पक्षसिद्धि की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वादी के हेतु को विरुद्ध कहने में प्रतिवादी का पक्ष तो स्वतः सिद्ध हो जाता है। हाँ, असिद्ध आदि हेत्वाभासों के उद्गावन करने पर प्रतिवादी को अपना पक्ष भी सिद्ध करना चाहिए। स्वपक्षसिद्धि नहीं करनेवाला शास्त्रार्थ के नियमों के अनुसार चलने पर भी जय का भागी नहीं हो सकता।

जाति—मिथ्या उत्तरो को जाति कहते हैं। जैसे बर्मकीर्ति का अनेकान्त के रहस्य को न समझकर यह कहना कि—“यदि सभी वस्तुएँ द्रव्यदृष्टिसे एक हैं तो द्रव्यदृष्टि से तो दही और जैत भी एक हो गया। अतः दही खानेवाला जैत को भी क्यों नहीं खाता ?” साधर्म्यादिसम जातियों को अकलंकदेव कोई खास महात्त्व नहीं देने और न उनकी आवश्यकता ही समझते हैं। आ० दिग्नाग की तरह अकलंकदेवने भी असद्वृत्तों को अनन्त कहकर जातियों की २४ संख्या भी अपूर्ण सूचित की है।

श्रुत—समस्त एकान्त प्रवादों के अगोचर, प्रमाणसिद्ध, परमात्मा के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन श्रुत है। श्रुत द्वीप, देश, नदी आदि व्यवहित अर्थों में प्रमाण है। हेतुवादरूप आगम युक्तिसिद्ध है। उसमें प्रमाणता होने से शेष अहेतुवाद आगम भी उसी तरह प्रमाण है। आगम की प्रमाणता का प्रयोजक आसोक्तत्व नाम का गुण होता है।

शब्द का अर्थवाचकत्व—बौद्ध शब्द का वाच्य अर्थ नहीं मानते। वे कहते हैं कि शब्द की प्रवृत्ति संकेत से होती है। न्वलक्षण क्षणधर्मों तथा अनन्त हैं। जब अनन्त स्वलक्षणों का ग्रहण भी संभव नहीं है तब संकेत कैसे ग्रहण किया जायगा ? ग्रहण करने पर भी व्यवहार काल तक उसकी अनुवृत्ति न होने से व्यवहार कैसे होगा ? शब्द अतीतानागतकालीन अर्थों में भी प्रयुक्त होते हैं, पर वे अर्थ विद्यमान तो नहीं हैं। अतः शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध हो तो शब्दबुद्धि का प्रतिभास इन्द्रियबुद्धि की तरह स्पष्ट होना चाहिए। शब्दबुद्धि में यदि अर्थ कारण नहीं है तब वह उसका विषय कैसे हो सकेगा ? क्योंकि जो ज्ञान में कारण नहीं है वह ज्ञान का विषय भी नहीं हो सकता। यदि अर्थ शब्दज्ञान में कारण हो; तो फिर कोई भी शब्द विसवादी या अप्रमाण नहीं होगा, तथा अतीतानागत अर्थों में शब्द की प्रवृत्ति ही रुक जायगी। संकेत भी शब्द और अर्थ उभय का ज्ञान होने पर ही हो

का गृहीत होना या न होना प्रमाणान्तरता का प्रयोजक नहीं हो सकता। संभव नामका प्रमाण यदि अविनाभावप्रयुक्त है; तो उसका अनुमान में अन्तर्भाव होगा। यदि अविनाभावप्रयुक्त नहीं है; तब तो वह प्रमाण ही नहीं हो सकता। ऐतिह्य नामका प्रमाण यदि आतोपदेशमूलक है, तो आगमनामक प्रमाण में अन्तर्भूत होगा। यदि आसमूलत्व सन्दिग्ध है; तो वह प्रमाणकोटि में नहीं आ सकता। अभाव नामका प्रमाण यथा-संभव प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान तथा अनुमानादि प्रमाणों में अन्तर्भूत समझना चाहिए। इस तरह परपरिकल्पित प्रमाणों का अन्तर्भाव होने पर प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही मूल प्रमाण हो सकते हैं।

प्रमाणाभास—अविसर्वादि ज्ञान प्रमाण है, अतः विसर्वादि ज्ञान प्रमाणाभास होगा। यहाँ अकलङ्कदेव की एक दृष्टि विशेषरूपसे विचारणीय है। वे किसी ज्ञान को सर्वथा विसर्वादि नहीं कहते। वे कहते हैं कि—जो ज्ञान जिस अंश में अविसर्वादि हो वह उस अंश में प्रमाण तथा विसर्वादि-अंश में अप्रमाण होगा। हम किसी भी ज्ञान को एकान्त से प्रमाणाभास नहीं कह सकते। जैसे तिमिररोगी का द्विचन्द्रज्ञान चन्द्राश में अविसर्वादी है तथा द्वित्वसंख्या में विसर्वादी है, अतः इसे चन्द्राश में प्रत्यक्ष तथा द्वित्वाश में प्रत्याक्षमास कहना चाहिए। इस तरह प्रमाण और प्रमाणाभास की सर्कीर्ण स्थिति रहने पर भी जहाँ अविसर्वाद की प्रकर्षता हो वहाँ प्रमाण व्यपदेश तथा विसर्वाद के प्रकर्ष में प्रमाणाभास व्यपदेश करना चाहिए। जैसे कस्तूरी में रूप, रस आदि सभी गुण मौजूद हैं, पर गन्ध की प्रकर्षता होने के कारण उसमें 'गन्धद्रव्य' व्यपदेश होता है।

ज्ञान के कारणों का विचार—बौद्ध के मत से चार प्रत्ययों से चित और चैतो की उत्पत्ति होती है—१ समनन्तरप्रत्यय, २ अधिपतिप्रत्यय, ३ आलम्बनप्रत्यय, ४ सहकारि-प्रत्यय। ज्ञान की उत्पत्ति में पूर्वज्ञान समनन्तरकारण होता है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ अधिपति-प्रत्यय होती हैं, पदार्थ आलम्बनप्रत्यय तथा आलोक आदि अन्य कारण सहकारिप्रत्यय होते हैं। इस तरह बौद्ध की दृष्टि से ज्ञान के प्रति अर्थ तथा आलोक दोनों ही कारण हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—'नाकारण विषयः' अर्थात् जो ज्ञान का कारण नहीं होगा वह ज्ञान का विषय भी नहीं होगा। नैयायिकादि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को ज्ञान में कारण मानते हैं अतः उनके मत से सन्निकर्ष-घटकतया अर्थ भी ज्ञान का कारण है ही।

अर्थकारणतानिरास—ज्ञान अर्थ का कार्य नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान तो मात्र इतना ही जानता है कि 'यह अस्मुक अर्थ है'। वह यह नहीं जानता कि 'यै इस अर्थ से उत्पन्न हुआ हूँ'। यदि ज्ञान यह जानने लगे कि 'यै इस अर्थ से पैदा हुआ हूँ'; तब तो विवाद को स्थान ही नहीं रहता। जब उत्पन्न ज्ञान अर्थ के परिच्छेद में व्यापार करता है तब वह अपने अन्य इन्द्रियादि उत्पादक कारणों की सूचना स्वयं ही करता है, क्योंकि यदि ज्ञान उसी अर्थ से उत्पन्न हो जिसे वह जानता है, तब तो वह उस अर्थ को जान ही

साधन और साधनाभास की व्यवस्था कैसे होगी ? इसी तरह आस के वचन के द्वारा अर्थबोध न हो तो आस और अनास की व्यवस्था कैसे की जायगी ? यदि पुरुषो के अभिप्रायो मे विचित्रता होने के कारण शब्द अर्थव्यभिचारी करार दिए जायें, तो सुगत की सर्वज्ञता या सर्वशास्त्रता मे कैसे विश्वास किया जा सकेगा ? वहाँ भी अभिप्रायवचित्र्य की शका उठ सकती है । यदि अर्थव्यभिचार देखा जाने के कारण शब्द अर्थ मे प्रमाण नहीं है; तो विवक्षा का भी तो व्यभिचार देखा जाता है, अन्य शब्द की विवक्षा मे अन्य शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है । इस तरह तो शिशपात्व हेतु वृक्षाविसर्वादी होने पर कहीं कहीं शिशपा की लता की समावना से, अग्नि इन्धन से पैदा होती है पर कहीं मणि आदि से उत्पन्न होने के कारण सभी स्वभावहेतु तथा कार्यहेतु व्यभिचारी हो जायेंगे । अतः जैसे यहा सुविवेचित व्याप्य और कार्य, व्यापक और कारण का उल्लंघन नहीं कर सकते उसी तरह सुविवेचित शब्द अर्थ का व्यभिचारी नहीं हो सकता । अतः अविसर्वादि श्रुत को अर्थ में प्रमाण मानना चाहिये । शब्द का विवक्षा के साथ कोई अविनाभाव नहीं है; क्योंकि शब्द, वर्ण या पद कहीं अवाञ्छित अर्थ को भी कहते हैं तथा कहीं वाञ्छित को भी नहीं कहते । यदि शब्द विवक्षामात्र के वाचक हो तो शब्दो मे सत्त्व और मिथ्यात्व की व्यवस्था न हो सकेगी, क्योंकि दोनो ही प्रकार के शब्द अपनी अपनी विवक्षा का अनुमान कराते है । शब्द मे सत्त्वव्यवस्था अर्थप्राप्ति के कारण होती है । विवक्षा रहते हुए भी मन्दबुद्धि शास्त्रव्याख्यानरूप शब्द का प्रयोग नहीं कर पाते तथा सुषुमादि अवस्था में इच्छा के न रहने पर भी शब्दप्रयोग देखा जाता है । अतः शब्दो मे सत्त्वासत्त्वव्यवस्था के लिए उन्हें अर्थ का वाचक मानना ही होगा ।

श्रुत के भेद—श्रुतके तीन भेद हैं—१ प्रत्यक्षनिमित्तक, २ अनुमाननिमित्तक, ३ आगमनिमित्तक । प्रत्यक्षनिमित्तक—परोपदेश की सहायता लेकर प्रत्यक्ष से होनेवाला । अनुमाननिमित्तक—परोपदेश के बिना केवल अनुमान से होनेवाला । आगमनिमित्तक—मात्र परोपदेश से होनेवाला । जैनतर्कवार्तिककार ने परोपदेशज तथा लिंगनिमित्तक रूपसे द्विविध श्रुत स्वीकार करके अकल्मष के इस मत की समालोचना की है ।

शब्द का स्वरूप—शब्द पुद्गल की पर्याय है । वह स्कन्ध रूप है, जैसे छाया और आतप । शब्द रीमासको की तरह नित्य नहीं हो सकता । शब्द यदि नित्य और व्यापक हो तो व्यञ्जक वायुओं से एक जगह उसकी अभिव्यक्ति होने पर सभी जगह सभी वर्णों की अभिव्यक्ति होने से कोलाहल मच जायगा । संकेत के लिए भी शब्द को नित्य मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि अनित्य होने पर भी सदृशशब्द मे संकेत होकर व्यवहार हो सकता है । 'स एवाय शब्दः' यह ग्रन्थमिज्ञान शब्द के नित्य होने के कारण नहीं होता किंतु तत्सदृश शब्द मे एकत्राव्यवसाय करने के कारण होता है । अतः यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान आन्त है । यदि इस तरह आन्त प्रत्यभिज्ञान से वस्तुओं मे एकत्व सिद्ध हो; तो विजली

को भी विषय करना चाहिये । तदाकारता से विषयप्रतिनियम मानने पर एक अर्थ का ज्ञान करने पर उसी आकारवाले यावत् समान अर्थों का परिज्ञान होना चाहिए । तदुत्पत्ति और तदाकारता मिलकर यदि विषयनियामक हो; तो घटज्ञान से उत्पन्न द्वितीय घटज्ञान को, जिसमें पूर्वज्ञान का आकार है तथा जो पूर्वज्ञान से उत्पन्न भी हुआ है, अपने उपादान-भूत पूर्वज्ञान को जानना चाहिये । पर बौद्धों के सिद्धान्तानुसार 'ज्ञानं ज्ञानस्य न नियामकम्'—ज्ञान ज्ञान का नियामक नहीं होता । तदध्यवसाय (अनुकूल विकल्प का उत्पन्न होना) से भी वस्तु का प्रतिनियम नहीं होता; क्योंकि शुक्लशख में होनेवाले पीताकारज्ञान से उत्पन्न द्वितीयज्ञान में तदध्यवसाय देखा जाता है पर नियामकता नहीं है । अतः अपने अपने कारणों से उत्पन्न होनेवाले अर्थ और ज्ञान में परिच्छेद-परिच्छेदकभाव-विषय-विषयिभाव होता है । जैसे दीपक अपने तैलादि कारणों से प्रज्वलित होकर मिट्टी आदि से उत्पन्न होनेवाले घटादि को प्रकाशित करता है, उसीतरह इन्द्रिय तथा मन आदि कारणों से उत्पन्न ज्ञान अपने कारणों से उत्पन्न अर्थ को जानेगा । जैसे 'देवदत्त काठ को छेदता है' यहाँ अपने अपने कारणों से उत्पन्न देवदत्त तथा काष्ठ में कर्तृ-कर्मभाव है उसी तरह स्व-स्वकारणों से संसृत्पन्न ज्ञेय और ज्ञान में ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव होता है । जैसे खदान से निकली हुई मलयुक्त मणि अनेक शाय आदि कारणों से तरतम-न्यूनाधिकरूपसे निर्मल एवं स्वच्छ होती है उसी तरह कर्मयुक्त आत्मा का ज्ञान अपनी विशुद्धि के अनुसार तरतमरूपसे प्रकाशमान होता है, और अपनी ज्योपशमरूप योग्यता के अनुसार पदार्थों को जानता है । अतः अर्थ को ज्ञान में कारण नहीं माना जा सकता ।

आलोककारणतानिरास—आलोकज्ञान का विषय आलोक होता है, अतः वह ज्ञान का कारण नहीं हो सकता । जो ज्ञान का विषय होता है वह ज्ञान का कारण नहीं होता जैसे अन्धकार । आलोक का ज्ञान के साथ अन्वय-व्यतिरेक न होने से भी वह ज्ञान का कारण नहीं कहा जा सकता । यदि आलोक ज्ञान का कारण हो तो उसके अभाव में ज्ञान नहीं होना चाहिये, पर अन्धकार का ज्ञान आलोक के अभाव में ही होता है । नक्तञ्चर-रात्रिचारी उल्लू आदि को आलोक के अभाव में ही ज्ञान होता है तथा उसके सद्भाव में नहीं । 'आलोक के अभाव में अन्धकार की तरह अन्य पदार्थ क्यों नहीं दिखते' इस शका का उत्तर यह है कि-अन्धकार अन्य पदार्थों का निरोध करनेवाला है, अतः आलोक के अभाव में निरोध करनेवाला अन्धकार तो दिखता है पर उससे निरुद्ध अन्य पदार्थ नहीं । जैसे एक महाघट के नीचे दो चार छोटे घट रखे हो, तो महाघट के दिखने पर भी उसके नीचे रखे हुए छोटे घट नहीं दिखते । अन्धकार ज्ञान का विषय है अतः वह ज्ञान का आवरण भी नहीं माना जा सकता । ज्ञान का आवरण तो ज्ञानावरण कर्म ही हो सकता है । इसीके ज्योपशम की तरतमता से ज्ञान के विकास में तारतम्य होता है । अतः आलोक के साथ ज्ञानका अन्वय-व्यतिरेक न होने से आलोक भी ज्ञान का

न्द्रियार्थदर्शी पुरुषविशेष ही मानना चाहिए। कर्त्ता का अस्मरणरूप हेतु जीर्ण खंडहर कुआ आदि चीजों से, जिनके कर्त्ता का किसी को स्मरण नहीं है, अनैकान्तिक है। अतः सर्वज्ञप्रतिपादित आगम को ही अतीन्द्रियधर्म आदि में भी प्रमाण मानना चाहिए। सर्वज्ञ के माने बिना वेद की प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती, क्योंकि अपौरुषेय वेद का व्याख्याता यदि रागी, द्वेषी और अज्ञानी पुरुष होगा तो उसके द्वारा किया गया व्याख्यान प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकेगा। व्याख्याभेद होने पर अन्तिम निर्णय तो धर्मादि के साक्षात्कर्त्ता का ही माना जा सकता है।

परपरिकल्पित प्रमाणान्तर्भाव—नैयायिक प्रसिद्ध अर्थ के सादृश्य से साध्य के साधन को—संज्ञासहितसम्बन्धज्ञान को उपमान कहते हैं। जैसे किसी नागरिक ने यह सुना कि 'गौ के सदृश गवय होता है'। वह जगल में गया। वहाँ गवय को देखकर उसमें गोसादृश्य का ज्ञान करके गवयसंज्ञा का सम्बन्ध जोड़ता है और गवयशब्द का व्यवहार करता है। इसी संज्ञा-सहितसम्बन्धज्ञान को उपमान प्रमाण कहते हैं। अकल्कदेव इस ज्ञान का यथासंभव अनुमान तथा प्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भाव करते हुए कहते हैं कि—यदि प्रसिद्धार्थ का सादृश्य अविनाभावी रूपसे निर्णीत है तब तो वह लिंगात्मक हो जायगा और उससे उत्पन्न होने-वाला ज्ञान अनुमान कहलायगा। यदि अविनाभाव निर्णीत नहीं है, तो दर्शन और स्मरण-पूर्वक सादृश्यात्मक सकलन होने के कारण यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में ही अन्तर्भूत होगा। सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में अन्तर्भूत होने पर भी यदि इस ज्ञान को स्वतन्त्ररूपसे उपमान नामक प्रमाण मानोगे, तो भैंस को देखकर 'यह गवय नहीं है' या 'यह गौ से बिल्कुल है' इस वैलक्षण्यज्ञान को किस प्रमाणरूप मानोगे? 'शाखादिवाला वृक्ष होता है' इस शब्द को सुनकर वैसे ही शाखादिमान् अर्थ को देखकर 'वृक्षोऽयम्' इस ज्ञान को किस नाम से पुकारोगे? इसी तरह 'यह इससे पूर्व में है, यह इससे पश्चिम में है,' 'यह छोटा है, यह बड़ा है,' 'यह दूर है, यह पास है,' 'यह ऊँचा है, यह नीचा है,' 'ये दो हैं, यह एक है' इत्यादि सभी ज्ञान उपमान से पृथक् प्रमाण मानने होंगे; क्योंकि उक्त ज्ञानों में प्रसिद्धार्थसादृश्य की तो गन्ध भी नहीं है। अतः जिनमें दर्शन और स्मरण कारण हो उन सभी सकलनरूप ज्ञानों को प्रत्यभिज्ञान कहना चाहिये, भले ही वह सकलन सादृश्य वसदूष्य या एकत्वादि किसी भी विषयक क्यों न हो। उक्त सभी ज्ञान हितप्राप्ति, अहितपरिहार तथा उपेक्षाज्ञानरूप फल के उत्पादक होने से अप्रमाण तो कहे ही नहीं जा सकते।

मीमांसक जिस साधन का साध्य के साथ अविनायाव पहिले किसी सपक्ष में गृहीत नहीं है उस साधन से तत्काल में ही अविनाभाव ग्रहण करके होनेवाले साध्यज्ञान को अर्थोपपत्ति कहते हैं। इससे शक्ति आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का भी ज्ञान किया जाता है। अकल्कदेव ने अर्थोपपत्ति को अनुमान में अन्तर्भूत किया है; क्योंकि अविनाभावी एक अर्थ से दूसरे अर्थ का ज्ञान अनुमान तथा अर्थोपपत्ति दोनों में समान है। सपक्ष में व्याप्ति

द्रव्य एक अखंड तत्त्व है। वह संयुक्त या रासायनिक मिश्रण से तैयार न होकर मौलिक है। उसमें भेदव्यवहार करने के लिए देश, देशांश तथा गुण, गुणांश की कल्पना की जाती है। ज्ञान अखण्डद्रव्य को ग्रहण भले ही कर ले, पर उसका व्यवहार तो एक एक धर्म के द्वारा ही होता है। इन व्यवहारार्थ कल्पित धर्मों को गुण शब्दसे कहते हैं। वैशेषिकों की तरह गुण कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। द्रव्य के सहभावी अंश गुण कहलाते हैं, तथा क्रम से होने वाले परिणामन पर्याय कहलाते हैं। इस तरह अखण्ड मौलिक तत्त्व की दृष्टि से वस्तु नित्य होकर भी क्रमिक परिणामन की अपेक्षा से अनित्य है। नित्य का तात्पर्य इतना ही है कि—वस्तु प्रतिक्षण परिणामन करते हुए भी अपने स्वरूपास्तित्व को नहीं छोड़ सकती। कितना भी विलक्षण परिणामन क्यों न हो जीव कभी भी पुद्गलरूप नहीं हो सकता। इस असाकर्य का नियामक ही द्रव्याश है। साह्य के अपरिणामी कूटस्थ नित्य पुरुष की तरह नित्यता यहाँ विवक्षित नहीं है और न बौद्ध की तरह सर्वथा अनित्यता ही; जिससे वस्तु सर्वथा अपरिणामी तथा पूर्वक्षण और उत्तरक्षण सर्वथा अनन्वित रह जाते हैं।

ध्रौव्य और सन्तान—यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि—जिस प्रकार जैन एक द्रव्यांश मानते हैं उसी तरह बौद्ध सन्तान मानते हैं। प्रत्येक परमाणु प्रतिक्षण अपनी अर्थपर्याय रूपसे परिणामन करता है, उसमें ऐसा कोई भी स्थायी अंश नहीं बचता जो द्वितीय क्षण में पर्याय के रूप में न बदलता हो। यदि यह माना जाय कि उसका कोई एक अंश विलकुल अपरिवर्तनशील रहता है और कुछ अंश सर्वथा परिवर्तनशील; तब तो नित्य तथा क्षणिक दोनों पक्षों में दिए जाने वाले दोष ऐसी वस्तु में आँसोंगे। कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानने के कारण पर्यायों के परिवर्तित होने पर भी अपरिवर्तिष्णु कोई अंश हो ही नहीं सकता। अन्यथा उस अपरिवर्तिष्णु अंश से तादात्म्य रखने के कारण शेष अंश भी अपरिवर्तनशील ही होंगे। इस तरह कोई एक ही मार्ग पकड़ना होगा—या तो वस्तु विलकुल नित्य मानी जाय या विलकुल परिवर्तनशील—चेतन भी अचेतनरूपसे परिणामन करने वाली। इन दोनों अन्तिम सीमाओं के मध्य का ही वह मार्ग है जिसे हम द्रव्य कहते हैं। जो न विलकुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला जिससे अचेतन भी अपनी अचेतनत्व की सीमा को छोड़कर चेतन बन जाए, या दूसरे अचेतन द्रव्यरूप हो जाय। अथवा एक चेतन दूसरे सजातीय चेतनरूप या विजातीय अचेतनरूप हो जाय। उसकी सीधे शब्दों में यही परिभाषा हो सकती है कि किसी एक द्रव्य के प्रतिक्षण में परिणामन करने पर भी जिसके कारण उसका दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्यरूपसे परिणामन नहीं होता, उस स्वरूपास्तित्व का ही नाम द्रव्य, ध्रौव्य या गुण है। बौद्ध के द्वारा माने गए सन्तान का भी यही कार्य है कि—वह नियत पूर्वक्षण का नियत उत्तरक्षण के साथ ही कार्य-कारणभाव बनता है ज्ञानान्तर से नहीं। तात्पर्य यह कि इस सन्तान के कारण एक चेतनक्षण अपनी उत्तर चेतनक्षणपर्याय का ही कारण होगा, विजातीय अचेतनक्षण का

नहीं सकेगा, क्योंकि अर्थकाल में तो ज्ञान उत्पन्न है तथा ज्ञानकाल में अर्थ विनष्ट हो चुका है। यदि ज्ञान अपने कारणों को जाने; तो उसे इन्द्रियादिक को भी जानना चाहिए। ज्ञान का अर्थ के साथ अन्यत्र और व्यतिरेक न होने से भी उनमें कारण-कार्यभाव नहीं हो सकता। संशयज्ञान अर्थ के अभाव में भी हो जाता है। संशयज्ञानस्थल में स्थायु-पुरुषरूप दो अर्थ तो विद्यमान नहीं हैं। अर्थ या तो स्थायुरूप होगा या पुरुषरूप। व्यभिचार-अन्यथा प्रतिभास बुद्धिगत धर्म है। जब मिथ्याज्ञान में इन्द्रियगत-तिमिरादि, विषयगत-आशुभ्रमणादि, बाह्य-नौका में यात्रा करना आदि तथा आत्मगत-वातमत्तादिजन्य क्षोभ आदि दोष कारण होते हैं; तब तो अर्थ की हेतुता अपने ही आप व्यर्थ हो जाती है। मिथ्याज्ञान यदि इन्द्रियों की दुष्टता से होता है; तो सत्यज्ञान में भी इन्द्रियगत निर्दोषता ही कारण होगी। अतः इन्द्रिय और मन को ही ज्ञान में कारण मानना चाहिए। अर्थ तो ज्ञान का विषय ही हो सकता है, कारण नहीं।

अन्य कारणों से उत्पन्न बुद्धि के द्वारा सन्निकर्ष का निश्चय होता है, सन्निकर्ष से बुद्धि का निश्चय तो नहीं देखा जाता। सन्निकर्षप्रविष्ट अर्थ के साथ ज्ञान का कार्य-कारणभाव तब निश्चित हो सकेगा; जब सन्निकर्षप्रविष्ट आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि किसी एक ज्ञान के विषय हो। पर आत्मा, मन और इन्द्रियों तो अतीन्द्रिय है, अतः पदार्थ के साथ होनेवाला इनका सन्निकर्ष भी अतीन्द्रिय होगा और जब वह विद्यमान रहते हुए भी अप्रत्यक्ष है, तब उसे ज्ञान की उत्पत्ति में कारण कैसे माना जाय ? ज्ञान अर्थ को तो जानता है, पर अर्थ में रहनेवाली स्व-कारणता को नहीं जानता। ज्ञान जब अतीत और अनागत पदार्थों को जो ज्ञानकाल में अविद्यमान है, जानता है; तब तो अर्थ की ज्ञान के प्रति कारणता अपने आप निःसार सिद्ध हो जाती है। देखो—कामलादि रोगवाले को शूलगण्ड में अविद्यमान पीलेपन का ज्ञान होता है। मरणोन्मुख व्यक्ति को अर्थ के रहने पर भी ज्ञान नहीं होता या विपरीतज्ञान होता है।

व्यक्तिक अर्थ तो ज्ञान के प्रति कारण हो ही नहीं सकता; क्योंकि जब वह क्षणिक होने से कार्यकाल तक नहीं पहुँचता तब उसे कारण कैसे कहा जाय ? अर्थ के होने पर उसके काल में ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ तथा अर्थ के अभाव में ही ज्ञान उत्पन्न हुआ तब ज्ञान अर्थ का कार्य कैसे माना जाय ? कार्य और कारण एक साथ तो रह ही नहीं सकते। यह कहना भी ठीक नहीं है कि—“यद्यपि अर्थ नष्ट हो चुका है पर वह अपना आकार ज्ञान में समर्पित कर चुकने के कारण आद्य होता है। पदार्थ में यही प्राद्यता है कि—वह ज्ञान को उत्पन्न कर उसमें अपना आकार अर्पण करे।” क्योंकि ज्ञान अमूर्त है वह मूर्त अर्थ के प्रतिबिम्ब को धारण नहीं कर सकता। मूर्त दर्पणादि में ही मूर्त मुख्यादि का प्रतिबिम्ब आता है, अमूर्त में मूर्त का नहीं। यदि पदार्थ से उत्पन्न होने के कारण ज्ञान में विषयप्रतिनियम हो; तो जब इन्द्रिय आदि से भी घटज्ञान उत्पन्न होता है तब उसे घट की तरह इन्द्रिय आदि

कैसे हो सकते हैं ? एक स्वभाव से तो एक ही कार्य हो सकेगा । कारण में नाना शक्तियों माने बिना कार्यों में नानात्व नहीं आ सकता । इस तरह सर्वथा क्षणिक तथा नित्य दोनों वस्तुओं में अर्थक्रिया नहीं हो सकती । अर्थक्रिया तो उभयात्मक-नित्यानित्यात्मक वस्तु में ही संभव है । क्षणिक में अन्वित रूप नहीं है तथा नित्य में उत्पाद और व्यय नहीं हैं । उभयात्मक वस्तु में ही क्रम, योगपथ तथा अनेक शक्तियाँ संभव हैं ।

अर्थनिरूपण के प्रसंग में अकलंक ने विभ्रमवाद, संवेदनाद्वैतवाद, परमाणुरूप-अर्थवाद, अवयव से भिन्न अवयववाद, अन्यापोह्यात्मक सामान्यवाद, नित्यैकसर्वगत-सामान्य-वाद, प्रसङ्ग से भूतचैतन्यवाद आदि का समालोचन किया है । जिसका सार यह है—

विभ्रमवाद निरास—स्वप्नादि विभ्रम की तरह समस्त ज्ञान विभ्रम हैं । जिस प्रकार स्वप्न में या जादू के खेल में अथवा मृगतृष्णा में अनेको पदार्थ सत्स्वरूप से प्रतिभासित तो होते हैं, पर उनकी वहाँ कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, मात्र प्रतिभास ही प्रतिभास होता है, उसी तरह घट-पटादि ज्ञानों के विषयभूत घट-पटादि अर्थ भी अपनी पारमार्थिक सत्ता नहीं रखते । अनादिकालीन विकल्पवासना के विचित्र परिपाक से ही अनेकानेक अर्थ प्रतिभासित होते हैं । वस्तुतः वे सब विभ्रमरूप ही हैं । इनके मत से किसी भी अर्थ और ज्ञानकी सत्ता नहीं है, जितना ग्राह्य-ग्राहकाकार है वह सब भ्रान्त है । इसका खंडन करते हुए अकलंकदेव ने लिखा है कि—‘स्वप्नादि विभ्रम की तरह समस्त ज्ञान विभ्रम रूप हैं’ इस वाक्य का अर्थ विभ्रम रूप है, कि सत्य ? यदि उक्त वाक्य का अर्थ विभ्रम-मिथ्या है; तब तो सभी अर्थों की सत्ता अविभ्रम-सत्य सिद्ध हो जायगी । यदि उक्त वाक्य का अर्थ सत्य है; तो समस्त वस्तुएँ विभ्रमात्मक कहाँ हुईं ? कम से कम उक्त वाक्य का अर्थ तो स्वरूप सत्य हुआ । इसी तरह अन्य वस्तुएँ भी स्वरूप सत्य सिद्ध होंगी ।

संवेदनाद्वैतवाद निरास—ज्ञानाद्वैतवादी मात्र ज्ञान की ही वास्तविक सत्ता मानते हैं बाह्यार्थ की नहीं । ज्ञान ही अनादिकालीन विकल्पवासना के कारण अनेकाकार अर्थरूप से प्रतिभासित होता है । जैसे इन्द्रजाल गन्धर्वनगर आदि में अविद्यमान भी आकार प्रतिभासित होते हैं उसी तरह ज्ञान से भिन्न घटादि पदार्थ अपनी प्रातिभासिकी सत्ता रखते हैं पारमार्थिकी नहीं । इसी अभिज्ञज्ञान में प्रमाण-प्रमेय आदि भेद कल्पित होते हैं, अतः यह ग्राह्य-ग्राहकरूप से प्रतिभासित होता है ।

इसकी समालोचना करते हुए अकलंकदेव लिखते हैं कि—तथोक्त अद्वयज्ञान स्वतः प्रतिभासित होता है, या परतः ? यदि स्वतः प्रतिभासित हो; तब तो विवाद ही नहीं होना चाहिए । आपकी तरह ब्रह्मवादी भी अपने ब्रह्म का भी स्वतः प्रतिभास ही तो कहते हैं । परतः प्रतिभास तो पर के बिना नहीं हो सकता । पर को स्वीकार करने पर द्वैतप्रसंग होगा । इन्द्रजालदृष्ट पदार्थ तथा बाह्यसत् पदार्थों में इतना मोटा भेद है कि उसमें छियाँ तथा दोर चरानेवाले ग्वाले आदि मूढ़जन भी भ्रान्त नहीं हो सकते । वे बाह्यसत्य पदार्थों को

कारण नहीं हो सकता । अर्थालोककारणताविषयक अकलंक के इन विचारों का उत्तर-कालीन माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों ने प्रायः उन्हींके ही शब्दों में अनुसरण किया है ।

प्रमाण का फल—महास्तपादमाय्य तथा न्यायभाष्यादि में हान, उपादान एव उपेक्षाबुद्धि को प्रमाण का फल कहा है । समन्तमद् पून्यपाद आदि ने अज्ञाननिवृत्ति का भी प्रमाण के अभिन्न फलरूपसे प्ररूपण किया है । अकलंकदेव अज्ञाननिवृत्ति के विधिपरकरूप-तत्त्वनिर्णय का तथा हान, उपादान, उपेक्षाबुद्धि के साथ ही परनिःश्रेयस का भी प्रमाण के फलरूपसे कथन करते हैं । केवलज्ञान वीतराग योगियो के होता है अतः उनमें रागद्वेष-जन्य हानोपादान का संभव ही नहीं है, इसलिये केवलज्ञान का फल अज्ञाननिवृत्ति और उपेक्षाबुद्धि है । इनमें अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है, शेष परम्परा से ।

४२. प्रमेयनिरूपण—

प्रमाण का विषय—यद्यपि अकलंकदेव ने प्रमाण के विषय का निरूपण करते समय लघीयत्व में द्रव्यपर्यायात्मक अर्थ को ही प्रमेय बताया है, पर न्यायविनिश्चय में उन्होंने द्रव्य-पर्याय के साथ ही साथ सामान्य और विशेष ये दो पद भी प्रयुक्त किए हैं । वस्तु में दो प्रकार का अस्तित्व है—१ स्वरूपास्तित्व, २ सादृश्यास्तित्व । एक द्रव्य की पर्यायो को दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य से असङ्कीर्ण रखने वाला स्वरूपास्तित्व है । जैसे एक शाबलेय गौ की हरएक अवस्था में 'शाबलेय शाबलेय' व्यवहार करानेवाला तत्-शाबलेयत्व । इससे एक शाबलेय गौव्यक्ति की पर्यायें अन्य सजातीय शाबलेयादि गौव्यक्तियों से तथा विजातीय अस्वादिव्यक्तियों से अपनी पृथक् सत्ता रखती हैं । इसी को जैन द्रव्य, ध्रौव्य, अन्वय, ऊर्ध्वतासामान्य आदि शब्दों से व्यवहृत करते हैं । मालूम तो ऐसा होता है कि चौड़ो ने सन्तानशब्द का प्रयोग ठीक इसी अर्थ में किया है । इसी स्वरूपास्तित्व को विषय करनेवाला 'यह वही है' यह एकत्वप्रत्ययिज्ञान होता है । अपनी भिन्न भिन्न सत्ता रखनेवाले पदार्थों में अनुगतव्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व है । जैसे भिन्न भिन्न गौव्यक्तियों में 'गौ गौ' इस अनुगतव्यवहार को करानेवाला साधारण गोल । इसे तिर्यक् सामान्य कहते हैं । गौलादि जातियों सदृशपरिणाम रूप ही हैं, नित्य एक तथा निरंश नहीं हैं । एक द्रव्य की पूर्वोक्त पर्यायों में व्यावृत्तप्रत्यय पर्यायरूप विशेष के निमित्त से होता है । भिन्न सत्ता रखने वाले दो द्रव्यों में विलक्षणप्रत्यय व्यतिरेकरूप विशेष (द्रव्यगतभेद) से होता है । इस तरह दो प्रकार के सामान्य तथा दो प्रकार के विशेष से युक्त वस्तु प्रमाण का विषय होती है । ऐसी ही वस्तु सत् है । सत् का लक्षण है—उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यसे युक्त होना । सत् को ही द्रव्य कहते हैं । उत्पाद और व्यय पर्याय की दृष्टि से हैं जब कि ध्रौव्य गुण की दृष्टि से । अतः द्रव्य का मुख्य-पर्यायत्व लक्षण भी किया गया है ।

भिन्न अवयवी तो जैन भी नहीं मानते। परमाणुओं में परस्पर स्निग्धता और रूक्षता के कारण एक ऐसा विलक्षण सम्बन्ध होता है जिससे स्कन्ध बनता है। अतः ज्ञान के अतिरिक्त बाह्यपदार्थ की सत्ता मानना ही चाहिए; क्योंकि संसार के समस्त व्यवहार बाह्यसत् पदार्थों से चलते हैं, केवल ज्ञानमात्र से नहीं।

परमाणुसंचयवाद निरास—सौत्रान्तिक ज्ञान से अतिरिक्त बाह्यार्थ मानते हैं, पर वे बाह्यार्थ को स्थिर, स्थूलरूप नहीं मानकर क्षणिक परमाणुरूप मानते हैं। परमाणुओं का पुंज ही अत्यन्त आसन्न होने के कारण स्थूलरूप से मालूम होता है। जैसे पृथक् स्थित अनेक वृक्ष दूर से एक स्थूलरूप में प्रतिमासित होते हैं। अकलंकदेव इसका खंडन करते हुए लिखते हैं कि—जब प्रत्येक परमाणु अतीन्द्रिय है और यह अपने परमाणुत्व को छोड़कर स्कन्ध अवस्था में नहीं आता तब उनका समुदाय प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकेगा? अतीन्द्रिय वस्तुओं का समुदाय भी अपनी अतीन्द्रियता-सूक्ष्मता छोड़कर स्थूलता धारण किए बिना इन्द्रियगम्य नहीं हो सकता।

भिन्नअवयवविवाद निरास—नैयायिक अवयवी को अवयवों से भिन्न मानकर भी उसकी अवयवों में समवायसम्बन्ध से वृत्ति मानते हैं। वे अवयवी को निरंश एवं नित्य स्वीकार करते हैं। अकलंकदेव कहते हैं कि—अवयवों से भिन्न कोई अवयवी प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय नहीं होता। 'वृक्ष में शाखाएँ हैं' यह प्रतिभास तो होता है पर 'शाखाओं में वृक्ष है' यह एक निरासी ही कल्पना है। यदि अवयवी अतिरिक्त हो; तो एक एक छुटाक वजन वाले चार अवयवों से बने हुए स्कन्ध में अवयवों के चार छुटाक वजन के अतिरिक्त कुछ अवयवी का भी वजन आना चाहिए। अवयव तथा अवयवी का रूप भी पृथक् पृथक् दिखना चाहिए। निरंश अवयवी के एक देश को रंगने पर पूरा अवयवी रंग जाना चाहिए। उसके एक देश में क्रिया होने पर समस्त अवयवी में क्रिया होना चाहिए। उसके एक देश का आवरण होने पर पूरे अवयवी को आवृत हो जाना चाहिए। इस तरह विरुद्ध धर्मों का अभ्यास होने से उसमें एकत्व नहीं रह सकता। अतः अवयवों से सर्वथा भिन्न अवयवी किसी भी तरह प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। इसलिए प्रतीतिके अनुसार अवयवों से कथञ्चिद्भिन्न—अवयवरूप ही अवयवी मानना चाहिए।

इस तरह गुण-पर्यायवाचा, उत्पाद-व्यय-धौव्यात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय होता है। गुण सहभावी तथा पर्यायै क्रमभावी होते हैं। जैसे भेदज्ञान से वस्तु के उत्पाद और व्यय की प्रतीति होती है उसी तरह अभेदज्ञान से स्थिति भी प्रतिमासित होती ही है। जिस प्रकार सर्प अपनी सीढ़ी, टेढ़ी, उत्फण, विफण आदि अवस्थाओं में अनुस्यूत एक सत् है उसी तरह उत्पन्न और विलीन होनेवाली पर्यायों में द्रव्य अनुगत रहता है। अभिन्न प्रतिभास होने से वस्तु एक है। विरुद्ध धर्मों का अभ्यास होने से अनेक है। वस्तु असुक स्थूल अंश से प्रत्यक्ष होने पर भी अपनी सूक्ष्मपर्यायों की अपेक्षा से अप्रत्यक्ष रहती है। वस्तु के धौव्य अंश के

और सजातीय चेतनान्तरक्षण का नहीं। इस तरह तात्त्विक दृष्टि से द्रव्य या सन्तान के कार्य या उपयोग में कोई अन्तर नहीं है। हाँ, अन्तर है तो केवल उसके शाब्दिक स्वरूप-निरूपण में। बौद्ध उस सन्तान को काल्पनिक कहते हैं, जब कि जैन उस द्रव्यांश को पर्याय क्षण की तरह वास्तविक कहते हैं। सदा कूटस्थ अविकारी नित्य अर्थ में तो जैन भी उसे वस्तु नहीं कहते। सन्तान को समझाने के लिए बौद्धों ने यह दृष्टान्त दिया है कि—बैसे दस आदमी एक लाइन में खड़े हैं पर उनमें पंक्ति जैसी कोई एक अनुत्प्लूत वस्तु नहीं है, वही तरह क्रमिक पर्यायों में कूटस्थ नित्य कोई द्रव्यांश नहीं है। पर इस दृष्टान्त की स्थिति से द्रव्य की स्थिति कुछ विलक्षण प्रकार की है। यद्यपि यहाँ दश भिन्नसत्ताक पुरुषों में पंक्ति नाम की कोई स्थायी वस्तु नहीं है फिर भी पंक्ति का व्यवहार हो जाता है। पर एक द्रव्य की क्रमिक पर्यायों दूसरे द्रव्य की पर्यायों से किसी स्वरूपास्तित्वरूप तात्त्विक अंश के माने बिना असंक्रान्त नहीं रह सकती। यहाँ एक पुरुष चाहे तो इस पंक्ति से निकलकर दूसरी पंक्ति में शामिल हो सकता है। पर कोई भी पर्याय चाहने पर भी दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य की पर्याय से सक्रान्त नहीं हो सकती और अपने द्रव्य में भी अपना क्रम छोड़कर न आगे जा सकती है और न पीछे। अतः द्रव्यांश मात्र पंक्ति एवं सेना आदि की तरह बुद्धिकल्पित नहीं है किन्तु क्षण की तरह सत्य है। इस तरह द्रव्यपर्यायात्मक—उत्पाद-व्यय-प्रौव्यात्मक वस्तु अर्थक्रियाकारी है, सर्वथा क्षणिक तथा सर्वथा नित्य वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं हो सकती।

बौद्ध सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व करते हैं। अर्थक्रिया दो प्रकार से होती है—१ क्रम से, २ योगपथरूप से। उनका कहना है कि नित्य वस्तु न क्रम से ही अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत्। अतः अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्व के अभाव में वह असत् ही सिद्ध होती है। नित्य वस्तु सदा एकरूप रहती है, अतः जब वह समर्थ होने से सभी कार्यों को युगपत् उत्पन्न कर देगी, तब कार्यों में भेद नहीं हो सकेगा; क्योंकि कार्यों में भेद कारण के भेद से होता है। जब कारण एक एवं अपरिवर्तनशील है तब कार्यभेद का वहाँ अवसर ही नहीं है। यदि वह युगपत् अर्थक्रिया करे; तो सभी कार्य एक ही क्षण में उत्पन्न हो जायेंगे, तब दूसरे क्षण में नित्य अकिञ्चित्कर ठहरेगा। इस तरह क्रमयोग-पथ से अर्थक्रिया का विरोध होने से नित्य असत् है।

अकलकदेव कहते हैं कि—यदि नित्य में अर्थक्रिया नहीं बनती तो सर्वथा क्षणिक में भी तो उसके बनने की गुंजाइश नहीं है। क्षणिकवस्तु एकक्षण तक ही ठहरती है, अतः जो जिस देश तथा जिस काल में है वह उसी देश तथा काल में नष्ट हो जाती है। इसलिये जब वह देशान्तर या कालान्तर तक किसी भी रूप में नहीं जाती तब देशकृत या कालकृत क्रम उसमें नहीं आ सकता, अतः उसमें क्रमसे अर्थक्रिया नहीं बनेगी। निरंश होने से उसमें एक साथ अनेकत्वभाव तो रहेगा ही नहीं; अतः युगपत् भी अनेक कार्य

वृत्ति होने के कारण रूपज्ञानजनकरूप से समान व्यवहार में कारण हो जाते हैं, उसी तरह परस्पर में अत्यन्त भिन्न मनुष्यव्यक्तियों भी अमनुष्यव्यावृत्ति के कारण 'मनुष्य मनुष्य' ऐसा समान व्यवहार कर सकती। इसी तरह अतन्कार्य-कारणव्यावृत्ति से अनुगत व्यवहार होता है। प्रकृत मनुष्यव्यक्तियों मनुष्य के कारणों से उत्पन्न हुई हैं तथा मनुष्य के कार्यों को करती है, अतः उनमें अमनुष्यकारणव्यावृत्ति तथा अमनुष्यकार्यव्यावृत्ति पाई जाती है, इसीसे उनमें किसी वस्तुभूत सामान्य के बिना भी सदृश व्यवहार हो जाता है।

अकलंकदेव इसका खडन करते हैं कि—सदृशपरिणामरूप विध्यात्मक सामान्य के माने बिना अपोह का नियम ही नहीं हो सकता। जब एक शाबलेय गौव्यक्ति दूसरी बाहुलेय गौव्यक्ति से उतनी ही भिन्न है जितनी कि एक अश्वव्यक्ति से, तब क्या कारण है कि अगो-व्यावृत्ति शाबलेय और बाहुलेय में ही 'गौ गौ' ऐसा अनुगत व्यवहार कराती है अश्व में नहीं ? अतः यह मानना होगा कि शाबलेय गौ बाहुलेय गौ से उतनी भिन्न नहीं है जितनी अश्व से, अर्थात् शाबलेय और बाहुलेय में कोई ऐसा सादृश्य है जो अश्व में नहीं पाया जाता। इसलिए सदृश परिणाम ही समान व्यवहार का नियामक हो सकता है। यह तो हम प्रसन्न से ही देखते हैं कि—कोई वस्तु किसी से समान है तथा किसी से विलक्षण। बुद्धि समानधर्मों की अपेक्षा से अनुगत व्यवहार कराती है, तथा विलक्षण धर्मों की अपेक्षा से विसदृश व्यवहार। पर वह समानधर्म विध्यात्मक है निषेधात्मक नहीं। बौद्ध जब स्वयं अपरापरक्षणों में सादृश्य के कारण ही एकत्व का मान मानते हैं, श्रुतिका और चौबी में सादृश्य के कारण ही अमोक्षपि त्वीकार करते हैं; तब अनुगत व्यवहार के लिए अतद्व्यावृत्ति जैसी निषेधमुखी कल्पना से क्या लाभ ? क्योंकि उसका निर्वाह भी आखिर सदृश-परिणामके ही आधीन आ पड़ता है। बुद्धि में अमेद का प्रतिबिम्ब वस्तुगत सदृश धर्म के माने बिना यथार्थता नहीं पा सकता। अतः सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए। इस तरह अकलंकदेव ने सदृशपरिणामरूप तिर्यक्सामान्य, एकद्रव्यरूप ऊर्ध्वतासामान्य, भिन्नद्रव्यों में विलक्षण व्यवहार का प्रयोजक विशेष, और एक द्रव्य की दो पर्यायों में भेद व्यवहार करानेवाले पर्याय इन द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष चार पदों का उपादान करने प्रमाण के विषयभूत पदार्थ की सम्पूर्णता का प्रतिपादन किया है।

भूतचैतन्यवाद निरास—चार्वाक का सिद्धान्त है कि—जीव कोई स्वतन्त्र भौतिक तत्त्व नहीं है किन्तु पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के अमुक प्रमाण में विलक्षण रासायनिक मिश्रण से ही उन्हीं पृथिव्यादि में चैतन्यशक्ति आविर्भूत हो जाती है। इसी ज्ञान-शक्तिविशिष्ट भूत-शरीर में जीव व्यवहार होता है। जिस प्रकार कोदो, महुआ आदि में जलादि का मिश्रण होने से मदिरा तैयार हो जाती व उसी तरह जीव एक रासायनिक मिश्रण से बना हुआ संयुक्त-द्रव्य है स्वतन्त्र अखण्ड मूल-द्रव्य नहीं है। उस मिश्रण में से अमुक तत्त्वों की कमी होने पर जीवनीशक्ति के नष्ट होने पर मृत्यु हो जाती है। अतः

प्राप्तकर अपनी आर्काक्षाएँ शान्तकर सन्तोष का अनुभव करते हैं जब कि इन्द्रजालदृष्ट पदार्थों से कोई अर्थकिया या सन्तोषानुभव नहीं होता । वे तो प्रतिभासकाल में ही असत् मालूम होते हैं । अद्वयज्ञानवादियों को प्रतिभास की सामग्री—प्रतिपत्ता, प्रमाण, विचार आदि तो मानना ही चाहिए, अन्यथा प्रतिभास कैसे हो सकेगा ? अद्वयज्ञान में अर्थ-अनर्थ, तत्त्व-अतत्त्व आदि की व्यवस्था न होने से तद्ग्राही ज्ञानों में प्रमाण्याता या अप्रमाण्याता भी निश्चित नहीं की जा सकेगी । पर्वतादि बाह्य पदार्थों को विकल्पवासनाप्रसूत कहने से उनमें सूर्तत्व, स्थूलत्व, सप्रतिपत्त आदि धर्म कैसे समझ हो सकते हैं ? यदि विपादि पदार्थ बाह्यसत् नहीं हैं केवल ज्ञानरूप ही हैं; तब उनके खाने से मृत्यु आदि कैसे हो जाते हैं ? विप के ज्ञानमात्र से तो मृत्यु नहीं देखी जाती । प्रतिपाद्यरूप आत्मान्तर की सत्ता माने बिना शाब्दोपदेश आदि का क्या उपयोग होगा ? जब परप्रतिपत्ति के उपायभूत वचन ही नहीं हैं; तब परप्रतिपादन कैसे संभव है ? इसी तरह ग्राह्य-ग्राहक-भाव, बाध्य-बाधकभाव आदि अद्वैत के बाधक हैं । अद्वयसिद्धि के लिए साध्य-साधनभाव तो आप को मानना ही चाहिए; अन्यथा सहोपलम्भनियम आदि हेतुओं से अद्वयसिद्धि कैसे करोगे ? सहोपलम्भनियम—अर्थ और ज्ञान दोनों एक साथ उपलब्ध होते हैं अतः अर्थ और ज्ञान अभिन्न है, जैसे द्विचन्द्रज्ञान में प्रतिभासित होनेवाले दो चन्द्र वस्तुतः पृथक् सत्ता नहीं रखते, किन्तु एक ही हैं । यह अनुमान भी संवेदनाद्वैत की सिद्धि करने में असमर्थ है । यतः सहोपलम्भ हेतु विरुद्ध है—‘शिष्य के साथ गुरु आया’ इस प्रयोग में सहोपलम्भनियम भेद होने पर ही देखा गया है । ज्ञान अन्तरंग में चेतनाकारतया तथा अर्थ बाह्य देश में जबरूप से देखा जाता है अतः उनका सहोपलम्भनियम असिद्ध है । बाह्यसत् एकचन्द्र के स्वीकार किए बिना द्विचन्द्र दृष्टान्त भी नहीं बन सकता । सहोपलम्भनियम का भेद के साथ कोई विरोध नहीं होने के कारण वह अनैकान्तिक भी है ।

ज्ञानाद्वैतवादी बाह्यपदार्थ के अस्तित्व में निम्न बाधक उपस्थित करते हैं कि—एक परमाणु अन्यपरमाणुओं से एकदेश से संयोग करेगा, या सर्वात्मना ? एकदेश से संयोग मानने पर कुछ परमाणुओं से संयोग करनेवाले परमाणु के कुछ देश हो जाँयगे । सर्वात्मना संयोग मानने पर परमाणुओं का पियूष एकपरमाणुरूप हो जायगा । इसी तरह अवयवी अपने अवयवों में एकदेश से रहेगा, या सर्वात्मना ? एकदेश से रहने पर अवयवी के उतने ही देश मानने होंगे जितने कि अवयव है । सर्वात्मना प्रत्येक अवयव में रहने पर जितने अवयव है उतने ही अवयवी हो जाँयगे । अवयवी यदि निरक्ष है, तो रक्ताकर, चलाचल, आदि विरुद्धधर्मों का अध्यास होने से उसमें भेद हो जायगा । इत्यादि ।

अकलकदेव ने इनका समाधान संक्षेप में यह किया है कि—जिस तरह एक ज्ञान अपने ग्राह्य, ग्राहक और सविदाकार से तादात्म्य रखकर भी एक रहता है, उसी तरह अवयवी अपने अवयवों में कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध से रहने पर भी एक ही रहेगा । अवयवों से सर्वथा

आता है। चक्षुरादि इन्द्रियो की शक्ति नष्ट हो जाने पर भी मानस स्मरणज्ञान देखा जाता है। अतः जीवनशक्ति या ज्ञानशक्ति मृतो का गुण या पर्याय नहीं हो सकती, वह तो आत्मा की ही पर्याय है। यह जीव ज्ञान-दर्शनादि उपयोगवाला है। सुषुप्तादि अवस्थाओं में भी इसका ज्ञान नष्ट नहीं होता। अकलंकदेव ने 'सुषुप्तादौ बुद्धः' इस पद का उपादान करके प्रज्ञाकरगुप्त आदि के 'सुषुप्तावस्था में ज्ञान नष्ट या तिरोहित हो जाता है' इस सिद्धान्त का खंडन किया है। यह आत्मा प्राणादि को धारण करके जीता है इसलिए जीव कहलाता है। जीव स्वयं अपने कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता है। वही रागादि-भावों से कर्मबन्धन करता है तथा बीतरागपरिणामों से कर्मबन्धन तोड़कर मुक्त हो जाता है। यह न तो सर्वव्यापी है और न बटवीज की तरह अणुरूप ही; किन्तु अपने उपात्त-शरीर के परिमाणानुसार मध्यम-परिमाणवाला है। कर्मसम्बन्ध के कारण प्रदेशों के संकोच-विस्तार होने से छोटे बड़े शरीर के परिमाण होता रहता है।

गुण—इसी प्रसंग में गुण और गुणी के सर्वथा भेद का खण्डन करते हुए लिखा है कि—अर्थ अनेक धर्मात्मक है। उसका अखण्डरूप से ग्रहण करना कदाचित् संभव भी है, पर कथन या व्यवहार तो उसके किसी खास रूप-धर्म से ही होता है। इसी व्यवहारार्थ भेदरूपसे विवक्षित धर्म को गुण कहते हैं। गुण द्रव्य का ही परिणामन है, वह स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। चूँकि गुण पदार्थ के धर्म हैं अतः ये स्वयं निर्गुण—गुणशून्य होते हैं। यदि गुण स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय और वह भी द्रव्य से सर्वथा भिन्न; तो 'अमुकगुण-ज्ञान अमुकगुणी-आत्मा में ही रहता है पृथिव्यादि में नहीं' इसका नियामक कौन होगा? इसका नियामक तो यही है कि—ज्ञान का आत्मा से ही कथञ्चित्तादात्म्य है अतः वह आत्मा में ही रहता है पृथिव्यादि में नहीं। वैशेषिक के मत में 'एक गन्ध, दो रूप' आदि प्रयोग नहीं हो सकेंगे; क्योंकि गन्ध, रूप तथा सख्या आदि सभी गुण हैं, और गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। यदि आश्रयभूत द्रव्य की सख्या का एकार्थसमवाय सम्बन्ध के कारण रूपादि में उपचार करके 'एक गन्ध' इस प्रयोग का निर्वाह किया जायगा; 'तो एक द्रव्य में रूपादि बहुत गुण हैं' यह प्रयोग असंभव हो जायगा; क्योंकि रूपादि बहुत गुणों के आश्रयभूत द्रव्य में तो एकत्वसख्या है बहुत्व-सख्या नहीं। अतः गुण को स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर द्रव्य का ही धर्म मानना चाहिए। धर्म अपने आश्रयभूत धर्मों की अपेक्षा से धर्म होने पर भी अपने में रहने-वाले अन्य धर्मों की अपेक्षा से धर्मों भी हो जाता है। जैसे रूपगुण आश्रयभूत वट की अपेक्षा से यद्यपि धर्म है पर अपने में पाये जानेवाले एकत्व, प्रमेयत्व आदि धर्मों की अपेक्षा धर्मों है। अतः जैन सिद्धान्त में धर्म-धर्मिभाव के अनियत होने के कारण 'एक गन्ध, दो रूप' आदि प्रयोग बड़ी आसानी से बन जाते हैं। इति।

कारण ही 'स एवायम्' यह प्रत्यभिज्ञान होता है। उपादानोपादेयभाव भी प्रौढ्याश के मानने पर ही बन सकता है। वस्तु जिस रूप से उत्तरपर्याय में अन्वित होगी उसी रूप से उसमें उपादानता का निश्चय होता है। यद्यपि शब्दादि का उपादान तथा आगे होनेवाला उपादेयभूत कार्य प्रत्यक्षगोचर नहीं है, तथापि उसकी मध्यक्षणवर्ती सत्ता ही उसके उपादान का तथा आगे होनेवाले उपादेयरूप कार्य का अनुमान कराती है; क्योंकि उपादान के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा मध्यक्षणा यदि आगे कोई कार्य न करेगा; तो वह अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में अवस्तु ही हो जायगा। अतः द्रव्यपर्यायान्तक वस्तु ही प्रमाण का विषय हो सकती है।

सामान्य—नैयायिक-वैशेषिक नित्य, एक, सर्वगत सामान्य मानते हैं, जो क्षतन्त्र पदार्थ होकर भी द्रव्य, गुण और कर्म में समवायसम्बन्ध से रहता है। मीमांसक ऐसे ही सामान्य का व्यक्ति से तादात्म्य मानते हैं। बौद्ध सामान्य को वस्तुभूत न मानकर उसे अतद्वशावृत्ति या अन्यापोहरूप स्वीकार करते हैं। जैन सदृश परिणामन को सामान्य कहते हैं। वे उसे अनेकानुगत न कहकर व्यक्तिस्वरूप मानते हैं। वह व्यक्ति की तरह अनित्य तथा असर्वगत है। अकलकटेव ने सामान्य का स्वरूप वर्णन करते हुए इतरमतों की आलोचना इस प्रकार की है—

नित्य-सामान्यनिरास—नित्य, एक, निरंश सामान्य यदि सर्वगत है; तो उसे प्रत्येक व्यक्ति में खडशः रहना होगा; क्योंकि एक ही वस्तु अनेक जगह युगपत् सर्वात्मना नहीं रह सकती। नित्य निरंश सामान्य जिस समय एक व्यक्ति में प्रकट होता है; उसी समय उसे सर्वत्र-व्यक्ति के अन्तराल में भी प्रकट होना चाहिये। अन्यथा व्यक्त और अव्यक्त-रूप से स्वरूपभेद होने पर अनित्यत्व एव साशत्व का प्रसंग होगा। जिस तरह सामान्य, विशेष और समवाय भिन्न सत्ता के समवाय के बिना भी स्वतः-सत् है उसी तरह द्रव्य, गुण और कर्म भी स्वतः-सत् होकर 'सत् सत्' ऐसा अनुगत व्यवहार भी करा सकते हैं। अतः द्रव्यादि के स्वरूप से अतिरिक्त सामान्य न मानकर सदृशपरिणामरूप ही सामान्य मानना चाहिए।

अन्यापोह निरास—बौद्ध सामान्य को अन्यापोहरूप मानते हैं। इनके मत से कोई भी एक वस्तु अनेक आधारों में वृत्ति ही नहीं रख सकती, अतः अनेक आधारों में वृत्ति रखनेवाला सामान्य असत् है। सामान्य अनुगत व्यवहार के लिए माना जाता है। उनका कहना है कि—हमलोगो को परस्पर विभिन्न वस्तुओं के देखने के बाद जो बुद्धि में अमेद का भान होता है, उसी बुद्धि में प्रतिविम्बित अमेद का नाम सामान्य है। वह बुद्धि-प्रतिविम्बित अमेद भी कोई विध्यात्मक धर्म नहीं है, किन्तु अतद्वशावृत्तिरूप है। जिन व्यक्तियों में अमनुष्यव्यावृत्ति पाई जाती है उनमें 'मनुष्य मनुष्य' व्यवहार किया जाता है। जैसे चक्षु, आलोक और रूप आदि पदार्थ परस्पर में अलन्त भिन्न होकर भी अरूपज्ञानजननव्या-

कोमलभावनाओं के स्रोत को ही बन्द किए देता है । अतः इन दोनों के मध्य का ही मार्ग सर्वसाधारण को व्यवहार्य हो सकता है । आन्तरिक शुद्धि के लिए ही बाह्य उग्रतपस्या का उपयोग होना चाहिए, जिससे बाह्यतप ही हमारा साध्य न बन जाय । दयालु बुद्ध इस मध्यममार्ग द्वारा अपने आचार को मृदु बनाते हैं और बोधिलाम कर जगत् में मृदु-अहिंसा का सन्देश फैलाते हैं । तात्पर्य यह कि-बुद्ध ने अपने आचार की मृदुता के के समाधान के लिए 'मध्यमप्रतिपदा' का उपयोग किया । इस तत्त्व का उपयोग बुद्ध ने आखिर तक आचार के ही क्षेत्र तक सीमित रखा, उसे विचार के क्षेत्र में दाखिल करने का प्रयत्न नहीं हुआ । जब बोधिलाम करने के बाद संवरचना का प्रश्न आया, शिष्यपरिवार दीक्षित होने लगा तथा उपदेशपरम्परा चालू हुई, तब भी बुद्ध ने किसी आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ का तात्त्विक विवेचन नहीं किया; किन्तु अपने द्वारा अनुभूत दुःखनिवृत्ति के मार्ग का ही उपदेश दिया । जब कोई शिष्य उनसे आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थ के विषय में प्रश्न करता था तो वे स्पष्ट कह देते थे कि—“आहुस ! तुम इन आत्मा आदि को जानकर क्या करोगे ? इनके जानने से कोई फायदा नहीं है । तुम्हें तो दुःख से छूटना है, अतः दुःख, समुदय-दुःख के कारण, निरोध-दुःखनिवृत्ति और मार्ग-दुःखनिवृत्ति का उपाय इन चार आर्यसत्यो को जानना चाहिए तथा आचरण कर बोधिलाम करना चाहिए ।” उन्हें बुद्धिजीवी ब्राह्मण वर्ग की तरह बैठेठाले अनन्त कल्पना-जाल रच के दर्शनशास्त्र बनाने के बजाय अहिंसा की आंशिक साधना ही अग्रस्कार मालूम होती थी । यही कारण है कि-वे दर्शनशास्त्रीय आत्मादि पदार्थों के तत्त्वविवेचन के भगवद् को निरुपयोगी समझ कर उसमें नहीं पड़े । और उन्होंने अपनी मध्यम-प्रतिपदा का उपयोग उस समय के प्रचलितवादों के समन्वय में नहीं किया । उस समय आत्मादि पदार्थोंके विषय में अनेको वाद प्रचलित थे । कोई उसे कूटस्थ निष्क मानता था तो कोई उसे भूतविकारमात्र, कोई व्यापक कहता था तो कोई अणुरूप । पर बुद्ध इन सब वादों के खंडन-भटन से कोई सरोकार ही न रखते थे, वे तो केवल अहिंसा की साधना की ही रट लगाए हुए थे ।

पर जब कोई शिष्य अपने आचरण तथा संघ के नियमों में मृदुता लाने के लिए उनके सामने अपनी कठिनाइयों पेश करता था कि—“भन्ते ! आजकल वर्षाकाल है, एक संचाटक-चीवर रखने से तो वह पानी में भीग जाता है, और उससे शीत की बाधा होती है । अतः दो चीवर रखने की अनुज्ञा दी जाय । हमें बाहिर स्नान करते हुए लोक-साज का अनुभव होता है, अतः जन्ताघर (स्नानगृह) बनाने की अनुज्ञा दी जाय इत्यादि” तब बुद्ध का मातृहृदय अपने प्यारे बच्चों की कठिनाइयों सुनकर तुरन्त पसीज जाता था । वे यहाँ अपनी 'मध्यमप्रतिपदा' का उपयोग करते हैं और उनकी कठिनाइयों हल करने के लिए उन्हें अनुज्ञा दे देते हैं । इस तरह हम देखते हैं कि-

जीव गर्भ से लेकर मृत्यु पर्यन्त ही रहता है, परलोक तक जानेवाला नहीं है। उसकी शरीर के साथ ही साथ क्या शरीर के पहिले ही इतिश्री हो जाती है, शरीर तो मृत्यु के बाद भी पड़ा रहता है। “जलबुद्बुदवज्जीवाः, मदशक्तिवद्विज्ञानम्”—जल के बुद्बुदों की तरह जीव तथा महुआ आदि में मादकशक्ति की तरह ज्ञान उत्पन्न होता है—ये उनके मूल सिद्धान्तसूत्र हैं।

अकलकदेव इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—यदि आत्मा-जीव स्वतन्त्र मूल-तत्त्व न हो तो ससार और मोक्ष किसे होगा ? शरीरानुस्था को प्राप्त पृथिव्या-दि भूत तो इस लोक में ही मर्त्यभूत हो जाने हैं, परलोक तक कौन जायगा ? परलोक का अभाव तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि आज भी बहुत लोग जातिस्मरण होने से अपने पूर्वभव की तथ्यस्थिति का आखोदेखा हाल वर्णन करते हुए देखे जाते हैं। यक्ष, राक्षस, भूत पिशाचादि पर्यायों में पहुँचे हुए व्यक्ति अपनी वर्तमान तथा अतीतकालीन पूर्वपर्याय का समस्त वृत्तान्त सुनाते हैं। जन्म लेते ही नवजातशिशु को माँ के दूध पीने की अभिलाषा होती है। यह अभिलाषा पूर्वानुभव के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि अभिलाषा पूर्वदृष्ट पदार्थ की सुखसाधनता का स्मरण करके होती है। अतः पूर्वानुभव का स्थान परलोक मानना चाहिये। “गर्भ में माँ के द्वारा उपशुक्र मोजनावि से बने हुए अशुक्र विलक्षण रसविशेष के ग्रहण करने से नवजातशिशु को जन्म लेते ही दुग्धपान की ओर प्रवृत्ति होती है” यह कल्पना नितान्त युक्तिविरुद्ध है; क्योंकि गर्भ में रसविशेष के ग्रहण करने से ही यदि अभिलाषा होती है तो गर्भ में एक साथ रहनेवाले, एक साथ ही रसविशेष को ग्रहण करनेवाले युगल पुत्रों में परस्पर प्रत्यभिज्ञान एवं अभिलाषा होनी चाहिए, एक के द्वारा अनुभूत वस्तु का दूसरे को स्मरण होना चाहिए। प्रत्येक पृथिवी आदि भूत में तो चैतन्यशक्ति का आविर्भाव नहीं देखा जाता अतः समस्तभूतों के अशुक्र मिश्रण में ही जब एक विलक्षण अतीन्द्रिय स्वभावसिद्ध शक्ति माननी पड़ती है तब ऐसे विलक्षणशक्तिशाली अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व के मानने में ही क्या बाधा है ! ज्ञान प्राणयुक्त शरीर का भी धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि अन्वकार में शरीर का प्रत्यक्ष न होने पर भी ‘अहं ज्ञानवान्’ इस प्रकार से ज्ञान का अन्तः मानसप्रत्यक्ष होता है। यदि ज्ञानरूपसे शरीर का ग्रहण होता; तो कदाचित् ज्ञान शरीर का धर्म माना जाता। दूसरा व्यक्ति अपने नेत्रों से हमारे शरीर का ज्ञान कर लेता है पर शरीर के रूपादि की तरह वह हमारे ज्ञान का ज्ञान नहीं कर सकता। शरीर में विकार होने पर भी बुद्धि में विकार नहीं देखा जाता, शरीर की पुष्टि या कमजोरी में ज्ञान की पुष्टि या कमजोरी नहीं देखी जाती, शरीर के अतिशय बलवान् होने के साथ ही साथ बुद्धिबल बढ़ता हुआ नहीं देखा जाता, इत्यादि कारणों से यह सुनिश्चित है कि—ज्ञान शरीर का गुण नहीं है। ज्ञान, सुख आदि इन्द्रियों के भी धर्म नहीं हो सकते; क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियों की अनुपयुक्त दशा में मन से ही ‘मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ’ यह मानस प्रत्यक्ष अनुभव में

न करके उस पर ऐकान्तिक प्रहार कर पारस्परिक मनोमालिन्य-हिंसा को ही उत्तेजन दिया। इससे वैदिक संस्कृति तथा बौद्ध संस्कृति के बीच एक ऐसी अमेघ दीवार खड़ी हो गई जिसने केवल दर्शनिक क्षेत्र में ही नहीं किन्तु राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में भी दोनों को सदा के लिए आत्यन्तिक विभक्त कर दिया। इसके फलस्वरूप प्राणों की बाजी लगाकर अनेकों शास्त्रार्थ हुए तथा राजनैतिक जीवन में इस कालकूट ने प्रवेशकर अनेकों राजवंशों का सत्त्वनाश किया। उत्तरकाल में बौद्धाचार्यों ने मन्त्र-तन्त्रों की साधना इसी हिंसा के उत्तेजन के लिए की और आखिर इसी हिंसाज्वाला से भारतवर्ष में बौद्धों का अस्तित्व खाक में मिल गया। यदि मध्यमा प्रतिपद ने इस दार्शनिक क्षेत्र में भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया होता तो आज उसकी अहिंसक किरणों से दर्शनशास्त्र का कुछ दूसरा ही रूप हुआ होता, और भारतवर्ष का मध्यकालीन इतिहास सचमुच स्वर्णाक्षरो में लिखा जाने लायक होता।

जैनदृष्टि—भग० महावीर अत्यन्त कठिन तपस्या करनेवाले तपःशूर थे। इन्होंने अपनी उम्र तपस्या से कैवल्य प्राप्त किया। ये इतने दृढतपस्वी तथा कष्टसहिष्णु व्यक्ति थे कि इन्हे बुद्ध की तरह अपनी व्यक्तिगत तपस्या में मृदुता लाने के लिए मध्यममार्ग के उपयोग की आवश्यकता ही नहीं हुई। इनकी साधना कायिक अहिंसा के सूक्ष्म-पालन के साथ ही साथ वाचनिक और खासकर मानस अहिंसा की पूर्णता की दिशा में थी। भग० महावीर पितृचेतस्क व्यक्ति थे, अतः इनका आचार के नियमों में अत्यन्त दृढ़ एवं अनुशासनप्रिय होना स्वाभाविक था। पर सब में तो पंचनेल व्यक्ति दीक्षित होते थे। सभी तो उग्रमार्ग के द्वारा साधना करने में समर्थ नहीं हो सकते थे अतः इन्होंने अपनी अनेकान्तदृष्टि से आचार के दर्जे निश्चित कर चतुर्विधसंघ का निर्माण किया। और प्रत्येक कक्षा के योग्य आचार के नियम स्थिर कर उनके पालन करने में ढिलाई नहीं की। भग० महावीर की अनेकान्तदृष्टि ने इस तरह आचार के क्षेत्र में सुदृढ़ संघनिर्माण करके तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में भी अपना पुनीत प्रकाश फैलाया।

अनेकान्तदृष्टि का आधार—भग० महावीर ने बुद्ध की तरह आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूपनिरूपण में मौन धारण नहीं किया; किन्तु उस समय के प्रचलित वादों का समन्वय करनेवाला वस्तुस्वरूपस्पर्शी उत्तर दिया कि—आत्मा है भी, नहीं भी, निम्न भी, अनिम्न भी, आदि। यह अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन उनकी मानसी अहिंसा का प्रतिफल है। अन्यथा वे बुद्ध की तरह इस चर्चा को अनुपयोगी कह सकते थे। कायिक अहिंसा के लिए जिस तरह व्यक्तिगत सम्यगाचार आवश्यक है, उसी तरह वाचनिक और खासकर मानस अहिंसा के लिए अनेकान्तदृष्टि विशेषरूप से उपासनीय है। जब तक दो विभिन्न विचारों का अनेकान्तदृष्टि से वस्तुस्थिति के आधार पर समीकरण न होगा तब तक हृदय में उनका अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहेगा, और उन विचारों के प्रयोजकों के प्रति

§ ३. नयनिरूपण—

जैनदृष्टि का आधार और स्थान—भारतीय सस्कृति मुख्यतः दो भागों में बाँटी जा सकती है—एक वैदिक सस्कृति और दूसरी उसके मुकाबिले में खड़ी हुई श्रमणसस्कृति । वैदिकसंस्कृति के आधारभूत वेद को प्रमाण माननेवाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा तथा औपनिषद् आदि दर्शन हैं । श्रमणसस्कृति के शिलाधार वेदकी प्रमाणात्ता का विरोध करनेवाले बौद्ध और जैनदर्शन हैं । वैदिकदर्शन तथा वैदिकसस्कृति के प्रति-प्रतिष्ठान में विचारों की प्रधानता है । श्रमणसस्कृति एवं अवैदिक दर्शनों की उद्भूति आचारशोधन के प्रामुख्य से हुई है । सभी दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, और गौण या मुख्यरूपसे तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साधन भी सबने माना ही है । वैदिक सस्कृति तथा वैदिकदर्शनों की प्राणप्रतिष्ठा, संवर्द्धन एवं प्रौढीकरण में बुद्धिजीवी ब्राह्मणवर्ग ने पुरतैनी प्रयत्न किया है जो आज तक न्यूनाधिक रूप में चालू है । यही कारण है कि वैदिकदर्शन का कोषागार, उनकी सूक्ष्मता, तलस्पर्शिता, भावप्राप्तिता एवं पराकाष्ठा को प्राप्त कल्पनाओं का कोटिक्रम अपनी सानी कम रखता है । परम्परागत-बुद्धिजीवित्व-शाली ब्राह्मणवर्ग ने अपनी सारी शक्ति कल्पनाजाल का विकास करके वेदप्रामाण्य के समर्थन में लगाई और वैदिकक्रियाकाण्डों के द्वारा गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त के जीवन के प्रत्येकक्षण को इतना ओतप्रोत कर दिया जिससे मुकाबिले में खड़ी होनेवाली बौद्ध और जैनसस्कृति भी पीछे जाकर इन क्रियाकाण्डों से अशतः पराभूत हो गई ।

श्रमणसस्कृति वैदिक क्रियाकाण्ड, खासकर बर्ग के नाम पर होने वाले अजानेब, अश्वमेध, नरमेध आदि हिंसाकाण्ड का तात्त्विक एवं क्रियात्मक विरोध करने के लिए उद्भूत हुई, और उसने इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता भी पाई । श्रमणसस्कृति का आधार पूर्णरूपसे अहिंसा रही है । अहिंसा का वास्तविक रूप तो सचमुच आचारगत ही है । अहिंसा का विचार तो वैदिकदर्शनों ने भी काफी किया है पर विशिष्ट अपवादों के साथ । श्रमणसस्कृति अहिंसा का सक्रिय रूप थी । इस अहिंसा की साधना तथा पूर्णता के लिए ही इसमें तत्त्वज्ञान का उपयोग हुआ, जब कि वैदिक सस्कृति में तत्त्वज्ञान साध्यरूपमें रहा है ।

बौद्धदृष्टि—बुद्ध अहिंसा की साधना के लिए प्रारम्भ में कुछ वर्ष तक कठोर तपस्या करते हैं । जब उनका मासुक चित्त तपस्या की उग्रता से ऊब जाता है, तब वे विचार करते हैं कि—इतनी दीर्घतपस्या के बाद भी मुझे बोधिलाम क्यों नहीं हुआ ? यहीं उनकी तीक्ष्णदृष्टि ‘मध्यम प्रतिपदा’ को पकड़ लेती है । वे निश्चय करते हैं कि—यदि एक ओर वैदिकी हिंसा तथा विषय भोग आदिके द्वारा शरीर के पोषण का बोलवाला है तो इस ओर भी अन्यवहार्य अहिंसा तथा भीषण कायकेशिके द्वारा होनेवाला शरीर का शोषण हृदय की

उत्तरकालीन आचार्यों ने खूब लिखा। उन्होंने उदारता पूर्वक यहाँ तक लिखा है कि— 'समस्त मिथैकान्तो का समूह ही अनेकान्त है, समस्त पाखण्डो के समुदाय अनेकान्त की जय हो।' यद्यपि पातञ्जलदर्शन, मात्स्कीयवेदान्त, माह आदि दर्शनों में भी इस समन्वयदृष्टि का उपयोग हुआ है; पर स्याद्वाद के ऊपर ही सत्यावद्ध शास्त्रों की रचना जैनाचार्यों ने ही की है। उत्तरकालीन जैनाचार्यों ने यद्यपि भग० महावीर की उसी पुनीत अनेकान्तदृष्टि के अनुसार ही शास्त्ररचना की है; पर वह मध्यस्थभाव अंशतः परपक्ष-खडन में बदल गया। यद्यपि यह अवश्यक था कि—प्रत्येक एकान्त में दोष दिखाकर अनेकान्त की सिद्धि की जाय, फिर भी उसका सूक्ष्म पर्यवेक्षण हमें इस नतीजे पर पहुँचाता है कि भग० महावीर की वह मानस अहिंसा ठीक-शत-प्रतिशत उसीरूपमें तो नहीं ही रही।

विचार विकास की चरमरेखा—भारतीय दर्शनशास्त्रों में अनेकान्त दृष्टि के आधार से वस्तु के स्वरूप के प्ररूपक जैनदर्शन को हम विचारविकास की चरमरेखा कह सकते हैं। चरमरेखा से मेरा तात्पर्य यह है कि—दो विरुद्ध वादों में तब तक शुष्कतर्कजन्य कल्पनाओं का विस्तार होता जायगा जब तक कि उनका कोई वस्तुस्पर्शी हल-समाधान न हो जाय। जब अनेकान्तदृष्टि उनमें सामञ्जस्य स्थापित कर देगी तब मग्नता किस बात का और शुष्क तर्कजाल किस लिए? तात्पर्य यह है कि जब तक वस्तुस्थिति स्पष्ट नहीं होती तब तक विवाद बराबर बढ़ता ही जाता है। जब वह वस्तु अनेकान्तदृष्टि से अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी तब वादों का स्रोत अपने आप सूख जायगा।

स्वतःसिद्ध न्यायाधीश—इसलिए हम अनेकान्त दृष्टि को न्यायाधीश के पद पर अनायास ही बैठा सकते हैं। यह दृष्टि न्यायाधीश की तरह उभयपक्ष को समुचितरूप से समझकर भी अपक्षपातिनी है। यह मौजूदा यावत् विरोधी वादरूपी मुद्दई मुद्दाहलो का फैसला करनेवाली है। यह हो सकता है कि—कदाचित् इस दृष्टि के उचित उपयोग न होने से किसी फैसले में अपील को अवसर मिल सके। पर इसके समुचित उपयोग से होने-वाले फैसले में अपील की कोई गुंजाइश नहीं रहती। उदाहरणार्थ—देवदत्त और यज्ञदत्त मामा-कुआ ये भाई हैं। रामचन्द्र देवदत्त का पिता है तथा यज्ञदत्त का मामा। यज्ञदत्त और देवदत्त दोनों ही बड़े बुद्धिशाली लडके हैं। देवदत्त जब रामचन्द्र को पिता कहता है तब यज्ञदत्त देवदत्त से लड़ता है और कहता है कि—रामचन्द्र तो मामा है तू उसे पिता क्यों कहता है? इसी तरह देवदत्त भी यज्ञदत्त से कहता है कि—बाह! रामचन्द्र तो पिता है उसे मामा नहीं कह सकते। दोनों शास्त्रार्थ करने बैठ जाते हैं। यज्ञदत्त कहता है कि—देखो, रामचन्द्र मामा है, क्योंकि वे हमारी माँ के भाई हैं, हमारे बड़ेभाई भी उसे मामा ही तो कहते हैं आदि। देवदत्त कहता है—बाह! रामचन्द्र तो पिता है, क्योंकि उसके भाई हमारे चाचा होते हैं, हमारी माँ उसे स्वामी कहती है आदि। इतना ही नहीं, दोनों में इसके फलस्वरूप हाथापाई हो जाती है। एक दूसरे का कहर शत्रु बन जाता है।

बुद्ध की मध्यमप्रतिपदा केवल आचार की समाधानी के लिए उपयुक्त होती थी, वह आचार का व्यवहार्य से व्यवहार्य मार्ग ढूँढ़ती थी। उसने विचार के अपरिमित क्षेत्र में अपना कार्य बहुत कम किया।

जब बुद्ध ने स्वयं 'मध्यमप्रतिपदा' को विचार के क्षेत्रों में दाखिल नहीं किया तब उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों से तो इसकी आशा ही नहीं की जा सकती थी। बुद्ध के उपदेशों में आए हुए क्षणिक, निरात्मक, विभ्रम, परमाणुपुञ्ज, विज्ञान, शून्य आदि एक एक शब्द को लेकर उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों ने अनन्त कल्पनाजाल से क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, विभ्रमवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, आदिवादों को जन्म देकर दर्शनक्षेत्र में बड़ा भारी दफान मचा दिया। यह दफान मामूली नहीं था, इससे वैदिक दर्शनो की चिरकालीन परम्परा भी काँप उठी थी। बुद्ध ने तो मार-काम विजय के लिए, विषय-कषायों को शान्तकर चित्त शोभन के लिए जगत् को जलबुद्बुद् की तरह क्षणिक-विनाशशील कहा था। निरात्मक शब्द का प्रयोग तो इसलिए था कि—'यह जगत् आत्मस्वरूप से भिन्न है, नित्य कूटस्थ कोई आत्मा नहीं है जिसमें राग किया जाय, जगत् में आत्मा का हितकारक कुछ नहीं है' आदि समझकर जगत् से विरक्ति हो। ससार को स्रम की तरह विभ्रम एवं शून्य भी इसीलिए कहा था कि—उससे चित्त को हटाकर चित्त को विशुद्ध किया जाय। बी आदि राग के साधन पदार्थों को एक, निल, स्थूल, अमुक्त संस्थानवाली, वस्तु समझकर उसके मुख आदि अवयवों का दर्शन-स्पर्शनकर रागद्वेषादि की अग्रवेल फलती है। यदि उन्हें स्थूल अवयवी न समझकर परमाणुओं का पुञ्ज ही समझा जायगा तो जैसे मिट्टी के ढेले में हमें राग नहीं होता उसी तरह बी आदि से विरक्त होने में चित्त को मदद मिलेगी। इन्हीं पवित्र मुमुक्षुभावनाओं को सुभावित करने के लिए करुणामय बुद्ध के हृदयप्राप्ती उपदेश होते थे। उत्तरकाल में इन मुमुक्षुभावनाओं का लक्ष्य यद्यपि वही रहा पर समर्थन का ढँग बदला। उसमें परपक्ष का जोरों से खंडन शुरू हुआ तथा बुद्धिकल्पित विकल्पजालों से बहुविध पन्थों और ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इन बुद्धि-वाग्वैभवशाली आचार्यों ने बुद्ध की उस मध्यमप्रतिपदा का इस नए क्षेत्र में जरा भी उपयोग नहीं किया। मध्यमप्रतिपदा शब्द का अपने ढँग से शाब्दिक आदर तो किया पर उसके प्राणभूत समन्वय के तत्त्व का जुरी तरह कचूर निकाल डाला। विज्ञान-वादियों ने मध्यमप्रतिपदा को विज्ञानस्वरूप कहा तो विभ्रमवादियों ने उसे विभ्रमरूप। शून्यवादियों ने तो मध्यमप्रतिपदा को शून्यता का पर्यायवाची ही लिख दिया है—

“मध्यमा प्रतिपत्तं सैव सर्वधर्मनिरात्मता । मृतकोटिश्च सैवैव तथता सर्वशून्यता ॥”

—अर्थात् सर्वशून्यता को ही सर्वधर्मनैरात्म्य तथा मध्यमा प्रतिपत्त कहते हैं। यही वास्तविक तथा तथ्यरूप है।

इन अहिंसा के पुजारियों ने मध्यमप्रतिपदा के द्वारा वैदिक संस्कृति का समन्वय

कता थी। वे बुद्धिजीवी या कल्पनालोक में विचरण करनेवाले नहीं थे। उन्हें तो सर्वाङ्गीण अहिंसाप्रचार का सुलभ रास्ता निकाल कर जगत् को शान्ति का सहज सन्देश देना था। उन्हें मस्तिष्क के शुष्क कल्पनात्मक व्यापार की अपेक्षा हृदय से निकली हुई व्यवहार्य अहिंसा की छोटी सी आवाज ही अधिक कारगर मालूम होती थी। यह ठीक है कि—बुद्धिजीवीवर्ग जिसका आचरण से विशिष्ट सम्पर्क न हो, बैठेठाले अनन्तकल्पना जाल से ग्रन्थ गूँथा करे और यही कारण है कि—बुद्धिजीवीवर्ग द्वारा वैदिक दर्शनो का पर्याप्त प्रसार हुआ। पर कार्यक्षेत्र में तो केवल कल्पनाव्यो से ही निर्वाह नहीं हो सकता था; वहाँ तो व्यवहार्य मार्ग निकाले बिना चारा ही नहीं था। भग० महावीर ने अनेकान्तदृष्टि रूप, जिसे हम जैनदर्शन की जान कहते हैं, एक वह व्यवहार्यमार्ग निकाला जिसके समुचित उपयोग से मानसिक, वाचिक तथा कायिक अहिंसा पूर्णरूपसे पाली जा सकती है। इस तरह भग० महावीर की यह अहिंसास्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शन के भव्य प्रासाद का मध्यस्तम्भ है। इसीसे जैनदर्शन की प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शनशास्त्र सचमुच इस अतुल्यसत्य को पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शन ने इस अनेकान्तदृष्टि के आधार से बनी हुए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्र के कोषागार में अपनी ठोस और पर्याप्त पूँजी जमा की है। पूर्वकालीन युगप्रधान समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकों ने इसी दृष्टि के समर्थनद्वारा सत्-असत्, नित्यत्वानित्यत्व, मेदाभेद, पुण्य-पापप्रकार, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ, आदि विविध वादों में पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित किया। मध्यकालीन अकलङ्क, हरिभद्र आदि तार्किकों ने अशतः परपक्ष का खण्डन करके भी उसी दृष्टि को प्रौढ़ किया। इसी दृष्टि के विविध प्रकार से उपयोग के लिए सतमंगी, नय, निक्षेप आदि का निरूपण हुआ। इस तरह भग० महावीर ने अपनी अहिंसा की पूर्णसाधना के लिए अनेकान्तदृष्टि का अविर्भाव करके जगत् को वह प्रवर्जीजमन्त्र दिया जिसका समुचित उपयोग संसार को पूर्ण सुख-शान्ति का लाभ करा सकता है।

नय—जब भग० महावीर ने मानस अहिंसा की पूर्णता के लिए अनेकान्तदृष्टि का सिद्धान्त निकाला, तब उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिए कुछ तफसीली बातें सोचना आवश्यक हो गया कि कैसे इस दृष्टि से प्रचलित वादों का उचित समीकरण हो। इस अनेकान्तदृष्टि की कामयाबी के लिए किए गए मोटे मोटे नियमों का नाम नय है। साधारणतया विचार-व्यवहार तीन प्रकार के होते हैं—१ ज्ञानाश्रयी, २ अर्थाश्रयी, ३ शब्दाश्रयी। कोई व्यक्ति ज्ञान की सीमा में ही अपने विचारों को दौड़ाता है उसे अर्थ की स्थिति की कोई परवाह ही नहीं रहती। ऐसे मनसुवा बाँधनेवाले, हवाई किले बनानेवाले, शेखचिल्ली की तरह विचारों की धुन में ही मस्त रहनेवाले लोग अपने विचारों को ज्ञान ही ज्ञान—कल्पनाक्षेत्र में ही दौड़ाते रहते हैं। दूसरे प्रकार के लोग अर्थानुसारी विचार करते हैं। अर्थ में एकऔर एक, नित्य और व्यापिरूपसे चरम अमेद की कल्पना की

राग-द्वेष का भाव जाग्रत हुए विना न रहेगा । इस मानस अहिंसा के विना केवल बाह्य अहिंसा याचितकमंडनरूप ही है । यह तो और भी कठिन है कि—‘किसी वस्तु के विषय में दो मनुष्य दो विरुद्ध धारणाएँ रखते हो, और उनका अपने अपने ढँग से समर्थन ही नहीं उसकी सिद्धि के लिए वादविवाद भी करते हो, फिर भी वे एक दूसरे के प्रति समता-भाव-मानस अहिंसा रख सकें ।’ मग० महावीर ने इसी मानसशुद्धि के लिए, अनिर्वचनीय अखण्ड अनन्तधर्मी वस्तु के एक एक अंश को ग्रहण करके भी पूर्णता का अभिमान करने के कारण विरुद्धरूप से भासमान अनेक दृष्टियों का समन्वय करनेवाली, विचारो का वास्तविक समझौता करानेवाली, पुण्यरूपा अनेकान्तदृष्टि को सामने रखा । जिससे एक वादी इतर-वादियों की दृष्टि का तत्त्व समझ कर उसका उचित अंश तक आदर करे, उसके विचारों के प्रति सहिष्णुता का परिचय दे, और राग-द्वेषविहीन हो शान्त चित्त से वस्तु के पूर्णस्वरूप तक पहुँचने की दिशा में प्रयत्न करे । समाजरचना या सधनिर्माण में तो इस तत्त्व की खास आवश्यकता थी । सध में तो विभिन्न सम्प्रदाय एवं विचारो के चित्र विचित्र व्यक्ति दीक्षित होते थे । उनका समीकरण इस यथार्थदृष्टि के बिना कर सकना असंभव कठिन था, और समन्वय किए बिना उनके चित्त की स्थिरता संभव ही नहीं थी । ऊपरी एकीकरण से तो कभी भी विस्फोट हो सकता था और इस तरह अनेको सध छिन्न-भिन्न हुए भी ।

अनेकान्तदृष्टि के मूल में यह तत्त्व है कि—वस्तु स्वरूपतः अनिर्वचनीय है, अनन्त-धर्मों का एक अखण्ड पिण्ड है । वचन उसके पूर्ण स्वरूप की ओर इशारा तो कर सकते हैं, पर उसे पूर्णरूप से कह नहीं सकते । लिहाजा एक ही वस्तु को विभिन्न व्यक्ति अपने अपने दृष्टिकोणों से देखते हैं तथा उनका निरूपण करते हैं । इस लिए यदि विरोध भासित हो सकता है तो एक एक अंश को ग्रहण करके भी अपने में पूर्णता का अभिमान करनेवाली दृष्टियों में ही । जब हम एक अंश को जाननेवाली अपनी दृष्टि में पूर्णता का अभिमान कर बैठेंगे तो सहज ही द्वितीय अंश को जानकर भी पूर्णताभिमानिनी दूसरी दृष्टि उससे ठकराएगी । यदि अनेकान्तदृष्टि से हमें यह मालूम हो जाय कि—ये सब दृष्टियाँ वस्तु के एक एक धर्मों को ग्रहण करनेवाली हैं, इनमें पूर्णता का अभिमान मिथ्या है तब स्वरसतः द्वितीय दृष्टि को, जो अभी तक विरुद्ध भासित होती थी, उचित स्थान एवं आदर मिल जायगा । इसी को आचार्यों ने शास्त्रीय शब्दों में कहा है कि—‘एकान्त वस्तुगत धर्म नहीं हैं, किन्तु बुद्धिगत है । अतः बुद्धि के शुद्ध होते ही एकान्त का नामोनिशान भी नहीं रहेगा ।’ इसी समन्वयात्मक दृष्टि से होनेवाला वचनव्यवहार स्याद्वाद कहलाता है । यह अनेकान्त-आहिणी दृष्टि प्रमाण कही जाती है । जो दृष्टि वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करके भी इतरधर्म-आहिणी दृष्टियों का प्रतिचेष्ट नहीं करके उन्हें उचित स्थान दे वह नय कहलाती है । इस तरह मानस अहिंसा के कार्य-कारणभूत अनेकान्त-दृष्टि के निर्वाह एवं विस्तार के लिए स्याद्वाद, नयवाद, सप्तमगी आदि विविध रूपों में

कि एक-अभेद अंश की मुख्यता होने पर दूसरी-भेददृष्टि गौण हो जाय। यही सापेक्ष-भाव नय का प्राण है। इस सापेक्षता के अभाव में नयदृष्टि सुनयरूप न रहकर दुर्नय बन जाती है। “सापेक्षो नयः, निरपेक्षो दुर्नयः” यह स्पष्ट ही कहा है।

इस संक्षिप्त कथन में यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो दो प्रकार की दृष्टियों ही मुख्यरूप से कार्य करती हैं—एक अभेददृष्टि और दूसरी भेददृष्टि। इन दृष्टियों का आधार चाहे ज्ञान हो या अर्थ अथवा शब्द, पर कल्पना अभेद या भेद दो ही रूप से की जा सकती है। उस कल्पना का प्रकार चाहे कालिक, दैशिक या स्वारूपिक कुछ भी क्यों न हो। इन दो मूल आधारों को द्रव्यनय और पर्यायनय नाम से व्यवहृत किया है। देश, काल तथा आकार जिस किसी भी रूप से अभेद ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है तथा भेदआही पर्यायार्थिक नय है। इन्हे मूलनय कहते हैं, क्योंकि समस्त विचारों का मूल आधार यही दो नय होते हैं। नैगमादि नय तो इन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक, निश्चय-व्यवहार, शुद्धनय-अशुद्धनय आदि शब्द इन्हीं के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

चूँकि नैगमनय संकल्पमात्रग्राही है, तथा संकल्प या तो अर्थ के अभेद अंश को विषय करता है या भेद अंश को। इसीलिये अभेदसंकल्पी नैगम का संग्रहनय में तथा भेदसंकल्पी नैगम का व्यवहारनय में अन्तर्भाव करके आचार्य सिद्धसेन ने नैगमनय को खतान्न नय नहीं माना है। इनके मत से संग्रहादि कुछ ही नय हैं।

अकलंकदेव ने नैगमनय को अर्थनय मानकर श्रुतसूत्र पर्यन्त चार नयों का अर्थ-नयरूप से तथा शब्द आदि तीन नयों का शब्दनयरूप से विभाग किया है। नय तथा दुर्नय का निम्न लक्षण समझना चाहिए—भेदाभेदात्मक, उत्पादव्ययभ्रौव्यरूप, समान्यविशेषात्मक पदार्थ अखण्डरूपसे प्रमाण का विषय होता है। उसके किसी एक धर्म को मुख्य तथा इतरधर्मों को गौणरूपसे विषय करनेवाला ज्ञाता का अभिप्राय नय कहलाता है। जब वही अभिप्राय इतरधर्मों को गौण नहीं करके उनका निरास करने लगता है तब वह दुर्नय कहलाता है। तात्पर्य यह कि—प्रमाण में अनेकधर्मवाली पूर्ण वस्तु विषय होती है, नय में एक धर्म मुख्यरूपसे विषय होकर भी इतरधर्मों के प्रति उपेक्षा-गौणता रहती है, जब कि दुर्नय इतरधर्मों का ऐकान्तिक निरास कर देता है।

नैगम-नैगमाभास—यद्यपि अकलंकदेव ने राजवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि के अनुसार नैगमनय का ‘संकल्पमात्रग्राही’ यह ज्ञानाश्रितव्यवहार का समन्वय करनेवाला लक्षण किया है, पर लघुयल्लय में वे नैगमनय को अर्थ की परिधि में लाकर उसका यह लक्षण करते हैं—“गुण-गुणी या धर्म-धर्मों में किसी एक को गौण तथा दूसरे को मुख्यता से ग्रहण करनेवाला नैगमनय है। जैसे जीव के स्वरूपनिरूपण में ज्ञानादिगुण गौण होते हैं तथा ज्ञानादिगुणों के वर्णन में जीव।” गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा

अनेकान्तदृष्टिवाला रामचन्द्र पास के कमरे से अपने होनहार लड़को की कल्पनाशक्ति एवं बुद्धिपटुता से प्रसन्न होकर भी उसके फलस्वरूप होनेवाली हिंसा-भारपीठ से खिन्न हो जाता है। वह उन दोनों की गलती समझ जाता है और उन्हें बुलाकर घेरे से समझाता है—वेटा देवदत्त, यह ठीक है कि मे तुम्हारा पिता हूँ, पर केवल तुम्हारा पिता ही तो नहीं हूँ, इसका मामा भी तो हूँ। इसी तरह यज्ञदत्त को समझाता है कि—वेटा यज्ञदत्त, तुम भी ठीक कहते हो, मैं तुम्हारा तो मामा ही हूँ, पर यज्ञदत्त का पिता भी तो हूँ। यह सुनते ही दोनों भाइयों की दृष्टि खुल जाती है। वे झगड़ना छोड़कर आपस में बड़े हेलमेल से रहने लगते हैं। इस तरह हम समझ सकते हैं कि—एक एक धर्म के समर्थन में वस्तुशः को लेकर घड़ी गईं दलीलें तब तक बराबर चालू रहेगी और एक दूसरे का खडन ही नहीं किन्तु उससे होनेवाले रागद्वेष—हिंसा की परम्परा बराबर चलेगी जब तक कि अनेकान्त-दृष्टि उनकी चरमरेखा बनाकर समन्वय न कर देगी। इसके बाद तो मस्तिष्क के व्यायामस्वरूप दलीलों का दलदल अपने आप सूख जायगा।

प्रत्येक पक्ष के बकीलो द्वारा अपने पक्षसमर्थन के लिए सङ्कलित दलीलों की फाइल की तरह न्यायाधीश का फैसला भले ही आकार में बड़ा न हो, पर उसमें वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता एवं सूक्ष्मता के साथ ही साथ निष्पक्षपातिता अवश्य ही रहती है। उसी तरह एकान्तके समर्थन में प्रयुक्त दलीलों के भण्डारभूत एकान्तवादी दर्शनो की तरह जैनदर्शन में कल्पनाओं का चरम विकास न हो और न उसका परिमाण ही अधिक हो; पर उसकी वस्तुस्पर्शिता, व्यावहारिकता, तटस्थवृत्ति एवं अहिंसाधारता में तो सन्देह किया ही नहीं जा सकता। हो सकता है कि उत्तरकाल में मध्यकालीन आचार्यों द्वारा अशतः परपक्ष-खडन में पड़ने के कारण उन मध्यस्थता का उसरूप में निर्वाह न हुआ हो; पर वह दृष्टि उनके पास सदा जाग्रत रही, और उसीके श्रेयःप्रकाश में उन्होंने परपक्ष को भी नय-दृष्टि से उचित स्थान दिया। जिस तरह न्यायाधीश के फैसले के उपक्रम में उभयपक्षीय बकीलोंकी दलीलों के बलाबल की जाँच में एक दूसरे की दलीलों का यथासम्भव उपयोग होकर अन्त में उनके निःसार भाग की समालोचनापूर्वक व्यवहार्य फैसला होता है। उसी तरह जैनदर्शन में एक एकान्त के खण्डनार्थ या उसके बलाबल की जाँच के लिए द्वितीय एकान्तवादी की दलीलों का पर्याप्त उपयोग देखा जाता है। अन्त में उनकी समालोचना होकर उनका समन्वयात्मक फैसला दिया गया है। एकान्तवादी दर्शनो के समन्वयात्मक फैसले की ये मिसलें ही जैनदर्शनशास्त्र हैं।

वात यह है कि—भग० महावीर कार्यशील अहिंसक व्यक्ति थे। वे वादी नहीं थे किन्तु सन्त थे। उन्हें वाद की अपेक्षा कार्य-सदाचरण अविक पसन्द था, और जब तक हवाई बातों से कार्योपयोगी व्यवहार्य मार्ग न निकाला जाय तब तक कार्य होना ही कठिन था। मानस-अहिंसा के संवर्द्धन, परिपोषण के लिए अनेकान्तदृष्टिरूपी संजीवनी की आवश्यक-

जो ज्ञानस्वरूप नहीं है वह ज्ञान के समवाय से भी कैसे 'ज्ञ' बन सकता है ? यदि अज्ञ वस्तु भी ज्ञान-के समवाय से 'ज्ञ' हो जाय; तो समवाय स्वयं 'ज्ञ' बन जायगा; क्योंकि समवाय आत्मा में ज्ञान का सम्बन्ध तभी करा सकता है जब वह स्वयं ज्ञान और आत्मा से सम्बन्ध रखे। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों से असम्बद्ध रहकर सम्बन्धबुद्धि नहीं करा सकता। अतः यह मानना ही चाहिये कि—ज्ञानपर्यायवाली वस्तु ही ज्ञान के सम्बन्ध को पा सकती है। अतः वैशेषिक का गुण आदि का गुणी आदि से निरपेक्ष—सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

इसी तरह साख्य का ज्ञान सुखादि को आत्मा से भिन्न मानना नैगमाभास है। वह मानता है कि—सत्त्वरजस्तमोरूप-त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही सुख-ज्ञानादिक धर्म हैं, वे उसी में आविर्भूत तथा तिरोहित होते हैं। इसी प्रकृति के संसर्ग से पुरुष में ज्ञानादि की प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप व्यक्त-कार्य की दृष्टि से दृश्य है तथा अपने कारणरूप-अव्यक्तस्वरूप से अदृश्य है। पुरुष चेतनरूप तथा कूटस्थ—अपरिणामी नित्य है। इस तरह वह चैतन्य से बुद्धि को भिन्न समझकर उसे पुरुष से भी भिन्न मानता है। उसका यह ज्ञान और आत्मा का सर्वथा भेद मानना भी नैगमाभास है; क्योंकि चैतन्य तथा ज्ञान में कोई भेद नहीं है। बुद्धि, उपलब्धि, चैतन्य, ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं। यदि चैतन्य पुरुष का धर्म हो सकता है; तो ज्ञान को भी उसीका ही धर्म होना चाहिये। प्रकृति की तरह पुरुष भी ज्ञानादिरूप से दृश्य होता है। 'सुख ज्ञानादिक सर्वथा अनित्य है, चैतन्य सर्वथा नित्य है' यह भी प्रमाणसिद्ध नहीं है, क्योंकि पर्यायदृष्टि से उनमें अनित्यता रहने पर भी चैतन्यसामान्य की अपेक्षा नित्यता भी है। इस तरह वैशेषिक का गुण-गुण्यादि में सर्वथा भेद मानना तथा साख्य का पुरुष से बुद्ध्यादि का भेद मानना नैगमाभास है; क्योंकि इनमें अभेद अश का निराकरण ही हो गया है।

संग्रह-संग्रहाभास—समस्त पदार्थों को अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला नय संग्रह-नय है। यह परसंग्रह तथा अपरसंग्रह के भेद से दो प्रकार का है। परसंग्रह में सत् रूप से समस्त पदार्थों का संग्रह किया जाता है, तथा अपरसंग्रह में द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्यों का, गुणरूपसे समस्त गुणों का, गोत्वरूपसे समस्त गौओं का आदि। यह अपरसंग्रह तब तक चलता है जब तक कि भेद अपनी चरम कोटि तक नहीं पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यवहारनय भेद करते करते ऋजुसूत्र नय के विषयभूत एक वर्तमान काळीन अर्थपर्याय तक पहुँचता है तब अपरसंग्रह की मर्यादा समाप्त हो जाती है। अपरसंग्रह और व्यवहारनय का क्षेत्र तो समान है पर दृष्टि में भेद है। जब अपरसंग्रह में तद्रूप अभेदाश के द्वारा संग्रह की दृष्टि है तब व्यवहारनय में भेद की ही प्रचलनता है। परसंग्रहनय की दृष्टि में सद्रूप से सभी पदार्थ एक हैं उनमें कोई भेद नहीं है। जीव अजीव आदि सभी सद्रूप से अभिन्न हैं। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने नीलादि अनेक आकारों में व्याप्त है उसी तरह सन्मात्रतत्त्व सभी पदार्थों में व्याप्त है, जीव अजीव आदि सब उसी के भेद

जा सकती है, तो दूसरीओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्व की दृष्टिसे अन्तिम भेद की कल्पना । तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियों के मध्य की है । पहिली प्रकार की कोटि में सर्वथा अमेद-एकत्व स्वीकार करने वाले औपनिषद अद्वैतवादी हैं, तो दूसरी ओर वस्तु की सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्याय के ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक, निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं । तीसरी कोटि में पदार्थ को नानारूप से व्यवहार में लानेवाले नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं । तीसरे प्रकार के व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री, जिन्हें शब्दों के बाल की खाल खींचने में ही मजा आता है । ये लोग एक अर्थ की हर एक हालत में विभिन्न शब्द के प्रयोग को मानते हैं । इनका तात्पर्य है कि—भिन्नकालवाचक, भिन्न कारको में निष्पन्न, भिन्न वचनवाले, भिन्नपर्यायवाचक, भिन्नक्रियावाचक शब्द एक अर्थ को नहीं कह सकते । शब्दभेद से अर्थ भेद होना ही चाहिए । उपर्युक्त ज्ञान, अर्थ और शब्द का आश्रय लेकर होनेवाले विचारों के समन्वय के लिए किए गए स्थूल मूल नियमों को नय कहते हैं ।

इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहार का सकल्प-विचारमात्र को ग्रहण करनेवाले नैगमनय में समावेश हुआ । अर्थाश्रित अमेदव्यवहार का, जो “आत्मैवेद सर्वम्, एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्” आदि उपनिषद्वाक्यों से प्रकट होता है, सप्रहनय में अन्तर्भाव किया गया । इसके आगे तथा एकपरमाणु की वर्तमानकालीन एक अर्थपर्याय से पहिले होनेवाले यावद् मध्यवर्ती भेदों का जिनमें न्याय वैशेषिकादि दर्शन शामिल हैं, व्यवहारनय में समावेश किया । अर्थ की आखिरी देशकोटि परमाणुरूपता तथा कालकोटि क्षणमात्रस्थायिता को ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्रनय में शामिल हुई । यहाँ तक अर्थ को सामने रखकर भेदाभेद कल्पित हुए हैं । अब शब्दशास्त्रियों का नम्बर आया । काल, कारक, सख्या तथा धातुके साथ लगने वाले भिन्न भिन्न उपसर्ग आदि की दृष्टि से प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के वाच्य अर्थ भिन्न भिन्न हैं, इस कालकारकादिवाचक शब्दभेद से अर्थभेद ग्रहण करनेवाली दृष्टि का शब्दनय में समावेश हुआ । एक ही साधन में निष्पन्न तथा एककालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं । इन पर्यायवाची शब्दों से भी अर्थभेद माननेवाली सममिखटनय की दृष्टि है । एवम्भूतनय कहता है कि जिस समय जो अर्थ जिस क्रिया में परिणत हो उसी समय उसमें तत्क्रिया से निष्पन्न शब्द का प्रयोग होना चाहिए । इसकी दृष्टि से समी शब्द क्रिया से निष्पन्न है । गुणवाचक शुक्ल शब्द भी शुचिमवनरूप क्रिया से, जातिवाचक अश्वशब्द आशुगमनरूप क्रिया से, क्रियावाचक चलति शब्द चलने रूप क्रिया से, नामवाचक यदृच्छा शब्द देवदत्त आदि भी ‘देवने इसको दिया’ इस क्रिया से निष्पन्न हुए हैं । इस तरह ज्ञान, अर्थ और शब्दरूप से होनेवाले यावद्व्यवहारों का समन्वय इन नयों में किया गया है । पर यह समन्वय एक खास शर्त पर हुआ है । वह शर्त यह है कि—कोई भी दृष्टि अपनी प्रतिपक्षी दृष्टि का निराकरण नहीं कर सकेगी । इतना हो सकता है

का संग्रह करनेवाला संग्रहणय है। इस नय की दृष्टि से कह सकते हैं कि—विषय एक है, अद्वैत है; क्योंकि सन्मात्रतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। यह ध्यान रहे कि—इस नय में शुद्ध सन्मात्र विषय द्वाने पर भी भेद का निराकरण नहीं है, भेद गौण अवश्य हो जाता है। यद्यपि अद्वयब्रह्मवाद भी सन्मात्रतत्त्व को विषय करता है पर वह भेद का निराकरण करने के कारण सप्रहाभास है। नय सापेक्ष—प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षा रखनेवाला, तथा दुर्नय निरपेक्ष—परपक्ष का निराकरण करनेवाला होता है।

व्यवहार-व्यवहाराभास—संग्रहणय के द्वारा गृहीत अर्थ में विधिपूर्वक अविस्वादी-वस्तुस्थितिमूलक भेद करनेवाला व्यवहार नय है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहार का अविरोधी होता है। लोकव्यवहारविरुद्ध, वस्तुस्थिति की अपेक्षा न करनेवाली भेद-कल्पना व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द तथा ज्ञानरूप से चलता है। जैसे जीवव्यवहार जीव अर्थ, जीवशब्द तथा जीवविषयक ज्ञान इन तीनों प्रकारों से हो सकता है। 'वस्तु उत्पादव्ययप्रौढ्यवाली है, द्रव्य गुणपर्यायवाला है, जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि वाक्य प्रमाण से अविरोधी होने के कारण तथा लोकव्यवहार में अविस्वादी होने से प्रमाण हैं, एवं पूर्वापर के अविरोधी होने से ये सबव्यवहार के विषय हैं। प्रमाणविरुद्ध कल्पनाएँ व्यवहाराभास हैं; जैसे सौत्रान्तिक का जब या चेतन सभी पदार्थों को क्षणिक, निरंश, परमाणुरूप मानना, योगाचार का क्षणिक अधिभागी विज्ञानाद्वैत मानना। तथा माध्यमिक का सर्वशून्यता स्वीकार करना। ये सब व्यवहाराभास प्रमाणविरोधी तथा लोकव्यवहार में विसंवादक होते हैं। जो भेदव्यवहार अभेद की अपेक्षा रखेगा वही व्यवहारनय की परिधि में आयागा, तथा जो अभेद का निराकरण करेगा वह दुर्यव्यवहार—व्यवहाराभास कहलायागा।

ऋजुसूत्र-तदाभास—ऋजुसूत्र नय पदार्थ की एक क्षणरूप शुद्ध वर्तमानकालवर्ती अर्थपर्याय को विषय करनेवाला है। इसकी दृष्टि में अभेद कोई वास्तविक नहीं है। चित्र-ज्ञान भी एक न होकर अनेक ज्ञानों का समुदायमात्र है। इस तरह समस्त जगत् एक दूसरे से विलकुल भिन्न है, एक पर्याय दूसरी पर्याय से भिन्न है। यह भेद इतना सूक्ष्म है कि स्थूलदृष्टिवाले लोगों को मालूम नहीं होता। जैसे परस्पर में विभिन्न भी वृक्ष दूर से सघन तथा एकाकार रूपसे प्रतिभासित होते हैं, ठीक इसी तरह अभेद एक प्रातिभासिक वस्तु है। इस नय की दृष्टि में एक या नित्य कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि भेद और अभेद का परस्पर में विरोध है। इस तरह यह ऋजुसूत्र नय यद्यपि भेद को मुख्यरूप से विषय करता है पर वह अभेद का प्रतिक्षेप नहीं करता। यदि अभेद का प्रतिक्षेप कर दे तो बौद्धाभिमत क्षणिकतत्त्व की तरह ऋजुसूत्राभास हो जायगा। सापेक्ष ही नय होता है। निरपेक्ष तो दुर्नय कहलाता है। जिस प्रकार भेद का प्रतिभास होने से वस्तु में भेद की व्यवस्था है उसी तरह जब अभेद का भी प्रतिभास होता है तो उसकी भी व्यवस्था होनी ही चाहिए। भेद और अभेद दोनों ही सापेक्ष हैं। एक का लोप करने से दूसरे का लोप होना अवश्यम्भावी है।

सामान्य-विशेष में सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है, क्योंकि—गुण गुणी से अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखता और न गुणों की उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अतः इनमें कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही समुचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान्, तथा सामान्य-विशेष में भी कथञ्चित्तादात्म्य ही सम्बन्ध है। यदि गुण आदि गुणी आदि से विलकुल भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ हो; तो उनमें नियत सम्बन्ध न होने के कारण गुण-गुण्यादिभाव नहीं बन सकेगा। अवयवी यदि अवयवों से सर्वथा पृथक् है; तो उसकी अपने अवयवों में वृत्ति-सम्बन्ध मानने में अनेको दूषण आते हैं। यथा—अवयवी अपने प्रत्येक अवयवों में यदि पूर्णरूप से रहता है, तो जितने अवयव हैं उतने ही स्वतन्त्र अवयवी सिद्ध होंगे। यदि एकदेश से रहेगा; तो जितने अवयव हैं अवयवी के उतने ही देश मानना होगा, उन देशों में भी वह 'सर्वात्मना रहेगा या एक देश से' इत्यादि विकल्प होने से अनवस्था दूषण आता है।

सत्तासामान्य का अपनी व्यक्तियों से सर्वथा भेद मानने पर, सत्तासम्बन्ध से पहिले द्रव्य, गुण और कर्म व्यक्तियों को सत् माना जाय, या असत्? यदि वे असत् हैं; तो उनमें सत्तासम्बन्ध नहीं हो सकता। सत्ता सर्वथा असत् खरविपाणादि में तो नहीं रहती। यदि वे सत् हैं, तो जिस प्रकार स्वरूपसत् द्रव्यादि में सत्तासम्बन्ध मानते हो उसी तरह स्वरूपसत् सामान्यादि में भी सत्तासम्बन्ध स्वीकार करना चाहिये। अथवा जिस प्रकार सामान्यादि स्वरूपसत् हैं उनमें किसी अन्य सत्ता के सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है, उसी तरह द्रव्य, गुण, कर्म को भी स्वरूपसत् ही मानना चाहिए। स्वरूपसत् में अतिरिक्त सत्ता का समवाय मानना तो विलकुल ही निरर्थक है। इसी तरह गोत्वादि जातियों को शब्दो-यादि व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न मानने में अनेको दूषण आते हैं। यथा—जब एक गौ उत्पन्न हुई; तब उसमें गोत्व कहाँ से आयगा? उत्पन्न होने के पहिले गोत्व उस देश में तो नहीं रह सकता; क्योंकि गोत्वसामान्य गोविशेष में ही रहता है गोशून्य देश में नहीं। निष्क्रिय होने से गोत्व अन्य देश से आ नहीं सकता। यदि अन्य देश से आवे भी, तो पूर्वपिण्ड को एकदेश से छोड़ेगा या विलकुल ही छोड़ देगा? निरंश होने के कारण एकदेश से पूर्वपिण्ड को छोड़ना युक्तिसंगत नहीं है। यदि गोत्व पूर्णरूप से पूर्व गोपिण्ड को छोड़कर नूतन गौ में आता है, तब तो पूर्वपिण्ड अगौ-गोत्वशून्य हो जायगा, उसमें गोत्वबहार नहीं हो सकेगा। यदि गोत्व-सामान्य सर्वगत है; तो गोव्यक्तियों की तरह अरवादिव्यक्तियों में भी गोव्यवहार होना चाहिए।

अवयव और अवयवी के सम्बन्ध में एक बड़ी विचित्र बात यह है कि—संसार तो यह मानता है कि पट में तन्तु, वृक्ष में शाखा तथा गौ में सींग रहते हैं, पर 'तन्तुओं में पट, शाखाओं में वृक्ष तथा सींग में गौ' का मानना तो सचमुच एक अलौकिक ही बात है। अतः गुण आदि का गुणी आदि से कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही युक्तिसंगत है। कथञ्चित्तादात्म्य का तात्पर्य यह है कि—गुण आदि गुणी आदि रूप ही हैं उनसे भिन्न नहीं है।

क्रिया कर रहा हो उसी समय उसे इन्द्र कह सकते हैं दूसरे समय में नहीं। समभिरूढ नय उस समय किया हो या न हो, पर अतीत अनागत क्रिया या उस क्रिया की योग्यता होने के कारण तच्छब्द का प्रयोग मान लेता है। पर एवम्भूत नय क्रिया की मौजूदगी में ही तत्क्रिया से निष्पन्न शब्द के प्रयोग को साधु मानता है। इस नय की दृष्टि से जब कार्य कर रहा है तभी कारक कहा जायगा, कार्य न करने की अवस्था में कारक नहीं कहा जा सकता। क्रियामेद होने पर भी अर्थ को अभिन्न मानना एवम्भूताभास है।

इन नयों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता एवं अल्पविषयता है। नैगमनय संकरूपग्राही होने से सत् असत् दोनों को विषय करता या इसलिए सन्मात्रग्राही संग्रह नय उससे सूक्ष्म एवं अल्प-विषयक होता है। सन्मात्रग्राही संग्रह नय से सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्पविषयक एवं सूक्ष्म हुआ। त्रिकालवर्ती सद्विशेषग्राही व्यवहारनय से वर्तमानकालीन सद्विशेष-अर्थपर्यायग्राही ऋजुसूत्र सूक्ष्म है। शब्दमेद होने पर भी अभिन्नार्थग्राही ऋजुसूत्र से कालादिमेद से शब्द-मेद मानकर भिन्न अर्थ को ग्रहण करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायमेद होने पर भी अभिन्न अर्थ को ग्रहण करनेवाले शब्दनय से पर्यायवाची शब्दों के मेद से अर्थमेदग्राही समभिरूढ अल्पविषयक एवं सूक्ष्मतर हुआ। क्रियामेद से अर्थमेद नहीं माननेवाले सम-भिरूढ से क्रियामेद होने पर अर्थमेदग्राही एवम्भूत परमसूक्ष्म एवं अत्यल्पविषयक होता है।

§ ४. निक्षेपनिरूपण-

निक्षेप-अखण्ड एव अनिर्वचनीय वस्तु को व्यवहार में लाने के लिए उसमें मेद करूपना करने को निक्षेप कहते हैं। व्यवहार ज्ञान, शब्द तथा अर्थरूप से तीन प्रकार का होता है। शब्दात्मक व्यवहार के लिए ही वस्तु का देवदत्त आदि नाम रखा जाता है। अतः शब्दव्यवहार के निर्वाह के लिए नाम निक्षेप की सार्थकता है। ज्ञानात्मक-व्यवहार के लिए स्थापना निक्षेप तथा अर्थात्मक व्यवहार के लिए द्रव्य और भाव निक्षेप सार्थक है। शब्द का प्रयोग जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तों की अपेक्षा से होता है। जाति, द्रव्य, गुण आदि निमित्तों की अपेक्षा न करके इच्छानुसार संज्ञा रखने को नामनिक्षेप कहते हैं। जैसे किसी बालक की गजराज संज्ञा मात्र इच्छानुसार ही की गई है, उसमें गजत्व-जाति, गज के गुण, गजकी क्रिया आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसका नामकरण हो चुका है उसकी उसी आकारवाली प्रतिमा या चित्र में स्थापना करना सद्भाव या तदा-कार स्थापना कहलाती है। तथा भिन्न आकारवाली वस्तु में स्थापना करना असद्भाव या अतदाकार स्थापना कहलाती है, जैसे शतरंज के मुहरों में घोड़े आदि की स्थापना। भविष्यत्कालीन राजपर्याय की योग्यता के कारण या बीती हुई राजपर्याय का निमित्त लेकर वर्तमान में किसी को राजा कहना द्रव्य निक्षेप है। तत्पर्यायप्राप्त वस्तु में तद-व्यवहार को भावनिक्षेप कहते हैं, जैसे वर्तमान राजपर्यायवाले राजा को ही राजा कहना।

है। कोई भी ज्ञान सन्मात्र द्रव्य को बिना जाने भेदों को नहीं जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्र से बाहिर अर्थात् असत् नहीं है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादि में प्रवृत्ति करे या बाष्प नीलादि अचेतन पदार्थों में, वह सद्रूप से अभेदाश को विषय करता ही है। सप्रह्वनय की इस अभेददृष्टि से सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्ध की भेद दृष्टि है। जिसमें अभेद को कल्पनात्मक कहकर वस्तु में कोई स्थान ही नहीं दिया गया है। इस सर्वथा भेददृष्टि के कारण ही बौद्ध अवयवी, रथूल, नित्य आदि अभेददृष्टि के विषयभूत पदार्थों की सत्ता ही नहीं मानते। नित्याश कालिक-अभेद के आधार पर स्थिर है; क्योंकि जब वही एक वस्तु त्रिकालानुयायी होगी तभी वह नित्य कही जा सकती है। अवयवी तथा स्थूलाश दैशिक-अभेद के आधार से माने जाते जाते हैं; जब एक वस्तु अनेक अवयवों में कथञ्चित्तादात्म्यरूपसे व्याप्ति रखे तभी अवयवी व्यपदेश पा सकती है। स्थूलता में भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

अकलङ्कदेव कहते हैं कि—बौद्ध सर्वथा भेदात्मक खलक्षण का जैसा वर्णन करते हैं वैसा सर्वथा क्षणिक पदार्थ न तो किसी ज्ञान का विषय ही हो सकता है और न कोई अर्थक्रिया ही कर सकता है। जिस प्रकार एक क्षणिक ज्ञान अनेक आकारों में युगपद् व्याप्त रहता है उसी तरह एकद्रव्य को अपनी क्रम से होनेवाली पर्यायों में व्याप्त होने में क्या बाधा है? इसी अनादिनिधन द्रव्य की अपेक्षा से वस्तुओं में अभेदाश की प्रतीति होती है। क्षणिक पदार्थ में कार्य-कारणभाव सिद्ध न होने के कारण अर्थक्रिया की तो बात ही नहीं करनी चाहिये। 'कारण के होने पर कार्य होता है' यह नियम तो पदार्थ को एकक्षणस्थायी माननेवालों के मत में स्वप्न की ही चीज है; क्योंकि एक क्षणस्थायी पदार्थ के सत्ताक्षण में ही यदि कार्य की सत्ता स्वीकार की जाय; तब तो कारण और कार्य एकक्षणवर्ती हो जायेंगे और इस तरह वे कार्य-कारणभाव को असंभव बना देंगे। यदि कारणभूत प्रथमक्षण कार्यभूत द्वितीयक्षण तक ठहरे तब तो क्षणमैगबाद कहाँ रहा? क्योंकि कारणक्षण की सत्ता कम से कम दो क्षण मानना पड़ी। इस तरह कार्यकारणभाव के अभाव से जब क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया ही नहीं बनती तब उसकी सत्ता की आशा करना भ्रुतदृष्टा जैसी ही है। और जब वह सत् ही सिद्ध नहीं होता तब प्रमाण का विषय कैसे माना जाय? जिस तरह बौद्धमत में कारण अपने देश में रहकर भी भिन्नदेशवर्ती कार्य को व्यवस्थितरूप से उत्पन्न कर सकता है उसी तरह जब अभिन्न निष्प पदार्थ भी अपने समय में रहकर कार्य को कार्यकाल में ही उत्पन्न कर सकता है, तब अभेद को असत् क्यों माना जाय? जिस तरह चित्रज्ञान अपने आकारों में, गुणी गुणों में तथा अवयवी अपने अवयवों में व्याप्त रहता है उसी तरह द्रव्य अपनी क्रमिक पर्यायों को भी व्याप्त कर सकता है। द्रव्यदृष्टि से पर्यायों में कोई भेद नहीं है। इसी तरह सन्मात्र की दृष्टि से समस्त पदार्थ अभिन्न हैं। इस तरह अभेददृष्टि से पदार्थों

प्रथम भंग में खद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तु का अस्तित्व विवक्षित होता है। द्वितीय भंग में परद्रव्य क्षेत्र काल भाव से नास्तित्व की विवक्षा होती है। यदि वस्तु में खद्रव्यादि की अपेक्षा से अस्तित्व न माना जाय तो वस्तु निःस्वरूप हो जायगी। और यदि पर का नास्तित्व न माना जाय तो वस्तु सांकर्य हो जायगा; क्योंकि घट में पटका नास्तित्व न रहने के कारण घट और पट एक हो जाना अनिवार्य ही है। यद्यपि आपाततः यह मालूम होता है कि स्वसत्त्व ही परासत्त्व है; पर विचार करने से मालूम हो जाता है कि ये दोनों एक दूसरे से फलित न होकर स्वतन्त्र धर्म हैं; क्योंकि इनकी प्रवृत्ति की अपेक्षाएँ भिन्न भिन्न हैं तथा कार्य भी भिन्न हैं।

जब हम युगपद् अनन्तधर्मवाली वस्तु को कहना चाहते हैं तो ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता जो ऐसी वस्तु के सभी धर्मों का या विवक्षित दो धर्मों का युगपत् प्रधान भाव से कथन कर सके। अतः कहने की शक्ति होने के कारण वस्तु अवक्तव्य है। वस्तुतः पदार्थ स्वरूप से ही अनिवर्चनीय है और पदार्थ की उसी स्वरूपनिष्ठ अनिवार्यता का द्योतन यह अवक्तव्य नाम का तीसरा भंग करता है। सकेत के बल पर ऐसे किसी शब्द की कल्पना तो की ही जा सकती है जो दो धर्मों का भी एकरससे कथन कर सकता हो। अतः यह भङ्ग वस्तु के मौलिक वचनानीत पूर्णरूप का द्योतन करता है।

चौथा अस्ति-नास्ति भग-दोनों धर्मों की क्रम से विवक्षा होने पर बनता है। क्रम से यहाँ कालिकक्रम ही समझना चाहिये। अर्थात् प्रथम समय में अस्ति की विवक्षा तथा दूसरे समय में नास्ति की विवक्षा हो और दोनों समयों की विवक्षा को मोटी दृष्टि से देखने पर इस तृतीय भंग का उदय होता है। और यह क्रम से अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों का प्रधानरूप से कथन करता है।

पँचवें अस्ति-अवक्तव्य भग-अस्तित्व और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा में, अर्थात् प्रथम समय में अस्तित्व की विवक्षा तथा दूसरे समय में अवक्तव्य की विवक्षा होने पर तथा दोनों समय की विवक्षाओं पर स्थूल दृष्टि से विचार करने पर अस्ति-अवक्तव्य भग माना जाता है। यह क्रम से अस्तित्व और अवक्तव्यत्व का प्रधानभाव से कथन करता है।

छठवें नास्ति-अवक्तव्य भग-नास्तित्व और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा में। अर्थात् प्रथम समय में नास्तित्व की विवक्षा तथा दूसरे समय में अवक्तव्य की विवक्षा होने पर तथा दोनों समयों की विवक्षाओं पर व्यापकदृष्टि रखने पर नास्ति-अवक्तव्य भग की प्रवृत्ति होती है। यह क्रम से नास्तित्व और अवक्तव्यत्व का प्रधानभाव से कथन करता है।

सातवें अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यभग-अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा में, अर्थात् प्रथम समय में अस्तित्व की विवक्षा, दूसरे समय में नास्तित्व की विवक्षा से अस्तिनास्ति भंग बना, इसीके अनन्तर तृतीय समय में अवक्तव्य की विवक्षा होने पर तथा तीनों समयों की विवक्षाओं पर स्थूल दृष्टि से विचार करने पर अस्ति नास्ति-

शब्द—काल, कारक, लिंग तथा सख्या के भेद से शब्दभेद द्वारा भिन्न अर्थों को ग्रहण करनेवाला शब्दनय है। शब्दनय के अभिप्राय से अतीत अनागत एवं वर्तमान-कालीन क्रियाओं के साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि कर्तृ-कर्मसाधन में प्रयुक्त भी देवदत्त भिन्न भिन्न है। 'देवदत्त देवदत्ता' आदि लिंगभेद से प्रयोग में आनेवाला देवदत्त भी एक नहीं है। एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में प्रयुक्त देवदत्त भी पृथक् पृथक् है। इसकी दृष्टि से भिन्नकालीन, भिन्न-कारकनिष्पन्न, भिन्नलिङ्गक एवं भिन्नसंख्याक शब्द एक अर्थ के वाचक नहीं हो सकते। शब्दभेद से अर्थभेद होना ही चाहिए। वर्तना-परिणामन करनेवाला तथा स्वतः परिणामनशील द्रव्यों के परिणामन में सहायक होनेवाला काल द्रव्य है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान, ये तीन भेद हैं। केवल द्रव्य, केवल शक्ति, तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्ति को कारक नहीं कहते, किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्य को कारक कहते हैं। लिंग चिह्न को कहते हैं। जो गर्भ धारण कर सके वह स्त्री, जो पुत्रादि की उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष, तथा जिसमें ये दोनों सामर्थ्य न हो वह नपुंसक कहा जाता है। कालादि के ये लक्षण अनेकान्तात्मक अर्थ में ही बन सकते हैं। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्री के मिलने पर षट्कारकरूप से परिणामन कर सकती है। कालादिभेद से एक द्रव्य की नाना पर्याये हो सकती है। एकरूप—सर्वथा नित्य या अनित्य वस्तु में ऐसा परिणामन नहीं हो सकता; क्योंकि—सर्वथा नित्य में उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिक में स्थाय्य नहीं है। इस तरह कारकव्यवस्था न होने से विभिन्न कारकों में निष्पन्न स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग आदि की व्यवस्था भी एकान्त पक्ष में नहीं हो सकती। इस तरह कालादि के भेद से अर्थभेद मानकर शब्द नय उनमें विभिन्न शब्दों का प्रयोग मानता है। कालादि भेद से शब्दभेद होने पर भी अर्थभेद नहीं मानना शब्दनयामास है।

समभिरूढ—एक कालवाचक, एक लिङ्गक तथा एक संख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढ नय उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दों के द्वारा अर्थ में भेद मनता है। इस नय के अभिप्राय से एक लिंगवाले इन्द्र, शक्र तथा पुरन्दर इन तीन शब्दों में प्रवृत्ति-निमित्त की विभिन्नता होने से विभिन्नार्थवाचकता है। शक्रशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त शासन-क्रिया, इन्द्रशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त इन्दनक्रिया तथा पुरन्दरशब्द को प्रवृत्तिनिमित्त पुरदारख-क्रिया है। अतः तीनों शब्द विभिन्न अवस्थाओं के वाचक हैं। शब्दनय में एकलिंगवाले पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद नहीं था, पर समभिरूढ नय में विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्त होने से एकलिङ्गक पर्यायवाची शब्दों में भी अर्थभेद होना अनिवार्य है। पर्यायवाची शब्दों की दृष्टि से अर्थ में भेद नहीं मानना समभिरूढामास है।

एवम्भूतनय—क्रिया के भेद से भी अर्थभेद माननेवाला एवम्भूतनय है। यह नय क्रियाकाल में ही तत्क्रियानिमित्तक शब्द के प्रयोग को साधु मानता है। जब इन्द्र इन्दन-

विकलादेश—नय एक धर्म का मुख्यतया कथन करता है। जैसे 'शो जीवः' कहने से जीव के ज्ञानगुण का मुख्यतया बोध होगा तथा शेषधर्म गौणरूप से उसीके गर्भ में प्रतिभासित होंगे। एक धर्म का मुख्यतया बोध कराने के कारण ही यह वाक्य विकलादेश या नय कहा जाता जाता है। नय में भी स्यात् पद का प्रयोग किया जाता है और वह इसलिए कि—शेषधर्मों की गौणता उसमें सूचित होती रहे, उनका निराकरण न हो जाय। इसीलिए स्यात्पदलाञ्छित नय सम्यक् नय कहलाता है। 'स्याज्जीव एव' यह वाक्य अनन्तधर्मात्मक जीव का अखण्डभाव से बोध कराता है, अतः यह सकलादेशवाक्य है। 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्य में जीव के अस्तित्व धर्म का मुख्यतया कथन होता है अतः यह विकलादेशात्मक नयवाक्य है। तात्पर्य यह कि सकलादेश में धर्मवाचक शब्द के साथ एवकार का प्रयोग होता है और विकलादेश में धर्मवाचक शब्द के साथ।

अकलङ्कदेव ने राजवार्तिक में दोनों वाक्यों का 'स्यादस्त्येव जीवः' यही उदाहरण दिया है और उनकी सकल-विकलादेशता समझाते हुए लिखा है कि—जहाँ अस्ति शब्द के द्वारा सारी वस्तु समग्रभाव से पकड़ ली जाय वहाँ सकलादेश, तथा जहाँ अस्ति के द्वारा अस्तित्वधर्ममुख्यक एव शेषानन्तधर्मगौणक वस्तु कही जाय वह विकलादेश समझना चाहिए। इस तरह दोनों वाक्यों में यद्यपि समग्र वस्तु गृहीत हुई पर सकलादेश में सभी धर्म मुख्यरूप से गृहीत हुए हैं जब कि विकलादेश में एक ही धर्म मुख्यरूप से गृहीत हुआ है। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि—'जब सकलादेश का प्रत्येक भग समग्र वस्तु का ग्रहण करता है तब सकलादेश के सातों भगों में परस्पर भेद क्या हुआ?' इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि सभी धर्मों में पूरी वस्तु गृहीत होती है सही, पर स्यादस्ति भग में अस्तित्व धर्म के द्वारा तथा स्यानास्ति भग में नास्तित्व धर्म के द्वारा। उनमें मुख्य-गौणभाव भी इतना ही है कि—जहाँ अस्ति शब्द का प्रयोग है वहाँ मात्र 'अस्ति' इस शाब्दिक प्रयोग ही की मुख्यता है धर्म की नहीं। शेषधर्मों की गौणता का तात्पर्य है उनका शाब्दिक अप्रयोग।

इस तरह अकलङ्कदेव ने सातों ही भगों को सकलादेश तथा विकलादेश कहा है। सिद्धसेनगणि आदि अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य इन तीन भगों को एकधर्मवाली वस्तु को ग्रहण करने के कारण विकलादेश तथा शेष भगों को अनेकधर्मवाली वस्तु ग्रहण करने के कारण सकलादेश कहते हैं।

मलयगिरि आचार्य की दृष्टि से सब ही नय मिथ्यारूप है। इनका कहना है कि—यदि नयवाक्य में स्यात् शब्द का प्रयोग किया जायगा तो वे स्याच्छब्द के द्वारा सूचित अनन्तधर्मों के ग्राहक हो जाने के कारण प्रमाणरूप ही हो जायेंगे। अतः प्रमाणवाक्य में ही स्याच्छब्द का प्रयोग उनके मत से ठीक है नय वाक्य में नहीं। इसी आशय से उन्होंने अकलङ्क के मत की समालोचना की है। उपा० यशोविजयजी ने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि—मात्र स्यात् पद के प्रयोग से ही नयवाक्य में प्रमाणाता नहीं

अप्रस्तुत अर्थका निराकरण, प्रस्तुत अर्थ का प्ररूपण एवं संशयविनाशन के लिए निक्षेप की सार्थकता है। अभ्युत्पन्न श्रोता की अपेक्षा अप्रस्तुत का निराकरण करने के लिए, व्युत्पन्न की अपेक्षा यदि वह संशयित है तो संशयविनाश के लिए और यदि विपर्यस्त है तो प्रस्तुत अर्थ के प्ररूपण के लिए निक्षेप की सार्थकता है।

§ ५. सप्तमङ्गीनिरूपण—

सप्तमङ्गी—अश्व के अनुसार वस्तु में प्रमाणाविरोधी विधि-प्रतिषेध की कल्पना को सप्तमङ्गी कहते हैं। विचार करके देखा जाय तो सप्तमङ्गी में मूल भग तो तीन ही है, बाकी भग संयोगज है। आगम ग्रन्थों में 'सिय अत्वि, सिय गत्वि, सिय अवत्तव्वा' रूप से तीन ही भगो का निर्देश है। सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में हमें सात भगो के दर्शन होते हैं। अनेकान्तदृष्टि का उद्देश परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय करना है। वस्तुतः विरोध तो दो में ही होता है जैसे निस्वत्व का अनिस्वत्व से, भेद का अभेद से इत्यादि। अतः पहिले तो परस्पर विरोधी दो धर्मों के समन्वय करने की ही बात उठती है। ऐसे अनेक विरोधी युगल वस्तु में रह सकते हैं अतः वस्तु अनेकान्तात्मक एवं अनन्तधर्मा कही जाती है। अवक्तव्य धर्म तो वस्तु की वास्तविक स्थिति बतानेवाला है कि वस्तु का अखण्ड-आत्मरूप शब्दों का विषय नहीं हो सकता। कोई ज्ञानी अनिर्वचनीय, अखण्ड वस्तु को कहना चाहता है, वह पहिले उसका अस्तिरूपसे वर्णन करता है पर वस्तु के पूर्ण वर्णन करने में असमर्थ होने पर नास्तिरूपसे वर्णन करता है। पर इससमय भी वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता की सीमा तक नहीं पहुँच पाता। लिहाजा कोशिश करने पर भी अन्त में उसे अवक्तव्य कहता है। शब्द में वस्तुतः इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह समग्रवस्तु का पूर्णरूपसे प्रतिपादन करे। इसी अनिर्वचनीय तत्त्व का उपनिषदों में 'अस्ति अस्ति' रूपसे तथा 'नेति नेति' रूपसे भी वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। पर वर्णन करने वाला अपनी तथा शब्द की असामर्थ्य पर खीब उठता है और अन्त में वरवस कह उठता है कि—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—जिसके वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति वचन तथा मन भी नहीं कर सकते अतः वे भी उससे निवृत्त हो जाते हैं, ऐसा है वह वचन तथा मनका अगोचर अखण्ड, अनिर्वचनीय, अनन्तधर्मा वस्तुतत्त्व। इसी स्थिति के अनुसार अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य ये तीन ही मूल भग हो सकते हैं। आगे के भग तो वस्तुतः कोई स्वतन्त्र भग नहीं है। कार्मिक भगजाल की तरह द्विसंयोगीरूप से तृतीय, पञ्चम तथा षष्ठ भग का आविर्भाव हुआ तथा सप्तमभग का त्रिसंयोगीरूप से तीन मूल भगो के अपुनरुक्त भग सात ही हो सकते हैं। कहीं कहीं अवक्तव्य भग का नवर तीसरा है और कहीं उभय भग का। वस्तुतः अवक्तव्य मूल भग है। अतः उसीका नवर तीसरा होना चाहिये।

खडन करते हुए 'तदाह' करके समन्तभद्र की 'घटमौलिसुवर्णार्थी, पयोत्रतो न दध्यत्ति, न सामान्यात्मनोदेति' इन तीन कारिकाओं के बीच में कुमारिल की "न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् । स्थित्वा विना न माध्यस्थ्य तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ॥" यह कारिका भी उद्धृत की है । इससे मालूम होता है कि बौद्ध ग्रन्थकारों का प्रहार भेदाभेदात्मक अंश में साध्य के साथ ही साथ जैन और जैमिनि पर समानरूप से होता था । उनका जैन के नाम से कुमारिल की कारिका को उद्धृत करना तथा समन्तभद्र की कारिका के ऊपर जैन के साथ जैमिनि का भी प्रयोग करना इस बात को स्पष्ट बतलाता है कि उनकी दृष्टि में जैन और जैमिनि में भेदाभेदात्मक माननेवालों के रूप से भेद नहीं था । तत्त्व-संग्रहकार ने तो 'विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः' लिखकर इस बात को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है ।

संशयादि आठ दूषण अभी तक किसी ग्रन्थ में एक साथ नहीं देखे गए हैं । शाकरभाष्य में विरोध और संशय इन दो दूषणों का स्पष्ट उल्लेख है, तत्त्वसंग्रह में साकर्ष्य दूषण भी दिया गया है । बाकी प्रमाणवार्तिक आदि में मुख्यरूप से विरोध दूषण ही दिया गया है । वस्तुतः समस्त दूषणों का मूल आधार तो विरोध ही है । हाँ, स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ७३८) में नैयायिक की एक कारिका 'तदुक्तम्' करके उद्धृत की है—

“संशयविरोधवैयधिकरण्यसकरमथोभयं दोषः । अनवस्था व्यतिकरमपि जैनमते सप्त दोषाः स्युः ॥”

इस कारिका में एक साथ सात दूषण गिनाए गए हैं । आठ दूषणों का परिहार भी सर्वप्रथम अकलङ्क ने ही किया है । उन्होंने लिखा है कि—जैसे मेचकरत्न एक होकर भी अनेक विरोधी रंगों को युगपत् वारण करता है, उसी तरह प्रत्येक वस्तु विरोधी अनेक धर्मों को धारण कर सकती है । इसी मेचकरत्न के दृष्टान्त से संशयादि दोषों का परिहार भी किया है । सामान्य-विशेष का दृष्टान्त भी इसी प्रसंग में दिया है—जैसे पृथिवीत्व जाति पृथिवीव्यक्तियों में अनुगत होने से सामान्यरूप होकर भी जलादि से व्यावर्तक होने के कारण विशेषात्मक है और इस तरह परस्पर विरोधी सामान्य-विशेष उभय रूपों को वारण करती है, उसी तरह समस्त पदार्थ एक होकर भी अनेकात्मक हो सकते हैं । प्रमाणसिद्ध वस्तु में विरोधादि दोषों को कोई स्थान ही नहीं है । जिस प्रकार एक वृक्ष अवयवविशेष में चलात्मक तथा अवयवविशेष की दृष्टि से अचलात्मक होता है, एक ही घड़ा एकदेशेन लालरंग का तथा दूसरे देश में अन्य रंग का, एकदेशेन ठँका हुआ तथा अन्यदेश से अनादृत, एकदेशेन नष्ट तथा दूसरे देश से अनष्ट रह सकता है, उसी तरह एक वस्तु भी अनेकधर्मवाली हो सकती है । इति ।

स्याद्वाद महाविद्यालय काशी
द्वि० भाषण शुक्ल ५, नागपंचमी
वोरनि० सं० २४६५.

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार शास्त्री.

अवक्तव्य मंग की सृष्टि होती है। यह क्रम से अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्यत्व धर्मों का प्रधानरूप से कथन करता है।

यहाँ यह बात खास ध्यान देने योग्य है कि—प्रत्येक मंग में अपने धर्म की मुख्यता रहती है तथा शेष धर्मों की गौणता। इसी मुख्य-गौणभाव के सूचनार्थ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' का अर्थ है कथञ्चित्, अर्थात् अमुक अपेक्षा से वस्तु इस रूप है। इससे दूसरे धर्मों का निषेध नहीं किया जाता। प्रत्येक मंग की स्थिति सापेक्ष है और इसी सापेक्षता का सूचक 'स्यात्' शब्द होता है। सापेक्षता के इस सिद्धान्त को नहीं समझने वाले के लिए प्रत्येक मंग के साथ स्यात् शब्द के प्रयोग का नियम है; क्योंकि स्यात् शब्द के प्रयोग किए बिना उन्हें सन्देह हो सकता है। पर यदि वक्ता या श्रोता कुशल है तब इसके प्रयोग का नियम नहीं है; क्योंकि बिना प्रयोग के ही वे स्याच्छब्द के सापेक्षत्व अर्थ को बुद्धिगत कर सकते हैं। अथवा स्पष्टता के लिए इसका प्रयोग होना ही चाहिए। जैसे 'अहम् अस्मि' इन दो पदों में से किसी एक का प्रयोग करने से दूसरे का मतलब निकल आता है, पर स्पष्टता के लिए दोनों का प्रयोग किया जाता है। संसार में समझदारों की अपेक्षा कमसमझ या नासमझों की संख्या औसत दर्जे अधिक रहती आई है। अतः सर्वत्र स्यात् शब्द का प्रयोग करना ही राजमार्ग है।

स्यादस्ति-अवक्तव्य आदि तीन मंग परमत की अपेक्षा भी इस तरह लगाये जाते हैं कि—अद्वैतवादियों का सम्मान तत्त्व अस्ति होकर भी अवक्तव्य है, क्योंकि केवल सामान्य में वचन की प्रवृत्ति नहीं होती। बौद्धों का अन्यापोह नास्तिरूप होकर भी अवक्तव्य है; क्योंकि शब्द के द्वारा मात्र अन्य का अपोह करने से किसी विधिरूप वस्तु का बोध नहीं हो सकेगा। वैशेषिक के स्वतन्त्र सामान्य और विशेष अस्ति-नास्ति रूप—सामान्य-विशेष रूप होकर भी अवक्तव्य-शब्द के वाच्य नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों को स्वतन्त्र मानने से उनमें सामान्य-विशेषभाव नहीं हो सकेगा। सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती और न वैसी हालत में कोई अर्थक्रिया ही हो सकती है।

सकलादेश-विकलादेश—इन मंगों का प्रयोग दो दृष्टियों से होता है—१ सकलादेशदृष्टि, जिसे स्याद्वादशब्द से भी व्यवहृत किया गया है और यही प्रमाणरूप होती है। २ विकलादेशदृष्टि, इसे नय शब्द से कहते हैं। एक धर्म के द्वारा समस्त वस्तु को अखण्डरूप से ग्रहण करनेवाला सकलादेश है तथा उसी धर्म को प्रधान तथा शेष धर्मों को गौण करनेवाला विकलादेश है। स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थ को ग्रहण करता है, जैसे 'जीवः' कहने से ज्ञानदर्शनादि असाधारण गुणवाले, सत्त्व-प्रमेयत्वादि साधारण स्वभाववाले तथा अमूर्तत्व-असंख्यातप्रदेशित आदि साधारणासाधारण-वर्मशाली जीव का समग्र भाव से ग्रहण हो जाता है। इसमें सभी वर्म एकरूप से गृहीत होते हैं अतः यहाँ गौण-मुख्यविषया अन्तर्लीन हो जाती है।

विज्ञान-गुण-अवयवविद्वत्तानेन ब्रह्मस्य	
क्रमाकमवतिपर्यायव्यापकत्वसाधनम्	१२ २९.
सग्रह-सन्मात्र-विपयीकरोति	१३ ४.
ब्रह्मवाद-सग्रहाभास	१३ ५
नैगमस्य लक्षणम्	१३ १०
नैगमाभासस्य लक्षणम्	१३ ११
गुणगुण्यादीना न भेदैकान्त-	१३ १४
सत्तातद्वता भेदैकान्तनिरास	१३ १९.
भिन्नसत्तासमवायात् न सदसतो	
सद्व्यवहार	१३ २१
प्रामाण्य व्यवहारात्	१४. १.
शुद्धमण्डं ब्रह्म पर्याय वा व्यवस्थानयता	
प्रमाण भूयम्	१४ २
सात्त्व्याभिमततत्त्वस्वरूपस्य नैगमाभासता	१४ ७
गुणानां परम रूपमित्यादिकारिकाया	
क्षयनम्	१४ ९
स्वयमज्ञस्य न-ज्ञानसमवायात् अत्वम्	१४ १२
व्यवहारनयस्य स्वरूपम्	१४ १७.
व्यवहाराभासस्य स्वरूपम्	१४ १८.
व्यवहार अर्थभिधानप्रत्ययात्मक	१४ १९
अविसर्वादस्य लक्षणम्	१४ २१
ऋजुसूत्रनयस्य स्वरूपम्	१४ २८.
सापेक्षस्य नयत्वम् निरपेक्षस्य दुर्नयत्वम्	१५. ३
शब्दनयस्य लक्षणम्	१५. ७.
अभिरूढनयस्य स्वरूपम्	१५ ८
इत्यम्भूतनयस्य लक्षणम्	१५ ८.
कालकारकलिगमेदादर्थभेद	१५ १०
एवम्भूतस्य लक्षणम्	१५ ११
कुर्वत एव कारकत्वम्	१५ ११
विज्ञानस्य धनागतविषयत्वम्	१५ १४
स्मृते प्रामाण्यप्रवर्गनम्	१५ १८
प्रतिभासयेंदेशि एकार्थविषयत्वमविरुद्धम्	१५ २५
अक्षज्ञानवत् शब्दार्थज्ञानमपि अविसर्वादि	१६ ३
अस्पष्टमपि शब्दज्ञानानुमानवत् प्रमाणम्	१६ ४
एकान्ते कालस्य वर्तनालक्षणत्वासाधन	१६ १५
एकान्ते पटकारक्यसाधन	१६ १७
स्त्रीपुनपुसकशब्दानां व्युत्पत्ति	१६ १८
इन्द्रशक्रपुनरशब्दानां व्युत्पत्ति	१६. २०
एकस्यापि अनेकसामग्रीसन्निपातात्	
षट्कारकीकल्पना	१६ २६.
नयदुर्नययोर्लक्षणम्	१७. २.
प्रमाणस्य लक्षणम्	१७ ३.
सर्कस्य प्रामाण्यप्रदर्शनम्	१७ ७
स्मरणप्रत्यभिज्ञानुमानादीनां प्रामाण्य-	
प्रदर्शनम्	१७. ९
अन्तिममगलम्	१७. १२

इति प्रमाणनयप्रवेशः ।

मगलाचरणम्, प्रमाणनयनिकोपनित-	
पणप्रतिज्ञा च	१८
प्रमाणस्य स्वरूपम्	१८
न्यासस्य स्वरूपम्	१८.
नयस्य स्वरूपम्	१८
अचनेनस्य न प्रामाण्यम्	१८
ज्ञानस्य नार्थजन्यता अपि तु	
इन्द्रियानिन्द्रियजन्यम्	१८ १
ज्ञान स्वस्य अर्थकार्यता न वेति	१८ १
अन्वयव्यतिरेकाश्रयात् नय कारणम्	१८ १
अर्थस्य कारणत्वे सहायाद्यनुत्पत्तिप्रमग	१८ २
अन इन्द्रियमनमी कारणम् अर्थो विषय	१९
तन्निकर्षोऽपि न प्रमाणम्	१९
आलोकस्य न कारणता परिच्छेद्यत्वात्	१९ १
आलोकानावेऽपि समोज्ञान भवति	१९ १
नावरण तिमिरादि परिच्छेद्यत्वात्	१९ १
अयोपशमतारसन्धेन ज्ञानस्य अभिव्यक्ति	१९ १
'नाकारण विषय' इत्यस्य निरास	१९ १
नार्थादिव कारण विज्ञानस्य	२०
तज्जन्म-तादृश्य-तद्व्यवसितीना न	
प्रामाण्यहेतुता	२०
नार्थजन्य ज्ञानम्	२०
नार्थसात्त्व्यमूज्जानम्	२०.
ज्ञान स्वहेतुत्वमेव परिच्छेदात्मकम्	२० १
व्यवसायात्मक ज्ञानमेव आत्मार्य-	
शास्त्रत्वात् प्रमाणम्	२० १
निर्विकल्पस्य न प्रामाण्य नापि	
विकल्पजनकता	२० १
प्रत्यक्षपरोक्षतया द्विधा प्रमाणम्	२१
प्रादेशिकप्रत्यक्षस्य स्वरूपम्	२१
अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य स्वरूपम्	२१.
अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य स्वरूपम्	२१.
सुनिश्चितासम्बद्धाद्यक्रमणत्वात्	
अतीन्द्रियप्रत्यक्षसिद्धि	२१
श्रुत परोक्ष प्रमाणम्	२१
अर्थापत्त्यादीनां परोक्षेऽन्तर्भाव	२१ १
श्रुतस्य स्याद्वाद-नयसंज्ञितौ द्वौ उपयोगौ	२१
सकलादेश स्याद्वाद	२१
विकलादेशो नय	२१
स्याद्वादस्य निरूपणम्	२१
स्याद्वादस्य प्रमाणत्वम्	२१.
साकल्यमनन्तधर्मात्मकता	२१
वैकल्यमेकान्त	२१. १
नय सम्यगेकान्तरूप	२१. १
'स्याच्चीव एव' इत्यत्र अनेकान्तविषय	
स्याच्छब्द	२१.
'स्यादस्त्यैव जीव' इत्यत्र एकान्त-	
विषय स्याच्छब्द	२१. १
अप्रयुक्तोऽपि स्यात्कारः अर्थादेव प्रतीयते	२२.

आ सकती, क्योंकि प्रमाण में तो अनन्तधर्मों का मुख्यतया ग्रहण होता है जब कि सुनय में स्याच्छब्द-सूचित बाकी धर्म गौण रहते हैं आदि। अतः समन्तमद्र सिद्धसेन आदि द्वारा उपज्ञात यही व्यवस्था ठीक है कि—सापेक्ष नय सम्यक्, तथा निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं।

संज्ञायादि दूषण—अनेकाल्पक वस्तु में संज्ञायादि दूषणों के शिकार जैन ही नहीं बने किन्तु इतर लोग भी हुए हैं। जैन की तरह पातञ्जलमहामाध्य में वस्तु को उत्पादादिधर्मशाली कहा है। व्यासभाष्य में परिणाम का लक्षण करते हुए स्पष्ट लिखा है कि—‘अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः’ अर्थात् स्थिर द्रव्य की एक अवस्था का नाश होना तथा दूसरी का उत्पन्न होना ही परिणाम है। इसी भाष्य में ‘सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य’ प्रयोग करके अर्थ की सामान्यविशेषात्मकता भी शोधित की है। मद्रकुमारिल ने मीमांसारलोकवार्तिक में अर्थ की सामान्यविशेषात्मकता तथा भेदाभेदात्मकता का इतर-दूषणों का परिहार करके प्रबल समर्थन किया है। उन्होने समन्तमद्र की “घटमौलिसुवर्णाणी नाशोत्पादस्यतिष्वयम्” (आसमी० का० ५६) जैसी—

“वर्धमानकमगेन रुचकः कियते यदा । तदा पूर्वार्थिन शोकः प्रीतिरचाप्युत्तरार्थिनः ॥ हेनार्थिनस्तु माध्यस्थ्य तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।” इत्यादि कारिकाएँ लिखकर बहुत स्पष्ट-रूप से वस्तु के त्रयात्मकत्व का समर्थन किया है। भास्कराचार्य ने भास्करभाष्य में ब्रह्म से अवस्थाओं का भेदाभेद समर्थन बहुत विस्तार से किया है। कुमारिलानुयायी पार्थसारथिमिश्र भी अवयव-अवयवी, वर्मवर्मि आदि में कथञ्चित् भेदाभेद का समर्थन करते हैं। सांख्य के मत से प्रधान एक होते हुए भी त्रिगुणात्मक, नित्य होकर भी अनित्य, अव्यक्त होकर भी व्यक्त आदि रूप से परिणामी नित्य माना गया है। व्यासभाष्य में ‘त्रैलोक्य व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतप्रत्यक्षि बिनाशप्रतिषेधात्’ लिखकर वस्तु की नित्या-नित्यात्मकता शोधित की है। इस सखित यादी से इतना ध्यान में आजाता है कि जैन की तरह कुमारिलादि मीमांसक तथा सांख्य भेदाभेदवादी एवं नित्यानित्यवादी थे।

दूषण उद्भावित करनेवालों में हम सबसे प्राचीन बादरायण आचार्य को कह सकते हैं। उन्होने ब्रह्मसूत्र में ‘नैकस्मिन्नसमवात्’—एक में अनेकता असम्भव है—लिखकर सामान्यरूप से एकानेकवादियों का खंडन किया है। उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थों में धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक में सांख्य के भेदाभेद में विरोध उद्भावित करके ‘एतेनैव यद्वहीकाः’ आदि लिखते हैं। तात्पर्य यह कि धर्मकीर्ति का मुख्य आक्षेप सांख्य के ऊपर है तथा उन्हीं दोनों का उपसंहार जैनका खंडन करते हुए किया गया है। धर्मकीर्ति के टीकाकार कर्णकगोमि जहाँ भी भेदाभेदात्मकता का खंडन करते हैं वहाँ ‘एतेन जैनजैमिनीयैः यदुक्तम्’ आदि शब्द लिखकर जैन और जैमिनि के ऊपर एक ही साथ प्रहार करते हैं। एक स्थान पर तो ‘तदुक्त जैनजैमिनीयैः’ लिखकर समन्तमद्र की आसमीभासा का ‘सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे’ यह कारिकाश उद्धृत किया है। एक जगह दिगम्बर का

आत्मा तत्कालेऽविद्यमानोऽपि	
तद्वस्तु प्रत्येतुल्यम्	४५. ४१
प्रत्यभिज्ञानाद्यतीतानुमितिदर्शनादपि	
असदर्थज्ञानसम्भव	४५. ४४
आन्तो स्वप्ने वा सत एव केष-कामिन्यादे	
प्रतिभास इति शकाया निरास	४६. ४६
स्वप्ने भन्त शरीरवर्तितया कामिन्यादे सत्त्व	
न बहिरवस्थिततया इति प्रज्ञाकरा-	
शकाया निरास	४६. ४७.
अद्वयवादनिरास	४६. ५०.
विभ्रमवादनिरास	४६. ५१.
संविद्वैतवादनिरास	४७. ५६
असदर्थविषयत्वेऽपि सर्वज्ञानाना यन्मार्गक्रिया-	
प्राप्त्या परितोष तदेव तत्त्वसिद्धिमिबन्धन	
यथा गणिप्रभायाम गणिज्ञानम्	
इत्याशकानिरास	४८. ६१
स्थापनाभाबलम्बित्वे विकल्पाना न ततो	
व्यवहारसिद्धि	४८. ६४.
विचारसाफल्यमिच्छद्भि- विकल्प अर्थ-	
क्रियाकारिबहिरर्थविषयकोऽभ्युपगन्तव्यः	४८. ६५.
सन्तानान्तरविकल्पस्य बहिरर्थविषयत्वमन्त-	
रेण न तत्सिद्धि	४८. ६५.
बहि- सवेव विषय मरणप्रयोजक न तु	
विषयज्ञानम्	४९. ६९
वित्तयाकारविज्ञानमात्रवादनिरास.	४०. ७५
संवेदनाद्वैतप्रक्रियया प्रत्याद्वैतसिद्धि-	
प्रसञ्जनम्	४०. ७६.
विज्ञानवादनिरासः	४०. ७८.
सन्तानान्तरविकल्पस्य बहिरर्थविषयत्व-	
प्रसाधनम्	४१. ८२
सहोपलम्भनियमावर्धज्ञानयोरभेदस्य	
निराकरणम्	४१. ८३
कल्पिताद्वैतोर्न साम्यसिद्धि अतो हेतु	
बहिर्विषयकोऽभ्युपेय	४१. ८४.
रक्तारक्तादिविषयधर्मप्रसञ्जनेन बीदस्य	
अवयविनिरासाशका	४१. ८७
तदाशकापरिहारपुरस्सर बहिरर्थसिद्धि	४२. ८८
विज्ञानानुपपत्त्यने अनेकान्तसिद्धिमुपहृततो	
बीदस्य परिहार.	४२. ९०.
विभ्रमादिवाचपरिहार-अनेकात्मकार्य-	
मिद्धद्योस्मसहार	४२. ९१.
विज्ञानानुवादनिरासः	४२. ९२.
वासनाभेदात् बहिरर्थविषयत्वमनानिरास	४२. ९६.
सन्निवेशादिभिर्बुद्धिमत्पूर्वकस्य साधनन्त	
नैयामिक प्रतिक्षिपता बोद्धाना तदुपपत्ता-	
न्तेनैव बाह्यार्थसिद्धिप्रदर्शनम्	४३. ९८
परमाण्वर्णं बहिरर्थं भग्नमानाना सोभा-	
न्तिकाना प्रतिक्षेप.	४३. १०२.
अवयवव्यतिरिक्तानुवयविवादिना	
योगाना प्रतिक्षेप.	४३. १०२.

अवयवावयवविनो- समवायवृत्तेः संडनम्	४३. १०३.
'बुद्धे शास्त्रा' इति प्रतीतिवलात् तयोस्ता-	
दात्म्यमेव न समवाय.	४४. १०४.
परमाण्वतिरिक्त-अवयवविस्वीकारे गौरवा-	
विकल्पादयोऽनेके दोषा	४४. १०५
केवलम् भेदकल्पनयैव अवयव-अवयवि-	
इत्यादिभेदव्यवहारो न तु वस्तुत	४४. ११०.
द्रव्यस्य लक्षणम्	४४. १११
गुणपर्याययोर्लक्षणम्	४४. १११.
गुणपर्याययो भेददर्शनम्	४५. ११२.
द्रव्यस्य लक्षण व्युत्पत्तिश्च	४५. ११३.
भेदज्ञानात् प्रादुर्भावात्ययो. अभेद-	
ज्ञानाच्च स्थिते. सिद्धि	४५. ११४
सतो लक्षणम्	४५. ११५
पूर्वाक्षरपर्याययो तादात्म्यम्	४५. ११६.
सकल वस्तु प्रत्यक्षत एव उत्पादादित्र-	
यात्मकप्रतीयते	४५. ११६
सर्पदृष्टान्तेनापि त्रयात्मकत्वम्	४५. ११७
सामान्यविशेषयो. स्वल्पम्	४५. ११८.
सहकर्मविधित्त्वेनैव एक स्वलक्षणम्	४५. ११८
परिणामस्य लक्षणम्	४६. १२१.
वस्तुन परिणामलक्षणत्वं एकानेका-	
त्मकत्वञ्च	४६. १२१.
एकन अनेकधर्मसद्भावे न कोपि	
विरोध-	४६. १२२.
अन्वयव्यतिरेकयोर्लक्षणम्	
प्रत्यक्षेतराभ्यामेव भेदाभेदप्रकल्पनम्	४६. १२४.
उत्पादादित्रयात्मकत्वसमर्थनम्	४६. १२४
भिन्नाभिभात्यक्तत्वसमर्थनम्	४६. १२६
प्रत्यक्षपरोक्षात्मकत्वसमर्थनम्	४७. १२८.
सन्तानसमुदायद्वयोऽपि क्रमाक्रमानेका-	
न्त एव सुषटा	४७. १२९
प्रत्यभिज्ञानस्य स्मरणप्रत्यक्षाभ्यामिति-	
रिक्तत्वप्रदर्शनम्	४७. १३१.
शब्दादावपि प्रत्यभिज्ञान सुषट्म्	४७. १३२.
शब्दादावदृष्टमपि उपादान सिद्धयति	४७. १३३.
व्यावृत्तिभेदात् भेदकल्पनाया निरास.	४८. १३५
बोद्धाना विपरीतकल्पनाया निदर्शनम्	४८. १३६.
न प्रत्यक्षत अत्यासन्नासुषट्परमाणूना	
प्रतिभास.	४८. १४०
अत द्रव्यपर्याययोर्ल अत्यन्ताभेदभेदी	४८. १४१
न निरुद्धसामान्यस्य अनेकन समवाया-	
विसम्बन्धात् वृत्ति	४८. १४३.
विजातीयव्यावृत्त्यात्मकसामान्यस्य	
निरास.	४९. १४४.
विभिन्ना सामान्यविशेषादयो न सन्ति	
अत उभयात्मक तत्त्वम्	४९. १४५
न स्थूलादिक समुत्पा कल्प्यम्	४९. १४७.
निरुद्धं वस्तुनि सर्वात्मतया ग्रहणप्रसंग	४९. १४७.

अकलंकयन्त्रयस्य विषयानुक्रमः ।

§ १. लघीयस्त्रयस्य विषयानुक्रमः

मगललोक	१ ३.	पूर्वोत्तरचरहेत्वो समर्थनम्	५ २३.
कण्टकशुद्धि	१ ६.	अदृश्यानुपलब्धेरपि गमनकत्वम्	६. ५.
प्रत्यक्षस्य लक्षणम्	१. १२.	स्थूलस्यैकस्यैव दर्शनं न तु क्षणभगादे.	६ १०.
मुख्यसव्यवहारतया द्विधा विभाग	१. १२.	निरक्षतत्त्वसाधक प्रत्यक्ष स्वभावहेतुः	
परोक्षस्य लक्षणम्	१. १३.	कार्यहेतुवच न समवति	६. १७.
साधिकादिरेकानस्य प्रामाण्य निरस्य		विकल्पद्विर्न स्वत सिद्धयति नापि परत.	६ २६.
ज्ञानस्यैव प्रामाण्यसमर्थनम्	१. १४.	उपमानस्य प्रत्यभिज्ञान एवान्तर्भाव-	७. ६.
वैशद्यावैशद्यमोलक्षणम्	२. ६.	उपमानस्य पृथक् प्रमाणत्वे सापेक्षिकस्य	
साव्यवहारिकस्य लक्षणम्	२. ८.	प्रतियोगिकस्य च प्रत्यभिज्ञानस्य	
मुख्यप्रत्यक्षस्य लक्षणम्	२ ८.	पृथक् प्रमाणत्वप्रसंगः स्यात्	७. १४.
मुख्यप्रत्यक्षस्य सिद्धि-	२ ९	तैमिरादिक द्विचन्द्रादिज्ञान कणश्चिदेव	
मुख्यप्रत्यक्षविषयकर्तृशयस्य निरसनम्	२. ११	प्रमाणाभास न सर्वथा	८ ८
अवग्रहस्य लक्षणम्	३. ११, २१.	सन्निकल्पकज्ञानमपि प्रत्यक्षात्मकमेव	८. १६.
द्विधाया. लक्षणम्	२. २०, २५.	निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षाभम्	८. २०.
अवयवस्य लक्षणम्	२. २०, २६.	विशदेतरविकल्पयोगेन विषयनेवैकान्तः	८ २१.
विषयस्य स्वरूपम्	२. २१.	कल्पना अपि प्रतिसंविदितोत्पत्ति-	
द्रव्येन्द्रियस्य लक्षणम्	२. २२.	व्ययात्मका एव	९ १.
भावेन्द्रियस्य स्वरूपम्	२. २२.	अत प्रत्यक्षपरोक्षयो. व्यवहारः-	
लब्धीन्द्रियस्य लक्षणम्	२. २३.	विशदादात् प्रामाण्यम्	९. ७.
उपयोगस्य लक्षणम्	२ २३	भूतज्ञानं हीनान्तरादिबहिरर्थेषु प्रमाण	
सन्धानदर्शनमेव अवग्रहरूपतया परिणमति	२. २४.	न वचनप्रियायानात्रे	९. १२
धारणाया लक्षणम्	२. २८, ३ १.	वचनविशेषाभिचारान् भूतज्ञानस्य	
द्विधाधारणयोरपि शानात्मकत्वम्	३ १.	अप्रमाणतर्कान्त	९ १९.
गृह्याविरुद्धेण अष्टचत्वारिंशद्विभाग	३ ५.	आप्तोक्तिहेतुबाधयो. बहिरर्थविनिश्चये	
पूर्वपूर्वस्य प्रमाणत्वभूतरोत्तरस्य फलत्वम्	३ ६	सत्येतरव्यवस्थाभाव	९ २८.
प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यम-		विश्रामिप्राप्ततया वाचोर्ज्यव्याभिचारित्वे	
भिन्नविषयत्वञ्च	३ १८.	अभिनिविष्टपादावपि व्यभिचार स्यात्	१०. ७
अर्थस्य द्रव्यपर्यायात्मकत्वम्	३ २३.	नयनुर्यमोलक्षणम्	१०. २३
मित्यसाधिकपक्षयोः क्रमाक्रमभाभ्याम् अर्थ-		ज्ञातुरभिप्रायस्य नयत्वम्	१० २६
क्रियानिरसनम्	४. ३.	द्रव्याधिकपर्यायाधिकतया विभाग.	१०. २६.
अभेदपक्षेऽपि विविध्याविक्रिययोः न विरोधः	४. ९	द्रव्याधिकस्य व्युत्पत्ति.	११. १.
चित्रज्ञानादिवृष्टान्तेन तत्त्वस्य उत्पादव्यय-		जीवाजीवाद्यः सदन्तर्लीना	११. ५
श्रोत्र्यात्मिकत्वं द्रव्यपर्यायात्मकत्वञ्च	४. १४.	सग्रहस्य शुद्धद्रव्यविषयत्वम्	११. १०
परोक्षस्य स्मृत्याविरुद्धेण विभागः	४. २३.	प्रत्यक्षस्य बहिरन्तवच सद्व्यव्याहकता	११. १८.
प्रत्यक्षादिना व्यतिरिक्तगृहणासम्भत्वात्		एकसाधिकज्ञानदृष्टान्तेन द्रव्यस्य सदसदा-	
सद्वाही तर्कः प्रमाणम्	५. ६	त्मनस्त्वप्रसाधनम्	११. २४.
अनुमानस्य लक्षणम्	५ १४.	कणश्चित् साधिक एव अर्थक्रिया	१२. ५.
अनुमानस्य फल हानादिवृद्धयः	५ १५.	क्षणमये न कार्यकारणभावसिद्धिः	१२. ६.
कार्यस्वभावातिरिक्तस्य छायादे कारणभूतस्य		असाधिकादपि अर्थक्रिया न निवृद्धा	१२. २३.
छायादे. अतिरिक्तहेतुत्वसमर्थनम्	५. १७.	साधिकादिवृष्टान्तेन असाधिका-	
जलचन्द्रादीना कार्यस्वभावातिरिक्तहेतुत्वम्	५ २०	स्यापि कार्यकारिताप्रसाधनम्	१२. २४.

१ विषयानुक्रमेऽस्मिन् स्थूलाद्, काः सूक्ष्माद्, काश्च पक्षिसूचका विज्ञेयाः ।

गुणगुणिनोः वास्तवस्यैकत्वस्याभावे
पृथक्त्वमप्युपचरितं स्यात् ६१. २३४.
ज्ञानस्य जीवच्छरीरमैतद्वयमपि न
सम्भवति ६२. २३५.
देहज्ञानयोः गुणगुणिभावविरास
भवस्य लक्षणम् ६२. २३७.
कामो न चैतत्त्वस्य कारणमात्रम्
नापि कायः परिणामिकारणम् ६२. २४१.
ससारवैचित्र्यं कर्मवैचित्र्यात् ६२. २४२.
इन्द्रियाणां सह प्रत्येकं वा न
चैतन्यकारणता ६२. २४६.
जातिस्मरणादिहेतुस्य पृथगात्मसिद्धिः
'अर्थगतसविशेषादधिमापादय' इति
मतस्य निरासः ६४. २५१.
रामादिदर्शनादपि पृथगात्मसद्भाव
बुद्धेः पुरुषधर्मत्वे आधिक्येण उद्भाविताया
दोषाणां परिहारः ६४. २५४.
बीजसम्पत्तज्ञानप्रवाहस्य आत्मत्वविरास
बीजमते कार्यकारणप्रवाहात्मकः
ज्ञानसन्तान एव न सम्भवति ६५. २६२.
ग्रन्थयिद्वयस्याभावे सन्तानकल्पनाप्य-
समाख्या एव
कार्यकारणयोः सर्वथा भेदविरासः
साधनस्य लक्षणम् ६६. २६६.
साधनाभावं लक्षणम् ६६. २७०.
चलाचलादिविद्वद्भवाभ्याससमावादे-
कान्तात्मकं तत्त्वम् ६७. २७१.
समवायादपि न चलादिग्रन्थप्रदेशसंभव-
अनेकान्तात्मकतत्त्वाभावे सकल-
व्यवहाराद्याभावाः ६७. २७३.
अचेतनस्यापि स्फुटतात्मन एव सप्रदेशस्य
दर्शनम् न निरग्रस्य ६७. २७६.
चित्रज्ञानदृष्टान्तेन स्फुटस्य सिद्धिः
स्फुटप्राप्त्या एकत्वेऽपि भावानां
दर्शनादर्शनस्थितिर्न विरुद्धा ६८. २८०.
स्फुटस्य तादात्म्यमेव सम्बन्ध-
स्फुट्य-रूपादिगुणानामभेद एव
न तु रूपादिभ्यो भिन्न इति ६८. २८५.
स्फुटस्यैकत्वेऽपि एकेन्द्रियेण तद्ग्रहणे
नेन्द्रियान्तरस्य वैफल्यम् ६९. २८७.
प्रमेयत्वं हेतुः अनेकान्तात्मकवस्तुसत्त्व-
साधन एव साधुः ६९. २८८.
अभावोऽपि प्रमेयम् ६९. २८९.
भावान्तरमेव अभावः न तु तुच्छरूपः
अग्निदृष्टान्तेन भावस्यैव अभावात्म-
कत्वप्रदर्शनम् ६९. २९२.
प्रमेयत्वस्य गमकत्वे अविनाभाव
एव निवृत्तम् ६९. २९४.
सत्त्वं हेतुः परिणामप्रसाधकम् ७०. २९६.
संवृत्तिसिद्धमपि सत्त्वं क्षणिकं न संभवति ७०. २९६.

अनेकान्तात्मनि तु सत्त्व प्रतीतिसिद्धम् ७०. २९७.
निरक्षरस्याधुरूपस्य अवयविरूपस्य वा
अर्थस्य न प्रमाणातः प्रतीतिः ७०. २९८.
यद्यपि अनेकान्तात्माऽर्थः समर्थः तथापि
अपेक्षातः सहकारिकारणापेक्षा भवति ७०. २९९.
परिणामाभावे कारणादुत्पत्तिर्बुध्दा ७०. ३०१.
अन्यानपेक्षात् हेतुः न विनाशप्रसाध-
कमपि तु परिणामप्रसाधकम् ७०. ३०२.
भेदाभेदात्पनोऽर्थस्य स्वस्वरूपतया -
प्रमाणातः लोकतवच प्रतीतिः ७१. ३०३.
सत्त्व हेतुः न क्षणिकत्वादप्रसाधकम्
अन्यथानुपपत्तिविरुद्धात् ७१. ३०४.
स्यूताद्याकारो नादोषितः किन्तु वास्तव-
'क्षणकः क्षणिकत्वाभावे स्थण्डालमासिना'
इति बौद्धमतस्योपहासः ७१. ३१०.
विकल्पबुद्धौ यत्प्रतिभाति स्यूतादिरूप
तत्रैव वस्तुत्वस्यम् ७२. ३११.
ज्ञानस्य स्वपरिनिर्णयात्मकत्वेऽपि न
प्रतिक्षणपरित्यागादेः साध्यम् ७२. ३१३.
अप्रत्यक्षाणामपि क्षणपरिणामाधीना
प्रमाथान्तरेण प्रतिभासः ७२. ३१४.
ज्ञानं स्वरूपवत् परमपि प्रकाशयति ७३. ३१५.
चित्रज्ञानस्यापि क्षणिकस्य अप्रतिभासनात् ७३. ३१७.
जीव अनाकृतः सन् सर्वार्थग्राही भवति ७३. ३१९.
जीवे न सद्भाषापरारोपसौ अत्यभिज्ञानम्
अपि तु एकत्वात् ७३. ३२०.
नैकस्यैकजनपुरस्सरस्य अन्यथानुपपत्ति-
त्यस्यैकलक्षणस्य उपसहारा ७४. ३२३.
अनुमानान्न हेतुसम्बन्धप्रतिपत्तिः ७४. ३२५.
अनलक्ष्यमाद्योः वास्तव एव कार्यकारण-
भावः ७४. ३२६.
अन्यथानुपपत्तिः प्रत्यक्षानुपलम्भान्या
प्रतीयते ७४. ३२७.
आप्याभ्यासकभावादिसम्बन्धावपत्तिः
तर्कस्य प्रमाथ्यसमर्थनम् ७४. ३२८.
तर्कस्य श्रुतज्ञानेऽन्तर्भावः ७४. ३३१.
श्रुतज्ञानस्य बहुभेदत्वसमर्थनम् ७५. ३३२.
अनुपलम्भहेतोः समर्थनम् ७५. ३३५.
दूष्यानुपलम्भस्य अन्यथानुपपत्तिबलादेव
गमकत्वम् ७५. ३३६.
अनुपलब्धेः प्रपञ्चः ७५. ३३७.
तादात्म्यतद्भूत्वस्याभावेऽपि तुलोना-
मरसादीनां हेतुत्वसमर्थनम् ७५. ३३८.
'पात्रकेसरिस्त्राभिनापि हेतोः नैविष्यन्मियः
प्रतिपिद्धः' इति प्रदर्शनम् ७६. ३४०.
पूर्वचरहेतोः समर्थनम् ७६. ३४१.
हेत्वाभासविशेषनम् ७६. ३४२.
सत्त्वाद्यो न क्षणिकं नित्यं वा गमका
अपि तु परिणामे एव ७६. ३४४.

विधिविधानुवादातिदेशादिवान्धयेपु	
स्थाद्वाद विना न प्रस्तुतार्थसिद्धिः	२२. ५.
वर्णपदवाक्यानामर्थवाचकत्वम्	२२. १०.
शब्दस्य वचनप्रियायवाचित्वनिरास	२२. १५.
अभिप्रेतव्यमिचारित्वमपि शब्दस्य	२२. १६.
नैगमादयो नया. श्रुतभेदा.	२२. २४.
नया द्रव्यपर्यायमूला	२२. २५.
नहि मतिभेदानया.	२२. २८.
नापि मनोमतिभेदा नया	२३. १.
मूलनयी द्रव्यपर्यायाधिकी	२३. २.
द्रव्यमेकान्वयात्मकम्	२३. २.
तदतत्परिणामित्वादेकत्वम्	२३. ३.
सदृशपरिणामात्मकत्वादन्वयि	२३. ४.
पर्याय पृथक्त्व व्यतिरेकत्व	२३. ८.
पृथक्त्वस्य स्वरूपम्	२३. ८.
व्यतिरेकस्य स्वरूपम्	२३. ९.
व्यवहार-निवचयपर्यायो स्वरूपम्	२३. १०.
न नैगमस्य प्रमाणता	२३. १८.
नैगमस्य स्वरूपम्	२३. २१.
नैगमाभासस्य स्वरूपम्	२३. २१, २४.
अर्थधर्मिणो गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे	२३. २६.
सप्रहृदी एकविदक्षा	२३. २६.
सप्रहृदयस्य स्वरूपम्	२४. १, ३.
प्रहृदवाद. सप्रहृदाभास.	२४. २, ३.
व्यवहारनय-सदाभासयो स्वरूपम्	२४. ६.
श्रुतसुख-सदाभासयो स्वरूपम्	२४. १५.
नैगमादयवचनारोर्धनया.	२४. २३.
शब्दादयवचनोर्धनया	२४. २४.
शब्दनवस्य स्वरूपम्	२४. २५.
अभिच्छेदनस्य स्वरूपम्	२४. २६.

शकटोदयादीना भविष्यद्विषयकत्वनिर्णयेन	
'बुद्धेरकारण विषय.' इत्यस्य निरास	२५. १.
शब्दज्ञान विवक्षाव्यतिरेकतार्थग्राहि	२५. ५.
कालस्य लक्षणम्	२५. ६.
कारकस्य लक्षणम्	२५. ७.
लिङ्गस्य लक्षणम्	२५. ७.
पर्यायभेदादिपञ्चभेद.	२५. ८.
क्रियाभेदादर्थभेद.	२५. ८.
वर्णपदवाक्यव्याप्तादक शास्त्रमवितथम्	२५. ११.
निरपेक्षत्व-सापेक्षत्वयोर्लक्षणम्	२५. १४.
श्रुतादर्थमविगम्य नय. परीक्ष्य निक्षेप. न्यस्य	
अन्योगै अनयुज्य सम्यग्दर्शनादित्रय	
प्राप्य भोक्षभाषितः	२५. १८.
श्रुतमनादि श्रुति च	२५. २६.
प्रमाणस्य स्वरूपम्	२५. २६.
नयस्य स्वरूपम्	२५. २६.
न्यासस्य स्वरूपम्	२५. २९.
नामस्थापनाद्व्यवहारत्वेण चतुर्धा निक्षेप	२५. २९.
नामनिक्षेपस्य लक्षण तदनैकत्वञ्च	२६. १.
स्थापनाया लक्षणम्	२६. २.
द्रव्यनिक्षेपस्य लक्षणम्	२६. ३.
भावनिक्षेपस्य लक्षणम्	२६. ३.
निक्षेपस्य फलम्	२६. ७.
मोक्षसुखस्य स्वरूपम् तत्प्राप्त्युपायाश्च	२६. ७.
नैयायिकादिकल्पितमोक्षस्य निरास	२६. १०.
शरीरादिकं न ज्ञानावरणादिकम्	२६. ११.
शास्त्राध्ययनस्य फलम्	२६. १४.
जिनेश्वरपदप्राप्त्युपाय.	२६. २२.

इति प्रबन्धप्रवेशः ।

३. न्यायविनिश्चयस्य विषयानुक्रमः

मगलश्लोक	२९. १.
न्यायविनिश्चयकरणप्रतिज्ञा	२९. २.
प्रत्यक्षलक्षणम्	२९. ३.
इन्द्रियप्रत्यक्षस्य लक्षणम्	२९. ४.
एकस्मिन् विषये समक्षेतरपम्प्लव	३०. ५.
न धर्मिणापवत्त्व विकल्पस्य लक्षणम्	३०. ७.
चक्षुरादिबुद्धीना व्यवसायात्मकत्वम्	३०. ८.
अर्थज्ञाने सत एव नीलादिसूक्ष्मरूपस्य	
प्रतिभासः	३०. ९., १०.
परोक्षज्ञानवादनिरास.	३१. ११.
ज्ञानस्य स्वसंवेदनसिद्धि	३१. १३.
सुखादय स्वसंवेद्या	३१. १५.
विषयेन्द्रियविज्ञानमनस्कारादयो लिङ्गा न	
अम्बसंविदितज्ञानस्यानुनायका	३१. १७.

अभिज्ञादर्थपरिच्छेदान्न ज्ञानस्य सिद्धिः	३१. १८.
ज्ञानान्तरेष्वज्ञानवादनिरास.	३२. १९.
अचेतनज्ञानवादनिरास	३२. २५.
प्रतिबिम्बवादनिरसनम्	३२. २६.
साकारज्ञानवादनिरास	३३. २८.
अतीतस्य न धाकारार्पकता	३३. ३२.
अत स्वहेतोरेव बुद्धे प्रकाशनिवधो न	
प्रतिबिम्बत	३३. ३३.
आत्मा सत्यात्यज्ञानाभ्या वहिरर्थमेव	
यथार्थतरतया अवलोकते	३४. ३७.
विषयज्ञानसंज्ञानविवेकोऽपि शक्तिनियमादेव	३४. ३८.
अर्थज्ञानस्मृती अर्थस्मरणे व्योतिर्मनस्का-	
रादिभि अतिप्रमगस्य परिहार	३४. ३९.
परिच्छेदशक्तिनियमादेव विषयप्रति-	
नियमो वाकारादिचारितया	३४. ३९.

१ विषयानुक्रमेऽस्मिन् स्थूलाका. पृष्ठमूचका सुदमाकाश्च श्लोकमस्यासूचका ज्ञेया ।

आश्रयवन्धसमप्रकारः
तत्त्वज्ञानात् कर्मसवरनिर्हराप्रकारः
दोषाणां स्वरूपम्
नैरात्म्यभावनादौ न किञ्चित्फलम्
नैरात्म्यभावनायां न मार्गत्वं न च
तत्र मैत्र्यादिसमावशा
जैनमते तु सम्यग्दर्शनादिषु प्रयोदावे
समवात्
सुगतस्य न कल्याणद्विभवं
जैनमते भोक्षस्य स्वरूपम्
एकान्तनित्यत्वेऽपि न भोक्षस्य संभावना
सप्तभगिस्वरूपनिरूपणम्
सप्तभगानां क्रमनिरूपणम्
स्यात्पदप्रयोगसाफल्यप्रदर्शनम्
प्रतीतिर्यस्यापि स्यात्पदस्य प्रयोगः
लोकव्यवहारानुसारेण कर्तव्यः
स्यात्कारार्थं मन्त्रमतीतं प्रति-
स्यात्पदप्रयोगः सकल एव
स्याद्वादे सत्त्वयादिविषयप्रसवपरिहारः
जैनायम् एव प्रमाणम्
सर्वज्ञत्वादिविषयभावे न
भाग्यप्रामाण्यसमावशा
गुणाधीनमेव प्रवचनस्य प्रामाण्यम्
प्रवचनस्य प्रामाण्ये सर्वज्ञत्वसिद्धिः
ज्ञत्वभावस्यात्मनो ज्ञानवरणपरिहारे
सार्थक्यं समुत्पद्यते

८९. ४४२.
८९. ४४३.
८९. ४४५.
८९. ४४५.
८९. ४४६.
८९. ४४७.
८९. ४४८.
८९. ४४९.
८९. ४५०.
९०. ४५१.
९०. ४५२.
९०. ४५३.
९०. ४५४.
९०. ४५५.
९१. ४५६.
९१. ४५७.
९१. ४५८.
९१. ४५९.
९१. ४६०.
९१. ४६१.
९१. ४६२.
९१. ४६३.
९१. ४६४.
९१. ४६५.
९१. ४६६.

ज्योतिर्ज्ञानाद्युपदेशकत्वादपि
सर्वज्ञत्वसिद्धिः
शास्त्रप्रथमं तद्विषयानुपदेशाणि-
नन्वव्यतिरेकाविसर्गादित्वविशेष-
विशिष्टमेव सर्वज्ञत्वप्रसाधकम्
न सुगतादीनां शास्त्रग्रन्थेष्वपि
शास्त्रमपि सर्वज्ञपूर्वकतया
प्रमाणं न अपीक्ष्यम्
प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण प्रमाणविभागः
स्मरणप्रामाण्यप्रदर्शनम्
तर्कस्य प्रामाण्यसमर्थनम्
नैयायिकपरिकल्पितोपमानस्य लक्षणम्
यद्युपमानस्य पृथक् प्रामाण्यं तदा
अनेकधा प्रमाणाणि स्युः
स्मरणादिकं श्रुतज्ञानेऽन्तर्भूतम्
सम्प्रदायाविच्छेदाद्यगमस्य प्रामाण्यम्
मतिज्ञानादीनां प्रत्यक्षपरोक्षतया
प्रमाणम्
मतिज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वं लोकव्यवहारापेक्षया
स्याद्वादे प्रमाणम्
प्रमाणस्य साक्षात्परम्परया च
फलनिरूपणम्
नयानां विवरणं नयवक्रान्तये द्रष्टव्यम्
प्रवचनस्य प्रमेयनप्रदर्शनम्
केवलज्ञानार्थमेव स्याद्वादे उपात्य इति
केवलज्ञानस्वरूपनिरूपणम्
साक्षानाराधनायाः फलनिरूपणम्

९२. ४६६.
९२. ४६७.
९२. ४६८.
९२. ४६८.
९२. ४६९.
९२. ४७०.
९२. ४७१.
९२. ४७२.
९२. ४७३.
९२. ४७४.
९२. ४७५.
९२. ४७६.
९२. ४७७.
९२. ४७८.
९२. ४७९.
९२. ४८०.

३. प्रमाणसंग्रहस्य विषयानुक्रमः

भगवाचरणम्
प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण प्रमाणानां संग्रहः
प्रत्यक्षस्य लक्षणम्
प्रत्यक्षस्य त्रिधा विभागः
श्रुतस्य प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तकतया
नैविध्यम्
अर्थानुकारिणो ज्ञानस्य न प्रामाण्यम्
चक्षुराद्विज्ञानस्य सामान्यविशेषात्म-
कार्यविषयत्वम्
ज्ञानं सदर्शनियतम्
प्रमाणस्य तत्त्वार्थनिर्णयः फलम्
अतीन्द्रियज्ञानाभावे न प्रवचनस्य
प्रमाणात्
मुख्यप्रत्यक्षस्य लक्षणम्
अर्थसमावात् स्मृति प्रमाणम्
प्रत्यभिज्ञापि प्रमाणम्
तर्कस्य लक्षणम्

१७. १.
१७. ४.
१७. ५.
१७. ५.
१७. ६.
१७. ९.
१७. १८.
१८. ९.
१८. ९.
१८. २५.
१९. ११.
१९. १५.
१९. २०.
१००. ५.

प्रत्यक्षानुपलम्भतः तर्कसमृद्धिः
प्रत्यक्षानुमानाभ्यां न व्याप्तिग्रहः
उत्पत्तिमत्ता न नित्यं निमित्तम्
अवयविनो वृत्तिविकल्पादिविषय-
प्रदर्शनम्
श्रुतर्कस्य लक्षणम्
विवक्षादौ वाच्योत्तिस्वीकारं श्रुतर्कं
विज्ञानगुणदोषान्मां वाच्युत्ति
गुणदोषवर्ती भवति
शरीरमपि न गुणदोषकारणम्
दोषावरणशरीरमपि न वाच्येवुता
परोक्षेऽपि अविनाभावसिद्धिः
तर्कस्य प्रामाण्यप्रसाधनम्
नाप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्तं मानम्
इत्यस्मै साधनम्
साध्यस्य लक्षणम्
साध्याभासस्य लक्षणम्

१००. ५.
१००. ९.
१००. १७.
१००. २६.
१०१. १.
१०१. ४.
१०१. ७.
१०१. ९.
१०१. १०.
१०१. १६.
१०१. १९.
१०१. २४.
१०२. १.
१०२. २.

१ विषयानुक्रमेऽस्मिन् स्मृताका. पृष्ठसत्यादीषका. सूक्ष्माकाश्च पक्षितपर्यायसूचका विज्ञेया ।

विषयानुक्रमः

वस्तु दृश्येतरात्मकम्, अत 'दृष्टस्य भावस्य दृष्ट सकलं गुण' इति धर्मकीर्तितस्य प्रतिकोपे 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्' इति लक्षणस्य निरासः.	४९ १४९
अनेकान्तात्मनो वस्तुन उपसंहार वैधौषिकादिकल्पितस्य नित्यसर्वगत- निरक्षसामान्यस्य निरासः	४९ १५०.
सामान्यविशेषात्मकवस्तुन उपसंहार बौद्धपरिकल्पितनिर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य निरासः	५० १५१.
विकल्पजननादपि न निर्विकल्पस्य प्रामाण्यम्	५० १५३
बौद्धपरिकल्पितमानसप्रत्यक्षस्य निरासः	५० १५३
शान्तभद्रकल्पितमानसप्रत्यक्षलक्षणस्य निरासः	५० १५५
अनेकमनसा कर्माकर्मोत्पत्तौ प्रति- सन्ध्यभावप्रदर्शनम्	५० १५६
धर्मोत्तरकल्पितमानसप्रत्यक्षलक्षणस्य प्रतिकोपे	५० १५७
स्वसंबन्धनप्रत्यक्षनिराकरणम्	५१ १५८
योगिप्रत्यक्षस्य खण्डनम्	५१ १५९.
सात्त्विकल्पितबोधविबुधिरूप- प्रत्यक्षस्य निरासः.	५१ १५९.
नैयायिककल्पितसन्निकर्षात्मक- प्रत्यक्षस्य निरासः	५१ १६१
नैयायिकस्य आदिषद् विरुद्धेष्ट्य	५२ १६६
अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य लक्षणम्	५२ १६७
बौद्धमते तत्त्वोपवैशस्य संभावनैव नास्ति	५२ १६८.

इति प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः ।

अनुमानस्य लक्षणम्	५२ १७०
प्रत्यक्षवदनुमानमपि बहिःसंदर्भविषयम्	५२ १७०
साध्यस्य लक्षणम्	५३ १७१.
साध्याभासस्य लक्षणम्	५३ १७२.
सत्तापाधने असिद्धाविदोषत्रयस्य परिहारः	५३ १७३.
भाववर्गत्वे असिद्धत्वस्य परिहारः	५३ १७३.
अपक्षधर्मोऽपि हेतुः	५३ १७४.
श्रीनान्तिकं प्रति सत्तासाधनम्	५३ १७५.
अद्वैतस्यापि सत्ता सिद्धयति	५४ १७६.
अस्पष्टावभासित्वेऽपि प्रमाणमनुमानः	५४ १७७.
प्रत्यक्षवत्	५४ १८३.
अनुमानमपि स्वलक्षणविषयमेव	५४ १८३
वस्तुज्ज्ञेय प्रतिबन्धपरिजानात् अनुमा- नस्य साफल्यम्	५४ १८४.
सत्तासामान्यस्य विशेषात् कथञ्चिद्- भेदाभेदो	५४ १८५.
सामान्यस्य कथञ्चित्सम्बन्धासम्बन्धौ	५४ १८६
नैयायिककल्पिते सामान्ये दोषप्रदर्शनम्	५५ १८७.

सदृशपरिणामलक्षणसामान्यादेव अन्वितप्रत्ययादिक सम्भवेत्	५५
सर्वथा भेदाभेदप्रत्ययो नानेकोपाधिसम्भवः	५५
उपाधितद्वतो कथञ्चिद्भेदाभेदो	५५
निरक्षवस्तुवादे मूलग्रहणप्रसङ्गः	५५
विशेषाणामानन्त्यात् न तत्र सम्बन्धग्रहण- सम्भवो यतोऽनुमानम्	५५
सौगतस्य अन्यापोहात्मकसामान्येऽपि न सम्बन्धग्रहः	५५
अपोहे दोषप्रदर्शनम्	५६
वासनाजन्यविकल्पतोऽपि न अपोहप्रति- पत्तिः संभाव्या	५६.
सदृशासदृशात्मकं सन्	५६
सदृशपरिणामात्मके सामान्य एव सकेतग्रहात् शब्दव्यवहारः	५६.
वस्तुन सदृशासदृशात्मकत्वमर्थनम्	५६
सादृश्याभावे विभ्रमज्ञानस्याहेतु- क्त्वापत्तिः	५७
वस्तुनो भेदाभेदात्मकत्वस्योपसंहारः	५७.
अभेदपक्षेन सदृशपरिणाम एव गृह्यते	५७
बन्धस्य अर्थसिद्ध्यतिर्ये सर्वं शाब्दं ज्ञानं प्रमाणं स्यात्	५८
विवक्षावाचकत्वे बन्धस्य सत्यासत्य- विभागाभावः	५८
अर्थ एव सकेतो न ज्ञानाकारेण	५८
स्वमतेन सकेतप्रवृत्तिप्रकारः	५८
भेद-सामान्य-तद्वस्तु न सकेतः	५८
एकत्व-सादृश्यनिबन्धनं सकेतः	५८
सकेतितस्य शब्दस्य प्रवृत्तिप्रकारः	५८
मेचकादिवत् एकत्रापि अनेकधर्म- सदृशावे न विरोधः	५९.
सामान्याभावेऽपि सदृशपरिणामात्	
तन्निमित्तकः व्यवहारः सुषुप्तः	५९
सदृशपरिणामस्यानेकत्वेऽपि सकेतवशा- देकरूपतया व्यवहारः	५९
द्विधा प्रत्यभिज्ञा, एकस्मिन्निबन्धना सादृश्यनिबन्धना च	५९
प्रचानास्तित्वासाधने हेत्वभावे एव सुसुप्तावस्थायामपि उपयोगात्मक एव आत्मा विद्यते	५९.
आत्मेन कर्मणा कर्ता तत्फलस्य च मोक्षता संसारी मुक्तस्य च	६०.
मृतचैतन्यवादानिरासः	६०.
जैनस्ये गुणव्यवहारप्रकारः	६०.
गुणगुणिनोः भेदाभेदात्मकत्वम्	६०
न शरीरगुणः चैतन्यम्	६१.
वैधौषिकनिरूपितस्य पृथक् गुणपदार्थस्य निरासः	६१.
आकारभेदादपि न गुणिनः पृथग्गुणाः	६१

सप्तमगीस्वरूपम्
 शब्दार्थयोर्नित्यं सम्बन्ध
 सत्त्वाकालकारकलिङ्गतः शब्देषु भेदः
 वात्मज्ञानादिभेदानामानन्त्यं
 नयचक्रतो ज्ञेयम्

१२२ १६. जैगमादिनयसप्तकस्य स्वरूपम्
 १२४ ७. प्रमाणनयनिकोपाया स्वरूपम्
 १२४ २० ज्ञान प्रमाण न शब्दादि
 कपिलादिसिद्धान्तो नय
 १२५ २७

१२६
 १२७ २
 १२७. ४
 १२७ १७



अन्वयस्य लक्षणम्	७६ ३४६.
क्षणिकत्वसाधनाय प्रयुक्ता. सत्त्व-कृत- कत्वादयो हेतवो विरुद्धा.	७६. ३४८.
सर्वज्ञाभावसाधने वचनादयोऽनैकान्तिकाः नैक्याद्गमकत्वे तु वचनादीनां सद्हेतुता स्यात्	७७ ३४९.
व्यापकविरुद्धोपलब्ध्यादिनापि तद्वाचा अतो वचनादयोऽन्यथानुपपत्तिवैकल्यादेव अगमकाः	७७ ३५२
विषयान्तरेणापि वचनप्रवृत्तिः भवति विज्ञानहेतुकमेव वचन न विवक्षाहेतुकम् सत्यामपि विवक्षायां सत्यहितवचन- विवक्षा निर्दोषिव	७७. ३५३ ७७ ३५४. ७७ ३५६.
सर्वज्ञवक्तृकवचनानां यथार्थतैव पुरुषत्वादीनामपि सर्वज्ञत्वेन न विरोधः, अतस्तेऽपि सर्वज्ञाभावसाधने अनैकान्तिका एव	७७. ३५६. ७८. ३५७
संसारिणां तु ज्ञानावरणवशान्न सर्वप्रकाशासामर्थ्यम् परबुद्धपरिज्ञानेऽपि न सर्वज्ञस्य दुःशित्वम्	७८ ३६१ ७८ ३६१
अभिज्ञहेतुवाचासंविचेचनम् विषदासिद्धिसंनिवृत्तिरहित्वादिर्बै- बहुधा असिद्धहेत्वामात्रं क्षणिकत्वसाधने सत्त्वाधिकमसिद्धम् शब्दस्य भेदाभेदात्मकत्वसमर्थनम् पुरुषकल्पराश्यानां परिणामभूतं शब्द- प्रतीक्षितत्वरहेत्वान्नासिध्दगार- द्वेषाभास (जाति) लक्षणम् वमकीतिसिद्धमुद्भासितवध्युप्यादेरेकत्व- प्रसङ्गस्य द्रव्यभासासतां अतो भेदाभेदात्मनि न कश्चिद्दोष साधर्म्याविसमजातीनामकथने कारणम् अयेतरव्यवस्थाविचारः वमकीतिकल्पितनिग्रहस्थानस्य लण्डनम् दृष्टान्ताभासस्य विवेचनम् दृष्टान्तं विनापि साध्यसिद्धितो न तदनुद्भावन निग्रहस्थानम् वादस्य लक्षणम् निग्रहस्य स्वरूपम् वादस्य लक्षणम् शास्त्रान्तरं न नि श्रेयसनिवन्धन किन्तु जैनशास्त्रमेव	७८. ३६५ ७८. ३६५ ७९. ३६५ ७९. ३६७ ७९ ३६८ ७९ ३६९ ७९ ३७०. ७९ ३७१ ७९ ३७१ ७९ ३७२ ८० ३७३ ८० ३७६. ८० ३७७ ८०. ३७९ ८०. ३८० ८०. ३८१ ८१. ३८३ ८१ ३८३ ८१ ३८४. ८१. ३८६.
इति द्वितीय अनुमानप्रस्तावः ।	
प्रवचनस्य स्वस्त्वम् पुरुषातिशये यदि सहायः कथं सुगतः सर्वज्ञत्वेनेष्टः ? सुगतादयः सदोपा एव	८१. ३८७ ८२ ३८८. ८२. ३९३.

सुगतस्य कृपापि न समाध्या मिथ्याभावनातो न तत्त्वज्ञानसमुत्पत्तिः अनादिवासनापि न समाध्या आत्मदर्शनस्य सुघट्टवान्न नैरात्म्यं साधु सुगतस्य कथना स्थितिरपि न समाध्या वास्तविकसन्तानस्य मोक्षकथने आत्मन एव न नामान्तरेण कथितः स्यात् वेदोऽपि न मोक्षप्रतिपादकः सार्वजन्याने सत्यैकान्तं असादो चञ्चलं कथमास्वासाः ? आगमं पीर्येव एव सर्वज्ञाभावसाधने स्व-सर्वानुपलम्भी असिद्धानैकान्तिकी विप्रकृष्टार्थग्राहि ज्ञानमपि स्पष्ट भवति सत्यस्वप्नेक्षणिकादिज्ञानवत् शास्त्रमो ज्ञानस्वभावत्वेऽपि आवरणकर्म- वशात् सर्वं सर्वदक्षिणं आवरणविगमे तु सर्वार्थसाक्षात्कारिता भवत्येव मिरावरणस्य केवलिनो न पुनः कर्मबन्धः सर्वज्ञानस्य आगमपूर्वकत्वेऽपि नान्योन्याश्रयः ज्योतिर्ग्राह्यादिमातीनां फलोपदेशकत्वादपि सर्वसाक्षात्कारित्वसिद्धिः अनुमेयत्वात् हेतोरपि सर्वमसिद्धिः न ब्रह्मादित्यक्तिलोपदेशः तत्साक्षात्कारि- त्वमन्तरेण केवलं वेदात् समाध्या- अनादिसम्प्रदायादेव वेदस्य यथार्थत्वनिर्णये अन्वपरम्परा, श्लेष्मादिव्यवहारस्य च यथार्थत्वप्रसङ्गः वेदस्य अनादित्वे दोषप्रदर्शनम् शब्दमात्रस्य नित्यत्वे दोषप्रदर्शनम् पुरुषलोपादानकत्वेऽपि शब्दस्य सूक्ष्मत्वान्न तदुपाधानोपलब्धिः स एवायं शब्द इति प्रत्यभिज्ञान साधुत्वात् न तत्वेकत्वात् दर्शनस्य परार्थत्वादपि न नित्यं शब्दः शब्दस्य प्रामाण्यं न नित्यत्वात् किन्तु तदर्थवेदिपुरुषपूर्वकत्वात् सकेतो हि ज्यवहारानुसारेण बहुधा शब्दस्य न स्वतः सर्वार्थयोग्यता सकेतानुसारेणैव अर्थप्रत्ययकत्वं शब्दस्य सोपगतमते न वर्णपदवाक्यव्यपदेशसम्भवः जैनमते तु परिणामो शब्दः श्रोत्रगीचर शब्दस्य अपीर्येयत्वे दोषप्रदर्शनम् पीर्येयोऽपि शब्दः सम्यग्ज्ञानाद्वक्तुमि एव सत्त्वार्थप्रतिपादकः सत्यस्य स्वरूपम् मोक्षमार्गविषयभूतानां जीवादिदत्त्वानां स्वरूपनिरूपणम्	८२. ३९३. ८२. ३९४. ८२ ३९५ ८३. ३९६. ८३. ३९७. ८३ ३९८. ८३. ४००. ८३ ४०१. ८४. ४०५. ८४. ४०६. ८४. ४०७. ८४. ४०८. ८४. ४१०. ८४. ४११. ८५. ४१२. ८५ ४१४. ८५ ४१५ ८५ ४१६ ८५. ४१७. ८६ ४१८ ८६ ४२२. ८६. ४२५ ८६. ४२५ ८७. ४२८ ८७ ४२९. ८७. ४३०. ८७ ४३१. ८७ ४३२. ८८. ४३३. ८८. ४३४ ८८ ४३६ ८८. ४३६. ८८ ४३७ ८८. ४३८.
---	---

सदसदेकान्तयो न साध्यत्वम्	१०२. ५.	सर्वथा नित्ये सत्त्वं हेतुविरुद्ध	१०७. २१.
नाघनस्य लक्षणम्	१०२. ९	विरुद्धस्य लक्षणम्	१०७. २३.
नित्यसर्वगतस्वभावसामान्यस्य न		कीटस्थे विक्रियाविरोधः	१०८. ४.
साध्यत्वम्	१०२. २०.	अचलात्मनि प्राणादीना मत्त्वं विरुद्धम्	१०८. १९.
एकस्य चलाचलादिविरुद्धधर्माध्या-		अचलात्मनि सन्निवेशादि विरुद्धम्	१०८. २३.
सदनेकान्तात्मकता	१०२. २५.	अचलात्मनि चक्षुरादीना सत्त्वं	
सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि		विरुद्धम्	१०८. २७.
संसायादिदोषपरिहारः	१०३. ४	अचलात्मनि अन्धादीना सत्त्वं विरुद्धम्	१०८. ३०.
अभावस्य प्रमेयत्वं भावस्य च		अचलात्मनि सुखादीना सत्त्वं विरुद्धम्	१०९. १.
अप्रमेयत्वं नास्ति	१०३. १९	सहोपलम्भनियमः विरुद्धः	१०९. ३.
'एक चित्रम्' इति धर्मकीर्तौ.		कर्तृस्मरणादयः सन्दिग्धाः	१०९. ६.
प्राक्षेपस्य परिहारः	१०३. २८.	अनैकान्तिकमेवाद निश्चितसन्दिग्धादयः	१०९. १२.
सति प्रविनाभावे वैकल्य निरर्थकम्	१०४. ३	वक्तृत्वादिति हेतुः अनैकान्तिकः	१०९. १३.
कृतिकोदयादिहेतूना वैकल्याभावोऽपि		असिद्धहेत्वाभासनिरूपणम्	१०९. २१.
गमकत्वम्	१०४. ५.	सहोपलम्भस्य लक्षणम्	१०९. २५.
कृतिकोदयादिषु न कालादीना		स्वसर्वापलम्भयोः अनैकान्तिका-	
वर्तित्वम्	१०४. ५	सिद्धत्वम्	११०. ३.
सात्मक जीवच्छरीर प्राणादिमत्त्वावित्थ		अकिञ्चित्करहेत्वाभासनिरूपणम्	११०. ६.
स्यापि गमकत्वम्	१०४. ६	अज्ञातस्य हेत्वाभासस्य निदर्शनम्	११०. ९.
विशेषे साध्ये उपलब्धयः	१०४. १६	सर्वथा नित्यैर्जगत्प्राप्ताभावसमर्थनम्	११०. १८.
स्वभावोपलब्धिः	१०४. १९.	विरुद्धाव्यभिचारिणो विरुद्धेऽन्तर्भाव	१११. ५.
स्वभावकार्योपलब्धिः	१०४. २१.	वादस्य लक्षणम्	१११. १५.
स्वभावकारणोपलब्धिः	१०४. २३	संप्रत्यूहान्तोन भावस्य परिणामित्व-	
सहचरोपलब्धिः	१०४. २५.	प्रमाणम्	११२. ११.
सहचरकार्योपलब्धिः	१०४. २६	उत्पादादिप्रत्ययान्तत्वसमर्थनम्	११२. १५.
सहचरकारणोपलब्धिः	१०४. २८	उत्पादादिषु विनायादिनमर्थनम्	११३. ५.
असद्वयबह्वाराय अनुपलब्ध्ययः	१०५. १	जगत्प्राप्त्यवयवव्या	११३. ६.
स्वभावानुपलब्धिः	१०५. २	जातेर्लक्षणम्	११३. २२.
कार्यानुपलब्धिः	१०५. ४	अचलात्मनि सत्त्वादयः सिद्धसेन-वैवर्तन-	
कारणानुपलब्धिः	१०५. ५	समन्तमन्वयतेन असिद्ध-विरुद्ध-अनै-	
स्वभावसहचरानुपलब्धिः	१०५. ८.	कान्तिकालका	११३. २१.
सहचरकार्यानुपलब्धिः	१०५. ९	स्वपरत्वेण भावाभावात्मनत्वम्	११४. ६.
सहचरकारणानुपलब्धिः	१०५. ११	अन्धादीना जाडपहेतुत्वम्	११४. २२.
सद्वृत्तिनिषेधाय विरुद्धोपलब्ध्ययः	१०५. १६.	प्रतिज्ञाज्ञातव्यत्वादीनामङ्गाकनिवन्ध-	
स्वभावविरुद्धोपलब्धिः	१०५. १७	नत्वम्	११४. २६.
कार्यविरुद्धोपलब्धिः	१०५. १९.	नित्यप्रत्ययान्तादिकस्य पदमहेतुता	११४. २६.
कारणविरुद्धोपलब्धिः	१०५. २०	प्रत्ययभावादीना विलोने अलोपिकता	११४. २८.
आप्यासिद्धिः आपकसाधिनी	१०५. २०	तामहेतुत्वस्य सामर्थ्यविरोधस्य	११५. ३.
आपकानुपलब्धिः आप्याभाव-		प्राकृतहेतुत्वम् नस्तत्पदमाद्युत्पत्तिविचारस्य	११५. ३.
प्रसाधिका	१०५. २५	प्रवचनस्य लक्षणम्	११६. ६.
स्वभावविरुद्धाप्नोपलब्ध्योः		पुरुषानिजयोऽपेक्ष्यते कथं नत्र मन्वेह	११६. १८.
आपकानुपलब्ध्यावन्तमपि	१०५. २७	अपीक्ष्येयं भावस्य निरर्थकम्	११७. २.
स्वभावविरुद्धकार्यानुपलब्ध्यो		मलिनार्थान् प्रज्ञानम्	११८. १.
कार्यानुपलब्ध्यैऽन्तर्भावः	१०५. १८.	शब्द प्राप्त्यव्याप्ति	११८. १६.
अन्तर्भावपि हि गमकत्वं न बहिर्दर्शना-		तत्त्वज्ञानाचारिणो मोक्षहेतुता	११९. १०.
दर्शनाभ्याम्	१०६. ५	चेतनस्य कर्मवन्दमिद्धिः	११९. २०.
सर्वत्र न दृष्टान्तस्यावश्यकता	१०६. १०	दोषप्रभव मनाः	११९. २८.
सर्वथा विमर्शवादी न युक्तः	१०६. २५.	मोहादिव्यवस्थादज्ञानादयः	१२०. २.
अप्रत्यक्षोऽपि आत्मा निदृश्यति	१०७. ११.	पुद्गलद्रव्यमपि व्यावृत्तमनुमात्मकम्	१२१. १८.
सहचरहेतोः समर्थनम्	१०७. १५	गरीरादिभ्यः चैनस्य पुण्यम्	१२१. २६.

श्चित्करस्य च ज्ञानस्य भावाऽविरोधात् । § १) “नहि तत्त्वज्ञानमित्येव यथार्थनिर्यावसा-
धनम्” इत्यपरः; तेनापि तत्त्वनिर्णयं प्रति साधकतमस्य ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं समर्थ्येत
वस्तुचलायततदर्थान्तरस्यापि परम्परया तत्कारणतोपपत्तेः । तन्नाऽज्ञानस्य प्रमाणता
अन्यत्रोपचारात् । ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता ॥३॥

5 [§ ४. के पुनर्बुद्धेर्वैशेष्यावैशेष्ये यदुपेतत्वेन प्रत्यक्षेतरयोर्भेदः स्यादिति चेदुच्यते—]

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।

तद्वैशेष्यं मतं बुद्धेरवैशेष्यमतः परम् ॥ ४ ॥

तत्र सांख्यवहारिकम् इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् ।
तदस्ति मुनिश्रितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । यावज्ज्ञेयव्यापिज्ञान-
10 रहितसकलपुरुषपरिपत्परिज्ञानस्य तदन्तरेणानुपपत्तेः । तदभावतत्त्वज्ञो न कश्चिद-
नुपलब्धेः स्वपुष्पवत् । नवै जैमिनिरन्यो वा तदभावतत्त्वज्ञः सत्त्वपुरुषत्ववद्भृ-
त्वादेः रथ्यापुरुषवत् । पुरुषातिशयसम्भवे अतीन्द्रियार्थदर्शी किन्न स्यात् ?
अत्राऽनुपलम्भमप्रमाणयन् सर्वज्ञादिविशेषाभावे कृतः प्रमाणयेत् अभेदात् ? साधक-
षाधकप्रमाणाभावात् तत्र संशीतिः इत्यनेन प्रत्युक्ता; बाधकस्यैवाऽसम्भवात् ।
15 सर्वत्र बाधकाभावेतराभ्यां भावाभावव्यवहारसिद्धिः, तत्संशयादेव सन्देहः । तत
एवानुभवप्रामाण्यव्यवस्थापनात् इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥ ४ ॥

[§ ५. ननु च इन्द्रियाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षस्य वर्तमानमात्रपर्यवसितत्वेन हेयोपादेयाऽवि-
षयत्वात् कथं संख्यवहारानि युक्तत्वमित्यारेकायामाह—]

अक्षार्ययोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः ।

4) अवग्रहो विशेषाकाङ्क्षेहाऽवायो विनिश्चयः ॥ ५ ॥

विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणम् अवग्रहः । विषयस्तावत् द्रव्यपर्या-
यात्मार्यः विषयिणो द्रव्य-भावेन्द्रियस्य । द्रव्येन्द्रियं पुद्गलात्मकम् । लब्ध्युप-
योगौ भावेन्द्रियम् ! * अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः । उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः । *
अर्थग्रहणं योग्यतालक्षणम् । तदनन्तरभूतं सन्मात्रदर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविक-
; ल्पमुत्तरपरिणामं प्रतिपद्यते अवग्रहः । पुनः अवग्रहीतविशेषाकाङ्क्षान् ईहा ।
तथेहितविशेषनिर्णयोऽवायः । कथञ्चिदभेदेऽपि परिणामविशेषाद्भेदः ॥ ५ ॥

[§ ६. अवयानन्तरं धारणामुक्त्वा चतुर्विधमतिज्ञानमुपसहरन् कारिकार्थमाह—]

धारणा स्मृतिहेतुस्तन्मतिज्ञानं चतुर्विधम् ।

१ कारिकेय ज० अतो नास्ति । २ तत्रा— ज० । ३ बाधकभावे— ज० । * एतदन्तर्गत
पाठो नास्ति ज० । ४ अवग्रहगृहीत— ई० ।

श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवविरचितम्
[अकलंकग्रन्थत्रयम्]

स्वोपज्ञविवृतिसहितम्

॥ लघीयस्त्रयम् ॥

क्षणं सामान्यलक्षणं वा परस्परानात्मकं प्रमेयं यथा मन्यते परैः, द्रव्यपर्यायात्म-
नोऽर्थस्य बुद्धौ प्रतिभासनात् । न केवलं साक्षात्करणमेकान्ते न संभवति; अपितु—

अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणीकपक्षयोः ।

क्रमाक्रमार्थ्या भावानां सा लक्षणतया मता ॥८॥

- 5 'अर्थक्रियासमर्थं परमार्थसत्' अङ्गीकृत्य स्वपक्षे पुनरर्थक्रियां स्वयमेव निरा-
कुर्वन् कथमनुमत्तः ? स्वभूतिमात्रमर्थक्रियां विपक्षेऽपि कथं निरस्येत्, मिथ्याव्य-
वहारं वा ? संवित्तेरभेदेऽपि विषयाकारस्यैव विषयसाधनत्वं नाकारान्तरस्य । ततः—

[§ ९. तस्माद् विषयाकारस्य विषयसाधनत्वात्—]

नाभेदेऽपि विरुद्धयेत् विक्रिया विक्रियैव वा ।

- 10 परमार्थैकत्वेऽपि मिथ्याव्यवहारभेदात् ज्ञानस्यानेकार्थक्रियाकारिणः प्रति-
भासाः परमार्थासंवेदिनः तत्त्वं भेदाभेदात्मकं साधयन्ति ।

[§ १०. एवं तावद् सौत्रान्तिकमतमनेकान्तनान्तरीयकं प्रदर्श्य साम्प्रतं योगाचारमतं
तत्त्वान्तरीयकं प्रदर्शयन्नाह—]

मिथ्येतरात्मकं दृश्यादृश्यभेदेतरात्मकम् ॥९॥

- 15 चित्तं सदसदात्मैकं तत्त्वं साधयति स्वतः ।

चित्रनिर्मासिनः तत्त्वमविमार्गविज्ञानस्य दृश्यं यदि क्रमेणापि सदसदात्मकं
विवर्त्तत ततः सिद्धं द्रव्यपर्यायात्मकम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं वस्तुतत्त्वमन्तर्बहिष्
प्रमेयम् । एकान्तस्यानुपलब्धेः तदनेकान्तात्माऽर्थः इति ॥११॥

इति श्रीमहाकलङ्कविरचिते न्यायकुसुदचन्द्रोदये (१ तृतीयोऽध्यायः) परपरिकल्पितद्रव्यखण्डनमने-

- 20 कान्तनयेन द्रव्यव्यवस्थापन नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥



प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः ।



[§ ११. अथेदानीं परोक्षप्रमाणप्ररूपणायाह—]

ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता वा (चा) मिनिबोधिकम् ॥१०॥

प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ।

१ 'अविक्रियैव वा' इत्यपि पाठः न्यायकु० । २-गज्ञात- न्यायकु० । ३ इति न्यायकुसुदचन्द्रे (?)
प्रमेयत्वकमप्रतिपादकः द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः । ६० । ४-बोधकम् ६० । -बोधनम् मु० लघी० ।

श्रीमद्ब्रह्माकलङ्कदेवविरचितम्

स्वोपज्ञविज्ञितिसहितम्

॥ लघीयस्त्रयम् ॥



प्रमाणप्रवेशे प्रथमः प्रत्यक्षपरिच्छेदः ।



[§ १. तत्र शास्त्रस्यादौ शास्त्रकारो निर्विन्नेन शास्त्रपरिसमाप्त्यादिक फलमभिलषन्नि-
ष्टदेवताविशेषं नमस्करोति—]

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु त्याग्वादिभ्यो नमोनमः ।
कृष्णमादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥१॥

[§ २. सप्रमाणादिलक्षणवर्त्मनि कण्टकशुद्ध्यर्थं निराकुर्वन्नाह—]

सन्नानेषु निरन्वयक्षणिकचित्तानामसत्स्वेव चेत्,
तत्त्वाहेतुफलात्मनां स्वपरसङ्कल्पेन बुद्धः स्वयम् ।
सत्त्वार्थव्यवतिष्ठते करुणया मिथ्याविकल्पात्मकः,
स्याभित्यक्तवदेव तत्र समये नार्थक्रिया वस्तुनः ॥२॥

[§ ३. स्वमते प्रमाणादिलक्षणप्ररूपणार्थमिदमुपक्रमते ... अक्षुण्णसकलशास्त्रार्थ- १
सङ्ग्रहसमर्थमादिश्लोकमाह—]

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः ।

परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति सङ्ग्रहः ॥३॥

सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् अर्थान्तरवत् । नैवै 'ज्ञानम्' इत्येव
प्रमाणम् अतिप्रसङ्गात्, संव्यवहारानुपयोगिनः संशयवैपर्यासकारणस्य अकि- १

[§ १६. अथेदानीम् 'दृश्यानुपलब्धिरेव गमिका नान्या संशयहेतुत्वात्' इति नियम निराकुर्यन्नाह—]

अदृश्यपरचित्तादेरभावं लौकिका विदुः ।

तदाकारविकारादेरन्यथानुपपत्तितः ॥१५॥

- 5 अदृश्यानुपलब्धेः संशयैकान्ते न केवलं परचिन्ताभावो न सिद्ध्यति अपि तु स्वचित्तभावश्च; तदनंशतत्त्वस्य अदृश्यात्मकत्वात् । तथा च कुतः परमार्थसतः क्षणभङ्गसिद्धिः ? तद्विपरीतस्य अमेदलक्षणस्यैव स्यात् ॥१५॥

[§ १७ ननु चामेदलक्षणतत्त्वस्य सविकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना प्रतिपन्नत्वात् किं तत्र क्षणभङ्गाद्यनुमानेन ? इत्याशङ्कापनोदार्थमाह—]

- 10 बीक्ष्याणुपारिमाण्डल्यक्षणभङ्गाद्यवीक्षणम् ।

स्वसंविद्विषयाकारविवेकानुपलम्भवत् ॥१६॥

स्थूलस्यैकस्य दृश्यात्मन एव पूर्वापरकोट्योरनुपलम्भात् अभावसिद्धेरनित्यत्वं बुद्धेरिव वेद्यवेदकाकारैरेदस्य परमार्थसत्त्वम्, न पुनः परिमण्डलादेर्विज्ञानाऽनंश-
तत्त्ववत् । नापि क्षणिकपरिमण्डलादेरविभागज्ञानतत्त्वस्य वा ज्ञानुचित्त्ववयमुपलब्धिः

- 15 तथैवाऽप्रतिभासनात् । तत्कथञ्चित् तत्त्वभावप्रतिभासे अनेकान्तसिद्धिः ॥१६॥

[§ १८. एवं परस्य अनुपलब्धि निराकृत्य अत्रुना स्वभावादिहेतु निराकुर्यन्नाह—]

अनंशं बहिरन्तश्च प्रत्यक्षं तदभासनात् ।

कस्तत्त्वभावो हेतुः स्यात् किं तत्कार्यं यतोऽनुमा ॥१७॥

- साक्षात्त्वभावमप्रदर्शयतो निरंशतत्त्वस्यानुमितौ स्वभावहेतोरसम्भवः स्वभा-
20 वविप्रकर्षात् । तत एव कार्यहेतोः कार्यकारणयोः सर्वत्रानुपलब्धेः । न चात्र प्रत्य-
क्षानुपलम्भसाधनः प्रभवः कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता वा कारणशक्तिः, तदङ्गीकरणं
प्रमाणान्तरमन्तरेणानुपपन्नम् । स्वयमुपलब्धस्य प्रागूर्ध्वं चानुपब्धेः कुतक्त्वाद-
नित्यत्वं सिद्ध्येन्नान्यथा ॥१७॥

- [§ १९. यतो विकल्पबुद्धौ सिद्धाया तत्कल्पितोऽखिलोऽयं व्यवहारः स्यात्, न च
25 तत्सिद्धिः स्वतः परतो वा घटते इत्यावेदयति—]

धीर्विकल्पाविकल्पात्मा बहिरन्तश्च किं पुनः ।

निश्चयात्मा स्वतः सिद्ध्येत् परतोऽप्यनवस्थितेः ॥१८॥

सर्वविज्ञानानां स्वसंवेदनं प्रत्यक्षमविकल्पं यदि; निश्चयस्यापि कस्यचित्

स्मृतिहेतुधारणा संस्कार इति यावत् । ईहा-धारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुभेयं तदुपयोगविशेषात् ।

[§ ७. इदानीं स्वसंविदामपि ब्रह्मादिभेदमवग्रहादिकम् अवग्रहादीनाञ्च पूर्वपूर्वस्य प्रमाणत्वे फलचमुत्तरेत्तरस्य दर्शयन्नाह—]

ब्रह्माद्यवग्रहाद्यष्टचत्वारिंशत्स्वसंविदाम् ॥६॥

5

पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं फलं स्यादुत्तरोत्तरम् ।

परमार्थैकसंविचेवैधवेदकाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्थायां क्षणमङ्गादेरपि प्रत्यक्षत्वं प्रसज्येत । ततः किम् ? गृहीतग्रहणात् संवृतिवत्तदनुमानं प्रमाणं न स्यात् । तदनयोः समारोपव्यवच्छेदाविशेषात् संवृतेरपि प्रमाणान्तरत्वं स्यात् । सर्वस्यैव निर्विकल्पकज्ञानस्य समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षिणः प्रामाण्यं न स्यात् ततः संव्यव- 10 हारामावात् । अर्थक्रियार्थी हि प्रमाणमप्रमाणं वाऽन्वेपते । रूपादिक्षणक्षयादिस्फुटप्रतिभासाविशेषात् खण्डशः प्रामाण्यं यदपेक्षं तदेव फलं युक्तम् । तत्स्थतस्तत्कृतो न भवति, भावे वा निर्णीतिः अखण्डशः कृतो न भवेत् ? बहुबहुविधक्षिप्रानिसृताऽनुकृष्टवेतरविकल्पानामवग्रहादेः स्वभावभेदान्न विरुध्यते । प्रतिभासभेदेऽपि स्वभावभेदाभावकल्पनायां क्रमवृत्तिधर्माणामपि तथा भावात् कृतः क्रमः सुख- 15 दुःखादिभेदो वा परमार्थतः प्रतिष्ठापयेत् सहप्रतिभासवत् ? तदयमेकमनेकाकारं क्षणिकज्ञानं कृतश्चित्प्रत्यासत्तेः प्रतिभासभेदानामुपपन्नं क्रमवर्तिनामपि तथैकत्वं प्रतिपत्तुमर्हति हर्षविपादादीनाम्, अतोऽनेकान्तसिद्धिः । प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्नविषयत्वञ्च प्रत्येयम् ॥६॥

इति भट्टकलङ्कविरचिते न्यायकुसुदचन्द्रोदये (१ लघीयसूत्रे) प्रमाणप्रवेशः (शे) प्रथम. परिच्छेदः ॥ 20



प्रमाणाप्रवेशे द्वितीयः प्रमेयपरिच्छेदः ।



[§ ८. समीचीनञ्च विषयः प्रमाणस्य यादृशो भवति तं दर्शयन् प्रकृतमर्थश्चेपसंहरन्नाह—]

तद्रूपपर्यायात्मार्यो बहिरन्तश्च तत्त्वतः ॥७॥

भेदाभेदैकान्तयोरनुपलब्धेः अर्थस्य सिद्धिरनेकान्तात् । नान्तर्वहिर्वा स्वल्-

१ 'प्रमाण' नास्ति ई० । २-तस्तत्ततो इत्यपि पाठ न्यायकु० । ३ विपद्येत् ज० । ४ क्रमभावेऽपि न्यायकु० । ५ इति प्रत्यक्षप्रतिपादक प्रथम. परिच्छेद. सम्पूर्ण. । ई० । ६ ज०, ई० प्रत्यो सन्निवाक्येपु क्वचित् न्यायकुमुद्रचन्द्रस्य न्यायकुमुद्रचन्द्रोदयस्य बोत्तेष लघायत्ययव्याख्या-तस्य प्रभावचकृतन्यायकुमुद्रचन्द्रस्य भूमादेव जात । -सम्पा० ।

चिरनुमानात् प्रमाणान्तरं नवेति किञ्चिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात् । तत्स-
मञ्जसं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे एव प्रमाणे अन्यथा तत्सङ्गानवस्थानात् ॥२१॥

इति श्रीमद्भट्टाकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रोदये (? लघीयल्लये) परपरिकल्पितानु-
मानादिसङ्गणने सप्ततृणीतप्रमाणद्वयव्यवस्थापने तृतीयः परिच्छेदः ॥



5

प्रमाणप्रवेशे चतुर्थः आगमपरिच्छेदः ।



[§ २३. अथ प्रमाणाभासत्वेन प्रसिद्धं विज्ञानं कथञ्चिदेव तदाभास न सर्वथेति
प्रदर्शयिष्याह—]

प्रत्यक्षाभं कथञ्चित्स्यात् प्रमाणं तैमिरादिकम् ।
यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् ॥२१॥

10

तैमिराद्युपप्लवङ्गानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणम् यथा तत्सङ्गदादौ विसम्बा-
दकत्वादप्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् । नहि ज्ञानं यदप्यनुकरोति
तत्र प्रमाणमेव समारोपव्यवच्छेदाकाङ्क्षात् । कथमन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरद्वयिः
कृतस्य करणायोगात् ? तदेकान्तहानेः कथञ्चित्करणाणिष्टेः । तदस्य विसंवादोप्य-
वस्तुनिर्भासात् चन्द्रादिवस्तुनिर्भासानाम् अविसम्बादकत्वात् ॥२२॥

15

[§ २४. साम्प्रतं कल्पनापदेन यत्परेण तदाभासमुक्तं तदपि प्रत्यक्षं साधयिष्याह—]

स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थावभासनम् ।
संहृताशेषचिन्तायां सविकल्पावभासनात् ॥२३॥

20

सर्वतः संहृत्य चिन्तां स्तिमितान्तरात्मना स्थितोऽपि चक्षुषा रूपं संस्थानात्मकं
स्थूलात्मकमेकं सूक्ष्मानेकस्वभावं पश्यति न पुनः असाधारणैकान्तं स्वलक्षणम् ।
प्रतिसंहारव्युत्थितचित्तस्य तथैवाऽस्मरणात् । तस्मादविशदमेव अविकल्पकं प्रत्य-
क्षामम् । न विशदेतरविकल्पयोः विषयभेदैकान्तः प्रत्यासत्तेतरार्थप्रत्यक्षाणाम्
एकार्थवियततोपपत्तेः ॥२३॥

[§ २५. न हीमाः कल्पना अप्रतिसविदिता एवोदयन्ते व्ययन्ते च यतः सत्योऽप्यनु-
पलक्षिताः स्युरिति । तद्दूषयिष्याह—]

† एतदन्तर्गतं पाठो नास्ति ई० । † इति न्यायकुमुदचन्द्रे (?) परोक्षप्रमाणसङ्ख्यास्वरूपप्रति-
पादकः तृतीयोऽन्तर्गतः परिच्छेदः ॥२४॥ ई० । २-हाराव्यु- ई० ।

अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा । स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्य-
क्षमर्शस्य । संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य । चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः । प्राक्
शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रमेदम् ॥१०॥

[§ १२. ननु व्याप्तिप्रतीत्यर्थं तर्कलक्षणप्रमाणाम्बुपगमोऽनुपपन्नः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो
वा तस्याः प्रतीतिसिद्धेः इत्याशङ्का निराकुर्वन्नाह—]

5

अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित्सम्प्रतीयते ॥११॥

नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ।

नहि प्रत्यक्षं 'यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे दंशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं
नार्थान्तरस्य' इतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारक-
त्वात् । नाप्यनुमानान्तरम् ; सर्वत्राऽविशेषात् । नहि साकल्येन लिङ्गस्य लिङ्गिना 10
र्याप्तेरसिद्धौ कश्चित् किञ्चिदनुमानं नाम । § २) "तत्राप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्तं प्रमा-
णम्" इत्ययुक्तम् ; लिङ्गप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात् ॥११॥

[§ १३. कीदृशं तदनुमानमित्याह—]

लिङ्गात्साध्याविनाभावामिनिबोधैकलक्षणात् ॥१२॥

लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिवुद्ध्यः ।

15'

नहि तादात्म्यतदुत्पत्ती ज्ञातुं शक्येते विनाऽन्यथानुपपत्तिवितर्केण, ताभ्यां
विनैव एकलक्षणसिद्धिः । नहि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । नचात्र विसं-
वादोऽस्ति ॥१२॥

[§ १४. अत्रैवायं दृष्टान्तान्तरमाह—]

चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथानुमा ॥१३॥

20

नहि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा ॥१३॥

[§ १५. अपरमपि कार्यादिभ्योऽर्थान्तरं हेतुमुपदर्शयति—]

भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात् ।

श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥१४॥

तदेतद्भविष्यद्विषयमविसंवादकं ज्ञानं प्रतिबन्धसङ्ख्यां प्रमाणसङ्ख्याञ्च प्रति- 25
रुणद्धि ॥१४॥

१ न प्रत्य- व्यायुक्तं । २-तियतो ज० । ३-नुमान- ई० । ४ व्याप्तिर- ज० ।
५-पत्तिर्कणं व्यायुक्तं । -पत्तिर्वित- ज० ।

नहि पुरुषार्थमिसन्धयः सर्वे' अर्थान् व्यभिचरन्ति, अन्यथा वागर्थव्यभिचारैकान्तसम्भवात् । वाचोऽभिप्रायविसंवादे कुतस्तदनुमानम् ? सुगतेतरयोः आसेतरव्यवस्थां कुतश्चित् साधनासाधनाङ्गव्यवस्थां वा स्वयमुपजीवन् § ३) 'वक्तुरभिप्रेत तु वाचः सूचयन्त्यविशेषेण नार्थतत्त्वमपि' इति कथमविकल्पः ? ॥२८॥

5 [§ ३० अत्राह सौगतः—वक्तुरभिप्रायेऽपि यदि वचनस्य प्रामाण्यं नास्ति, माभूत्, किमष्टं प्रमाणद्वयवादिनः ? व्यवहारिजनानुरोधादेव तत्र तस्य प्रामाण्याभ्युपगमात् इत्याशङ्क्याह—]

पुंसश्चित्रामिसन्धेच्छेद् वागर्थव्यभिचारिणी ।

कार्यं दृष्टं विजातीयात् शक्यं कारणभेदि किम् ॥२९॥

श्रुतेर्बहुलं बहिरर्थाविसंवादेऽपि तदर्थप्रतिबन्धासिद्धेः वक्तुरभिप्रायानुविधा-
 10 यिन्याः सर्वत्र तदर्थानाश्वासः इति चेत् ; उक्तमत्र 'तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यां विनापि परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविसंवादः' इति । अपि च वृक्षोऽयं शिक्षपात्वात् अधिरत्र धूमादिति वा कथमाश्वासः कचिद्वृक्षपात्तादेरुपलब्धेः शिक्षपायाः स्वयमवृक्षत्वेऽप्यविरोधात् ? काष्ठजन्मनो मण्यादिसामग्रीप्रभवस्य अज्ञानजन्मनः तदर्थान्तरजन्मनश्च साकल्येन
 15 अग्निस्वभावाविरोधे पुनः 'अग्निजन्मैव धूमो नार्थान्तरजन्मा' इति कुतोऽयं नियमः ? यतः कार्यहेतोरव्यभिचारात् धूमादग्निरत्र इत्याश्वासः । कस्यचिदन्यथानुपपत्त्या परोक्षार्थप्रतिपत्तौ श्रुतज्ञानस्य स्वयमदृष्टतादात्म्यतदुत्पत्तेः कचिदविसंवादादस्य
 अन्यथानुपपत्तेः सिद्धं प्रामाण्यमिति ॥२९॥

इति श्रीमद्भाट्टकलङ्कविरचिते न्यायकुमुदचन्द्रे (१ लघीयस्ये) परोक्षागमखण्डने
 सप्रणीतागमस्थापने चतुर्थः परिच्छेदः ॥

20 एवमन्तर्गुतप्रत्यक्षादिपरिच्छेदचतुष्टयं प्रमाणप्रवेशं परिच्छेदं समाप्तं । न्यायकु० ।



२. द्वितीयो नयप्रवेशः ।



[§ ३१. अथ प्रमाण परीक्ष्येदानीं नयपरीक्षार्थमुपक्रमते—]

भेदामेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः ।

ये तेऽपेक्षार्जपेक्षार्थ्या लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः ॥३०॥

25 द्रव्यपर्यायात्मकमुत्पादव्ययप्रौढ्ययुक्तं सत् प्रमेयं वस्तुतत्त्वम्, तत्रैव कथञ्चित् प्रमाणतदामासयोर्भेदात् । नयो ज्ञातुरभिप्रायः । स द्रव्यार्थिकः, पर्याया-

स्वत एवाऽनिश्चयात् । निश्चयान्तरपरिकल्पनायामनवस्थानात् कुतः तत्संव्यवहार-
सिद्धिः ? ततः स्वार्थेऽपि कथञ्चिदमिलापसंसर्गयोग्यायोग्यविनिर्भासैकज्ञानं प्रति-
पत्तव्यं स्वरूपवत् ॥१८॥

[§ २०. एव परं प्रति तर्कादिक प्रमाणान्तरं प्रतिपाद्य इदानीमुपमानस्य प्रमाणान्तर-
त्वनियम विधुरयन्नाह—]

5

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।

तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ॥१९॥

प्रसिद्धार्थसाधर्म्यमन्यथानुपपन्नत्वेन निर्णीतञ्चेत् लिङ्गमेव, ततः प्रतिपत्तिर-
न्यथा न युज्यते । प्रत्यक्षेऽर्थे संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वे वृक्षोऽयमिति
ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम् गवयोऽयमिति यथा गवयदर्शिनः, प्रसिद्धार्थसाध- 10
र्म्यात् साध्यसिद्धेरभावात् गौरिव गवयः इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्ति-
वत् । प्रत्यक्षेषु इतरेषु तिर्यक्षु तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः किन्नाम प्रमाणम् ? हानो-
पादानोपेक्षाप्रतिपत्तिर्फलं नाप्रमाणं भवितुमर्हति ॥१९॥

[§ २१ तथा अपरमपि परस्य अनिष्ट प्रमाण दर्शयन्नाह—]

प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपत्तयः ।

13

तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा ॥२०॥

आगमाहितसंस्कारस्य तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः साकल्येन प्रमाणम-
प्रमाणं वा न पुनरुपमानमेव । यथा एतस्मात्पूर्वं पश्चिममुत्तरं दक्षिणं वा ग्रामधानकमे-
तन्नामकमित्याहितसंस्कारस्य पुनस्तदर्थदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिः । कथार्यं निश्चयः
संज्ञासंज्ञिसम्प्रतिपत्तिसाधनमेव समक्षेऽर्थे प्रमाणान्तरं न पुनः सङ्ख्यादिप्रतिपत्ति- 20
साधनमिति ? ॥२०॥

[§ २२. एतदेव दर्शयन्नाह—]

इवमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशुः नेति वा ।

व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥२१॥

दृष्टेर्वर्षेषु परस्परव्यपेक्षालक्षणम् औपम्यमहत्त्वादिज्ञानम् अधरोत्तरादिज्ञानं 25
द्वित्वादिसङ्ख्याज्ञानम् अन्यच्च प्रमाणम्, अविसम्बादकत्वात् उपमानवत् । अर्थाप-

१ युज्यते ज० । २ 'तिर्यक्षु' नास्ति ई० । ३-तिप्रमाणं ई० । ४-क ये तन्नाम-ई० । ५ संज्ञा-
सम्प्रति- ज० । ६-रव्य-ई० । ७ अल्पबहुत्वादि-ई० ।

[§ ३६. एवं प्रतिभासबलेन स्वपरमतविधिप्रतिषेधावभिधाय साम्प्रतमर्थक्रियाकारित्वबलेन तौ प्रतिपादयितुकामः प्रथमं क्षणिकैकान्ते अर्थक्रियां निराकुर्वन्नाह—]

लक्षणं क्षणिकैकान्ते नार्थस्यार्थक्रिया सति ।

कारणे कार्यभावश्चेत् कार्यकारणलक्षणम् ॥३५॥

- 5 सह क्रमेण वा अर्थक्रियाम् अक्षणिकस्य निराचिकीर्षुः कथञ्चित्क्षणिके अर्थ-
क्रियां साधयेत्, अन्यथा तल्लक्षणं सत्त्वं ततो व्यावर्तेत । नच क्षणिकानामनिश्चया-
त्मनां भावानां प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः सिद्ध्येत् विप्रकृष्टार्था-
न्तरवत् । 'यस्मिन् सत्येव यद्भावः तत्तस्य कार्यम् इतरत् कारणम्' इति लक्षणं
क्षणभङ्गे न सम्भवत्येव कार्यकारणयोः सहभावापत्तेः; अन्यथा क्षणभङ्गभङ्ग-
10 प्रसङ्गात् ॥३५॥

[§ ३७. ननु यस्मिन्निति सप्तमी कारणभावे कार्यभावं सूचयति, स च पूर्वमेव स्वसत्ताक्षणे
कारणे सति उत्तरक्षणे कार्यभावो न विरुध्यते, यथा गोषु दुग्धमानासु गतः दुग्धासु आगत इति ।
समसमयमावित्वे चानयोः कार्यकारणभावविरोधात् सन्ध्येतरगोषिषाणवत् इत्यारेकापनोदर्थमाह—]

कार्योत्पत्तिर्दिष्टा चेत् स्वयं कारणसत्तया ।

- 15 युज्येत क्षणिकैऽर्थैऽर्थक्रियासम्भवसाधनम् ॥३६॥

- नहि कार्योत्पत्तिः कारणस्याभावं प्रतीक्षते, यतः तदर्थक्रिया अक्षणिकत्वे विरु-
ज्येत । निष्कारणस्य अन्यानपेक्षया देशकालनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा सर्वथैव
भावानुपपत्तात् । तदयं भावाऽभावयोः कार्यकारणतां लक्षयेत् सर्वथा भावस्यैव
वा । स्वलक्षणस्य कचित् प्रत्यक्षानुपलम्भाऽसिद्धेः कुतः कार्यव्यतिरेकोपलक्षणं
20 कारणशक्तेः ? ॥३६॥

[§ ३८. कार्यस्य देशवत् कालेऽपि असत् एव कारणादेव उदयोपगमात्, कथमन्यथा
जाग्रद्विज्ञानात् प्रबोधः भाविमरणादेर्वा अरिष्टादिकमित्याशङ्क्याह—]

यथैकं भिन्नदेशार्थान् कुर्याद्वाप्नोति वा सकृत् ।

तथैकं भिन्नकालार्थान् कुर्याद्वाप्नोति वा क्रमात् ॥३७॥

- 25 यथा क्षणिकं स्वलक्षणं नानादिदेशभावीनि कार्याणि स्थानसङ्करव्यतिक-
रव्यतिरेकेण करोति तत्करणैकस्वभावत्वात् । नहि सामग्रीमेदात् कार्यमेदेऽपि
तत्कारणस्वभावमेदः । तथैकमक्षणिकं कारणं यद्यदोत्पित्सु कार्यं तत्तदैव करोति
तत्करणैकस्वभावत्वात् । सर्वदा कार्यकालानतिक्रमेण कारणसामर्थ्यात् तदात्मक-
मेकमेव इत्यविरुद्धम् । यथा विज्ञानं स्वनिर्मासमेदान् गुणी गुणान् अवयवी अव-

प्रतिसंविदितोत्पत्तिव्ययाः सत्योपि कल्पनाः ।

प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरस्तत्स्वलक्षणमेदवत् ॥२४॥

सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात् तद्विशेषादर्शिनोऽनवधारणम् असमीक्षितमि-
धानम्; सर्वथा तत्सदृश्यानिष्टेः । प्रतिसंहारैकान्तः संभवति न वेति चिन्त्यमेतत् ।
कथञ्च प्रत्यक्षबुद्ध्यः सर्वथाऽविकल्पाः पुनर्विकल्पेन ? ॥२४॥

5

[§ २६. ततः स्थितमर्थमुपदर्शयन्नाह—]

अक्षधीः स्मृतिसंज्ञामिच्छिन्तयाऽऽमिनिबोधिकैः ।

व्यवहाराविसंवादस्तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥२५॥

प्रत्यक्षस्मृतिप्रत्यभिज्ञोद्धानुमानादिभिः अविस्वादसिद्धेः अर्थेषु तत्प्रामाण्यम्,
अन्यथा तदाभासव्यवस्था । तथैव श्रुतज्ञानतदाभासव्यवस्था ॥२५॥

10

[§ २७. ननु श्रुतज्ञान प्रमाणमेव न भवति तत्कथं तद्व्यवस्था इत्याशङ्क्याह—]

प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु ।

अनाश्वासं न कुर्वीरन् क्वचित्तद्व्यभिचारतः ॥२६॥

श्रुतज्ञानं वक्त्रमिप्रायादर्थान्तरेऽपि प्रमाणम् । कथमन्यथा द्वीपदेशनदीपर्व-
तादिकमदृष्टस्वभावकार्यं दिग्विभागेन देशान्तरस्थं प्रतिपत्तुमर्हति निरारेकम-
विस्वादं च ॥२६॥

15

[§ २८. ननु चार्थमात्रेऽपि श्रुते प्रायः प्रवृत्तिदर्शनाच्च क्वचिदप्यसौ प्रमाणमित्या-
शङ्क्याह—]

प्रायः श्रुतेर्विस्वादात् प्रतिबन्धमपश्यताम् ।

सर्वत्र चेदनाश्वासः सोऽक्षलिङ्गधियां समः ॥२७॥

20

नहि इन्द्रियज्ञानम् अम्रान्तमव्यभिचारीति वा विशेषणमन्तरेण प्रमाणम् अस्ति-
प्रसङ्गात् । तथाविशेषणे श्रुतज्ञाने कोऽपरितोषः ? यथा कृतिकादेः शकटादिज्ञानं
स्वभावप्रतिबन्धमन्तरेण तथैवादृष्टप्रतिबन्धार्थमभिधानं ज्ञानमविस्वादकम् । नहि
दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । क्वचिद् व्यभिचारे साकल्येनाऽनाश्वासे वक्त्रमिप्रायेऽपि वाच
कथमनाश्वासो न स्यात् तत्रापि व्यभिचारसम्भवात् ? तथाऽनिच्छतः श्रुतिकल्पना-
दुष्टादेः उच्चारणात् ॥२७॥

25

[§ २९. किञ्च—]

आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थविनिश्चये ।

सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः ? ॥२८॥

प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि स न स्यात्तत्त्वतस्तयोः ।

मिथ्यैकान्ते विशेषो वा कः स्वपक्षविपक्षयोः ॥४१॥

शुद्धमशुद्धं वा द्रव्यं पर्यायं व्यस्तं समस्तं वा व्यवस्थापयता तत्साधनं प्रमाणं मृग्यम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । तत्प्रामाण्यं च व्यवहारेणैव, स च सङ्गहे मेदाश्रयो मिथ्यैव । ततः सप्र (सः प्र) तिपक्षं कथमतिशयीत सत्येतरस्वरूपवत् ? मिथ्यैकान्ताविशेषेऽपि तद्व्यवस्थापनमयुक्तम् ; तदुभयोपलब्धेरवितथात्मकत्वात्, अन्यथा स्वमान्तरवत् तद्विसंवादाच्च किञ्चित्प्रमाणम् । नैगमेऽपि चर्लं गुणप्रवृत्तं नित्यं चैतन्यमिति व्यवहाराऽसिद्धेः स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । नहि

§ ४) “गुणानां परम रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।

10

यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायै(ये)व सुतृच्छकम् ॥”

इति प्रमाणमस्ति । समवायेन स्वावयवेषु अवयवी वर्तेत भृङ्गे गौः शाखायां वृक्षः इति लोकव्यवहारमतिवर्तेत विपर्ययात् । स्वयमज्ञस्वभावात्मा ज्ञानसमवाये कथमिव ज्ञः स्यात् ? नहि तथाऽपरिणतस्य तत्त्वम्, समवायस्यापि ज्ञत्वप्रसङ्गात् । नवै ज्ञानसमवायोऽस्ति समवायस्येति चेत् ; कथं स्वस्वमावरहितः सोऽस्ति, वर्तेत वा समवायान्तराभावात् ? तदनवस्थानुपपन्नात् ॥४१॥

[§ ४२. इदानीं व्यवहारनयं दर्शयितुमाह—]

व्यवहाराविसंवादी नयः स्याद् दुर्नयोऽन्यथा ।

बहिरर्थोऽस्ति विज्ञप्तिमात्रेण शून्यमितीदृशः ॥४२॥

प्रत्यक्षस्याऽपि प्रामाण्यं व्यवहारापेक्षम् । स पुनः अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकः । कथम् ? उत्पादविगमप्रौढ्यलक्षणं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, जीवश्चैतन्यस्वभावः इति श्रुतेः । प्रमाणान्तरार्वाधानं पूर्वोपराऽविरोधश्चाऽविसंवादः । तदपेक्षोऽयं नयः । ततोऽन्यथा दुर्नयः । कथम् ? बहिरपि स्वलक्षणमर्थक्रियासमर्थं सदङ्गीकृत्य, तत्प्रतिषेधेण विज्ञप्तिमात्रमन्तस्तत्त्वमिति प्रत्यवस्थाप्य, तदतिरिक्तस्मैक्षिकया निरीक्षणं न परीक्षाक्षममिति स्वभावनैरात्म्यमसाध्यसाधनमाकुलं प्रलपच्च कचिद्व्यवतिष्ठेत स्वपरविसंवादव्यसनीयेन प्रत्यक्षादिनिरोधात् । तदन्यतमस्याभिमतत्वात् पुनरलं शेषप्रलापेन ॥४२॥

[§ ४४. इदानीं ऋजुमूत्रनयं सामासं दर्शयिमाह—]

ऋजुसूत्रस्य पर्यायः प्रधानं चित्रसंविदः ।

चेतनाणुसमूहत्वात् स्याद्भेदानुपलक्षणम् ॥४३॥

१ ‘पर्याय’ नास्ति ई० । २ ‘वा’ नास्ति ज० । ३ बल ई० । ४ ‘सोस्ति’ नास्ति ई० । ५-प्रस-
म० लघी० । ६-भाषने ज० । ७ पुनरपि विरोधवच्च विसंवादः ई० । ८ ‘शेष’ नास्ति ई० ।

र्थिकश्च । द्रवति द्रोष्यति अर्दुद्रवत् इति द्रव्यम्, तदेवायोंऽस्ति यस्य सो द्रव्या-
र्थिकः । सोऽभेदाश्रयः ॥३०॥

[§ ३२. ननु सकलमावाना देशकालाकारैरखन्तमेदात् नामेदो नाम, अतः कथमसौ
अभेदाश्रयः स्यादित्यारेकापनोदार्थमाह-]

जीवाजीवप्रभेदा यदन्नलीनास्तदस्ति सत् ।

5

एकं यथा खनिर्भासि ज्ञानं जीवः स्वपर्ययैः ॥३१॥

यथैव ज्ञानस्य आत्मनिमा (निर्मा) समेदा नैकत्वं बाधन्ते जीवस्य अजीवस्य
वा कस्यचित् स्वगुणपर्यायाः, तथैव सत्त्वस्य भेदा जीवाजीवादयः । तदेवम्—

[§ ३३ तस्मिन् सत्त्वे एवमुक्तप्रकारेण जीवाजीवात्मके स्थिते सति-]

शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति सद्ब्रह्मस्तदभेदनः ।

10

भेदानां नाऽऽसदात्मैकोप्यस्ति भेदो विरोधतः ॥३२॥

सर्वमेकं सदविशेषादिति सद्ब्रह्मः । सतां च स्वभावानां भावैकत्वाबाधनात् ।
नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विप्रतिषेधात् । नहि किञ्चिज्ज्ञानं सद्रूपं द्रव्यमन-
वबुद्ध्य भेदं गृह्णानि नाम ॥३२॥

[§ ३४ अत्राह सौगम्य-यदुक्तम्—‘यथा ज्ञानम्य आत्मनिर्भासमेदा नैकत्व बाधन्ते’ इति; 15
तदयुक्तम्, निर्गैकज्ञानोपगमात् । पुरुषाद्वैतवाच्यं आह—निस्तरङ्गं पुरुषमात्रं तत्त्वं
जीवाजीवप्रभेदं पुनरुपलब्धं, नतो ‘जीवस्याऽजीवस्य वा’ इत्याद्यप्युक्तमित्याशङ्क्याह—]

प्रत्यक्षं बहिरन्नश्च भेदाज्ञानं सदात्मना ।

द्रव्यं म्वलक्षणं तंसेद्भेदात्सामान्यलक्षणम् ॥३३॥

स्वार्थभेदानवबोधेऽपि भ्रान्तं ज्ञानं सर्वं सद्रूपेण प्रत्यक्षं द्रव्यं स्थलक्षणं 20
विद्यात्, अन्यथा भ्रान्तेरभावप्रसङ्गात् ॥३३॥

[§ ३५. ननु प्रतिक्रियलक्षणज्ञानादिक्रियप्रतिरिक्तस्य जीवादिद्रव्यस्यासम्भवात्कथं
‘द्रव्यं शसेत्’ इत्याद्युक्तं गोमेत २ इत्याशङ्क्याह—]

सदसत्स्वार्थनिर्भासैः सहकमविवर्तिभिः ।

दृश्यादृश्याैर्विभात्येकं भेदैः स्वयमभेदकैः ॥३४॥

25

यथैकं क्षणिकं ज्ञानं सद्भिरसद्भिर्वा प्रतिभासभेदैः स्वयमभेदकैरिष्टं तथैकं द्रव्यं
सहकमभाविभिः स्वयमभेदकैः भेदैः दृश्यैरदृश्यैश्च अनादिनिधनमवगन्तव्यम् ।
बहिरिव ज्ञानपरमाणुसञ्चये पुनः अन्योन्यानात्मकत्वे सर्वथाऽसङ्गमव्यवस्थायामेक-
स्थूलनिर्भासविरोधात् ॥३४॥

[§ ४७. ननु यवर्षाभावेऽपि तज्ज्ञानं स्यात्तर्हि सर्वमेव शाब्दज्ञानमप्रमाणं स्यात् ।
प्रयोगः—विवादास्पदीभूतं शब्दार्थज्ञानमप्रमाणं तत्त्वात् प्रकृतज्ञानवदित्याशङ्क्याह—]

अर्धशब्दार्थविज्ञानमविसंवादतः समम् ।

अस्पष्टं शब्दविज्ञानं प्रमाणमनुमानवत् ॥४६॥

- 5 तदुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षणैर्न्यमिचारेऽपि आत्मना यदर्थपरिच्छेदलक्षणं ज्ञानं
तत्तस्येति सम्बन्धात् । वागर्थज्ञानस्यापि स्वयमविसंवादात् प्रमाणत्वं समक्षवत् ।
विषयान्यतिरेकेण वागर्थज्ञानं वस्तुतत्त्वं प्रत्याययति अनुमानवत्, सम्बन्धनियमा-
भावात् । वाच्यवाचकलक्षणस्यापि सम्बन्धस्य बहिरर्थप्रतिपत्तिहेतुतोपलब्धेः ॥४६॥

- [§ ४८. ननु कालादीनां ग्राहकप्रमाणाभावतोऽभावात् सतामप्यभेदात्, अन्यतः काल-
10 भेदाच्चद्वेदे अनवस्था स्यात् । अर्थभेदाच्चद्वेदे अन्योन्याश्रयः । ततोऽयुक्तमुक्तं 'कालकारक'
इत्यादि ; इत्याशङ्क्याह—]

कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम् ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थनिर्दिष्टितम् ॥४७॥

- नहि एकान्ते वर्तनालक्षणं कालस्य सम्भवति । भूतभविष्यद्वर्तमानप्रभेदो यतः
15 सात्तदर्थक्रियानुपपत्तेः । न च द्रव्यं शक्तिः तदुभयं वेति कारकलक्षणम् ; शक्तिशक्ति-
मतोर्न्यतिरेकैकान्ते सम्बन्धाऽसिद्धिः, अनवस्थानुपपत्त्यात् । तदव्यतिरेकैकान्ते
'शक्तिः शक्तिमतः' इति रिक्ता वाच्यशक्तिः । तत्र एकान्ते पदकारकी व्यवतिष्ठत ।
कुतः पुनः स्त्यायत्यस्यां गर्भः इति स्त्री, प्रसूते स्वान् पर्यायान् इति पुमान्,
तदुभयात्यये नपुंसकम् इति शब्दार्थप्रत्ययानाम् अन्यतमस्यापि लिङ्गव्यवस्था ?
20 तथैकस्यार्थस्य इन्दनादिन्द्रः, शकनात् शक्रः, पुरं दारयतीति पुरन्दरः इति
पर्यायभेदात् भिन्नार्थता तद्वाचिनां शब्दानां न सम्भवत्येव, व्यतिरेकेतरैकान्तेयोः
तत्र विरोधात् । तत एव क्रियाकारकयोस्तत्र असम्भवो विज्ञेयः । तदनेकान्तसिद्धिः
विधिप्रतिषेधाभ्यां तदर्थमिधानात् । नानावैकान्तः कुतः, तदभिधानलिङ्गाद्यसम्भ-
वोपालम्भः साक्षादभनुवञ्चेत ? ॥४७॥

- 25 [§ ४९. यत्स्वानेकान्तेन तदुपालम्भमात्रावः अतः—]

एकस्यानेकसामग्रीसन्निपातात् प्रतिक्षणम् ।

षड्कारकी प्रकल्प्येत तथा कालादिभेदतः ॥४८॥

१ एकात् सव्याह— ई० । २-लक्षण व्य—ई० । ३ तत्तथेति ज० । ४ प्रत्याययति ई० ।
५-निर्विचलम् ज० । ६ वेति ई० । ७ शक्तिव्य— ई० । ८-मयाभावे नपुं—ई० । ९-तन्मोः ज० ।
१० भवकान्तः ज० । ११ प्रकल्पेत ज० ।

यवान् व्याप्नोति सकृदपि तदात्मकत्वात् तथैव द्रव्यं स्वपर्यायमेदान् स्वयमभेद-
कत्वात्तेषां स्वभावाभिमिति । एवम्—

[§ ३९. तत्र परसङ्ग्रह प्रदर्शयितुमाह—]

सङ्ग्रहः सर्वभेदैक्यमभिप्रैति सदात्मना ।

ब्रह्मवादस्तदाभासः स्वार्थभेदनिराकृतेः ॥३८॥

5

नहि कश्चिदसदात्मा भेदोऽस्ति विरोधात् । यद्यदात्मकं तदादेव यथा स्वनि-
र्भासभेदात्मकं ज्ञानम्, तस्मात्सदात्मनो भेदाः सन्मात्रमेव नान्यदिति मद्ब्रह्मः तत्रा-
धान्याच्च तु भेदप्रतिज्ञेयात् । स्वपर्यायभेदानपेक्षया तत्प्रतिरूपकत्वं ब्रह्मवादवत् ॥३८॥

[§ ४०. अधुना नैगमतदाभासरूपणार्थमाह—]

अन्योन्यगुणभूतैकभेदाभेदप्ररूपणात् ।

10

नैगमोऽर्थान्तरत्वोक्तौ नैगमाभास इत्यते ॥३९॥

स्वलक्षणभेदाभेदयोरन्यतरस्य प्ररूपणायाम् इतरो गुणः स्यात् इति नैगमः ।
यथा जीवस्वरूपनिरूपणायां गुणाः सुखदुःखादयः, तत्प्ररूपणायां चान्ता । तद-
र्थान्तरताभिसन्धिः नैगमाभासः । कथम् ? गुणगुणिनाम् अवयवावयविनां क्रिया-
कारकाणां जातितद्वताञ्च मिथोऽर्थान्तरत्वे सर्वथा वृत्तिविरोधात् । एकमनेकत्र 15
वर्चमानं प्रत्येकं सर्वात्मना यदि स्यात् ; तदेकमित्वेवं न स्यात् । यदि पुनः एकदे-
शेन वर्येत ; तदेकदेशेष्वपि तथैव प्रमङ्गात् क्व किं वर्येत ? ॥३९॥

[§ ४१. एव गुणगुण्यादीना भेदेकान्त निराकृत्य सत्तातद्वता त निराकर्तुमाह—]

स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत् सत्तया किं सदात्मनाम् ।

असदात्मगु नैपा स्यात् सर्वथाऽतिप्रमङ्गनः ॥४०॥

20

यथा सदर्थान्तराणि स्वतः सन्ति तथैव द्रव्यगुणकर्माणेष्वेव गन्तुं किं तत्र
मत्ताममवायेन ? स्वतः मतां तद्वयर्थ्यात्, असतां चातिप्रसङ्गात् । तदेवमवान्तर-
जातिष्वपि योज्यम् । गोत्वादेः सर्वगतत्वे तत्प्रत्ययसाङ्ख्यम्, अन्यथा निष्क्रियस्य
अर्थोत्पत्तिमुद्देशमव्याप्नुवतः अनशम्य अनेकत्र कदाचिन्मन्वर्चनमयुक्तम् । गुणगु-
ण्यादीनामन्योन्यात्मकत्वे न किञ्चिद्विरोद्धमित्यलं प्रमङ्गेन । गुणानां वृत्तिं चलं 25
सत्त्वरजस्तमसां सुखज्ञानादिकं चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमचलमित्येतदपि तादृगेव ;
तदर्थान्तरनाऽसिद्धेः, अतिप्रमङ्गत्वं तदभेदे विरोधाभावात् । गुणानां दृष्ट्याह-
रयात्मकत्वे पुंसामेव तदात्मकत्वं युक्तं कृतं गुणकल्पनया ॥४०॥

[§ ४२. अधुना प्रमाणाभावात् तदाभासता तयोर्दर्शयितुमाह—]

३. तृतीयः प्रवचनप्रवेशः ।



[§ ५२. अथ प्रमाणनयस्वरूप निरूप्य इदानीं प्रमाणविशेषस्य आगमस्य स्वरूपं प्रयग्निरूपयितुमुपक्रमते, तत्रानेकवा विप्रतिपत्तिसद्भावात् । तदादौ च शास्त्रस्य मध्यमङ्गलभूतम् इष्टदेवताविशेषगुणस्तोत्रमाह—]

5

प्रणिपत्य महावीरं स्याद्वादेक्षणसप्तकम् ।

प्रमाणयननिक्षेपानभिधास्ये यथागमम् ॥५१॥

[§ ५३. तत्र प्रमाणादीना समासतो लक्षण प्रतिपादयन्माह—]

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरूपायो न्यास इष्यते ।

नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥५२॥

10

ज्ञानं प्रमाणं कारणस्याप्यचेतनस्य प्रामाण्यमनुपपन्नम् असन्निकृष्टेन्द्रियार्थवत् । विषमोऽयमुपन्यासः, असन्निकृष्टस्य तदकारणत्वादिति; नैतत्सारम्; अर्थस्य तदकारणत्वात्, तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तात्वात्, अर्थस्य विषयत्वात् । नहि तत्परिच्छेदोऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात् प्रदीपस्येव घटादिः ॥५२॥

[§ ५४. किञ्च अर्थस्य ज्ञानं प्रति कारणत्वे सिद्धे अयं नियमः परिकल्प्येत, असिद्धे

15

वा ? न तावदसिद्धे अतिप्रसङ्गात् । अथ सिद्धे कुतः तत्सिद्धिः ? तत एव ज्ञानात्, अन्यतो वा ? न तावत्तत एव; यतः -]

अयमर्थ इमि ज्ञानं विद्याल्लोत्पत्तिमर्थतः ।

अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥५३॥

अर्थं परिच्छिन्दद् विज्ञानम् आत्मनः कारणान्तरमपरं सूचयत्येव । नहि ततः

20

स्वभावलामं प्रति व्याग्रियमाणस्य तत्परिच्छिन्निः अनुत्पन्नत्वात् । उत्पन्नस्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत् । यदि कारणकार्यभावमात्मार्थयोर्विज्ञानं परिच्छिन्द्यात् न कश्चिद्विप्रतिपत्तिमुहति कर्तृकरणकर्मसु ॥५३॥

[§ ५५. अन्वयव्यतिरेकौ अनुकरोति च ज्ञानमर्थस्येत्याशङ्क्याह—]

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत् कारणं विदः ।

25

संशयादिविदुत्पादः कौतस्तुत इतीक्ष्यनाम् ? ॥५४॥

बुद्धेरेव व्यभिचारे नार्थस्य । कथमव्यभिचारिणोऽर्थस्य अन्वयव्यतिरेकावनुकुर्वती व्यभिचारेभ्याम् ? ततः संशयादिविज्ञानमहेतुकं स्यात् । तिमिराद्युग्रमणनौयानसङ्गोमादिहेतुत्वे कर्ममर्थमर्थः पुण्यातीति मृग्यम् ? सत्यज्ञानेऽपि तिमिराद्य-

यथा बहिः परमाणवः सन्निविष्टाः खवीयांसमेवैकमाकारमभूतं दर्शयन्ति
तथैव संवित्परमाणवोऽपि । तन्नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमं यत् सक्रमं साधयेत्, मेदस्य
अमेदविरोधात्, कचिच्चानात्वमेव अन्यथा न स्यात् । सापेक्षो नयः, निरपेक्षो
दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिपत्तुमर्हत्येव
विशेषाभावात् । तदन्यतरापायेऽर्थस्याऽनुपलब्धेः ॥४३॥

5

[§ ४५. अधुना शब्दसमभिरुद्धेऽन्यम्भूतानयान् कथयन्नाह—]

कालकारकलिङ्गानां भेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत् ।

अभिरुद्धस्तु पर्यायैरित्यम्भूतः क्रियाश्रयः ॥४४॥

कालभेदात्तावदभूत् भवति भविष्यति इति, कारकभेदात् करोति क्रियते
इत्यादि, लिङ्गभेदात् देवदत्तो देवदत्ता इति, तथा पर्यायभेदात् इन्द्रः शक्रः पुरन्दर
इति, तथैतौ शब्दसमभिरुद्धौ । क्रियाश्रयः एवम्भूतः । कुर्वत एव कारकत्वम्,
यदा न करोति तदा कर्तृत्वस्यायोगात् । तत्कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तं
वस्तु प्रत्येति ? कथं च न ? तदप्रतिषन्धात् ; 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येतत्
प्रतिव्यूढम् ; विज्ञानस्य अनागतविषयत्वनिर्णयेन ॥४४॥

10

[§ ४६. ननु शब्दाः सङ्केतितमेवार्थं प्राप्नुनान्यम् अतिप्रसङ्गान् । सङ्केतश्च नापिपयी-
कृतानां शब्दार्थानां शुद्धो तन्निर्विषयताप्राप्ते । तद्विपर्ययकरणञ्च नाप्यन्तेन, शब्दाव्यक्षस्य
अभिधेये, तदव्यक्षस्य च अभिधानेऽप्रवृत्तं । नापि स्थूला, तस्या निर्विषयत्वादित्याशङ्क्याह—]

15

अक्षबुद्धिरतीतार्थं वेत्ति चेन्न कुतः स्मृतिः ।

प्रतिभासमिदैकाऽर्थे दूरास्तन्नाक्षबुद्धिबन् ॥४५॥

क्षणिकाक्षज्ञानज्ञेययोः कार्यकारणत्वनियमे निर्विषयं प्रत्यक्षं तत्कारणस्य
अतीतस्य तदनात्मकत्वात्, प्रागभावप्रध्वंसाभावयोः समनन्तरेतरविनाशयोश्च
अभावाऽविशेषात् । तदुत्पत्तिमारूप्ययोरसम्भवात्, व्यभिचाराच्च किं कस्य ज्ञान-
मित्युक्तम् । यदि पुनः अतीतमर्थं प्रत्यक्षं कथञ्चिद्वेति स्मृतिः कथञ्च संविद्यात् ?
साक्षादतदुत्पत्तेरतादृश्याच्च इति वैयात्यम् ; व्यवहितोत्पत्तावपि तद्व्यापानुवृत्तेर्दर्शनात्
दृष्टार्थस्वप्नवत् । प्रत्यक्षस्मृत्योः प्रतिभासभेदाद्वैकार्थत्वमनैकान्तिकम् ; दूरास्तन्नै-
कार्थप्रत्यक्षयोः भिन्नप्रतिभासयोरपि तदेकार्थविषयत्वात् । दूराक्षार्थज्ञानं आन्तेर-
प्रत्यक्षं प्रमाणान्तरं स्यात् । नहि ततोऽर्थं परिच्छिद्यं प्रवृत्तौ विसंचादैकान्तः
तदप्रमाणं यतः स्यात् । तदर्थं शब्दार्थौ स्मृत्या सङ्गलप्य सङ्केते पुनः शब्दप्रतिपत्तौ
तदर्थं प्रत्येति । स्मृतिप्रत्यभिज्ञानादेरपि परमार्थविषयत्वात् । तदर्थभावेऽपि
प्रत्यक्षवत् शब्दार्थज्ञानं वस्तुन्यपि सङ्केतसम्भवात् ॥४५॥

25

80

तम् ; तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनमावरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशयादिज्ञानसम्भवात् । काचाद्युपहतेन्द्रियाणां शब्दादौ पीताद्या-
कारज्ञानोत्पत्तेः, मृमूर्खाणां यथासम्भवमर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात्
नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति स्थितम् ॥५७॥

5 [§ ५६. अत्रैव दूषणान्तरमाह—]

न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह ।

प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुनाम् ॥५८॥

नार्थः कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीततमवत् । न ज्ञानं
तत्कार्यं तदभाव एव भावात् तद्भावे चाऽभावात् भविष्यत्तमवत् । नार्थसारूप्यमृ-
10 द्विज्ञानम् अमूर्चत्वात् । मूर्चा एव हि दर्पणादयः मूर्चमुखादिप्रतिविम्बधारिणो दृष्टाः,
नार्थमूर्चं मूर्चप्रतिविम्बमृत्, अमूर्चं च ज्ञानं मूर्तिधर्माभावात् । नहि ज्ञानेऽर्थोऽस्ति
तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत शब्दवत् । ततः तदध्यवसायो
न स्यात् । कथमेतदविद्यमानं त्रितयं ज्ञानप्रामाण्यं प्रत्युपकारकं स्यात् अलक्ष-
णत्वेन ? ॥५८॥

15 [§ ६०. ननु ज्ञानस्य वदुत्पत्तिरित्यास-४वे कथमर्थग्राहकत्वमिति प्रसङ्गादित्यरेकाग्रमाह—]

स्वहेतुजनितोऽर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।

तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥५९॥

अर्थज्ञानयोः स्वकारणादात्मलाभमासादयतोरेव परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावः
नाऽलक्षणात्मानोः कर्तृकर्मस्वभाववत् । ततस्तदुत्पत्तिमन्तरेणापि ग्राह्यग्राहकभाव-
20 सिद्धिः स्वभावतः स्यात्, अन्यथा व्यवस्थाभावप्रसङ्गात् ॥५९॥

[§ ६१. ननु सिद्धेऽपि स्वरूपतत्तद्भावे तत्फलं वक्तव्यम् । तच्च अधिगतिमात्रमित्येकं,
स्वरूपस्यैवाधिगतिरित्यन्ये, अर्थस्यैवेत्यपरे । इत्याशङ्क्याह—]

व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् ।

ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥६०॥

25 अनिर्वीतित्फलस्यै नाधिगमोऽस्ति विचार्यमाणायोगात् । अविसंवादकत्वं च
निर्णयाय च तदभावेऽभावात् तद्भावे च भावात् । व्यवसायफलं ज्ञानं मुख्यं प्रामाण्यमिति
व्यवस्थितम् । स्वतोऽध्यवसायस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्गत्वात्, तदुत्पत्तिं प्रत्यङ्गत्वे
अभिलापसंसर्गयोग्यता न प्रतिषेध्या, अन्यथा विकल्पोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात् । सति

प्रतिक्षणं प्रत्यर्थं च नानासामग्रीसन्निपातात् षट्पारकीसम्भवेऽपि यथैकं
स्वलक्षणं स्वभावकार्यमेदानां तदसेदकत्वात् तथा कालादिभेदेऽपि । तत्प्रतिक्षेपो
दुर्नयः, तदपेक्षो नयः । स्यार्थप्राधान्येऽपि तद्वगुणत्वात् । तदुभयात्मायैज्ञानं प्रमाणम् ।

[§ ५०. ननु नयः सर्वोऽपि मानसो विकल्पः । विकल्पश्च निर्विषय एव तत्त्वात्
प्रधानादिविकल्पवत्, तत्कय तेन कस्यचिदधिगमः स्यादित्याशङ्क्य 'विकल्पत्वात्' इत्यस्य ४
हेतोः तर्कादिना धनैकान्तिकश्च दर्शयन्नाह—]

व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः,
साकल्येनैव तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैकदेशे ।

प्रामाण्ये चानुभायाः स्मरणमधिगतार्थैर्विसंवादि सर्वम्,
संज्ञानञ्च प्रमाणं समधिगतिरतः सप्तधाख्यैर्नयैः ॥४९॥

10

[§ ५१. तैश्च तेषां समधिगतौ सत्या यज्जात तद्दर्शयति—]

सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नम-

स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तमाह ।

तत्रैव शक्यपरीक्षणं सकलविज्ञैकान्तवादी ततः,

प्रेक्षवानेकलङ्कमेति शरणं त्वामेव वीरं जिनम् ॥५०॥

15

नयप्रवेशे पञ्चमः परिच्छेदः ।

इति प्रमाणनव (य) प्रवेशः समाप्तः ।

कृतिरिय सकलवादिचक्रचक्रवर्तिनो भगवतो भट्टाकलङ्कदेवस्येति ।



[मोहेनैव परोऽपि कर्मभिरिह प्रेत्यामिबन्धः पुनः,

भोक्ता कर्मफलस्य जातुचिदिति प्रभ्रष्टदृष्टिर्जनः ।

20

कस्माच्चित्रनपोमिरुयतमनाञ्चैत्यादिकं चन्दते,

किं वा तत्र तपोऽस्ति केवलमिमे धूर्तैर्जडा वञ्चिताः ॥]

१ यथैकत्व-ज० । २-यै सा-ज० । ३-वानु-ज० । ४-व्याप्ति-मु० लघी० । ५-वानकल-
ङ्कयाति मु० लघी० । ६ एव प्रकान्तप्रत्यक्षादिपरिच्छेदपञ्चम नयप्रवेशो द्वितीयपरिच्छेद समाप्त ।
न्यायकु० । ७ बलकोश्र ई०, ज० प्रत्यो प्रमाणनयप्रवेशसमाप्त्यनन्तरमुपलभ्यते । ८ न्यायकुमु-
दचन्द्रकृता प्रभावचन्द्र लघीवस्त्वयनात्पर्यवृत्तिकृता अभयचन्द्रेण च अग्राध्यायनत्वान्, अर्थदृष्ट्या
प्रकरणेन चासंगतत्वात् प्रक्षिप्त एवेति नानि ।-सम्भा० ।

अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात् प्रतीयते ।

विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र कुशलश्चेत् प्रयोजकः ॥६३॥

कचित् स्यात्कारमनिच्छद्भिः सर्वैकान्तोऽभ्युपगतः स्यात्, अवधारणाभावे-
ऽपि अनेकान्तनिराकरणस्य अवश्यमावित्वात्, अन्यथा प्रमाणनययोरभेदप्रसङ्गः ।

- 5 किं बहुना विधिनिषेधानुवादाऽतिदेशवाक्येषु, कारकेषु कर्त्रादिषु, स्वार्थादिषु,
प्रातिपदिकार्थेषु, साधनदूषणतदाभासवाक्येषु स्याद्वादमन्तरेण प्रस्तुताऽप्रसिद्धिः
इत्यावालप्रसिद्धम् ॥६३॥

[§ ६५. ननु शब्दः सर्वोऽपि विवक्षाप्रतिबद्धत्वात् तामेव गमयति नार्थम्, अतोऽ-
युक्तमुक्तं 'तत्र जीव इत्युक्ते' इत्यावाशङ्क्याह—]

- 10 वर्णाः पदानि वाक्यानि प्राहुरर्थानवाञ्छितान् ।
वाञ्छितांश्च कचिन्नेति प्रसिद्धिरियमीदृशी ॥६४॥
स्वेच्छया तामतिक्रम्य वदतामेव युज्यते ।
वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्विहिति ॥६५॥

- वर्णपदवाक्यानां वाचकत्वं यथास्वमागमात् प्रतिपत्तव्यम् । वक्त्रभिप्रायाद्भि-
15 न्नस्यार्थस्य वाचकाः शब्दाः सत्यानृतव्यवस्थान्यथानुपपत्तेः । अयञ्च प्रसङ्गोऽ-
न्यत्र विस्तरेणोक्तः इति नेह प्रतन्यते । शब्दानामर्थव्यभिचारित्वे अभिप्रेतव्य-
भिचारित्वं कुतोऽपनीयते सुपुष्पादौ वाग्वचेर्दर्शनात्, अनिच्छतामपि अपशब्दा-
दिभाषणसद्भावात्, वाञ्छतामपि मन्दबुद्धीनां शास्त्रवक्तृत्वाभावात् । उभयत्र
व्यभिचारान्न कस्यचिद्वाचकाः शब्दा इत्यलौकिकप्रतिमानम् ; लोको हि अर्थस्या-
20 ऽऽप्यनासिषु सत्यानृतव्यवस्थामातिष्ठेत शब्दस्य नाभिप्रायमात्रे, तत्र शब्दव्यवहार-
बाहुल्याभावात् । अवाधितां तत्प्रतीतिमतिक्रम्य स्वेच्छया प्रमाणप्रमेयस्वरूपमाति-
ष्ठमानानां युक्तमभिप्रेतमात्रसूचित्वं शब्दानाम् ॥६४, ६५॥

[§ ६६. साम्प्रतं 'नयो बाहुरभिप्रायः' इत्येतद्व्याख्यातुकाम आह—]

- श्रुतभेदाः नयाः सप्त नैगमादिप्रभेदतः ।
25 द्रव्यपर्यायमूलास्ते द्रव्यमेकान्वयानुगम् ॥६६॥
निश्चयात्मकमन्योऽपि व्यतिरेकं पृथक्त्वगः ।
निश्चयव्यवहारौ तु द्रव्यपर्यायमाश्रितौ ॥६७॥

नहि मतिभेदा नयाः त्रिकालगोचरानेकद्रव्यपर्यायविषयत्वात्, सतेः साम्प्र-

१-भूतेऽपि मु० लघी० । २-निराकाराभ्युपगमस्यावश्य-ई० । ३-चित्ति मु० लघी० ।
४-कुतोऽप्रतीयते ज० । ५-नृतवसा-ज० । ६-व्यस्थानाति-ज० । ७-तत्र शब्दव्यवहारस्मितम-
तिक्रम्य स्वेच्छ-ई० । ८-अवाधितमतिक्रम्य ज० । ९-वेकापु-मु० लघी० ।

भावस्य इन्द्रियमनोगतस्य कारणत्वात्, ततः सुभाषितम्- § ५) “इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य द्रवी विषयः” इति ॥५४॥

[§ ५६ ननु चेन्द्रियार्थयोः सतोरपि सन्निवर्णव्यतिरेकेण बुद्धेरनुत्पत्तेः तस्मिन् सत्येव उत्पत्तेः तस्यैव तत्र सावकतन्त्रोपपत्तेः नेन्द्रियमनसी तत्कारणम् । इत्याशङ्क्यापनोदार्थमाह-]

सन्निधेरिन्द्रियार्थानामन्वयव्यतिरेकयोः ।

5

कार्यकारणयोश्चापि बुद्धिरध्यवसायिनी ॥५५॥

सन्निकर्षादयः कारणान्तरादुत्पन्नया बुद्ध्याऽध्यवसीयन्ते नच तैर्बुद्धिः, प्राग-
नध्यवसायात्, अन्यथा कैमर्थक्याद् बुद्धेरन्वेषणम् ? आत्ममनइन्द्रियार्थानां कार-
णानामतीन्द्रियाणां सन्निकर्षो दुरवबोधः । कैयं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति
चिन्त्यम् ? प्राग्विज्ञानोत्पत्तेरर्थमनवबुद्ध्यमानाः कारणमकारणं वा कथं ब्रूयुः ? उत्पन्नं 10
हि विज्ञानमर्थस्य परिच्छेदकं न तत्कारणतायाः । आलोकोऽपि न कारणं परि-
च्छेद्यत्वादर्थवत् ॥५४॥

[§ ५७. ननु यद्यालोक तदुत्पत्तेः कारणं न स्यात्तर्हि तदभावेऽपि रूपज्ञानोत्पत्तिः कुतो
न स्यादित्याशङ्क्याह-]

तमो निरोधि बीक्षन्ते तमसा नावृतं परम् ।

15

कुब्जं दिक् न कुब्जादितिरोहितमिवेक्षकाः ॥५६॥

नहि तमः चक्षुर्जनिप्रतिषेधकम् ; तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात् । अन्यत्र
विज्ञानाऽभावहेतुरिति चेत् ; आलोकोऽपि तमोविज्ञानाभावहेतुत्वात् तमोवदभाव-
हेतुः स्यात् । अवागमागदर्शिनः परभागपरिच्छेदाऽभावात् तस्यापि ज्ञानेनिरोधित्वं
स्यात् तमोवत् । प्रत्यर्थमावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् । नावरणं 20
तिमिरादि परिच्छेद्यत्वादर्थवत् ॥५६॥

[§ ५८. ननु चात्मनो ज्ञानस्वभावतया सर्वत्र सर्वदा सर्वथा सर्वार्थग्रहणस्वभावत्वेन
अशेषज्ञत्वप्रसङ्गात् किञ्चिदावरणकल्पनया इत्याशङ्क्यापनोदार्थमाह-]

मलविद्धमणिव्यक्तिर्यथाऽनेकप्रकारतः ।

कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथाऽनेकप्रकारतः ॥५७॥

25

यथास्त्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसी निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्था-
दयः । § ६) “नाननुकृतान्वयव्यतिरेक कारणं नाकारणं विषयः” इति बालिशगी-

१-कया बु-ज० । २-आत्मनो मनसा करणानामतीन्द्रियाणां ई० । ३-वाक्यमेतन्नस्ति ज० ।
४-द्वयमना ज० । ५-ब्रूयु कथं तस्य विज्ञानोत्पत्तावङ्गीकरणमिति मित्यासायि (?) ज्ञानोत्पत्ते-
रर्थमनवबुद्ध्यमाना कारणमकारणं वा कथं ब्रूयु ज० । ६-तत्कारणतया ई० । ७-विरोधि ज० ।
८-ज्ञाने प्र-ज० । ९-नविरो-ई० । १०-स्वकर्म-ज० ।

सदभेदात्समस्तैक्यसंग्रहात् संग्रहो नयः ।

दुर्नयो ब्रह्मवादः स्यात् तत्स्वरूपानवासितः ॥६९॥

सर्वमेकं सदविशेषात् इति संग्रहो नयः । तदाभासो ब्रह्मवादः तदभ्युपगमो-
पायाभावात्, नापि तस्योपेतत्वं खरविषाणवत् ॥६९॥

५ [§ ६६. व्यवहारनयं दर्शयन्नाह—]

व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणानां प्रमाणाता ।

नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः ॥७०॥

प्रमाणानां प्रामाण्यं व्यवहाराविसंवादात् इत्याहुभारं प्रसिद्धम् । अन्यथा
संशयविपर्ययासस्वमज्ञानादीनामपि प्रामाण्यमनिवार्यं स्यात् । प्रत्यक्षं सविकल्पं प्रमाणं
१० व्यवहाराविसंवादात् । 'उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, जीवश्चै-
तन्यस्वभावः' इत्यादिश्रुतज्ञानेन पूर्वापराविरोधलक्षणसंवादसम्भवात् प्रामाण्यम्,
अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकव्यवहारानुकूल्याच्च । बहिरर्थविज्ञप्तिमात्रशून्यवचसां व्यव-
हारविरोधित्वात् दुर्णं (न) यत्वम् ॥७०॥

[§ ७०. ऋजुसूत्रनयं दर्शयन्नाह—]

१५ भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः ।

सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः ॥७१॥

बहिरणवः सञ्चिताः स्थूलमेकाकारप्रत्ययमभूतं दर्शयन्ति यथा तद्वत् संवि-
त्परमाणवोऽपि चित्राकारमेकम् । ततो नैकमनेकरूपं तत्त्वमक्रमं यत् सक्रमं साध-
येत् भेदस्य अमेदविरोधात्, अन्यथा क्वचिन्नानात्वमेव न स्यात् । सापेक्षो नयः,
२० निरपेक्षो दुर्नयः । प्रतिभासभेदात् स्वभावभेदं व्यवस्थापयन् तदभेदादभेदं प्रतिपद्यत
एव विशेषाभावात्, तदन्यतरापावेऽर्थस्थानुपपत्तेः ॥७१॥

[§ ७१. अथ सप्तनयेषु मध्ये केऽर्थप्रधानाः के च शब्दप्रधानाः ? इत्याह—]

चत्वारोऽर्थनया ह्येते जीवाद्यर्थव्यपाश्रयात् ।

त्रयः शब्दनयाः सत्यपदविद्यां समाश्रिताः ॥७२॥

२५ कालकारकलिङ्गभेदात् शब्दः अर्थभेदकृत्, अभूत् भवति भविष्यति, करोति
क्रियते, देवदत्तो देवदत्तेति । पर्यायभेदादभिरूढोऽर्थभेदकृत्, इन्द्रः शक्रः पुरन्दर
इति । क्रियाश्रयः एवम्भूतः, कुर्वत एव कारकत्वम् । यदा न करोति तदा कर्तृत्व-
स्याऽप्योगादिति । कथं पुनः शब्दज्ञानं विवक्षाव्यतिरिक्तमर्थं प्रत्येति ? कथञ्च न ?

मुख्ये निर्णयात्मके ज्ञाने सकलव्यवहारनियामके कथमसंवेद्यमकिञ्चित्करमनुपा-
यमनुपेयं ब्रुवाणः स्वस्थः ? ॥६०॥

[§ ६२. अधुना तद्देद दर्शयन्नाह—]

तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च द्विवैवात्रान्यसंविदाम् ।

अन्तर्भावाच्च युज्यन्ते नियमाः परकल्पिताः ॥६१॥

5

इन्द्रियार्थज्ञानं स्पष्टं हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं प्रादेशिकं प्रत्यक्षम्, अवग्रहे-
हावायधारणात्मकम् । अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् स्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽमिनिबोधात्मकम् ।
अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटमवितथमतीन्द्रियमन्यवधानं लोकोत्तरमा-
त्मार्थविषयम् । तदस्ति सुनिश्चिताऽसम्भवद्वाचकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् । श्रुतं परोक्षं
सकलप्रमाणप्रमेयेयचैवत्स्वरूपाभिधायि बाधारहितं प्रमाणम् । अत्र अर्थापत्त्यनु- 10
मानोपमानाद्विन्यन्तर्भवन्ति । परपरिकल्पितप्रमाणान्तर्भावनिराकरणमन्यत्रोक्त-
मिति नेहोच्यते ॥६१॥

[§ ६३. श्रुतस्य भेद दर्शयन्नाह—]

उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।

स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसङ्ख्या ॥६२॥

15

अनेकान्तात्मकार्यकथनं साद्वादः, यथा जीवः पुद्गलः धर्मोऽधर्म आकारश्च
काल इति । तत्र जीवो ज्ञानदर्शनवीर्यसुखैरसाधारणैः अमूर्त्तत्वासङ्ख्यातप्रदेशत्वस-
म्भूतैः साधारणासाधारणैः सत्त्वप्रमेयत्वाऽगुरुलघुत्वधर्मित्वगुणित्वादिभिः साधा-
रणैः अनेकान्तः । तस्य जीवस्यादेशात् प्रमाणं स्याद्वादः । तथेतरे परिणामनो
योज्याः । इो जीवः सुखदुःखादिवेदनात् इत्यादि विकलादेशो नयः । साकल्य- 20
मनन्तधर्मात्मकता । वैकल्यमेकान्तः धर्मान्तराविवक्षातः । तत्र 'जीवः' इत्युक्ते
जीवशब्दो योग्यतापेक्षोऽनादिसङ्केतः स्वमाचभूताऽन्यापोहस्वार्थप्रतिपादनः
न्यक्षेण प्रतिपक्षं निरस्य जीवमात्रमेव अभिदध्यात् । ततः स्यात्पदप्रयोगात् सर्व-
थैकान्ततत्पागात् स्वरूपादिचतुष्टयविशेषणविशिष्टो जीवः अभिधीयते इति स्वेष्टे-
सिद्धिः । नयोपि तथैव सम्यगेकान्तः । 'स्याजीव एव' इत्युक्तेनेकान्तनिषयः 25
स्याच्छब्दः । 'स्यादस्त्येव जीवः' इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः ॥६२॥

[§ ६४. ननु न सर्वत्र वाक्ये लौकिकाः स्यात्कारमेवकारञ्च प्रयुज्यते अन्यथैव तद्व्ययोग-
दर्शनात्, अतो न युक्तमेतदित्यारेकापनोदार्थमाह—]

- पेक्षं संज्ञाकर्म नाम । तच्च जातिद्रव्यगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसंज्ञाकर्मणोऽने-
कत्वाद्नेकधा । आहितनामकस्य द्रव्यस्य सदसद्भावात्मना व्यवस्थापना स्थापना ।
अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम् । तथोपयोगलक्षणे भावनि-
क्षेपः । अग्रस्तुतार्थाऽप्यकरणत्वात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । निक्षिप्ताः
5 पदार्थाः निर्देशादिभिः सदादिभिश्चानुयोगैः अनुयो (यु) ज्यन्ते । अनुयुक्ताः प्रयुक्ताः
सर्वे पदार्थाः; तथापि जीवपदार्थविषयविशेषप्ररूपकाणि जीवस्थानगुणस्थानमार्ग-
णास्थानानि । एवं प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगैः सर्वान् पदार्थानधिगम्य पुरुषतत्त्वं
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानैः दृढतरमवबुद्ध्य प्रवृद्धानिनिवेशात्मकसम्यग्दर्शनः
तपसा निर्जीर्णकर्मा सर्वकर्मविनिर्मुक्तो बाधारहितमव्यवच्छिन्नमनन्तमतीन्द्रियं
10 सुखमृच्छत्यात्मा । नहि गुणादिविनाशात् जडैः, गुणगुणिविनाशात् शून्यैः,
भोग्यविरहात् तदभोक्ता; तथाधिगमाभावात् तद्वाधासम्भवाच्च । शरीरादिकं धर्मि
ज्ञानावरणादिस्वरूपं न भवति साध्यताऽस्य, तत्सत्यपि ज्ञानोदयसम्भवात् ॥७६॥

[§ ७३. इदानीं शास्त्रकारः शास्त्राध्ययनस्य प्रयोजनं प्ररूपयन्नाह—]

- भव्यः पञ्च गुरून् तपोभिरमलैराराध्य बुध्वागमम्,
15 तेभ्योऽभ्यस्य तदर्थमर्थविषयाच्छब्दादपभ्रंशतः ।
दूरीभूततरात्मकादधिगतो बोद्धाऽकलङ्कं पदम्,
लोकालोककलावलोकनषलप्रज्ञो जिनः स्यात् स्वयम् ॥७७॥
प्रवचनपदान्यभ्यस्यार्यस्ततः परिनिष्ठितान-
8 सकृदवबुद्धेद्वाद्बोधाद्बुधो हतसंशयः ।
20 भगवदकलङ्कानां स्थानं सुखेन समाश्रितः,
कथयतु शिवं पन्थानं वः पदस्य महात्मनाम् ॥७८॥

- लक्षणसङ्ख्याविषयफलोपेतप्रमाणनयनिक्षेपस्वरूपप्ररूपके हि हेतुवादरूपे आगमे
गुरूपदेशपरम्परायथावदधिगते परमप्रकर्षेण अभ्यस्तो सति आत्मनो जिनेश्वरपद-
प्राप्तिलक्षणस्वार्थसम्पत्तिर्भवति । तत्सम्पत्तौ च मुमुक्षुजनमोक्षमार्गोपदेशद्वारेण
25 परार्थसम्पत्तयेऽसौ चेष्टते ॥७८॥

इति भट्टकलङ्कशशाङ्कानुस्यूतप्रवचनप्रवेशः समाप्तः ॥३॥



नमोऽकलङ्काय कृतीर्चनाग्निने स्याद्वादमार्गप्रतिबोधहेतवे ।
मिथ्यात्वकारप्रतिबोधमानवे सम्यक्त्वसत्त्वविकारात्मन्ये ॥३॥



[समाप्तमिदं प्रकरणम् ।]

तिकार्थप्राप्तिवात् । मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताऽभिव्योधात्मिकायाः
 कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात् । तत्र मूलनयौ द्रव्य-पर्यायार्थिकौ । द्रव्यमे-
 कान्वयात्मकम् । एकत्वं तदन्तर्परिणामित्वात्, सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्म-
 कत्वादन्यथि । पुरुषत्वादेः अपेक्षातः सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानैकस-
 न्तानात्मनां तथाभावसङ्करव्यतिकरव्यतिरेकादन्वयिनोरस्त्वलत्समानैकप्रत्ययवि- 5
 षयत्वमनुमिमीमहे । तथाहि-स्कन्धः स्वगुणपर्यायाणामेकत्वं न समानपरिणामः ।
 पुरुषश्च समानपरिणामोऽपि सकलपदार्थगोऽनेकत्वम् । निश्चयनपादेको जीवः कर्म-
 निर्मुक्तः, व्यवहारनयात् सकर्मकः । पर्यायः पृथक्त्वं व्यतिरेकश्च । पृथक्त्वम् एकत्र
 द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् । व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशपरि-
 णामः । व्यवहारपर्यायाः क्रोधादयः जीवस्य संसारिणः, निश्चयपर्यायाः शुद्धस्य 10
 ज्ञानादयः प्रतिक्षणमात्मसात्कृताऽनन्तभेदाः । निश्चयनयात् पुद्गलद्रव्यमेकम्
 पृथिव्यादिभेदेऽपि रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वमाविर्भूताऽनाविर्भूतस्वरूपमजहत् स्कन्ध-
 परमाणुपर्यायभेदेऽपि रूपादिमत्त्वमपरिजहत् । नहि अवस्थादेशकालसंस्काराः मूर्ति-
 त्वमत्यन्तं भिन्दन्ति अमूर्तभेदप्रसङ्गात् । सत्ताभेदाश्च जीवादयः सत्तामित्युक्तप्रायं
 नेहोच्यते । भेदवादिनोऽपि ज्ञानमेकम् एकस्मिन् क्षणे स्वयमनेकाकारमात्मसात्कृ- 15
 र्वत् कथमिहाकुर्व्युः ? ततः तीर्थकवचनसङ्ग्रहविशेषप्रस्तावमूलव्याकारिणौ द्रव्य-
 पर्यायार्थिकौ निश्चेतव्यौ । नहि तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति, तस्य प्रमाण एवाऽन्तर्भा-
 वात् । न नैगमस्य प्रमाणता तादात्म्यविवक्षाऽभावात् ॥६७॥

[§ ६७. एतदपि कुत इत्यत्राह—]

गुणप्रधानभावेन धर्मयौरेकधर्मिणि ।

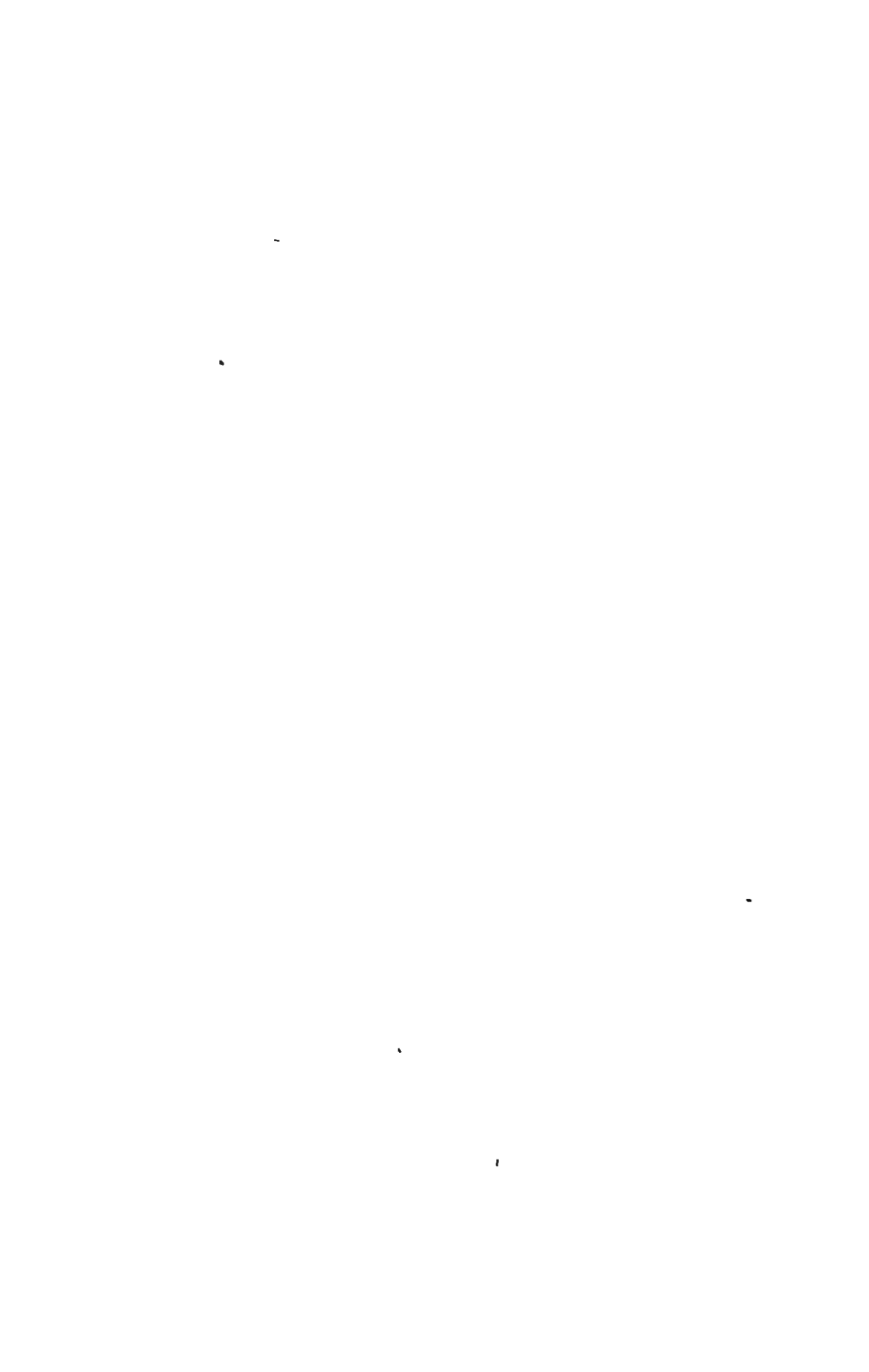
20

विवक्षा नैगमोऽत्यन्तभेदाक्तिः स्यात्तदाकूनिः ॥३८॥

‘जीवः सन्नमूर्तः कर्त्ता सूक्ष्मो ज्ञाता दृष्टाऽसङ्ख्यातप्रदेशो भोक्ता परिणामी
 नित्यः पृथिव्यादिभूतविलक्षणः’ इति जीवस्वतत्त्वरूपणयां गुणीभूता सुखा-
 दयः । सुखादिस्वरूपनिरूपणयां वा आत्मा । तदत्यन्तभेदाभिसन्धिर्नैगमाभ्याम् ।
 गुणगुणिनाम् अवयव्यवयवानां क्रियाकारकाणां जातितद्वात्वेत्यादितादात्म्यम- 25
 विवक्षित्वा गुणगुणिनोः धर्मिधर्मयोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षा नैगमे, सङ्ग्रहादा-
 वेकविवक्षेति भेदः ॥६८॥

[§ ६८. तत्र सप्रहस्वरूप सप्रतिपक्षं दर्शयन्नाह—]

१-मतिरिन्नार्थवि-ई० । २-मेकत्वान्वया-त्यागट्ट० । ३-यस्ते च प्र-त्यागट्ट० । ४-मूर्ति-ज० ।
 ५-णाम् ज० । ६-मूलावि-ज० । ७-नित्यमे ज० ।



तदप्रतिबन्धात्; 'नहि बुद्धेरकारणं विषयः' इत्येव प्रतिव्यूढम्; विज्ञानस्य अनागत-
 निर्णयात् । कृत्तिकोदयदर्शने श्रुकोदयो भविष्यति बुद्धिरविसंवादिनी, आदित्यः
 श्व उदेता, धर्माचन्द्रमसोर्ग्रहणं भविष्यति, तन्तवः पटो भविष्यन्ति, मृत्पिण्डो घटो
 भविष्यति, तन्दुला भविष्यन्त्यौदनः, ग्रीहयस्तन्दुला भविष्यन्ति इत्याद्यनागत-
 विषयाणामविसंवादिनामानन्त्यात् । ततः शब्दज्ञानमपि विवक्षान्वयतिरिक्तार्थमाहि 5
 सिद्धम् प्रतिबन्धमन्तरेणापि तत्प्रतिपादकत्वाभावात् विज्ञानवत् । वर्त्तनालक्षणः
 कालः, क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकम्, स्वानिर्गसवतदुभयाभावसामान्यलक्षणं लिङ्गम्,
 कथञ्चिद्भस्त्रसुखभावमेदकं तथाप्रतीतेः । पर्यायोऽप्यर्थमेदकृत् । क्रियामेदात् एकोऽपि
 शब्दः क्रियानिमित्तकव्युत्पत्तिः तदभावात्तदर्थं नाचष्टे इति परमैश्वर्यमनुभवज्ञेव
 इन्द्रः नान्यदा । ततः सिद्धः क्रियामेदः पाचकपाठकादिवत् । नहि वर्णपदवा- 10
 क्यानां व्युत्पादकं शालां वितथं परमार्थशब्दप्राप्त्युपायकृत् ह्यातुरभिप्रायात्मकन-
 यवत् । व्यावहारिकप्रकृत्यादिक्रियाप्रविभागेन यथा पारमार्थिकादनेकान्तात्म-
 कादर्थोदपोद्धृत्य तदंशमेकान्तं व्यावहारिकं तत्प्रतिपत्त्युपायं प्रकाशयन्नयो न
 मिथ्यात्वमनुभवेत्, निरपेक्षत्वस्यैव मिथ्यात्वात् । अनेकान्तनिराकृतेः निरपेक्ष-
 त्वम्, तदनिराकृतेः सापेक्षत्वम्, नान्यथा नयानां सम्यक्त्वमिथ्यात्वे इति स्थितम् । 15

[३ ७२. अथेदानीं शास्त्रविधानाभ्ययनपर्यवसितफलप्ररूपणपुरस्सर निक्षेपस्वरूप प्ररू-
 पयन्नाह-]

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।

परीक्ष्य तांस्तान् तद्धर्मनिनेकान् व्यावहारिकान् ॥७३॥

नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदभेदने ।

20

विरच्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥७४॥

अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिर्वा गतैः ।

द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विष्टृद्धार्भिनिवेशानः ॥७५॥

जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।

तपोनिर्जीर्णकर्मस्य विमुक्तः सुखसृञ्छति ॥७६॥

25

श्रुतमनादि सन्तानापेक्षया, साधनं प्रति सादि । प्रमाणं त्रिकालगोचरसर्वजी-
 वादिपदार्थनिरूपणम् । तदर्थशपरीक्षाप्रवणोऽभिसन्धिर्नयः । ताभ्यामधिगमः
 परमार्थव्यावहारिकार्थानाम् । तदधिगतानां वाच्यतामापन्नानां वाचकेषु भेदोप-
 न्यासो न्यासः । सोऽवरतश्चतुर्धा नामस्थापनाद्रव्यभावतः । तत्र निमित्तान्तरान-

१-भाष्यत्वात् न्यायकृ० । २-प्रतिभागे-ज० । ३ तत्प्राप्त्युपा-न्यायकृ० । ४ एतावत्पर्यन्तं
 न्यायकृमुदचन्द्रकृता तात्पर्यवृत्तिकृता च पक्षपरिच्छेदरूपेण विनश्य परिच्छेदसमाप्ति कृता । विवृति-
 प्रती तु नाय विनाय ।-सम्पा० । ५-त्रिदागतं मू० लघी० । ६-निनिवेशत ज० । ७-रीक्षप्र-ज० ।

भावस्य निश्चयात् किं प्रमाणान्तरेण अपूर्वार्थाधिगमस्य तत्फलस्याभावात्, समारोपव्यवच्छेदस्य च निश्चिते समारोपाभावेनासंभवादित्यत्रेदेवाह—]

सदसज्ज्ञानसंवादविसंवादविवेकतः ।

सविकल्पाविनाभावी समक्षेतरसम्बन्धः ॥५॥

- 5 [§ ६. नाप्यारोपव्यवच्छेदान्नापि वस्तुग्रहात्ततः, ग्रामाण्यमनुमानस्य स्याद्वादन्यायविद्विषाम् । एतदेवाह— 'एकत्र' इत्यादिना ।]

एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्यकारणतेक्षणे ।

अतद्वेतुफलापोहे कृतस्तत्र विपर्ययः ? ॥६॥

[§ ७. तत्र अभिलापधत्त्वं विकल्पलक्षणमित्येतदेवाह—]

- 10 **अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः ।**

अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुषज्यते ॥७॥

[§ ८. भवतु वा किमपि सामान्य तथापि शब्दस्मरणवच्चक्षुरादिबुद्धीनामपि व्यवसायात्मक (क) त्वमनिवार्यमेव, तदाह—]

पदार्थज्ञानभागानां पदसामान्यनामतः ।

- 15 **तथैव व्यवसायः स्याच्चक्षुरादिधियामपि ॥८॥**

[§ ९. तत्र विचारबलात् प्रत्यक्षस्य क्षणविषयत्वावगमः, खत एवेति चेन्न; तथैवा-सम्प्रतिपक्षेरेतदेवाह—]

आत्मनाऽनेकरूपेण बहिर्यस्य तादृशः ।

विविचित्रं ग्रहणं व्यक्तं विशेषणविशेष्यभाक् ॥९॥

- 20 [§ १०. ननु तदिदं भवता जात्यन्तरं यत्पुरोवर्तितया प्रतिभाति नीलादिस्थूलरूप तस्य च बूरविरलकेशादिविना (दिवद) विद्यमानस्यैव प्रतिभासनात् कथं तद्रूपो बहिर्यः पारमार्थिको यतस्तद्विषयत्वं प्रत्यक्षस्येति चेदत्राह—]

अर्थज्ञानेऽसतोऽयुक्तः प्रतिभासोऽभिलापवत् ।

- 25 [§ ११. न केवलमवयविन एव तस्य तद्विषयत्वमपि तद् (तु) द्रव्यस्यापि अक्रमवत् क्रमेणापि परापरपर्यायाविश्वग्भावस्वभावस्य द्रव्यसंज्ञितस्य स्तम्भादेरविरोधादेतदेवाह—]

परमार्थैकतानत्वपरिणामाविधातिनः ॥१०॥

[§ १२. स्यान्मतम्—अवयवेभ्यो भिन्न एवावयवी, पर्यायेभ्यश्च द्रव्यमर्थान्तरमेव, बहिर्यो अवयवा एव वा, निरवयविनो द्रव्या एव वा, पर्याया बहिर्यः, ततस्तस्यैव प्रत्यक्षात् प्रतिभासो न क्रमाक्रमानेकत्वभावस्येति । तत्राह—]

- 30 **प्रतिज्ञातोऽन्यथाभावः प्रमाणैः प्रतिविध्यते ।**

श्रीमद्भट्टकलङ्कदेवविरचितः

॥ न्यायविनिश्चयः ॥

[न्यायविनिश्चयविरणादुद्धृतः]

[§ २२. तदयं परोक्षज्ञानेत्यादेः सबग्रहः, तदेव दूषणमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह—]

एतेन येऽपि मन्वेरक्षप्रत्यक्षं धियोऽपरम् ।

संवेदनं न तेभ्योऽपि प्रायशो दत्तमुत्तरम् ॥१९॥

[§ २३. ततो नाऽनात्मवेदनस्य ज्ञानस्य विषयप्रतिनिधयो विवक्षितवदन्यत्रापि तस्य
५ प्रवृत्तिसंभवात् । तदेवाह—]

विमुखज्ञा न संवेदो विरुद्धो व्यक्तिरन्यतः ।

असञ्चारोऽनवस्थानमविशेष्यविशेषणम् ॥२०॥

[§ २४. साम्प्रतं 'विमुख' इत्यादिकमेव व्याख्यातुक्रामो यौगज्ज्ञानदूषण सौगतज्ञानेऽपि
योजयन्निदमाह—]

10 निराकारेतरस्यैतत् प्रतिभासभिदा यदि ।

तत्राप्यनर्थसंविक्तौ अर्थज्ञानाविशेषतः ॥२१॥

[§ २५. इदानीमनवस्थानमेव संविद्धिषयं पूर्वोक्तं व्यक्ति (क्ती) कुर्वन्नाह—]

ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानमपेक्षितपरस्तथा ।

ज्ञानज्ञानलताऽशेषनमस्तलविसर्पिणी ॥२२॥

15 प्रसज्येत, अन्यथा तद्वत्प्रथमं किञ्च सृज्यते ? ।

गत्वा सुदूरमप्येवमसिद्धावन्यचेतसः ॥२३॥

असिद्धिरितरेषाञ्च नदर्थस्याप्यसिद्धितः ।

असिद्धो व्यवहारोऽयमतः किं कथयाऽनया ? ॥२४॥ .

[§ २६. तदेवमवस्थापिते अर्थज्ञानस्यात्मवेदने सांख्यः प्राह—सत्यमर्थज्ञानं प्रत्यक्षमिति
20 नात्र विवादः, किन्तु तत् परार्थमचेतनञ्च ...तत् इदमुच्यते—अर्थज्ञानमचेतनं विषयत्वात्
घटादिवदिति; तत्रेदमाह—]

प्रत्यक्षोऽर्थपरिच्छेदो यद्यकिञ्चित्करेण किम् ? ।

अथ नायं परिच्छेदो यद्यकिञ्चित्करेण किम् ? ॥२५॥

[§ २७. अर्थविषयावच्छादं यदि प्रतिबिम्बमन्तरेण प्रथमप्रत्यक्षेऽपि व्यर्थं तत्कल्पनम् ।
25 प्रतिबिम्बेनेति चेत्; तदर्थकार्यत्वस्यापि न स्वतोऽवगमः । पूर्ववदन्यतः प्रत्यक्षादिति चेत्;
तस्याप्यर्थविषयत्व इत्याद्यनुबन्धादन्यवस्थिते । एतदेवाह—]

प्रत्यक्षं करणस्यार्थप्रतिबिम्बमसंविदः ।

[§ २८. न पुरुषस्यापि वस्तु तदुपरक्तं वा चित्तं संवेधं समवतीति, तदेवाह—]

अप्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमयुक्तमविकारिणः ॥२६॥

30 [§ २९. यथैव तर्हि स्वरूपं संवेदनरूपेण पश्यति तदाऽर्थमर्थरूपेण इत्यर्थरूपता

श्रीमद्भट्टाऽकलङ्कविरचितः

॥ न्यायविनिश्चयः ॥

१. प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः ।



[§ १ अतः सर्वत्र तद्गुणस्त्वनमेव मङ्गलम्, तत एव तत्प्रयोजनभावाच्चापरम् । किं पुनस्तदित्याह—]

प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थप्रतिबुद्धैकमूर्त्तये ।

तमः श्रीवर्द्धमानाय भव्याम्बुरुहभानवे ॥१॥

[§ २. अथ यदि भगवतो भव्याम्बुरुहभानुत्वं तत्तर्हि बाह्मयुखसापेक्षमेव नान्यथा । 5
न हि तत्सन्निधानादनुपदेशमेव भव्यानां तत्त्वज्ञानमिति सौगतवत्स्याद्वादिनामिनिवेशोऽस्ति,
तत्तत्सद्वाङ्मयादेव तत्त्वज्ञानसिद्धे बाह्मयमिदमपार्थक्यम् । नद्येकवाङ्मये (या) वसाध्ये तदश-
मुपयोगवत् । तत्रापि तदपरापरवाङ्मयोपयोगपरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गादिति, तत्रेदमाह—]

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितैः,
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः । 10
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥२॥

[§ ३. सम्यग्ज्ञानात्मकत्वमेव प्रमाणस्य व्यवस्थापयन्त्याह—]

प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमल्लसा ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ॥३॥

15

[§ ४. करिष्यते हि 'सदसज्ज्ञान' इत्यादिना इन्द्रियप्रत्यक्षस्य 'परोक्षज्ञान' इत्यादिना
अग्निन्द्रियप्रत्यक्षस्य 'लक्षणं समम्' इत्यादिना चातीन्द्रियप्रत्यक्षस्य समर्थनमतमपि (मत इ)
न्द्रियप्रत्यक्षादिभेदेन त्रिविधमेव तदिति भवत्येव निर्णयः । तत्र—]

हिताहिताग्निनिर्मुक्तिक्षममिन्द्रियनिर्भितम् ।

यद्देशतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाव्यक्षमुच्यते ॥४॥

20

[§ ५. कश्चिदाह—यदि साकारं निश्चयात्मकं प्रत्यक्षं तत एव निरवशेषोपाधिगर्भस्य

तैमिरिकज्ञानादावर्थ एव नास्ति तत्र कथम्.....इति सिद्धं तत्केशादेस्तादृष्यादेव प्रतिवेदनम्, ततस्तत्र विपर्यस्त्येव भवदुक्तो न्यायः । तदेवाह—]

अनर्थाकारशङ्केषु झुटत्येष नयो यदि ।

[§ ३७. उत्तरमाह—]

६ सर्व समानमर्थात्मासंभाष्याकारदम्बरम् ॥३४॥
तद्भ्रान्तेराधिपत्येन सान्तरप्रनिभासवत् ।

[§ ३८. इदानीं 'प्रकाशनियमो हेतोः' इत्यादिकमेव व्याचिख्यासुरवसरप्राप्तमेव चोच-
मुत्थापयति—]

यथैवात्मायमाकारमभूतमवलम्बते ॥३५॥
१० तथैवात्मानमात्मा चेदभूतमवलम्बते ।

[§ ३९. तत्रोत्तरमाह—]

न स्वसंवेदनात्तुल्यं भ्रान्तेरन्यत्र चेन्मतम् ॥३६॥

[§ ४०. तदेकयोगक्षेमत्वेन आत्माप्यनुपलब्ध एव स्वपरपरिच्छेदस्वभावावपि तस्य, इति
कथञ्च बाह्यप्रवृत्तम् ? तदेवाह—]

१५ सत्यं तमाहुराचार्या विद्यया विभ्रमैश्च यः ।
यथार्थमयथार्थं वा प्रसुरेषोऽवलोकते ॥३७॥

[§ ४१. ततो न ब्राह्ममेद्राज्ञाप्याकारमेदात् संवित्तिभेदः शक्तिमेदादेव तदुपपत्तेः शस्य-
पपन्नमुक्तम्—'विषय' इत्यादि ।]

विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषोऽनेन वेदितः ।
२० ब्राह्मभेदो न संवित्तिं भिनक्त्याकारमङ्गथपि ॥३८॥

[§ ४२. ततो विषयसङ्कलिततज्ज्ञानस्मरणस्य अन्यथैव भावान्न ततो विषयाकारव्यव-
स्थापनं विज्ञानस्योपपन्नमिति चेदुच्यते—अर्थकार्यतया ज्ञानस्मृतावर्थस्मृतेर्येदि । भ्रान्त्या सङ्कलन
ज्योतिर्मनस्कारोऽपि सा भवेत्—'तदिदमतिप्रसङ्गापादन'—परस्याव्युत्पत्तिमापादयति न निराकार-
ज्ञानवादिनः, शक्तिप्रतिनियमादेव तेन तत्परिहारस्य अभिधानात् । तदेवाह—]

२५ ' अर्थज्ञानस्मृतावर्थस्मृतौ नातिप्रसज्यते ।

[§ ४३. कथं पुनर्नातिप्रसज्यते यावता निराकारज्ञानस्य साधारणतया सर्वविषयत्वं
तत्स्मरणस्यैव च सर्वत्रैवानुभवविषये प्रवर्तनमापन्नत एवेति चेत् ; अत्र पूर्वोक्तमेव शक्तिनियममुत्त-
रीकुर्वन्माह—]

८० सरूपमसरूपं वा यत्परिच्छेदशक्तिमत् ॥३९॥
तद्व्यनक्ति ततो नान्यत्,

[§ १३. विचारज्ञानं स्वपरप्रकाशमुरीकर्तव्यम्, अन्यथा स्वगतपरोक्षतायास्तेनाप्रति-
पत्तेरुक्तदोषापरिहारादेतदेव दर्शयितुमाह—]

परोक्षज्ञानविषयपरिच्छेदः परोक्षवत् ॥११॥

[§ १४. तत्र सिद्धस्य तस्य [अर्थप्रकाशस्य] अन्यथानुपपत्तिपरिज्ञानम्, नाप्यसिद्ध-
स्यैव, नह्यप्रतिपत्तेरुक्ते तस्य पायकापेक्ष स्वप (सुप) रिज्ञानमन्यथानुपपन्नत्वम्, तदेवाह—] 5

अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्ध्यति ।

[§ १५. ततो मिथ्यैवेद मतम्—'अन्यवसितरपि व्यवसायैर्वाह्य व्यवसीयते' इति;
तदाह—]

मिथ्याविकल्पकस्यैतद् व्यक्तमात्मविडम्बनम् ॥१२॥

[§ १६. तदेव प्रासङ्गिक प्रतिपाद्य 'परोक्ष' इत्यादिकस्यैवार्थम् 'अव्यक्षम्' इत्यादिभिः 10
श्लोकैः सङ्ग्रहीतुकामः प्रथम परप्रसिद्धेनैव अर्थज्ञानानुमानेन अर्थज्ञानस्य स्वसवेदनविषयता
व्यवस्थापयन्नाह—]

अव्यक्षमात्मनि ज्ञानमपरत्रानुमानिकम् ।

नान्यथा विषयालोकव्यवहारविलोपतः ॥१३॥

[§ १७. पुनरप्युक्तस्यैवार्थस्य सोपपत्तिक सङ्ग्रहमाह—] 15

आन्तरा भोगजन्मानो नार्थाः प्रत्यक्षलक्षणाः ।

न धियो नान्यथेत्येते विकल्पा विनिपातिताः ॥१४॥

—[§ १८. यस्यनरेतत्—'भायूत् सुखादीना प्रत्यक्षत्वम्' इति, तत्राह—]

सुखदुःखादिसंबित्तेरवित्तिर्न हर्षादयः ।

आनुमानिकभोगस्याप्यन्यभोगाविशेषतः ॥१५॥ 20

[§ १९. ततो न सुखादिवुद्धेरप्रत्यक्षत्व न्याय्यम् । इतश्च [न] तन्न्याय्यम् इत्याह—]

तावत्परत्र शब्दोऽयमनुमानुं कथं धियम् ।

यावदात्मनि तवेष्टासम्बन्धं न प्रपद्यते ? ॥१६॥

[§ २०. तत्र आत्मनि बोधज्ञानमनुमानात्, लिङ्गामावाच; तदाह—]

विषयेन्द्रियविज्ञानमनस्कारादिलक्षणः ।

25

अहेतुरात्मसंबित्तेरसिद्धेर्न्यभिचारतः ॥१७॥

[§ २१. 'मनस्कारादि' इत्यत्र आदिशब्देन अनुक्तपरिग्रहः । अनुक्तश्च परिच्छिन्नो
विषयः, तत्परिच्छेदो वा स्यात्, सोप्यात्मसंबित्ते. गीमासकज्ञानस्य अहेतुगमक. इत्याह—]

असिद्धसिद्धेरप्यर्थः सिद्धश्चेदखिलं जगत् ।

सिद्धे तत्किमतो ज्ञेयं सैव किञ्चानुपाधिका ? ॥१८॥

80

अभिन्नदेशकालानामन्येषामप्यगोचराः ।

विप्लुताक्षमनस्कारविषयाः किं बहिः स्थिताः ? ॥४६॥

[§ ५३. ततो न बहिर्यतया स्वप्नान्तिकस्य कामिन्यादेर्वा सत्त्वम्, बहिरवस्थितस्य ना-
नाप्रतिपत्तुसाधारणत्वप्रसङ्गात् । नाय दोषः, तस्य अन्तर्देहवृत्तित्वात् इति चेत्; इदमेवोल्लिख्य
५ (ल्लिख्य) परिहारयन्नाह—]

अन्तःशरीरवृत्तेश्चेददोषोऽयम् ; न; तादृशः ।

तत्रैव ग्रहणात् किं वा रचितोऽयं शिलाप्लवः ॥४७॥

[§ ५४. तदिदमतिमुकुमारप्रज्ञगोचरमपि हेतुदोषम् अन्तरङ्गतमोवाहुलका [द] प्रति-
पषमानैरेव परैः प्रकृतमनुमानमुपदर्शितमित्यावेदयन्नाह—]

10

विप्लुताक्षा यथा वुद्धिर्वितथप्रतिभासिनी ।

तथा सर्वत्र किञ्चेति जडाः सम्प्रतिपेदिरे ॥४८॥

[§ ५५. यत्पुनरेतत्—कामिन्यादिबुद्धिचररङ्गचन्द्रादिवच्चेति निदर्शनम्; तत्रापि वितथ-
प्रतिभासित्वस्य च यतः प्रतिपत्तिः तस्य चेद्वितथप्रतिभासत्व कथञ्च व्यभिचारः ? वितथप्रति-
भासित्वे तु ततः कथं तत्सिद्धिर्विपर्ययवत् । अतो निदर्शनस्य साध्यवैकल्या [त्] मिथ्या [त्वमा]
15 वेदयन्नाह—]

प्रमाणमात्मसात्कुर्वन् प्रतीनिमनिलङ्घयेत् ।

वितथज्ञानसन्तानविशेषेषु न केवलम् ॥४९॥

[§ ५६. ब्राह्मादिस्तान्तानान्तरजीवान्तरमेदप्रतिभासस्तु विपरीतवासनाबलादविद्याबलाद्वा
परिकल्पितः... तदेवाह—]

20

अद्वयं द्वयनिर्भासं सदा चेदवभासते ।

[§ ५७. तत्रोत्तरमाह—]

न स्वतो नापि परतो मेदपर्यनुयोगतः ॥५०॥

[§ ५८. तत्र अत्रापि विकल्पप्रतिसंस्कारवती वेला नाम काचिच्छ्रुत्यनिरूपणा, यतद
(यतस्तद) द्वैतस्य स्वतःप्रकाशनमुपकल्प्येत । तदाह—]

25

प्रतिसंस्कारवेलायां न संवेदनमन्यथा ।

[§ ५९. तत्र अद्वैतवादः श्रेयान् । विभ्रमवाद एवास्तु; इति चेन्न; तस्य 'विप्लुत'
इत्यादिना प्रतिक्षेपात् । तदेव व्याचक्षाणास्तत्रातिक्षेपमेव दर्शयति—]

इन्द्रजालादिषु भ्रान्तिमीरयन्ति नचापरम् ॥५१॥

अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनाः ।

30

[§ ६०. बालादीनामपि तत्र विप्लवप्रतिपत्तिप्रसङ्गात्, न चैवम्, अविज्ञवपरिज्ञानस्य
तत्र तेषां भावादित्यसिद्धो हेतुः । अतश्च तद्वादिनां जडत्वमिति,....तदाह—]

अर्थस्य साधिका, सवेदनरूपता सवेदनस्येति तदाकारतैव सर्वस्य साधिका नान्यः स्वभावो भेद-
कोऽपि ज्ञानस्यार्थेन षट्यतीत्यत्राह—]

एतेन चित्ति सत्तायाः साम्यात्सर्वैकवेदनम् ।

प्रलपन्नः प्रमिक्षिताः प्रतिबिम्बोदये समम् ॥२७॥

[§ ३०. पुनरपि साकारवाद दूषयन्नाह—]

5

सारूप्येऽपि समन्वेति प्रायः सामान्यदूषणम् ।

[§ ३१. इति नार्थं सारूप्येण यतः स एव तत्र तद्विशेष स्यात् । कस्तर्हि तद्वि-
शेष इति चेत्, अतदर्थपरान्वृत्तत्वमेव, तदेवाह—]

अतदर्थपरावृत्तमतद्रूपं तदर्थहक् ॥२८॥

[§ ३२. तदयमर्थशक्तिनियमात् सवेदनस्याधिगमनियमः इत्येतदेवोत्तरार्थं विवृण्वन्नाह—] 10

अथेदमसरूपं किमतदर्थनिवृत्तितः ।

तदर्थवेदनं न स्यादसमानामपोहवत् ॥२९॥

अत्राक्षेपसमाधीनामभेदे नूनमाकुलम् ।

स्वचित्तमात्रगतावतारसोपानपोषणम् ॥३०॥

[§ ३३. स्यान्मतम्—‘सारूप्येऽपि’ इत्यादिना सारूप्यसामान्योः साधारणो दोषः 16
(बोद्ध) न्वयः प्रतिपादितः । ततश्च कथं सारूप्यवत् सामान्यस्यापि वस्तुत्वम्^१ माभूदिति चेन्न;
तस्य ‘सामान्यविशेषार्थत्ववेदनम्’ इत्यनेन प्रत्यक्षविषयत्वनिवेदनात् । अवस्तुनः प्रत्यक्षविषय-
त्वानुपपत्तेरिति । तत्राह—]

सामान्यमन्यथासिद्धं न विज्ञानार्थयोस्तथा ।

अदृष्टेरर्थरूपस्य प्रमाणान्तरतो गतेः ॥३१॥

20

[§ ३४. भवतु तर्हि प्राग्भाविन एव विषयत्व तस्य हेतुत्वेन ज्ञाने प्रतिबन्धादिति चेन्न,
ज्ञानकाले तस्याभावात् । न हि असतस्तत्काले तद्विषयत्वम्, एव हि निर्विषयत्वमेव ज्ञानस्य
स्यात् । साकारादिना तु नायं दोषः, साकारज्ञानहेतुतयैव तस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः । तत्राह—]

अतीतस्यानभिव्यक्तौ कथमात्मसमर्पणम् ? ।

असतो ज्ञानहेतुत्वे व्यक्तिरव्यभिचारिणी ॥३२॥

25

[§ ३५. यदि निराकारैव व्यक्तिः, कथं ततः प्रकाशननियमो ‘नीलस्यैवायं प्रकाशो
न पीतादेः’ इत्येकरूप इति चेदत्राह—]

प्रकाशननियमो हेतोरुद्धेर्न प्रतिबिम्बतः ।

अन्तरेणापि तादृष्यं ग्राह्यग्राहकयोः सतोः ॥३३॥

[§ ३६. भवतु नाम सत्यर्थं (यै) हेतोरेव तत्प्रकाशननियमो न तादृष्यात् । यत्र तु 80

तत्र मणिप्राप्त्या परितोषदर्शनात्, न प्रदीपप्रभामणिज्ञानं विपर्ययात् । तद्वदत्रापीति चेन्न ; तत्रापि विभमे तदनुपपत्तेः.....तदेवाह—]

परितुष्यति नामैकः प्रभयोः परिषावतोः ॥६०॥

मणिभ्रान्तेरपि भ्रान्तौ मणिरत्र दुरन्वयः ॥

४ [§ ६१. तदनेन साध्यसमत्व दृष्टान्तस्य दर्शितम् । परो दृष्टान्तसमर्थनमाह—]

सति भ्रान्तेरदोषश्चेत् ;

[§ ७०. तत्रोत्तरमाह—]

तत्कुतो यदि वस्तु न ? ॥६१॥

कामं सति तदाकारे तद्भ्रान्तं साधु गम्यते ।

10 [§ ७१. तत्र सादृशं तत्त्वमित्युपपन्नम् । मयत् वास्तवमेवेति चेन्न ; तस्य मिथ्याज्ञाना-
दसिद्धेः, सर्वेषामपि तत् एवामिमतसिद्धिप्रसङ्गात् । तदाह—]

अयमेवं नवेत्येवमविचारितगोचराः ॥६२॥

जायेरन् संविदात्मानः सर्वेषामविशेषतः ।

तावता यदि किञ्चित् स्यात् सर्वेऽमी तत्त्वदर्शिनः ॥६३॥

15 [§ ७२. शून्य-निर्विकल्पवादिनोः विचारस्तैवासंभवात् । सतोऽपि तस्य स्वाशमात्रपर्य-
वसानात् तदाह—]

पर्वतादिविभागेषु स्वांशमात्रावलम्बिभिः ।

विकल्पैरुत्तरैर्वेति तत्त्वमित्यतियुक्तिमतम् ॥६४॥

[§ ७३. ततो विचारसाफल्यमभ्युपगच्छता तावद् वस्तुन्यं बहिर्यविषयत्वं विकल्पानाम्,

20 अन्यथा उपहासास्पदत्वेन तत्साफल्यानुपपत्तेः । प्रकारान्तरेणापि तेषां तद्विषयत्वं दर्शयन्नाह—]

सन्तानान्तरसद्भूतेश्चान्यथानुपपत्तितः ।

विकल्पोऽर्थक्रियाकारविषयत्वेन तत्परैः ॥६५॥

ज्ञायते,

[§ ७४. ननु यावदर्थान्तरस्यैव जलादेर्विकल्पवेद्यत्वमनुमानेन उच्यते, तावदनर्थान्तरस्य

25 कस्माच्च कथ्यते ? तदनुमानस्यापि भावात् ; तथाहि—जलादिस्तद्विकल्पादनर्थान्तरं तद्वैधत्वात्
तत्स्वरूपवत् इति चेन्न, सन्तानान्तरेण व्यभिचारात् । इदमेवाह—]

न पुनश्चित्तमात्रेऽप्येष नयः समः ।

[§ ७५. ननु सन्तानान्तरस्य विकल्पो न तावदात्म्यक्षम् ; परचेतसा साक्षादप्रतिभास-

नात् । अनुमानमिति चेन्न ; लिङ्गाभावात् । व्याहारादेस्तु न लिङ्गत्वं ग्राह्यमूर्छादौ तदभावेऽपि

30 भावात् । तद्विशेषस्य तत्त्वमित्यपि न युक्तम्, असिद्धे साध्ये तस्यैव दुरवबोधत्वात् । सिद्धे

[§ ४४. भवतु नाम वर्तमानस्य तच्छक्तितो व्यक्तिः सति तत्र शक्तिसद्भावात् । अती-
तादेस्तु कथम् असति तदभावादिति मन्यमानश्चोदति—]

व्यक्तिश्चेदसतः कथम् ? ।

[§ ४५. तदिदमपि दर्शनबलेन तत्रापि शक्तिमवस्थापयन् परिहरति—]

आरादपि यथा चक्षुरचिन्त्या भावशक्तयः ॥४०॥

5

[§ ४६ चोद्यमानिष्कुर्वन्नाह—]

विषमोऽयमुपन्यासः तयोश्चेत्सदसत्त्वतः ।

[§ ४७. परिहरन्नाह—]

यदा यत्र यथा वस्तु तदा तत्र तथा नयेत् ॥४१॥

अतत्कालादिरूप्यात्मा,

10

[§ ४८. विपक्षे दोषमाह—]

न चेन्न व्यतिष्ठते ।

व्यवहारविलोपो वा,

[§ ४९. नास्तेव देशदिभेदः प्रवृत्त्यादिरूपो व्यवहारो वा कश्चित्, तदाश्रयस्य
बहिर्भावस्यैवाऽभावात् । तत्रातिभासस्तु विपर्यासोपनीत एव । 'प्रतिभासः समस्तोऽपि वासना-
बलनिर्मितः' इति वचनात् । तस्मादयमयथार्थमेव (र्थ एव) तदेवाह—]

मोहाच्चेदयथार्थता ॥४२॥

[§ ५०. तत्रोत्तरमाह—]

अत्यन्तमसदात्मानं सन्तं पश्यन् स किं पुनः ।

प्रस्फुटं विपरीतं वा न्यूनाधिकतयापि वा ॥४३॥

20

प्रदेशादिव्यवायेऽपि प्रतीयन् प्रतिरुद्धयते ? ।

[§ ५१. साम्प्रत 'विपरीतं वा प्रति (ती) यन्' इत्येतत् स्मरणपर्यायेणैव (जेव) प्रत्यभि-
ज्ञानादिना पर्यायेणापि दम (दर्श) यन्नाह—]

एतेन प्रत्यभिज्ञानाद्यतीतानुमितिर्गता ॥४४॥

प्रायशोऽन्यव्यवच्छेदे प्रत्यग्रानवबोधतः ।

25

अविज्ञाततथाभावस्याभ्युपायविरोधतः ॥४५॥

[§ ५२. स्थान्तम-यदुक्तमसत्त्वेन केशादिः तैमिरिकस्य प्रतिभासते तद्भ्रान्तेराधिपत्येन-
ति; तदयुक्तम्; असतः प्रतिभासेऽतिप्रसङ्गात् व्योमकुसुमादेरपि तदापत्तेः, ततो वस्तुसत्त्वेन
तत्केशादिः स्वप्नविषयश्चेति; तत्र, - इच्छुयैव तद्भावनालक्षणया परितः कामिन्यादेरुपलम्भात्,
अतो न तस्य पारमार्थिक बहिरर्थत्वमेतदेवाह—]

30

तत्प्रत्यक्षपरोक्षाक्षक्षममात्मसमात्मनोः ।

तथा हेतुसमुद्भूतमेकं किञ्चोपगम्यते ? ॥७३॥

सर्वैकत्वप्रसङ्गादिदोषोऽप्येष समो न किम् ? ।

मेदामेदव्यवस्थैवं प्रतीता लोकचक्षुषः ॥७४॥

5 [§ ८५. नहि विभ्रमाद्वस्तुपरिज्ञानमतिप्रसङ्गात्, इति चेदेतदेवाशङ्क्य परिहरन्नाह—]

विज्ञप्तिर्वितथाकारा यदि वस्तु न किञ्चन ।

भासते केवलं नो चेत् सिद्धान्तविषमग्रहः ॥७५॥

[§ ८६. भवतु तत एव निर्णय इति चेन्न; ततोऽपि विभ्रमरूपात्तदयोगात्, अन्य-
तादृशादेव प्र [ति] सिद्धान्तादपि तद्विषयस्य तत्रसङ्गात्तदेवाह—]

10 अनादिनिधनं तत्त्वमलमेकमलं परैः ।

सम्प्रीतिपरितापादिभेदात् तत्किं द्वयात्मकम् ? ॥७६॥

[§ ८७. एव पातनिकाया प्रतिविदाह्न (विधान) माह—]

ग्राह्यग्राहकवद्भ्रान्तिस्तत्र किञ्चानुषज्यते ? ।

[§ ८८. तदेवमङ्गीकृत्य सम्प्रीत्यादिभेद तस्य तत्रत्यनीकत्वमपाकृतम् । इदानीं स
15 एवोपायास्तीति निवेदयन्नाह—]

मेदो वा सम्मतः केन हेतुसाम्येऽपि ? भेदतः ॥७७॥

तेषामेव सुखादीनां नियमश्च निरन्वयः ।

[§ ८९. भवतु तर्हि विज्ञानवाद एव तस्य प्रत्यक्षवलादेवोपपत्तेः न ब्रह्मवादी विपर्यया-
दिति चेदन्नाह—]

20 प्रत्यक्षलक्षणं ज्ञानं मूर्च्छितादौ कथञ्च तत् ? ॥७८॥

[§ ९०. अपि च मूर्च्छितादौ ज्ञानाभावे प्रबोधस्य कादाचित्कत्वेनाहेतुत्वायोगात् शरीरो-
पादानत्वप्रसङ्गात्तदाह—]

अज्ञानरूपहेतुस्तदहेतुत्वप्रसङ्गतः ।

प्रवाह एकः किञ्चेष्टः तदभावाविभावनात् ? ॥७९॥

25 [§ ९१. यथेक आत्मा कथं प्रतिशरीरं जीवमेद .. इति चेन्न सम्यगेतत्, उपाधि-
कल्पितेभ्यस्तेभ्यः परमात्मनोऽन्यत्वात्, .. तद्विकारत्वाच्च, तस्यैव परमात्मनः खल्वेते विकाराः
तथै (त्रै) वाह—]

अविप्रकृष्टदेशादिरनपेक्षितसाधनः ।

दीपयेत् किञ्च सन्तानः सन्तानान्तरमञ्जसा ? ॥८०॥

30 अन्यबेद्यविरोधान्; किमचिन्त्या योगिनां गतिः ।

आयातमन्यथाऽद्वैतमपि चेत्यमयुक्तिमत् ॥८१॥

तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञाऽपराधिनी ॥५२॥

बभूवेति वयं तावद् बहु विस्मयमास्महे ।

तत्राद्यापि जनाः सक्ताः तमसो नाऽपरं परम् ॥५३॥

[§ ६१. अपि च यद्यपरिज्ञानं तद्विज्ञवस्य कथमवस्थानम् अविज्ञववत् ? परिज्ञानञ्च यद्यविज्ञव कथं तदेकान्तः ? सविज्ञव चेत्कथं तवस्तत्पिद्धिः विपर्ययवत् ? तदाह—] 5

विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ।

[§ ६२. तदसिद्धौ दूषणान्तरमप्याह—]

कथमेवार्थ आकाङ्क्षानिष्टत्वेरपि कस्यचित् ॥५४॥

व्यवहारो भवेज्जातिभूकलोहितपीतवत् ? ।

[§ ६३. तदनेन प्रतीत्यपलापादनवधेयवचनत्वं तेषामुपदर्शयति—] 10

अनर्थानेकसन्तानानस्थिरानविसंविदः ॥५५॥

अन्यानपि स्वयं प्राहुः प्रतीतेरपलापकाः ।

[§ ६४. भवतु तत्त्व सविद्वैतमेवेति चेत्; दत्तमत्रोत्तरम्—‘अद्वय द्वयनिर्मासम्’ इत्यादिना । तदेव विस्तरयन्नाह—]

स्वतस्त्वं कुतस्तत्र वितथप्रतिभासतः ? ॥५६॥

मित्यस्त्वं कुतस्तत्र वितथप्रतिभासनः ? ।

[§ ६५. अतो विषय एव परस्यापि परतस्तत्प्रतिभासनमित्युपपन्न एव तदुपक्षेपः, तदेवाह—]

यतस्तत्त्वं पृथक् तत्र मतः कश्चिद् बुधः परः ॥५७॥

ततस्त्वं गतं केन कुतस्तत्त्वमतत्त्वतः ? ।

[§ ६६. यदि निरास्य स्वतः परतश्च न प्रतिभासनं तदपि भावूत्, सर्वाभावस्यापि बौद्धैः सिद्धान्तीकरणादिति कश्चित् । निरंशेतरादिनित्येतरादिविकल्पनादिति पर । तत्राह—]

यथा सत्त्वं सतत्त्वं वा प्रमासत्त्वसतत्त्वतः ॥५८॥

तथाऽसत्त्वमतत्त्वं वा प्रमाऽसत्त्वसतत्त्वतः ।

[§ ६७. यदि तेषु सत्त्वस [त] त्वे तदा कथमसत्त्वासतत्त्वे ? ते चेत्; कथं सत्त्व- 25 सतत्त्वे इति ? तदेवाह—]

तदसत्त्वमतत्त्वं वा परसत्त्वसनत्त्वयोः ॥५९॥

न हि सत्त्वं सतत्त्वं वा तदसत्त्वासनत्त्वयोः ।

[§ ६८. स्यान्मतम्—सावृत्तमपि विज्ञानमसत्त्वादिविषयमेव तत्त्वसिद्धिनिवन्धनं न सत्त्वादिविषयमिति तन्मिथ्यात्वाविशेषात् । मिथ्याज्ञानमपि मणिप्रभामणिज्ञानमेव तन्निवन्धनम्, 30

एतत्समानमन्यत्र मेदाः संविदसंविदोः ॥८८॥

न विकल्पानपाकुयन्नैरन्तर्यानुबन्धिनः ।

आहुरर्थबलायातमनर्थमविकल्पकाः ॥८९॥

[§ ८८. इदमेव अनेकान्तवादिनमुपहसत. सौगतस्य प्रत्युपहासं दर्शयन् व्याचष्टे—]

५

चित्रं तदेकमिति चेदिदं चित्रतरं ततः ।

चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्रनमं ततः ॥९०॥

[§ ९०. ततो न यथोक्त बाह्यमसत्, नापि विभ्रममात्रम्, सकलविकल्पविकलं वा, तत्प्रतिषेधस्यामिहितत्वात् । नापि संवृतिमात्र (त्रं) स्पष्टप्रतीतिविषयस्य तत्त्वानुपपत्तेः । तदाह—]

तस्मान्नैकान्ततो भ्रान्तिर्नाऽसत्संवृतिरेव वा ।

10

अतश्चार्थबलायातमनेकात्मप्रशंसनम् ॥९१॥

[§ ९१. सुगतसंखिधानात्तद् (चित्रज्ञानं) अवगम्यत इति चेन्न; अद्वैतवादे सुगतस्यैवाभावात् । भावेऽप्युत्तरमाह—]

न ज्ञायते न जानाति न च किञ्चन भाषते ।

बुद्धः शुद्धः प्रवक्तेति तत्किलैषां सुभाषितम् ॥९२॥

15

[§ ९२. न च कार्याभावादसत्त्वं कार्येण सत्त्व्याप्तेरभावात् ... इति न कार्याभावात् तद्बुद्धय (तद्बुद्धय) स्यामावः, एतदेवाह—]

न जातं न भवत्येव न च किञ्चित्करोति सत् ।

[§ ९३. उत्तरमाह—]

तीक्ष्णं शौद्धोदनेः शृङ्गमिति किञ्च प्रकल्प्यते ? ॥९३॥

20

[§ ९४. ततो युक्तं विज्ञानवदर्थस्यापि प्रतीतिबलादवस्थापनम् । इदानीं वक्तव्यशेषं दर्शयित्वा परिहर्तुमाह—]

एकेन चरितार्थत्वात्तत्राविप्रतिपत्तिः ।

अलमर्थेन चेत् ;

[§ ९५. उत्तरमाह—]

25

नैवमतिरूढानुवादतः ॥९४॥

[§ ९६. ततः प्रतीतिबलाद्विज्ञानस्य यदस्तित्वं तदर्थस्यापि, यच्च अर्थस्याऽपरमार्थत्वं विशददर्शनपथस्यायित्वात्तमिरिकनेशादिवत् तद् विज्ञानस्यापि स्यादविशेषात् । तदाह—]

कल्पना सदसत्त्वेन समा किन्तु गरीयसी ।

प्रतीतिप्रतिपक्षेण तत्रैका यदि नापरा ॥९५॥

तस्मिन् तद्बुद्धिरिति चेन्न ; परस्परश्रयात्-साध्यसिद्ध्या तद्विशेषस्य तत्सिद्ध्या च साध्यस्य व्यवस्थापनात् । तदेवाह-]

अन्योन्यसंश्रयान्नो चेत्,

[§ ७६. समाधानान्तरामिक्तिसया परं पृच्छन्नाह-]

तत्किमज्ञानमेव तत् ? ॥६६॥

5

[§ ७७. तत्रोत्तरमाह-]

अद्वयं परचित्ताधिपतिप्रत्ययमेव वा ।

वीक्षते किं तमेवायं विषमज्ञ इवान्यथा ॥७७॥

[§ ७८. तेषां [विकल्पानाम्] समारोपव्यवच्छेदेन फलवत्त्वात्तदेवाह-]

समारोपव्यवच्छेदः साध्यश्चेत् सविकल्पकैः ।

10

[§ ७९. अत्रोत्तरमाह-]

नैषा विकल्पना साम्याद्दोषाणामनिवृत्तिः ॥७८॥

[§ ८०. एव विकल्पानामर्थक्रियाकारविषयत्वव्यवस्थापनेन बहिरर्थमवस्थाय प्रकारान्तरेणापि तमवस्थापयन्नाह-]

न हि जातु विषज्ञानं मरणं प्रति धावति ।

15

असंश्लेषद् बहिरर्थात्मा प्रसिद्धोऽप्रतिषेधकः ॥७९॥

[§ ८१. ननु यथा तस्य [बहिरर्थस्य] न प्रतिषेधक तथा न साधकमपि । ततः साधक-
बाधकप्रमाणाभावात् सन्देह एव । न च सन्दिग्धस्य प्रसिद्धत्वमिति चेदत्राह-]

सन्देहलक्षणाभावात्, मोहश्चेद् व्यवसायकृत् ; ।

याधकासिद्धेः, स्पष्टाभात् कथमेष निश्चयः ? ॥७०॥

20

विपर्यासोऽपि किन्नेष्टः आत्मनि भ्रान्त्यसिद्धिः ? ।

[§ ८२. भेद एव भ्रमस्तस्य विदादौ नास्मीति चेत्, विभ्रमेतररूपं तदेकं सवेदनं कथम् ? तथैव प्रतिभासावेदेतदेवाह सौगत -]

अद्वयं द्वयनिर्मासमात्मन्यप्यवभासते ॥७१॥

[§ ८३. एव प्रक्रमानेकान्ते परेण निरूपिते सत्याह-]

25

इतरत्र विरोधः कः एक एव स्वहेतुतः ।

तथा चेत् स्वपरात्मानौ सदसन्नौ समश्नुते ? ॥७२॥

[§ ८४. तत्र विभ्रमेतराकारतया उभयाकारं सवेदनं यत् तदवस्थमेव (वष्टम्भेन)
क्रमानेकान्तव्यवस्थापनमिति चेदत्राह-]

[§ ११४. कुतः पुनः समवायामावे 'शाखास्तु वृक्षः' इति प्रत्ययः ? इति चेदत्राह—]

अथ ऊर्ध्वविभागादिपरिणामविशेषतः ॥१०४॥

तानेव पश्यन् प्रत्येति शाखाः वृक्षेऽपि लौकिकः ।

[§ ११५. इति नावधिम्यः [परमाणुम्यः] स्थूलमर्थान्तरम्, अर्थान्तरत्वे पुनरपि
५ तदाशङ्कापूर्वं दूषणमाह—]

तुलितद्रव्यसंयोगे स्थूलमर्थान्तरं यदि ॥१०५॥

तत्र रूपादिरन्यश्च साक्षैरीक्ष्येत सादरैः ।

[§ ११६. तत्रैव दूषणान्तरमाह—]

गौरवाधिक्यतत्कार्यभेदाश्च,

10 [§ ११७. अत्र परस्य परिहारमाह—]

आसूक्ष्मतः किल १०६॥

अतौल्यादर्थराशेस्तद्विशेषानवधारणम् ; ।

[§ ११८. तन्नातौल्याद् गुरुत्वादेस्तत्राप्यनवधारणम् । आह्लासिद्वलमप्यस्य हेतोः सम्प्रति
शास्त्रकृत्—]

15 ताम्रादिरक्तिकादीनां समितक्रमयोगिनाम् ॥१०७॥

कथमातिलकात्स्थूलप्रमाणानवधारणे ।

अल्पभेदाग्रहान्मानमणूनामनुषज्यते ॥१०८॥

अंशुपातानुमाहृष्टेरन्यथा तु प्रसज्यते ।

[§ ११९. अपि परमाणुपर्यन्तमप्यपातिनामवयवविशेषाणाम् अशक्येयत्तातोलेनाना यव-
20 भावः पर्यन्तोऽप्यवयवी न भवेत्, तस्याप्यवयवाधारस्यैवानुपगमात् । भावश्चेत्तत्राह—]

क्षीराद्यैरविजातीयैः प्रक्षिप्तैः क्रमशो घटः ॥१०९॥

तावद्भिरेव पूर्येत यावद्भिर्न विपर्ययैः ।

[§ १२०. साम्प्रत परमताक्षेपपुरस्सरं स्वमतमाह—]

नांशेष्वंशी न तेऽत्रान्ये वीक्ष्या न परमाणवः ॥११०॥

25 आलोकयार्थान्तरं कुर्यादत्रापोद्धारकल्पनाम् ।

[§ १२१. तदेवं 'परोक्षज्ञानविषय' इत्यादिना आत्मवेदनस्य, 'एतेन विचिसत्तायाः'
इत्यादिना चार्थवेदनं व्यवस्थाप्यता कारिकोपात्तमालम्पदमर्थपद व्याख्यातम् । इदानीं तदुपाच
द्रव्यपदं व्याख्यासुराह—]

गुणपर्ययवद् द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः ॥१११॥

80 विज्ञानव्यक्तिशक्त्याद्या भेदाभेदौ रसादिवत् ।

[§ ६२. कथं पुनर्वहिरर्थस्य वस्तुसत्तः परिज्ञानम् ? न प्रतिभासात्, तस्याऽसत्यपि तस्मिन् विज्ञानावस्थाया भावात् । तद्विशेषादित्यपि न युक्तम्, अजादितत्त्वादेस्तद्विशेषस्य निराकरणादिति चेन्न; तद्वत् सन्तानान्तरस्यापरिज्ञानापत्तेः, प्रत्यक्षतस्तद्वेदनात्, तल्लिङ्गस्य च व्याहारादेरत्यपि तस्मिन् विज्ञानदशाया भावात्तदाह—]

व्यवहारादिनिर्भासो विप्लुताक्षेऽपि भावनः ।

5

अनाधिपत्यशून्यं नत् पारम्पर्येण चेत्; असत् ॥८२॥

अर्थेष्वपि प्रसङ्गश्चेत्यहेतुमपरे विदुः ।

[§ ६३. ततो भवत्येव नीलतज्ज्ञानयोरेतदप्रतिपत्तिरिति चेदत्राह—]

सहोपलम्भनियमान्नाभेदो नीलतद्विदोः ॥८३॥

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धव्यतिरेकानन्वयत्वतः ।

10

[§ ६४. तदयं प्रतिपक्षमनपाकुर्वत एव कल्पिताद्वेतोः साध्यसिद्धिं तात्त्विकीमन्विच्छन् कथमिह प्रज्ञावन्तमात्मानं प्रेक्षावद्भयं प्रकटं कुर्यात्, अपि च यदि केनापि निष्पुरुषद्वयेन विप्रलब्धो न भवेत्तदाह—]

साध्यसाधनसङ्कल्पस्त्वन्नो न निरूपितः ॥८४॥

परमार्थावनारायं कुनश्चित्परिकल्पितः ।

15

अनपायीनि विद्वत्तामात्मन्याशंसमानकः ॥८५॥

केनापि विप्रलब्धोऽयं हा कष्टमकृपालुना ! ।

[§ ६५. स्यादेतदेव यदि परमाणवः प्रतीपरन्, न चैवम्; एकैकशः समुदायेन वा तत्प्रतिपक्षप्रतिवेदनात् । तदारब्धोऽवगृहीति चेन्न; परमाणूनां निरपेक्षतया तदारम्भकत्वे पृथग्दशायामपि प्रसङ्गात् । संयोगसव्यपेक्षाणां तत्त्वे; संयोगो यथकदेशेन, अन्यवस्थापत्तिः । 20 तदाह—]

तत्र दिग्भागभेदेन षडंशाः परमाणवः ॥८६॥

[§ ६६. तस्माच्चैकदेशेन तेषां संयोगः । सर्वात्मनेति चेदत्राह—]

नो चेत् पिण्डोऽणुमात्रः स्यान्न च ते बुद्धिगोचराः ।

[§ ६७. पदादेरपि परपरिकल्पितस्याभावात्, अभावश्च तस्य परिस्फुटमनवभास- 25 नात्तदाह—]

न चैकमेकरागादौ समरागादिदोषतः ॥८७॥

स्वतः सिद्धेरयोगाच्च, तद्बृहतेः सर्वथेति चेत्; ।

[§ ६८. साम्प्रतं पूर्वपक्षसमाप्तिमिति शब्देन चेच्छब्देन च परामिप्रायं द्योतयन्नाह— 'इति चेत्' इति । अत्रोत्तरमाह—]

30

तथायं क्षणमङ्गो न ज्ञानांशः सम्प्रतीयते ॥१२०॥

अर्थकारिविवेको न विज्ञानांशो यथा क्वचित् ।

[§ १२२. एवं स्थिते परिणामस्य निर्व्याकुलत्वात् तमेव वस्तुलक्षणमागमाविरोधेन कथं यन् तल्लक्षणं तत्त्वार्थसूत्रेण दर्शयति—]

5 'तद्भावः परिणामः' स्यात् सविकल्पस्य लक्षणम् ॥१२१॥

[§ १२३. तत्रैवानुमानमाह—]

तदेव वस्तु साकारमनाकारमपोद्धतम् ।

[§ १२४. यत्पुनरिदमेकान्तव्या (निरा) करणाद्य व्यासस्य सूत्रम्—'नैकस्मिन्नसम्भवात्' इति । अस्यार्थः नानेकान्तवादो युक्तः । कुत एतत् ? एकस्मिन् धर्मिणि सदसत्त्वनिव्य-
10 त्वानिस्तत्त्वानैकत्वादीना विरुद्धधर्माणामसंभवादिति तत्राह—]

भेदानां बहुभेदानां तत्रैकत्रापि सम्भवात् ॥१२२॥

[§ १२५. तत्रैकत्र भेदसंभवः तस्यैवैकस्याभावादिति, तत्राह—]

अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणम् ।

ततः सर्वा व्यवस्थेति नृत्येत्काको मयूरवत् ॥१२३॥

15 [§ १२६. कुतश्च स्वलक्षणस्यान्वयस्य वा प्रतिपत्तिः, अप्रतिपत्तौ तान्त्र्यामेव सर्वव्यवस्थितिप्रतिज्ञानुपपत्तेः । यथासंख्येन प्रत्यक्षादनुमानाच्चेति चेन्न; प्रत्यक्षस्य यथाकल्पनमप्रतिपत्तेः—'अनुमानस्य च यथा नाभिजल्पसम्पर्कयोग्याकारस्य प्रतिपत्तिः तथा निवेदितमेव । अप्रतिपत्त्यादपि तत एव तत्प्रतिपत्तिरिति चेदत्राह—]

प्रामाण्यं नाऽगृहीतेऽर्थे प्रत्यक्षेतरगोचरौ ।

20 भेदाभेदौ प्रकल्प्येते कथमात्मविकल्पकैः ? ॥१२४॥

[§ १२७. इति स्थितम्—सामान्यविशेषात्मकत्वं प्रत्यक्षविषयस्य । साम्प्रतमुक्तमेवार्थमनुग्रहपरवाचिक्विषयाणामनुस्मरणाय श्लोकानां विशिष्टा सङ्ग्रहा कथयन्नाह—]

उत्पादविगमप्रौढ्यद्रव्यपर्यायसङ्ग्रहम् ।

सद्, भिन्नप्रतिभासेन स्याद्विभक्तं सविकल्पकम् ॥१२५॥

25 [§ १२८. यदेव भिन्नमेव तदस्तु नाभिजमित्यत्राह—]

अभिन्नप्रतिभासेन स्याद्विभक्तं स्वलक्षणम् ।

[§ १२९. कथं पुनः परस्परविरुद्धभेदाभेदधर्माधिष्ठानमेकं वदति चेदाह—]

विरुद्धधर्माध्यासेन स्याद्विरुद्धं न सर्वथा ॥१२६॥

[§ १३०. एतदेव कुत इत्याह—]

[§ १०७. न चैवं केशादेरपि तज्ज्ञानासिद्धिः; तत्र स्वतः परतश्च असत्यत्वस्यैव निश्चयात्, तदाह—]

न हि केशादिनिर्भासो व्यवहारप्रसाधकः ।

[§ १०८. पर आह—वासनाभेदात् । तत्रोत्तरम्—सिद्धस्तत्र ।]

वासनाभेदाद्भेदोऽयम्; सिद्धस्तत्र न सिद्ध्यति ॥९६॥ 5

तन्मात्रभावो दृष्टान्ते सर्वत्रार्थोपकारतः ।

पारम्पर्येण साक्षाद्वा परापेक्षाः सहेतवः ॥९७॥

विच्छिन्नप्रतिभासिन्यो व्यवहारादिधियो यथा ।

[§ १०९. यथैताः परापेक्षाः तथान्येऽपि दृष्टान्ता इत्येवं साध्यवैकल्यं दृष्टान्तस्य प्रतिपाद्य इदानीं तन्मात्रभावे साध्यसिद्धिमावेदयन्नाह—] 10

सन्निवेशादिभिर्दृष्टैर्गोपुराट्टालिकादिषु ॥९८॥

बुद्धिपूर्वैर्यथा तत्त्वं नेष्यते सूधरादिषु ।

तथा गोचरनिर्भासैर्दृष्टैरेव भयादिषु ॥९९॥

अवास्तवभावनाजन्यैरन्यत्रेत्यवगम्यताम् ।

अत्र मिथ्याविकल्पोऽवैरप्रतिष्ठानकैरलम् ॥१००॥ 15

[§ ११०. भवतु नद्विर्यः स तु परमाणुरूप एव तस्यैव प्रत्यक्षत्वाच्च परो विपर्ययादित्युपक्षिप्य प्रत्याचक्षाण आह—]

अत्यासन्नानसंसृष्टानणूनेवाक्षगोचरान् ।

अपरः प्राह; तत्रापि तुल्यमित्यनवस्थितिः ॥१०१॥

[§ १११. तदेव परमाणूनां प्रत्यक्षत्वं प्रत्याख्याय अवयविनस्तद्व्याख्यानायां यौग- 20 मतमुपक्षिपति—]

तत्रापि तुल्यजातीयसंयोगसमवायिषु ।

अत्यक्षेषु द्रुमेष्वन्यदध्यक्षमपरे विदुः ॥१०२॥

[§ ११२. अत्र प्रतिविधानमाह—]

कारणस्याक्षये तेषां कार्यस्थोपरमः कथम् ? ।

25

[§ ११३. ततः शाखाचलनमेव वृक्षस्यापि चलनमिति कथं शाखातादात्म्यं वृक्षस्य प्रतीतिसिद्धं न भवेत्, यत्तत्रार्थं अर्थान्तरसम्बन्धप्रतिज्ञा प्रतीतिप्रतिक्षिप्ता हेतवश्च विरुद्धा न भवेयुः । तदेवाह—]

समवायस्य वृक्षोऽत्र शाखास्वित्वादिसाधनैः ॥१०३॥

अनन्यसाधनैः सिद्धिरहो लोकोत्तरा स्थितिः । ।

30

समानाधारसामान्यविशेषणविशेष्यताम् ।

[§ १४१. तदेवं वस्तुभूतादेव धर्मभेदात् व्यवहारोपपत्तौ यत्तदर्थं व्यावृत्तिभेदेन जाति-
भेदोपकल्पन तस्यायुक्तत्वं तत्कल्पनाकृताञ्च अस्यानमीरुत्व दर्शयन्नाह—]

अत्र दृष्टविपर्यस्तमयुक्तं परिकल्पितम् ॥१३५॥
मिथ्याभयानकग्रस्तैः मृगैरिव तपोवने ।

[§ १५०. मिथ्याभयानकत्वमेव तेषां दर्शयन्नाह—]

यस्यापि क्षणिकं ज्ञानं तस्यासन्नादिभेदतः ॥१३६॥
प्रतिभासमिदां घत्तेऽसकृत्सिद्धं स्वलक्षणम् ।
विलक्षणार्थविज्ञाने स्थूलमेकं स्वलक्षणम् ॥१३७॥
तथा ज्ञानं तथाकारमनाकारनिरीक्षणे ।
अन्यथाऽर्थात्मनस्तत्त्वं मिथ्याकारैकलक्षणम् ॥१३८॥

[§ १५१. सदाविरूपस्यैव तत्र दर्शनं न तद्विवेकस्येति चेदत्राह—]

विज्ञानप्रतिभासेऽर्थविवेकाप्रतिभासनात् ।
विरुद्धधर्माध्यासः स्यात् व्यतिरेकेण चक्रकम् ॥१३९॥
१६ [§ १५२. तत्र जीवति स्थूलज्ञाने निर्भागज्ञानसम्बो यतः परमाणुसिद्धिः, तदसिद्धौ
यदन्यत्प्राप्तं तदप्याह—]

प्रतिक्षणं विशेषा न प्रत्यक्षाः परमाणुवत् ।
अतदारम्भतया बुद्धेरर्थकारिविवेकवत् ॥१४०॥

[§ १५३. एवञ्च यज्जात परस्य तद्दर्शयन्नाह—]

अत्यन्ताभेदभेदौ न तद्वतो न परस्परम् ।
इदयाहदयात्मनोर्बुद्धिनिर्भासक्षणमङ्गयोः ॥१४१॥
सर्वथाऽर्थक्रियाऽयोगात्, तथा सुप्तप्रबुद्धयोः ।
अंशयोर्यदि तादात्म्यमभिज्ञानमनन्यवत् ॥१४२॥

[§ १५४. इदानीं तेन द्रव्यपर्यायादीनामन्योन्यात्मकत्वेन भावः इति परिणामलक्षणं
२६ सहगृह्य दर्शयन्नाह—]

संयोगसमवायादिसम्बन्धाद्यदि वर्तन्ते ।
अनेकत्रैकमेकत्रानेकं वा; परिणामिनः ॥१४३॥

[§ १५५. भवतु सामान्यं तत्तु विजातीयव्यावृत्तिरूपमेव... इति चेदत्राह—]

१ एतदनन्तरम् 'अत एवाह—' इति कृत्वा 'जेवानां बहुमेवाना तत्रैकत्रापि सम्भवात्' इति कारि-
कायाः पुनरप्युक्तं । परं विवरणकृताऽव्याख्यातत्वात् स विवरणकारेणैव अनुस्मृत इति प्रतिपाति ।

[§ १२२. किं गुणग्रहणेन पर्यायवद्ब्रव्यमित्येवास्तु, गुणानामपि परिच्छिन्नायन (त)-
रूपतया पर्यायेष्वन्तर्भावादिति चेदत्राह—]

सदापि सविकल्पाख्यासाधनाय क्रमस्थितेः ॥११२॥

गुणपर्याययोर्नैक्यमिति सूत्रे द्वयग्रहः ।

गुणवद्द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यादयो गुणाः ॥११३॥

5

अद्रवद् द्रवनि द्रोष्यत्येकानेकं स्वपर्यायम् ।

मेदज्ञानात् प्रनीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि ॥११४॥

अमेदज्ञाननः सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित् ।

[§ १२३. ततः सर्वं सत् उत्पादादित्रयात्मकमेव नोत्पादाद्यन्यतमेकान्तात्मकं तदप्रति-
पत्तरेतदेवाह—]

10

सदोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, असतोऽङ्गतेः ॥११५॥

[§ १२४. ननु ध्रौव्यं नाम दधिपर्यायस्य उत्तरतत्पर्यायिणैकत्वं तच्च तेनैव कुतो न करम-
पर्यायेणापि ! देशादिमेदस्य प्रकृतेऽप्यविशेषादिति चेदत्राह—]

तादात्म्यनियमो हेतु-फलसन्तानवद्भवेत् ।

[§ १२५. भवतु तदुभयमपि क्षणिकमेवेति चेदत्राह—]

15

भिन्नमन्तर्बहिः सर्वं युगपत्क्रमभावि, न ॥११६॥

प्रत्यक्षं न तु साकारं क्रमयुक्तमयुक्तिमतम् ।

[§ १२६. एतदेव लोकप्रसिद्धेनोदाहरणेन दर्शयन्नाह—]

प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥११७॥

[§ १२७. तदेव मूलकारिकानिर्दिष्टयोः द्रव्यपर्यायपदयो व्याख्यानं कृत्वा सामान्यवि- 20
शेषपदयोः तद्दर्शयति—]

समानभावः सामान्यं विशेषोऽन्यव्यपेक्षया ।

[§ १२८. तदेव द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मकत्वं भावस्य प्रपञ्चोक्तमुपसहस्य दर्शयन्नाह—]

स्वलक्षणमसङ्कीर्णं समानं सविकल्पकम् ॥११८॥

समर्थं स्वगुणैरेकं सहक्रमविचर्तिभिः ।

25

[§ १२९. सहविवर्तिमिरेकमित्येतदसहमानस्य मतमाशङ्कते—]

यदि शेषपरावृत्तरेकज्ञानमनेकतः ॥११९॥

[§ १३०. अत्रोत्तरमाह—]

अन्वर्थमन्यथाभासमनंशानां न राशयः ।

[§ १३१. सिद्धा तर्हि क्षणमङ्गस्यापि प्रत्यक्षे तद्वदप्रतिपत्तिरेतदेवाह—]

80

प्रत्याचष्टे, समानन्यायतया तत्प्रत्याख्यानादेव द्रव्यत्वादेरपरसामान्यस्यापि प्रत्याख्यानोपनीता-
(नीतत्वा) त्—]

नित्यं सर्वगतं सत्त्वं निरंशं व्यक्तिमिर्यदि ॥१५१॥

व्यक्तं व्यक्तं सदा व्यक्तं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

5 सत्तायोगाद्विना सन्ति यथा सत्तादयस्तथा ॥१५२॥

सर्वेऽर्थाः देशकालाश्च सामान्यं सकलं मतम् ।

सर्वभेदप्रभेदं सत् सकलाङ्गशरीरवत् ॥१५३॥

तत्र भावाः समाः केचिन्नापरे चरणादिषु ।

[§ १५६. साम्प्रतं प्रस्तुतप्रस्तावार्थविस्तारमुपसङ्ग्य दर्शयन्नाह—]

10 एकानेकमनेकान्तं विषमं च समं यथा ॥१५४॥

तथा प्रमाणतः सिद्धमन्यथाऽपरिणामतः ।

[§ १५७. ततो व्यवस्थितं व्यवसायात्मकं विशदं द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्माव्यवधानं प्रत्यक्षमिति । किमनेन तल्लक्षणेन प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमित्येवास्तु निर्दोषत्वात् ? इति चेदुच्यते—]

अविकल्पकमभ्रान्तं प्रत्यक्षं न पटीयसाम् ॥१५५॥

15 अविसंवादनियमादक्षगोचरचेतसाम् ।

[§ १५८. तच्च विकल्पजननात् प्रत्यक्षप्रामाण्यं विकल्पस्यैव मुख्यतस्तदुपनिपातात् ।

विकल्पानामयथार्थत्वाच्चेति चेदत्राह—]

सर्वथा वितथार्यत्वं सर्वेषाममिलापिनाम् ॥१५६॥

ततस्तत्त्वव्यवस्थानं प्रत्यक्षस्येति साहसम् ! ।

20 [§ १५९. इदानीं मानसमपि तत्प्रत्यक्षं प्रतिषेद्धुं कारिकापादत्रयेण परप्रसिद्धं तत्त्वरूपमुपदर्शयति—]

अक्षज्ञानानुजं स्पष्टं तदनन्तरगोचरम् ॥१५७॥

प्रत्यक्षं मानसं चाह;

[§ १७०. तदिदानीं निराकुर्वन्नाह—]

25 भेदस्तत्र न लक्ष्यते ।

[§ १७१. शान्तमद्वैतवाह—यद्यपि प्रत्यक्षतस्तस्य तस्माद्भेदो न लक्ष्यते, कार्यतो लक्ष्यत एव । कार्यं हि नीलादिविकल्परूपं स्मरणापरव्यपदेशं न कारणमन्तरेण कादाचित्कत्वात् । न चाक्षज्ञानमेव तस्य कारणं सन्तानभेदात् प्रसिद्धसन्तानान्तरज्ञानवत् । ततोऽन्यदेव अक्षज्ञानात् तत्कारणम्, तदेव च मानसं प्रत्यक्षमित्येतदेव दर्शयित्वा प्रत्याविख्यासुराह—]

30 अन्तरेणेवमक्षानुभूतं चेन्न विकल्पयेत् ॥१५८॥

स्यादसम्भवतादात्म्यपरिणामप्रतिष्ठितम् ।

समानार्थपरावृत्तमसमानसमन्वितम् ॥१२७॥

[§ १४१. कुतः पुनस्तदित्यमित्याह—]

प्रत्यक्षं बहिरन्तश्च परोक्षं स्वप्रदेशतः ।

[§ १४२. कथं पुनरेकमेव स्वलक्षणं तथा प्रत्यक्षं परोक्षश्चेति चेदत्राह—]

5

सुनिश्चितमनेकान्तमनिश्चितपरापरैः ॥१२८॥

[§ १४३. स्यान्मतम्—उपादानोपादेयलक्षणसन्तानादन्यद् क्रमाऽनेकान्तं परमाणु-
समुदायादवयवव्याप्योपादानान्तरक्रमानेकान्तमपि द्विविधेनमेवेति; तत्राह—]

सन्तानसमुदायादिशब्दमात्रविशेषतः ।

[§ १४४. उपादानमपि न प्रत्यक्षमिदानीदित्यतः शक्यसमर्थनम् . ततः तत्समर्थना- 10
दपि अनेकान्तमेव सुनिश्चितमिदानीदेत्यत्राह—]

प्रत्यक्षमिदानीदित्युपादानं प्रकल्पयेत् ॥१२९॥

अन्योन्यात्मपरावृत्तमेवाभेदावधारणात् ।

मिथ्याप्रत्यक्षमर्थेभ्यो विशिष्टात् परमार्थतः ॥१३०॥

[§ १४५. तदिति स्मरणमिदमिति प्रत्यक्षम्, न तान्या मिथ्यमन्यद् प्रत्यक्षमिदानीं यत- 15
स्तयोरेवधारणमिति चेदत्राह—]

तथाप्रतीतिमुल्लंघ्य यथास्वं स्वयमस्थितेः ।

नानैकान्तग्रहप्रस्ता नान्योन्यमतिशेरेते ॥१३१॥

[§ १४६. मग्नं तत्र सुनिश्चितमनेकान्तं यत्र पूर्ववदुत्तरस्यापि दर्शनं प्रत्यक्षमिदानीं
तन्निश्चयहेतोस्तत्र संभवात् । यत्र तु पूर्वस्यैव दर्शनं न परस्य तत्र कथं संभवात् (यः) नक्षत्र- 20
तिपक्षस्य पूर्वमेवेन अन्यथा वा प्रत्यक्षमिदानीं संभवतीति चेदत्राह—]

शब्दादेरुपलब्धस्य विरुद्धपरिणामिनः ।

पश्चादनुपलब्धेऽपि युक्तोपादानवद्भूतिः ॥१३२॥

[§ १४७. युक्तमुपादानस्योपलब्ध्याच्छब्दादेरनुमानम् तस्य निरुपादानस्यायोगात् ।
नोपादेयस्य; कारणस्य कार्यवत्त्वनियमामावादिति चेदत्राह—]

25

तस्याऽदृष्टमुपादानमदृष्टस्य न तत्पुनः ।

अवश्यं सहकारीति विपर्यस्तमकारणम् ॥१३३॥

[§ १४८. निगमयन्नाह—]

तदेवं सकलाकारं तत्स्वभावैरपोद्बृज्यते ।

निर्विकल्पं विकल्पेन नीतं तत्त्वानुसारिणा ॥१३४॥

30

ओत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षं यदि तैमिरिकादिषु ॥१६५॥

प्रसङ्गः किमतद्वृत्तिस्तद्विकारानुकारिणी ? ।

[§ १=१. साम्प्रतं नैयायिकस्य प्रत्यक्षलक्षणमुपदर्श्य निराकुर्वन्नाह—]

तथाऽक्षार्थमनस्कारसत्त्वसम्बन्धदर्शनम् ॥१६६॥

५

व्यवसायात्मसंवाद्यव्यपदेश्यं विरुद्धयते ।

[§ १=२. पुनरपि नैयायिकस्य विरुद्धं दर्शयति—]

नित्यः सर्वगतो ज्ञः सन् कस्यचित्समवायतः ॥१६७॥

ज्ञाता द्रव्यादिकार्थस्य नेश्वरज्ञानसंग्रहः ।

[§ १=३. भवताऽपि कस्मादतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य लक्षणान्तरं नोच्यते ? इति चेदत्राह—]

10

लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ॥१६८॥

अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥१६८½॥

[§ १=४. भवतु तर्हि तत्सुगतस्यैव तत्रैव तल्लिङ्गस्य तत्त्वोपदेशस्य भावात् इति चेत् ;

सत्यमिदं यदि तत्त्वोपदेश एव तत्र भवेत्, न चैवमत एवाह—]

15

ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादम्,

चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलमेति तत्त्वं प्रपेदे ।

न ज्ञाता तस्य तस्मिन् च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चित्,

इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलासः ॥१६९½॥

इति न्यायविनिश्चये प्रथमः प्रत्यक्षप्रस्तावः ॥



२. द्वितीयः अनुमानप्रस्तावः ।

20

[§ १=५. इदानीं परोक्षस्य तथानिरूपणमवसरप्राप्तमिति तत्त्वमेदमनुमानं निरूपयन्नाह—]

साधानात् साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये ॥१७०॥

विरोधात् कचिदेकस्य विधानप्रतिषेधयोः ।

[§ १=६. प्रत्यक्षस्यापि न वस्तुतः स्वार्थपरिच्छेदः तत्काले तदर्थस्य कारणत्वेन

व्यतिक्रमादपि तु तदाकारस्वरूपपरिच्छेदस्य तत्रारोपादौपचारिकवत् (कं तत्) तथाऽनुमानस्यापि

25 तत्परिच्छेदसाधने सिद्धसाधनमिति चेदत्राह—]

प्रत्यक्षं परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत् ॥१७१॥

सत्यं परिस्फुटं येन तथा प्रामाण्यमश्नुते ।

अतद्वेतुफलापोहमविकल्पोऽभिजल्पति ।

[§ १५६. साम्प्रतं तस्य वस्तुषु भावादीनां वस्तुसामान्यसाधनत्वेन विरुद्धत्वमावेदयन्नाह—]

समानाकारशून्येषु सर्वथाऽनुपलम्भतः ॥१४४॥

तस्य वस्तुषु भावादिसाकारस्यैव साधनम् ।

न विशेषा न सामान्यं तान् वा शक्त्या कयाचन ॥१४५॥ ५

तद्विभर्त्ति स्वभावोऽयं समानपरिणामिनाम् ।

[§ १५७. मित्रमेव सामान्यं विशेषेभ्यः तदाधेयञ्च, खण्डादिषु गोत्वमिति प्रतिपत्तेः तत्कथं ते तच्च विभर्त्ति इति चेदन्नाह—]

अप्रसिद्धं पृथक्सिद्धम् उभयात्मकमक्षसा ॥१४६॥

[§ १५८. ततः सावृत्तमेतत्, अस्थूलदिव्यावृत्त्या स्थूलादेः संब्रूया कल्पनादिति 10 चेदन्नाह—]

सन्निवेशादिब्रूस्तु सांवृत्तं किञ्च कल्प्यते ? ।

[§ १५९. निरंशार्थप्रवादे हि वस्तुनः सर्वथा प्रहात् । न कचिद्विज्ञानो नाम भवेद्विज्ञाहं शाक्यते—]

समग्रकरणादीनामन्यथा दर्शने सति ॥१४७॥ 15

सर्वात्मनां निरंशत्वात् सर्वथा ग्रहणं भवेत् ।

[§ १६०. अतः तस्य [चन्द्रस्य] एकत्वादिनेव वर्तुलत्वादिनाप्यग्रहणमेवेति चेदन्नाह—]

नौयानादिषु विज्ञान्तो न न पश्यति बाह्यतः ॥१४८॥

[§ १६१. पर्यगमि असदेव पर्यतीति चेदाह—]

न च नास्ति स आकारः ज्ञानाकारेऽनुषङ्गतः । 20

[§ १६२. तस्माद् दृश्येतराल्पत्वमनेकान्तावलम्बनम्, इदमेवाह—]

तस्माद् दृष्टस्य भावस्य न दृष्टः सकलो गुणः ॥१४९॥

[§ १६३. तदेवं रूपसंस्थानात्मकत्वबद् दृश्येतराल्पत्वबच्च सामान्यविशेषाल्पके वस्तुनि व्यवस्थिते सति यत् परस्यापद्यते, तदाह—]

प्रत्यक्षं कल्पनापोहं प्रत्यक्षादिनिराकृतम् । 25

[§ १६४. निगमयन्नाह—]

अध्यक्षलिङ्गनः सिद्धमनेकात्मकमस्तु सत् ॥१५०॥

सत्यालोकप्रतीतिर्धै सन्तः सन्तु विमत्सराः ।

[§ १६५. साम्प्रतं सदृशपरिणामं सामान्यमनम्युपगच्छतो वैशेषिकादेः तद्व्यवहार एव न संभवति तत्परिकल्पितस्य सामान्यस्यानुपपत्तेरिति दर्शयितुं प्रथमं तावत् परसामान्यं सत्त्वमेव 30

[§ १६७. साम्प्रतं सौत्रान्तिकं प्रति सत्ताप्रधानमाह—]

अक्षादेरप्यदृश्यस्य तत्कार्यव्यतिरेकतः ।

[§ १६८. एवमदृश्यस्यापि सत्ता प्रसाध्यते; तत्र परोक्षं दूषणं प्रत्याचक्षाण आह—]

एतेनातीन्द्रिये भावकार्यकारणतागतेः ॥१७९॥

5 तत्सत्ताव्यवहाराणां प्रत्याख्यानं निवारितम् ।

[§ १६९. इदानीम् 'अतीन्द्रिये भाव' इत्यादिकमेव व्याचिख्यासुराह—]

व्याधिभूतग्रहादीनां विप्रकर्षेऽपि गम्यते ॥१८०॥

कुतश्चित्सदसद्भावविरोधप्रभवं तथा ।

प्रामाण्यमविसंवादाद् भ्रान्तिरध्यवसायतः ॥१८१॥

10 प्रत्यक्षाभाप्रसङ्गश्चेत्तथानभिनिवेशतः ।

[§ २००. यत्पष्टावभासित्वादनुमानमवस्तुविषय प्रत्यक्षमपि कथञ्चित्ता भवेदित्याह—]

दूरदूरतरादिस्थैरेकं वस्तु समीक्ष्यते ॥१८२॥

नानाभं स्यात्तथा सत्यं न चेद्ब्रह्मस्वनुरोधि किम् ? ।

[§ २०१. इति सिद्धं तस्य स्पष्टज्ञानेनैकविषयत्वं मित्रप्रतिभासत्वेऽपि तदेकार्थत्वात्,]

16 एतदेव दर्शयन्नाह—]

तस्मादनुमितेरर्थविषयत्वनिराकृतिः ॥१८३॥

प्रतिभासमिदायाः किमेकस्यानेकतो ग्रहात् ? ।

[§ २०२. सिद्धं तर्हि वस्तुष्वेव प्रतिबन्धपरिज्ञानमनुमानस्य च साफल्यमेतदेवाह—]

समानपरिणामात्मसम्बन्धप्रतिपत्तिः ॥१८४॥

20 तत्राशक्तिफलाभावौ न स्यातां लिङ्गलिङ्गिनोः ।

[§ २०३. भवतु तत्परिणाम एव सामान्यम्, तस्य तु व्यक्तिभ्यो भेद एवेति यौगाः]

अभेद एवेति सांख्याः, तत्राह—]

न भेदोऽभेदरूपत्वात् नाऽभेदो भेदरूपतः ॥१८५॥

सामान्यं च विशेषाश्च तदपोद्धारकल्पनात् ।

25 [§ २०४. अभेदस्यैव सर्वभावेषु प्रतिपत्तेः इति कश्चित्; भेद एव भावानां तात्त्विकः]

न कथञ्चिदप्यनुगमः— इत्यपरः, तत्रोत्तरमाह—]

संसर्गो नास्ति विश्लेषात्, विश्लेषोऽपि न केवलम् ॥१८६॥

संसर्गात् सर्वभावानां तथा संवित्सिंसंभवात् ।

[§ २०५. कुतः पुनः समानपरिणाम एव सामान्यमभिमतम् [न] नैयायिकादिक-

80 लिपतमेवेत्याह—]

सन्तानान्तरवधेतः समनन्तरमेव किम् ? ।

शङ्कुलीभक्षणादौ चेत्तावन्त्येव मनांस्यपि ॥१५९॥

यावन्तीन्द्रियचेतांसि प्रतिसन्धिर्न युज्यते ।

[§ १७२. तत्र तावत्त्व मनसायुपपन्नम्, अथैकमेव सकलरूपादिषिष्यं तेभ्यो मन-
स्तदाह—]

5

अथैकं सर्वविषयमस्तु;

[§ १७३. अवोत्तरम्—]

किं चाऽक्षबुद्धिभिः ? ॥१६०॥

[§ १७४. साम्प्रतं मनसामक्रयोत्पत्ता उक्त प्रतिसन्ध्यभाव क्रमोत्पत्तावपि दर्शयन्नाह—]

क्रमोत्पत्तौ सहोत्पत्तिविकल्पोऽयं विरुद्धयते ।

10

अध्यक्षादिविरोधः स्यात्तेषामनुभवात्मनः ॥१६१॥

[§ १७५. तत्र शान्तमद्रपक्षो ज्यायान् । धर्मोत्तरत्वाह—न प्रत्यक्षादिप्रसिद्धत्वाद् मानसं प्रत्यक्षमिष्यते यतोऽयं दोषः किन्तु आगमाधीनत्वात् । तत्र च परे दोषमुपादयन्ति—यदि मानस-
मपि किञ्चित् प्रत्यक्षं तर्हि नाचो नाम कश्चित् लोचनविकल्पापि तत्सम्भवात्; इति तत्परिहा-
राय तल्लक्षणप्रणयनम्—‘इन्द्रियज्ञानेन’ इत्यादि । न हीन्द्रियज्ञानमन्वस्य यतस्तदुपादानस्य मानसप्र- 15
त्यक्षस्य तत्र भावाच्छब्दवहारो न भवेदिति, तत्रोत्तरमाह—]

वेदनादिवदिष्टं चेत्; कथञ्जातिप्रसज्यते ? ।

[§ १७६. यत्सुनरुक्तम्—विप्रतिपत्तिनिराकरणाय तल्लक्षणमुच्यते इति; तत्राह—]

प्रोक्षितं भक्षयेन्नेन दृष्टा विप्रतिपत्तयः ॥१६२॥

लक्षणं तु न कर्त्तव्यं प्रस्तावानुपयोगिषु ।

20

[§ १७७. साम्प्रतमविकल्परूपकमिलादिना सामान्यतः प्रतितिष्ठितमपि स्वसवेदनप्रत्यक्ष
युक्त्यन्तरेण प्रतिक्षिपन्नाह—]

अध्यक्षमात्मवित्सर्वज्ञानानामभिधीयते ॥१६३॥

स्वापमूर्च्छाद्यवस्थोऽपि प्रत्यक्षी नाम किं भवेत् ? ।

[§ १७८. तदवस्थस्य ज्ञानमेव नास्ति, तद्भावे चाप्रत इव तत्त्वविरोधात्, ततः कथ- 25
मात्मवेदनं यतोऽयं प्रसङ्ग इति प्रहाकरो ब्रह्मवादी च ‘तत्रोत्तरं दर्शयति—]

विच्छेदे हि चतुःसखभावनाद्विर्विरुद्धयते ॥१६४॥

[§ १७९. तत्र निश्चयविकल संविचिमात्रमेव प्रत्यक्षम् । अत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह—]

प्रायशो योगिबिज्ञानभेतेन प्रतिवर्णिनम् ।

[§ १८०. साम्प्रतं साध्यस्य प्रत्यक्षलक्षणं प्रत्याचक्षाण आह—]

80

[§ २१४. ततस्तत्र [अपोहे] मेदामेदाम्यां दोषोपकल्पनं परमतानभिज्ञानं पिशुनयति इति । तदेवाह—]

सामान्यं चेदपोहिनां बुद्ध्या सन्दर्श्यते तथा ॥१९४॥
अतद्धेतुफलापोहः;

5 [§ २१५. तत्रोत्तरमाह—]

न तथाऽप्रतिपत्तिः ।

[§ २१६. तत्प्रतिपत्तिः [अपोहप्रतिपत्तिः] तु वासनापरिपाकजन्मनो विकल्पादेव,
तस्य चावस्तुविषयत्वाच्च ततस्तद्व्यवस्थापनमिति चेदत्राह—]

यस्य निश्चीयते रूपं जातुचित्तस्य दर्शनम् ॥१९५॥

10

यथा निश्चयनं तस्य दर्शनं तद्वशात् किल ।

[§ २१७. तच्चैकस्तत्परिणामः सम्भवति यस्य दर्शनं यतो वा सामान्यप्रयोजनमुपक-
ल्प्येत, तदेवाह—]

समानपरिणामश्चेदनेकत्र कथं दृशिः ? ॥१९६॥

[§ २१८. भवतु प्रतिविशेषं भिन्न एवेति चेत्, कथमिदानीमसौ सामान्यम् असाधार-
15 णत्वात्, विशेषवदसंमवाच्च विशेषाव्यतिरेकात् । व्यतिरेके सम्बन्धामावात् तस्येति व्यपदेशा-
नुपपत्तिः । तदाह—]

न चेद् विशेषाकारो वा कथं तद्व्यपदेशमाक् ? ।

[§ २१९. प्रतिविधानमाह—]

सदृशासदृशात्मानः सन्तो नियतवृत्तयः ॥१९७॥

20

[§ २२०. अतश्च ते सन्त इत्याह—]

तत्रैकमन्तरेणापि सङ्केताच्छब्दवृत्तयः ।

[§ २२१. यदि न शब्दस्य कालान्तरावस्थितिः किमिति तत्र समयः साध्यते व्यवहा-
रानुपयोगादिति चेदत्रोचरम्—]

तत्रैकमभिसन्धाय समानपरिणामिषु ॥१९८॥

25

समयः तत्प्रकारेषु प्रवर्ततेति साध्यते ।

तज्जातीयमतः प्रादुर्यतः शब्दा निवेशिताः ॥१९९॥

[§ २२२. साम्प्रतमुक्तापसरणार्थं 'सदृशासदृशात्मानः' इत्यादि व्याचक्षाण आह—]

नानैकत्र नचैकत्र वृत्तिः सामान्यलक्षणम् ।

अतिप्रसङ्गतस्तत्त्वादन्यत्रापि समानतः ॥२००॥

80

[§ २२३. सर्वतः सर्वस्य व्यावृत्तत्वेन निष्कृष्टत्वात् कथं तत्परिणाम इत्याह—]

[§ १८७. इदानीं साध्यं निरूपयन्नाह—]

साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्,

[§ १८८. साध्याभासं निरूपयति—]

ततोऽपरम् ॥१७९॥

साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः ।

5

[§ १८९. यद्यप्रसिद्धं साध्यं धर्मिणो विद्यमानमपि साध्यं भवेत् तत्रापि विप्रतिपत्तेः संभवात्तथाह—]

जातेर्विप्रतिपत्तीनां सत्ता साध्यानुषज्यते ॥१७३॥

[§ १९०. तत्रोत्तरमाह—]

तथेष्टत्वाददोषोऽयम्,

10

[§ १९१. पर इदानीमशक्यसाध्यतां तस्यां [सत्तायां] दर्शयन्नाह—]

हेतोर्दोषत्रयं यदि ।

[§ १९२. शास्त्रकारस्तु उभयाभावधर्मयोरनन्युपगमं परिहारं मन्यमानः परिहारान्तरमनुक्त्वा भावधर्मस्य असिद्धत्वमेव परिहरन्नाह—]

अन्तेः पुरुषधर्मत्वाद्यथावस्तुबलागमम् ॥१७४॥

15

प्रपेदे सर्वथा सर्वस्तुसत्तां प्रतिक्षिपन् ।

[§ १९३. ततः प्रतिष्ठापरिहारेण प्रतिक्षेपमेव कृत्वा तात्त्विकमेव भावधर्मत्वं तस्यान्युपगन्तव्यं तथाह—]

भावनादन्युपैतिस्म भावधर्ममवस्तुनि ॥१७५॥

[§ १९४. तदेव निरुपाधिकं सत्त्वं प्रसाध्य सोपाधिकं साधयन्नाह—]

20

असिद्धधर्मिधर्मत्वेऽन्यथाऽनुपपत्तिमाह ।

हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ॥१७६॥

इष्टसिद्धिः परेषां वा तत्र वक्तुरकौशलम् ।

[§ १९५. ततः सत्येव मेदामेदात्मिका तदिष्टसिद्धिरिदमेवाह—]

अतीतानागतादीनामपि सत्तानुषङ्गवत् ॥१७७॥

25

अतश्च बहिरर्थानामपि सत्ता प्रसाध्यते ।

[§ १९६. ततः प्रत्यक्षादर्थसाधनोपपत्तेः स्थितमेतत्—‘अतश्च’ इत्यादि । यदि चायं निर्वन्धो न ततस्तत्साधनमिति तथापि तदाह—]

तदभावेऽपि तद्वादस्यान्यथानुपपत्तितः ॥१७८॥

तेषामपि तद्वत्ते (त्वे) न कश्चिदपि अनुतवादी तीर्थकर इति प्रामाण्यमेव सर्वप्रधानानाम्, न च तदुपपन्नम्, ततः प्रधानेश्वरादिशब्दवत् अन्येऽपि अनुतार्था एवेति चेदत्राह—]

अक्षज्ञानेऽपि तत्तुल्यमनुमानं तदिष्यते ।

ततः संभाव्यते शब्दः सत्यार्थप्रत्ययान्वितः ॥२०७॥

५ [§ २३६. यस्यायं निर्बन्धो विवक्षाजनमान. शब्दास्तामेव गमयेयुर्न बहिरर्थमिति । तत्राह—]

सत्यादुतार्थताऽभेदो विवक्षाऽव्यभिचारतः ।

[§ २३७. साम्प्रतं 'तत्रैकमगिसन्धाय' इत्यादि प्रपञ्चेन छोकैर्व्याचिख्यासुः सङ्केत-
निबन्धनं प्रत्यभिज्ञानमेव तत्र स इति अयमिति स्मरणदर्शनरूपयोर्विरुद्धाकारयोरनुपपत्त्या निरा-
कुर्वन्तं प्रत्याह—]

१० सह शब्दार्थदृष्टावप्यविकल्पयतः कथम् ॥२०८॥

समयस्तत्प्रमाणत्वे क प्रमाणे विभाव्यताम् ? ।

[§ २३८. किं पुनर्विकल्पेन, समुदायपरिज्ञानस्य प्रत्यक्षादेव भावादिति चेदत्राह—]

तदर्थदर्शनाभावात्,

[§ २३९. अर्थ एव सङ्केतो न ज्ञानाकारेषु इत्याह—]

१५ मिथ्यार्थप्रतिभासिषु ॥२०९॥

ज्ञानाकारेषु सङ्केत इति केचित् प्रचक्षते ।

[§ २४०. क तर्हि सः ? इत्याह—]

वागर्थदृष्टिभागेषु गृहीतग्रहणेऽपि ॥२१०॥

सत्याकारावबोधेषु सङ्केतमपरे विदुः ।

२० [§ २४१. भवतु तर्हि वागादिभेदेऽप्येव समयः इति चेन्न; ...एतदेवाह—]

न भेदेषु न सामान्ये केवले न च तद्वति ॥२११॥

फलाभावादशक्तेऽप्यसमयः सम्प्रवर्तते ।

[§ २४२. किञ्चिन्धनः पुनः सङ्केतोऽप्यमपरे विदुरिति चेदत्राह—]

स एवायं समश्चेति प्रत्ययस्तन्निबन्धनः ॥२१२॥

२५ वितथोऽवितथश्चापि तत्रैकत्वनिबन्धनः ।

तथा तत्प्रतिषेधेऽपि वैलक्षण्यादिशब्दवत् ॥२१३॥

[§ २४३. साम्प्रतं सङ्केतितस्य शब्दस्य प्रवृत्तिप्रकारं दर्शयति—]

तत्समानासमानेषु तत्प्रवृत्तिनिवृत्तये ।

सङ्केतेण कश्चित् कश्चिच्छब्दः सङ्केतमश्नुते ॥२१४॥

३० तथाऽनेकोऽपि तद्धर्मनानात्वप्रतिपादने ।

तद्व्याप्तिव्यतिरेकाम्यां मतं सामान्यदूषणम् ॥१८७॥

[§ २०६. कुत पुनः समानपरिणामे न सामान्यदूषणम् ? इति चेदत्राह—]

समानपरिणामे न तदेकस्यानुपायतः ।

[§ २०७. तत्र सामान्यं नाम किञ्चित् । तद्वा (तदभा) वे कुतस्तत्प्रयोजनं समान-
प्रत्ययादिकमिति चेन्न; समानपरिणामादेव तद्वाचात्तदाह—]

४

सहशात्मनि सम्बन्धग्रहे भूयस्तथाविधे ॥१८८॥

प्रत्यभिज्ञादिना सिद्ध्येत् प्रायो लोकव्यवस्थितिः ।

[§ २०८. अपि च सदृशेतरवदेकानेकरूपयोरपि विरोधाविशेषात् कथमेकत्र अनेको-
पाधिसंभवो यतस्तैस्तद्वान् व्यपदिशेत् ? अर्थान्तरभूतैरेव न तैस्तद्व्यपदिश्यत् इति चेदत्राह—]

तत्त्वतोऽनुपकारेऽपि भेदे कथमुपाधयः ? ॥१८९॥

10

[§ २०९. अमेद एवेति चेदत्राह—]

तत्रैकत्वप्रसङ्गाच्चेदभेदे कथमुपाधयः ? ।

[§ २१०. कथं पुनर्मेदामेदाम्यामुपाधितद्वावनिराकरणम् जैनस्य, स्वयमपि तदनुपग-
मात्, इति चेदत्राह—]

नोपाधयो न तद्वन्तो भिन्नाऽभिन्ना अपि स्वयम् ॥१९०॥

15

जात्यन्तरे तथाभूते सर्वथा दर्शनादपि ।

[§ २११. परस्य तु मतम्—च (न) शब्दाल्लिङ्गाद्वा उपाधिमतः प्रतिपत्तिर्यतस्तस्य
निरवशेषोपाधिशब्दलितस्य एकत्वादेव शब्दादेरवगमात् तदन्तरस्य तत्र वैफल्यं स्यात्, अपि तु
उपाधीनामेव, तत्र च एकलपतम (एकतम) विषयेण अन्येषामनवगमाच्च तदन्तरवैयर्थ्यमिति ।
तत्राह—]

20

तद्व्यवचोदिते शक्तेऽशक्ताः किं तदुपाधयः ? ॥१९१॥

चोद्यन्ते शब्दलिङ्गाम्यां समं तैस्तस्य लक्षणे ।

[§ २१२. भवतु विशेषेष्वेव तस्य तत्; इति चेन्न; तेषामानन्त्येन अर्वागदृशा तत्र (तद)
संभवात् इत्यभाव एवानुमानस्य । इदमेवाह—]

सम्बन्धो यत्र तत्सिद्धेरन्यतोऽप्रतिपत्तिः ॥१९२॥

25

अनुमानमलं किं तदेव देशादिभेदवत् ? ।

[§ २१३. साम्प्रतमुक्तन्यायेन सौगतमपि प्रतिक्षिपन्नाह—]

एतेन भेदिनां भेदसंबन्धेः प्रतिपत्तिः ॥१९३॥

तत्रैकं कल्पयन् वार्यः समाना इति तदग्रहात् ।

[§ २५१. कथं पुनरुपयोगवत्त्वे तस्य सुश्रुत्यादिः सत्यज्ञानस्वभावस्य तदसंभवादिति चेन्न; कर्मवशात्तस्यापि तदुपपत्तेः तदाह—]

कर्मणामपि कर्त्ताऽयं तत्फलस्यापि वेदकः ।

[§ २५२. परमपि तत्फलं दर्शयति—]

६ **संसरेत् परिणामात्तो मुच्यते वा ततः पुनः ॥२२३॥**

[§ २५३. नन्वात्मा कर्म तत्फलं संसारो मुक्तिरिति च सत्येव भेदे, नचायमस्ति तद-
वस्थानोपायमावात् । ततोऽद्वैतबोध एव परमार्थः तस्य स्वत एवाधिगमात् 'स्वरूपस्य स्वतो
गतिः' इति वचनादिति चेदत्राह—]

आत्मादिव्यतिरेकेण कोऽपरोऽध्यक्षतां ब्रजेत् ? ।

10 **नानाऽयं क्रमशो वृत्तेर्न चेदभिधास्यते ॥२२४॥**

[§ २५४. ततो युक्तं प्राणादिमत्त्वात् परिणामिन एवात्मनः साधनम् न कूटस्थस्य
नापि ज्ञानसन्तानस्य तत्र तस्य विरुद्धत्वात् । परिणामिन्यपि विरुद्ध एवाय शरीरोपपत्त्यादेव
वैतन्यादुत्पत्तेरिति चार्वाकः । तदेवाह—]

भूतानामेव केषाञ्चित् परिणामविशेषतः ।

15 **कायञ्चित्कारणम्;**

[§ २५५. तत्रोत्तरमाह—]

सोऽपि कथं संसारमुक्तिभाक् ? ॥२२५॥

शक्तिभेदे तथा सिद्धिः; संज्ञा केन निवार्यते ? ।

यथा भूताविशेषेऽपि प्रज्ञादिगुणसंस्थितिः ॥२२६॥

20 **तथा भूताविशेषेऽपि भवद्भूतादिसंस्थितिः ।**

[§ २५६. तन्न तद्गुणस्यापि तेनाभिव्यक्तिः, नापि तत्कार्यस्य वर्धमानोत्तरत्वात् ।
कथमेवं गुणनिषेधे गुणवद्भव्यमित्युपपन्न भवतोऽपि इति चेन्न; परकीयतत्त्वज्ञानस्यैवातिव्याप्त्यादिना
प्रतिषेधान्न गुणस्य । कथं तर्हि तदुपपत्तिरिति चेदत्राह—]

तस्मादनेकरूपस्य कथञ्चिद् ग्रहणे पुनः ॥२२७॥

25 **तद्वृत्तं भेदमारोप्य गुण इत्यपि युज्यते ।**

[§ २५७. गुणतद्वृत्तोः एकान्त एव भेदो न कथञ्चित्, तद्वादस्य विरोधादिदोषादिति
चेदत्राह—]

यदि स्वभावाद्भावोऽयं भिन्नो भावः कथं भवेत् ? ॥२२८॥

अनवस्थानतो भेदे स्वकलग्रहणं भवेत् ।

80 **तदनेकान्तात्मकं तत्त्वम्,**

व्यावृत्तिं पश्यतः कस्मात्सर्वतोऽभवधारणम् ? ।

[§ २२४. न दृष्टमित्येव निश्चयः, तत्रापि सारूप्याद्विभ्रमोपपत्तेः मायागोलकवत् इति चेदत्राह—]

सादृश्याद्यदि साधूक्तम्,

[§ २२५. सादृश्यमपि व्यावृत्तिरूपमेवेति चेदाह—]

5

तत्किं व्यावृत्तिमात्रकम् ? ॥२०१॥

[§ २२६. परमतमाशङ्कते परिहर्तुम्—]

एकान्ते चेत्तथाऽहष्टेरिष्टम्;

[§ २२७. अत्रोत्तरमाह—]

चकतुरकौशलम् ।

10

सर्वैकत्वप्रसङ्गो हि तद्दृष्टं भ्रान्तिकारणम् ॥२०२॥

[§ २२८. न कश्चिदपि अन्यथा प्रतिभासहेतुर्भवेत् नौयानादीनामपि निरंशवादिनाम-सम्भाव । भाभूदिति चेदेतदेवाह—]

नो चेद्विभ्रमहेतुभ्यः प्रतिभासोऽन्यथा भवेत् ।

[§ २२९. अत्रोत्तरमाह—]

15

तदकिञ्चित्करत्वं न निश्चिनोति स किं पुनः ? ॥२०३॥

[§ २३०. भवत्वेवं तथापि किमित्याह—]

तथाहि दर्शनं न स्याद् भिन्नाकारप्रसङ्गतः ।

[§ २३१. विशेष एव परमार्थसङ्गः तस्यैव दृष्टेः नाविशेष [:] परमार्थविपर्ययादिति चेदत्राह—]

20

न च दृष्टेर्विशेषो यः प्रतिभासात् परो भवेत् ॥२०४॥

[§ २३२. भवतु तर्हि यथादर्शनं वस्तुव्यवस्थितिरिति चेदत्राह—]

प्रतिभासमिदैकञ्च तदनेकात्मसाधनम् ।

[§ २३३. अनेकान्तोऽपि दुर्लभैव दृष्टिरिति चेदाह—]

अदृष्टिकल्पनायां स्यादचैतन्यमयोगिनाम् ॥२०५॥

25

[§ २३४. उपसंहरन्नाह—]

तस्मादभेद इत्यत्र समभावं प्रचक्षते ।

नेक्षते न विरोधोऽपि न समानाः स्युरन्यथा ॥२०६॥

[§ २३५. कथं पुनः शब्दानामर्थवत्त्वं तदभावेऽपि प्रवृत्तेः प्रधानादिशब्दानाम् ,
द

जीवच्छरीरधर्मोस्तु चैतन्यं व्यपदेशतः ।

यथा चैतन्यमन्यत्रेत्यपरः प्रतिपन्नवान् ॥२३५॥

[§ २६८. तत्रोत्तरमाह—]

अप्रत्यक्षेऽपि देहेऽस्मिन् स्वतन्त्रमवभासनात् ।

5 प्रत्यक्षं तद्गुणो ज्ञानं नेति सन्तः प्रवक्षते ॥२३६॥

[§ २६९. ततः किम् ? इत्याह—]

तद्दृष्टहानिरन्येषामदृष्टपरिकल्पना ।

स्वातन्त्र्यदृष्टेर्भूतानामदृष्टेर्गुणभावतः ॥२३७॥

[§ २७०. भवतु तस्य तदात्मत्वं तद्गुणत्वं वा तथापि संसारमोक्षयोरभाव इत्याह—]

10 तत्सारतरभूतानि कायापायेऽपि कानिचित् ।

[§ २७१. मतान्तरमुपदर्शयति दूषयितुम्—]

कार्यकरणयोर्बुद्धिकाययोस्तन्निवृत्तितः ॥२३८॥

कार्याभावगतेर्नास्ति संसार इति कश्चन ।

[§ २७२. तत्रोत्तरमाह—]

15 तस्यापि देहानुत्पत्तिप्रसङ्गोऽन्योन्यसंश्रयात् ॥२३९॥

उत्तरोत्तरदेहस्य पूर्वपूर्वधियो भवः ।

[§ २७३. उपसंहरन्नाह—]

अत एव विरुद्धत्वादलं प्रायस्तथा भवात् ॥२४०॥

[§ २७४. किञ्च, कायः कारणमात्रं तद्विशेषो वा बुद्धेः ? तन्मात्रमिति चेत्, न तर्हि

20 तन्निवर्तमानमपि कार्यस्य बुद्धेस्त्वं निवर्तयति, निवृत्तेऽपि सहकारिणि कार्यस्यावस्थितिप्रतिपत्तेः,
यथा मृतेऽपि स्वपतौ प्रासादगोपुरादेः । इदमेवाह—]

तन्न कारणमित्येव कार्यसत्तानिबर्त्तकम् ।

स्वनिवृत्तौ यथा तक्षा गोपुरादालिकादिषु ॥२४१॥

[§ २७५. भवतु परिणामित्वेन कारणविशेष एव स तस्या इति चेदन्नाह—]

25 युगपद्विभक्त्यरूपेण बहिरन्तश्च भासनात् ।

न तयोः परिणामोऽस्ति यथा गेहप्रदीपयोः ॥२४२॥

[§ २७६. अतश्च न तयोः परिणामः इत्याह—]

प्रमितेऽप्यप्रमेयत्वाद् विकृतेरविकारिणी ।

निर्हृसातिशयाभावाच्चिर्हृसातिशये धियः ॥२४३॥

30 बलीयस्यबलीयस्त्वाद् विपरीते विपर्ययात् ।

[§ २४४. कथं पुनरेकत्रानेकधर्मसद्भाव इत्यत्राह—]

एकत्र बहुभेदानां संभवान्मेवकादिवत् ॥२१५॥

[§ २४५. कथं पुनः सामान्यस्य व्यक्तिव्यतिरिक्तस्याभावे तद्व्यवहार इति चेदत्राह—]

समानं केनचित्किञ्चिदपरञ्च तथाविधम् ।

भेदवद्भूमिणः कृत्वा समानाकारकल्पना ॥२१६॥

5

तदन्यत्र समानात्मा स एवेति तथाविधे ।

व्यवच्छेदस्वभावेषु विशेषणविशेष्यधीः ॥२१७॥

तत्तन्निमित्तकः शब्दः तदन्यत्रापि योज्यताम् ।

[§ २४६. यदि पुनः सदृशपरिणाम एव सामान्यं तस्य व्यक्तिवदनेकत्वात् कथं तत्र सत्तेत्येकतया व्यवहार इति चेदत्राह—]

10

ततः सत्तेति साध्यन्ते सन्तो भावाः स्वलक्षणाः ॥२१८॥

नानैकवचनाः शब्दास्तथा सङ्केतिता यतः ।

[§ २४७. यदि समानप्रत्ययवर्शात् सामान्यं तर्हि जलयोरिव जलमरीचिकाचक्र-
योरपि भवेत् इदं जलमिदमपि जलमिति । तत्रापि प्रत्ययवर्शादिति चेन्न; तत्रोक्ते प्रत्ययवर्शस्य
बाध्यत्वेन सिध्दात्वात् -- ततो निर्वाधादेव प्रत्ययवर्शात्तद्विरेतदेवाह—]

15

प्रत्यभिज्ञा द्विधा काचित् सादृश्यविनिबन्धना ॥२१९॥

प्रमाणपूर्विका नान्या दृष्टिमान्यादिदोषतः ।

[§ २४८. कथं तर्हि बहिर्यादिवत् प्रधानस्यापि सत्त्वं ततो न साध्यते ? नान्ययादिति
चेन्न; अन्यस्य तन्मतेनालिङ्गलक्षणत्वात् इत्यत्राह—]

अस्ति प्रधानमित्यत्र लक्षणासम्भवित्थतः ॥२२०॥

20

[§ २४९. नन्वन्यथानुपपन्नत्वमपि सत्येव पक्षवर्मेत्वादौ भवति, ततस्तदेव हेतुलक्षणम् ।
तदसत्त्वादेव च प्रधानास्तित्वमन्यसाध्यमिति चेन्न; तदभावेऽपि क्वचित्तदुपलम्भात् । तदाह—]

तत्रान्यत्रापि बाऽसिद्धं यद्विना यद्विहन्त्यते ।

तत्र तद्गमकं तेन साध्यधर्मी च साधनम् ॥२२१॥

[§ २५०. ततो न मृतशरीरवत् सुषुप्तादावपि जाग्रज्ज्ञानादुत्पत्तिरिति सन्निहित एव 25
कश्चिद्हेतुर्वक्तव्यः, स चाल्पेव उपयोगपरिणामी नापर इति तत्रैव तस्य गमकत्वम् अन्यथानुप-
पत्तिसंभवादेतदेवाह—]

अप्रत्यक्षः सुषुप्तादौ बुद्धः प्रत्यक्षलक्षणः ।

जीवतीति यतः सोऽयं जीव आत्मोपयोगवान् ॥२२२॥

[§ २८६. सत्यं लक्ष्यते, स तु न पौर्वमविकाद् अनुमाना (अनुभा) दपि तु गर्भ-
भाविन एव, तदाह—]

गर्भे रसविशेषाणां ग्रहणादिति कश्चन ।

तदादावभिलाषेण विना जातु यदृच्छया ॥२५१॥

६

तत्संस्कारान्वयेक्षत्वाद् भूयोभूयः प्रवर्त्तितः ।

[§ २८७. तत्रोत्तरमाह—]

कोशपानं विषेयम्,

[§ २८८. भवतोऽपि समानमिदं गर्भं [ग] तस्यापि पौर्वमविकादेवानुभावादेः स्मरणा-
दित्यत्रापि प्रमाणाभावादिति चेदत्राह—]

10

न समं भूयस्तथा दृशः ॥२५२॥

[§ २८९. पुनरपि गर्भं इत्यादि निराकुर्वन्नाह—]

रूपादिदर्शनाभावात् तत्सम्बन्धस्मृतिः कथम् ? ।

भावश्च यं चक्षुरादीनां सर्वत्रोन्मीलनादयः ॥ २५३ ॥

[§ २९०. पुनरपि 'तद्विकृतेः' इत्यादि समर्थयितुमाह—]

15

तथा रागादयो दृष्टाः सङ्कल्पाद्यविनाशुवः ।

[§ २९१. कथं तर्हि सामान्यस्मरणाद्विशेषे प्रवृत्तिरिति चेन्न; तस्य तस्मादव्यतिरेकाद्
दृष्टत्वाच्च, तदेवाह—]

तदाहारादिसामान्यस्मृतितद्विप्रमोषयोः ॥२५४॥

भावोऽभावश्च वृत्तीनां भेदेऽपि च दृश्यते ।

20

[§ २९२. उपसंहरन्नाह—]

तस्मात्संसारवैचित्र्यं नियमान्न विहन्यते ॥२५५॥

[§ २९३ न्याहतमेव पिपीळिकाजीवस्य तच्छरीरपरित्यागेन हस्तिशरीरसञ्चरणम्...
इति चेदत्राह—]

न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति देहान्तरपरिग्रहे ।

25

[§ २९४. तदेवम् 'इह च दृश्यते' इत्यनेन तत्परिग्रहमुपपाद्य तदन्तरेणापि उपपा-
दयन्नाह—]

तदभावे हि तद्भावप्रतिषेधो न युक्तिमान् ॥२५६॥

[§ २९५. तस्माद् बुद्धिरियं पुरुषस्यैव स्वभावो न पृथिव्यादेः । चार्वाकस्तत्त्वभावत्वे
दूषणमाह—]

30

बुद्धेः पुरुषतन्त्रत्वे नित्यत्वात्तदनुक्रिया ।

न भवेत्;

[§ २५८. मवतु स एव वादः, तत्रैव चेतनो देहस्य गुण इति चेदब्राह्म—]

नहि ज्ञानात्मना क्वचित् ॥२२९॥

शरीरग्रहणं येन तद्गुणः परिकल्प्यते ।

[§ २५९. वैशेषिकादेस्त्व (देत्व) गुणवान् गुण इति त्रुवाणस्य न गन्धादेर्गुणत्व
गुणवत्त्वात् । तदेवाह—]

5

गुणानां गुणसम्बन्धो गन्धादेः सङ्ख्यया ग्रहात् ॥२३०॥

तादात्म्यं केन वार्येत ?

[§ २६० ननूक्त भाक्तत्वेन तन्निवारणमिति चेदब्राह्म—]

नोपचारप्रकल्पनम् ।

अत्रान्यत्रापि तुल्यत्वादाधारस्यैकरूपतः ॥२३१॥

10

तत्रैकत्वं प्रसज्येत, सङ्ख्यामात्रं यदीष्यते ।

नानात्मविभ्रमादेवं न पृथग्गुणिनो गुणाः ॥२३२॥

[§ २६१. आकारभेदात्ते ततः पृथगिति चेदेतदेवाह—]

प्रसक्तं रूपभेदाच्चेत्;

[§ २६२. तत्रोत्तरमाह—]

16

भेदो नानात्वमुच्यते ।

[§ २६३. नात्येवं तत्रैकत्वं केवलं भावसादृश्यात्तत्र तद्व्यवहार. ...तदेवाह—]

एकता भावसान्याच्चेत्;

[§ २६४. तत्रोत्तरमाह—]

उपचारस्तथा भवेत् ॥२३३॥

20

[§ २६५. यदि च तत्र गुणवत्त्वमयात्र वास्तवमेकत्वं पृथक्त्वमपि न भवेत्,
तदपि कुतश्चिकित्कार्यमिशेषादेरुपचरितमेव स्यात् तदेवाह—]

भेदेऽपि, वस्तुरूपत्वान्न चेदन्यत्र तत्समम् ।

[§ २६६. तत्र गुणगुण्यादीनामपृथक्त्वम्, भवतु पृथक्त्वमेव प्रतिभासादिभेदादिति
चेदब्राह्म—]

25

एतेन भिन्नविज्ञानग्रहणादिकथा गता ॥२३४॥

[§ २६७. तत्र गुणो नाम कश्चिन्निश्चितो य [त] श्वेतनोऽपि गुणः स्यात् । मामूत्
वर्मस्तु तर्हि स्यात्, तदवष्टम्भेन अवस्थानात् चित्रवत् कुड्यस्य । यथा कुड्याद्यपाये न चित्रं
तत्र तिष्ठति नाप्यन्यत्र गच्छति नश्यत्येव परं तथा शरीरापाये चेतनोऽपि इति मन्वानस्य मत-
शुपदर्शयन्नाह—]

30

तस्मात्समागसन्तानकल्पनापि न युज्यते ।

न चेत्स परिवर्त्तत हेतुरेव फलात्मना ॥२६४॥

[§ ३०८. कथं पुनर्हेतोः फलात्मना परिवर्त्तनं प्रत्यक्षबाधनात्, तेन निरन्वयस्यैव विनाशस्य प्रतिपत्तेरिति चेदत्राह—]

6 तस्माद्भावविनाशोऽयं फलीभावस्तदग्रहः ।
तदग्रहः,

[§ ३०९. भवतु तत्र फलीभावव्यवहारो विनाशव्यवहारस्तु कथम् ? तद्भावस्याविनाशरूपत्वात् ; अत्राह—]

प्रतिषेधोऽस्य केवलं तन्निबन्धनः ॥२६५॥

10 [§ ३१०. साम्प्रतं हेतुफल्योः पराम्प्रेतमन्यत्वव्यवस्थापनं दर्शयति—]

अन्यथात्वं यदीष्येत हेतोरपि फलात्मनः ।

अन्य एवेति किञ्चेष्टमिति केचित् प्रचक्षते ? ॥२६६॥

[§ ३११. तत्रोत्तरमाह—]

अन्यथात्वं न चेत्तस्य भवेद् औप्यमलक्षणात् ।

15 अभावस्याप्यभावोऽपि किञ्चेष्टन्ये प्रचक्षते ? ॥२६७॥

[§ ३१२. साम्प्रतं व्यवहारस्यातिप्रसङ्गमपरत्र तदभावप्रसङ्गमिव परिहरन्नाह—]

स्वस्वभावस्थितो भावो भावान्तरसमुद्भवे ।

नष्टो वा नान्यथामृतस्ततो नातिप्रसज्यते ॥२६८॥

[§ ३१३. तदेवं प्रपञ्चतः साध्यमुपदिश्य साधनस्वरूपं दर्शयन्नाह—]

20 साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम्,

[§ ३१४. हेत्वाभासानुपदर्शयति—]

ततोऽपरे ।

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः ॥२६९॥

[§ ३१५. यदि साधनं प्रकृते सत्येव न तदा स्वप (सप) चेऽपि स्यात् तत्र प्रकृतामावात्, 25 ततश्च न तस्य तदविनाभावपरिज्ञानम्, सपक्ष एव तत्संभवाच्च पक्षे, तत्र अद्यापि प्रकृतस्यानिश्चयादिति चेदत्राह—]

तथाऽर्थे सत्यसम्भूषणुः धर्मो न बहिर्गतः ।

सर्वथैकान्तविश्लेषे साध्यसाधनसंस्थितेः ॥२७०॥

[§ ३१६. जात्यन्तरस्यैव तत्त्वात् । न तादृशं किमपि दृष्टमस्ति यतः सविस्मयं चेतः 30 स्यात् इति चेदत्राह—]

[§ २७७. उपसंहरन्नाह—]

काये तस्मान्न ते तस्य परिणामाः सुखादयः ॥२४४॥

[§ २७८. यत्रापि परिणामतद्ब्रह्मबो वटकपाछादौ तत्रापि प्रमितेऽपीत्यादि विषये, ततो व्यभिचारः; इति चेदाह—]

एतदत्र घटादीनां न तज्जातुचिदीक्ष्यते ।

5

[§ २७९. गुणदूषणमयत्रातिदिशन्नाह—]

तुल्यश्च गुणपक्षेण तत्तथा परिणामतः ॥२४५॥

[§ २८०. कुत इदं ससारवैचित्र्यम् ? ...तस्य च कर्मण एव तद्वैचित्र्यात्...एत-
देवाह—]

अक्षादीनां विकारोऽयमात्मकर्मफलं भवेत् ।

10

अन्यथा नियमायोगात् प्रतीतेरपलापतः ॥२४६॥

[§ २८१. सम्यक्कल्पनाया सामर्थ्यस्य मुक्तिरूपम्याभावात् कर्मफलमेव तद्वैचित्र्य
तदेवाह—]

कल्पनायामसामर्थ्यात्,

[§ २८२. तदेवं तदहर्जातस्य परलोकित्वे कर्मसिद्ध्या सिद्धे यत्सिद्धं तदाह—]

15

ततस्तद्विकृते ऋते ।

पारम्पर्येण साक्षाच्च नास्ति विज्ञानविक्रिया ॥२४७॥

[§ २८३. तत्र शरीरपरतन्त्रो जीवः तदुपरमे व्यवस्थानात्तदहर्जातवत् । कुतो वा तस्य
तत्परतन्त्रत्वम् ? तद्वैतुल्यादिति चेन्न; केवलादुत्पत्तौ घृतेऽपि प्रसङ्गात् । इन्द्रियसहायादिति चेत्; 20
इन्द्रियाणामपि समुदायेन तत्सहायत्वं प्रत्येकं वा ? प्रथमविकल्प निराकुर्वन्नाह—]

कारणं नाक्षसङ्घातः तत्प्रत्येकं विना भवात् ।

विकल्पानां विशेषाच्च तत्तद्वृत्ति विरोधतः ॥२४८॥

जातिस्मराणां संवादादपि संस्कारसंस्थितेः ।

अन्यथा कल्पयन् लोकमनिक्रामति केवलम् ॥२४९॥

25

[§ २८४. ततः पौर्वमनिक्रमस्यैव तस्य तेन स्मरणमिति कथञ्च जातिस्मराणां संवादः ?
एतदेवाह—]

नाऽस्मृतेऽभिलाषोऽस्ति न विना सापि दर्शनात् ।

तद्वि जन्मान्तरान्न,

[§ २८५. तदहर्जातरं अभिलाष एव नास्ति तन्नुतस्तदनुमितिः ? इति चेदत्राह—]

अयं जानमात्रेऽपि लक्ष्यते ॥२५०॥

30

विरोधानुपलम्भेन किल स्कन्धो विरुध्यते ॥२७८॥

[§ ३२६. अर्वागमादृष्ट्वा परमागादेरपि दर्शने तदनुमानाभावप्रसङ्गात् । अदर्शने तदभेदात् अर्वागमागत्याप्यदर्शनमित्यनुपलम्भादभावस्यैव प्राप्तेरिति चेदत्राह—]

सम्भवत्यपि मात्राणां दर्शनादर्शनस्थितिः ।

5 [§ ३२७. निदर्शनमत्र—]

इदं विज्ञानमन्यद्वा चित्रमेकं यदीक्ष्यते ॥२७९॥

[§ ३२८. भवतु चित्रमेकं वस्तु तथापि कुतः क (त) स्मिन् सति मात्राणां दर्शनादर्शन-स्थितिरिति चेदत्राह—]

10 **अवान्तरात्मभेदानामानन्त्यात् सकलाग्रहे ।
नानाकारणसामर्थ्याज्ज्ञानं भेदेन भासते ॥२८०॥
भेदसामर्थ्यमारोप्य प्रत्यासत्तिनिवन्धनम् ।
चोयं महति नीलादौ तुल्यं तद्विषयाकृति ॥२८१॥**

[§ ३२९. सति चैवमनुपलब्धदर्शनविषयत्वे स्कन्धस्य यज्ज्ञा (यजा) तं तदाह—]

15 **सर्वथा श्लेषविश्लेषे नाणूनां स्कन्धसम्भवः ।
अन्यथा नोऽप्रदेशादीत्यपरैर्दत्तमुत्तरम् ॥२८२॥**

[§ ३३०. अतो निर्दोषत्वात् स एव तदनुगुणः श्लेषः इति कथं तदभावः ? इदमेवाह—]

**नैरन्तर्यं निरंशानां स्वभावानतिरेचनम् ।
स्कन्धो मात्रानुरोधेन व्यवहारेऽवधार्यते ॥२८३॥**

[§ ३३१. कुतः पुनरन्योन्यात्मगमनेनैक तस्यावधारणं न रूपान्तरेणेति चेदत्राह—]

20 **सङ्ख्यादिसमभावेऽपि तत्स्वभावविवेकतः ।**

[§ ३३२. तथापि तदनभ्युपगच्छतो दूषणमाह—]

अतादात्म्यस्वभावे चाऽऽनर्थक्यादलं परैः ॥२८४॥

[§ ३३३. ततोऽवश्यं वक्तव्यः स्कन्धः तस्यैव तदुपयोगात्, स च रूपादीनामन्योन्या-भेद एव नापरः इत्याह—]

25 **स्पर्शोऽयं चाक्षुषत्वाच्च, न रूपं स्पर्शनग्रहात् ।**

[§ ३३४. मित्र एव कस्मान्न भवतीति चेदत्राह—]

रूपादीनि निरस्याभिर्न (स्यान्यच्च) चान्युपलभेमहि ॥२८५॥

[§ ३३५. एतदेव कस्मादिति चेदत्राह—]

30 **सामग्रीविहितज्ञानदर्शिताकारभेदिनः ।
प्रायेणैकस्य तादृज्यम्, पृथक्सिद्धौ प्रसङ्गतः ॥२८६॥**

[§ २६६. समाधानमाह—]

परिणामित्वाद्विनाशानुपलक्षणात् ॥२५७॥

[§ २६७. अत्यन्तविनाशेऽपि सन्तानापेक्षया तत्संभवं मन्यमानस्य मतमाशङ्कते—]

परस्याप्यविरोधश्चेत् फलहेतुव्यपोहतः ।

प्रवृत्तेर्व्यवहाराणाम्;

5

[§ २६८. परिहरन्नाह—]

अविनाशेऽपि संभवात् ॥२५८॥

[§ २६९. इदमेव श्लोकैर्व्याचिख्यासुः 'फलहेतुव्यपोहतः' इत्यस्य द्वितीयमर्थं दर्शयन्नाह—]

यथाऽजनकजन्येषु न सन्ति कलशादयः ।

10

तथा जनकजन्येषु ततस्तत्त्वं निरन्वयम् ॥२५९॥

[§ ३००. सत्येव यत्सिद्धं तदाह—]

तत्र नाशादिशब्दाश्च समिताः समनन्तरे ।

[§ ३०१. तदेवं परमतमुपदर्श्य अल्पवक्तव्यत्वात् तत्रेत्यादि निराकुर्वन् विनाशपृच्छति—]

15

अन्यस्यान्यो विनाशः किम् ?

[§ ३०२. इति प्रश्नयित्वा दूषणमाह—]

किञ्च स्यादचलात्मकः ? ॥२६०॥

[§ ३०३. पर इदं परिहरन्नाह—]

तद्विवेकेन भावाच्चेत्;

20

[§ ३०४. उत्तरमाह—]

कथञ्जातिप्रसज्यते ? ।

सदापि सर्वभावानां परस्परविवेकतः ॥२६१॥

[§ ३०५. साम्प्रत विवेकमभ्युपगम्य जनकजन्येषु इत्येतन्निराकुर्वन्नाह—]

न चानन्तरमित्येव भावस्तद्व्यपदेशभाक् ।

25

तत्प्रतीत्यसमुत्पादाद्भावश्चेत्; स कुतो मतः ? ॥२६२॥

सादृश्यात्; प्रत्यभिज्ञानं न सभागनिबन्धनम् ।

[§ ३०६. चित्रज्ञानवादिनः संगवत्त्वेन तदिति चेदन्नाह—]

विशेषकल्पनायां स्यात्परस्याव्यभिचारिता ॥२६३॥

[§ ३०७. मामूल्यप्रत्यभिज्ञान युगपदपि चित्रैकस्थानमभ्युपगमादिति चेदन्नाह—]

30

सर्वत्र परिणामादौ हेतुः सत्त्वात्ततोऽन्यथा ।

शब्देऽपि साधयेत्केन ? तस्मान्नान्वयतो गतिः ॥२९५॥

[§ ३४६. साम्प्रतं विपक्षव्यवच्छेदेन परिणामहेतुत्वमेव सत्त्वादेर्विस्तरेण व्याचक्षाण आह—]

सिद्धमर्थक्रियाऽसत्त्वं सर्वथाऽविचलात्मनः ।

5

निरन्वयविनाशेऽपि,

[§ ३४७. संबृतिसिद्धं तु तत्सत्त्वं शुद्धमशुद्धं वा तत्र हेतुरिति चेदत्राह—]

साधनं नोपचारतः ॥२९६॥

[§ ३४८. ननु यथा क्षणिकावेकान्ते तथाऽनेकान्तेऽपि तस्यापि तत्कुर्वतः कुतश्चिद-

प्रतिपत्तेरिति चेदत्राह—]

10

अवश्यं बहिरन्तर्वा प्रमाणमवगच्छताम् ।

सिद्धमेकमनेकात्मपरिणामव्यवस्थितम् ॥२९७॥

[§ ३४९. भवतु अन्तस्तत्परिणामव्यवस्था 'चित्रप्रतिमासाध्येकैव बुद्धिः' इति वचनात्, ,

न बहिः; तत्र परमाण्वनामेव प्रतिक्षणक्षीणानां परस्परविलक्षणानाञ्च भावादिति कश्चित् । अव-
यवावयव्यादीनामेव इत्यपरः । तत्राह—]

15

परापरविवेकैकस्वभावपरिनिष्ठितः ।

परमाणुरतोऽन्यो वा बहिरन्तर्न बुद्ध्यते ॥२९८॥

[§ ३५०. तस्यापि स्वतोऽर्थक्रियासामर्थ्ये किं सहकारिप्रतीक्येति चेदत्राह—]

अर्थस्यानेकरूपस्य कदाचित्कस्यचित्कचित् ।

शक्तावतिशयाधानमपेक्षातः प्रकल्प्यते ॥२९९॥

20

[§ ३५१. यद्यर्थस्य स्वभावोऽतिशयः तर्हि तद्वेतोरेव सिद्धेरपेक्षया न किञ्चित्, असिद्धौ

तु न तत्स्वभावत्वं सिद्धासिद्धयोर्विरुद्धवर्माध्यासेन भेदस्यैवापत्तेरिति चेदत्राह—]

स्वभावातिशयाधानं विरोधान्न परीक्ष्यते ।

तत्र सिद्धमसिद्धं वा तस्माज्जातिर्न हेतुतः ॥३००॥

सन्निधानं हि सर्वस्मिन्नव्यापारेऽपि तत्समम् ।

25

[§ ३५२ किं सर्वथा ततो न जातिः ? नेत्याह—]

न चेत्स परिवर्तत भाव एव फलात्मना ॥३०१॥

[§ ३५३ सम्प्रति यदुक्तम्—विनाशनियतो भावस्तत्रानपेक्षणादिति; तस्य विरुद्धत्वं दर्श-

यनाह—]

परिणामस्वभावः स्याद्भावस्तत्रानपेक्षणात् ।

30

[§ ३५४. कुतः पुनर्निरन्वयविनाशस्यैव ततो न सिद्धिः ? इत्याह—]

एकं चलं चलैर्नान्यैः नष्टैर्नष्टं नचापरैः ।

आवृत्तैरावृत्तं भागै रक्तै रक्तं विलोक्यते ॥२७१॥

[§ ३१७. अथ मत चलादेस्ततोऽर्थान्तरत्वादचलादिकमेव तत्त्वतः, ततो न चलाचला-
दिरूपवत्तया जात्यन्तरस्यावलोकनमिति; तत्राह-]

अन्यथा तदनिर्देयं नियमस्याप्यसम्भवात् ।

5

[§ ३१८. संभव एव समवायादिति चेन्न; तस्य निषेधात् । अभ्युपगम्याप्याह-]

वृत्तावपि न तस्येदं विश्वरूपं विभाव्यते ॥२७२॥

[§ ३१९. तदनभ्युपगमे दोषमाह-]

सम्यग्ज्ञानं व्यवस्थाया हेतुः सर्वत्र तत्पुनः ।

प्रत्यक्षं यदि बाधेत लक्षणं प्रतिरुध्यते ॥२७३॥

10

साङ्कर्य व्यवहाराणां सन्निवेशविशेषतः ।

नानैकपरिणामोऽयं यदि न व्यवतिष्ठते ॥२७४॥

[§ ३२०. कुतश्चायं निरंशवादे वस्तुषु स्थूलप्रतिभासः ? न चायं नास्ति; प्रसिद्धत्वात् ।

एकार्थकारित्वादिति चेन्न; अर्थस्याप्यणुरूपस्याप्रतिवेदनात्.....तत्र तत्कारित्वम्, सत्यपि तस्मिन्
न तत्सत्ताप्रतिभासो व्यभिचारात्, अस्ति हि तत्कारित्वमिन्द्रियालोकादीनां न च तत्र स्थूलैकप्र- 15
तिभासः, विषये चोदिता प्रवृत्तिरिन्द्रियादावपि स्यात्, एतदेव दर्शयन्माह-]

सत्यप्येकार्थकारित्वे संश्लेषपरिणामतः ।

इन्द्रियादिषु नैकत्वं यदि किं वा चिरुद्धयते ? ॥२७५॥

[§ ३२१. अर्थाव तापर्यं विलस्रतो व्याख्यातुकाम आह-]

तदनेकार्थसंश्लेषविश्लेषपरिणामतः ।

20

स्कन्धस्तु सप्रदेशोऽशी बहिः साक्षात्कृतो जनैः ॥२७६॥

[§ ३२२. इदानीं तत्साक्षात्करणेनैव विपक्षाम्युपगमं प्रतिक्षिपन्माह-]

नाऽनाकारैकविज्ञानं स्वाधारे बदरादिवत् ।

तादात्म्येन,

[§ ३२३. भेदे दूषणान्तरमप्याह-]

25

पृथग्भावे सति वृत्तिर्विकल्प्यते ॥२७७॥

[§ ३२४. भवेदेव यदि तथादर्शनं सम्प्येत, न चैवं करिष्यत्, तदभेदस्यैवोपलम्भात्,
तदेवाह-]

दर्शनादर्शने स्यातां सप्रदेशाप्रदेशयोः ।

[§ ३२५. भवतु तर्हि भवत्परिकल्पितस्यापि स्कन्धस्याभावो भेदाभेदयोरेकत्र विरोधा- 80
दिति चेदत्राह-]

आकृतिभ्रमवद् यद्वद्विषमज्ञैर्विलोकितम् ।

न च तेष्वर्थविदोऽर्थोऽर्थात् केवलं व्यवसीयते ॥३०८॥

[§ ३६४. तत्र व्यवसायार्थमपि दर्शनकल्पनमुपपन्नम् । भवतु व्यवहारार्थमिव तत् ; अभ्यासदशाया दर्शनादेव व्यवसायनिरपेक्षाद् व्यवहारप्रवृत्तेरिति चेदत्राह—]

५ भावान्तरसमारोपे भायिताकारगोचराः ।

समक्षसंविदोऽर्थानां सन्निधिं नातिशेरेते ॥३०९॥

[§ ३६५.कोऽपरः स्यादन्यत्र व्यवसायादिति तदालिखैव दृष्टिः, अन्यथा तस्याः । तद्विषयस्य चानवकल्पनादित्यावेदयन्नाह—]

अणवः क्षणिकात्मानः किल स्पष्टावभासिनः ।

10 [§ ३६६. परमपि अरुचिविषयं दर्शयति—]

अतत्फलपरावृत्तार्थाकारस्मृतिहेतवः ॥३१०॥

[§ ३६७. ततो यथा तन्निर्णयात्तदाकारः तथा साधारणरूपमपि इति तस्यैव प्रसङ्ग-
वेषत्वमेतदेवाह—]

स्थूलस्पष्टविकल्पार्थाः स्वयमिन्द्रियगोचराः ।

15 [§ ३६८. तथा च यत्सिद्धं तदाह—]

समानपरिणामात्मशब्दसङ्केतहेतवः ॥३११॥

[§ ३६९. साम्प्रत तस्यास्ततोऽन्यत्वेऽपि तत्संवेदनवत् इन्द्रियप्रत्यक्षस्यापि व्यवसाया-
त्मकत्वं दर्शयन्नाह—]

स्वभावव्यवसायेषु निश्चयानां स्वतो गतेः ।

20 नाशस्यैकार्यरूपस्य प्रतीतिर्न विरुद्धयते ॥३१२॥

[§ ३७०. भवतोऽपि स्वपरनिर्णयात्मनो ज्ञानस्य स्वत एव सञ्चेतनादिवत् प्रतिक्षणपरि-
णामादेरपि निर्णयात् किं तत्र प्रमाणान्तरेणेति चेदत्राह—]

व्यामोहशबलाकारवेदनानां विचित्रता ।

साकल्येन प्रकाशस्य विरोधः सम्प्रतीयते ॥३१३॥

25 [§ ३७१. नन्वेवमगृहीताकारसंभवे कुतस्तदस्तिवस्तित्यत्राह—]

संभावितान्यरूपाणां समानपरिणामिनाम् ।

प्रत्यक्षाणां परोक्षात्मा प्रमाणान्तरगोचरः ॥३१४॥

[§ ३७२. कुतः पुनरिदमकान्तव्यं प्रमाणान्तरगोचर आत्मा प्रत्यक्षाणामिति, प्रत्यक्षस्य
तत्र तद्विषये च प्रमाणान्तरस्यावृत्तेः, उभयविषयस्य च कस्यचिदभावादिति चेदत्राह—]

30 प्रत्ययः परमात्मानमपि च प्रतिभासयेत् ।

सत्यं परिरूप्यं येन तत्र प्राप्ताप्यमश्नुते ॥३१५॥

[§ ३३६. नन्वेवमेकस्मिन्नेवेन्द्रिये तस्य तथैव प्रतिभासादिन्द्रियान्तरमनर्थकमिति चेदत्राह—]

अल्पभूयःप्रदेशैकस्कन्धमेवोपलम्बवत् ।

अन्यथा स्वात्मनि ज्ञानमन्यथा चानुमीयते ॥२८७॥

[§ ३३७. तत्सर्वमनेकान्तात्मक प्रमेयत्वादिति । सतः प्रमेयत्वे तस्य च सति नियमे ५ सादिदमनुमानं नान्यथा हेतुदोषसंभवादिति मन्यमानस्य भूतमादर्शयति—]

सत्प्रमेयत्वयोर्नास्ति सर्वथा नियमो यदि ।

[§ ३३८. तत्रोत्तरमाह—]

अप्रवृत्तेः फलाभावात् तत्र वृत्तेर्निषेधतः ॥२८८॥

[§ ३३९. किं वा प्रमाणं यतः प्रमेयत्वमभावस्य ? प्रत्यक्षमिति चेदत्राह—] 10

प्रमाणमर्थसम्बन्धात् प्रमेयमसदित्यपि ।

प्रवृत्तेर्ध्यान्यमेवैतत् किञ्च सन्तं समीक्षते ? ॥२८९॥

[§ ३४०. तत्र प्रसङ्गतः प्रमेयत्वमभावस्य । नाप्यनुमानात् ; तस्यापि प्रतिबन्धसम्बन्ध-
पेक्षस्यैव प्रमाण्यादभावे च प्रतिबन्धस्यासम्भवात् । तदेवाह—]

तत्प्रत्यक्षं परोक्षेऽर्थे साधनं त्रिविधं द्वयम् ।

15

हेत्वात्मनोः परं हेतुस्तज्ज्ञानव्यवहारयोः ॥२९०॥

परसत्त्वमसत्ताऽस्याऽदर्शनं परदर्शनम् ।

[§ ३४१. यदि भावान्तरमेवामावः तत्र कथम् असज्ज्ञानादिप्रवृत्तिरिति चेदत्राह—]

सदसज्ज्ञानशब्दाश्च केवलं तन्निबन्धनाः ॥२९१॥

[§ ३४२. भावस्यैवाभावात्मकत्वे प्रसिद्धमुदाहरणमाह—]

20

अग्निः स्वपररूपान्यां भावाभावात्मको यथा ।

अन्वयव्यतिरेकान्यां शब्दबुद्ध्याञ्चघायते ॥२९२॥

[§ ३४३. निरूपितमिदम्, यदि न तावता परितोषः पुनरपि वदामः । इत्याह—]

अप्रमेयं प्रमेयञ्चेत् असत् किञ्च सदात्मकम् ? ।

अथ न व्यवहारोऽयमन्यत्रापि निरङ्कुशः ॥२९३॥

25

[§ ३४४. सम्प्रति सर्वत्र प्रमेयत्वस्य सद्भावमुपसङ्ख्य गमकत्वे निमित्तं दर्शयन्नाह—]

सत्प्रत्यक्षं परोक्षार्थगतिस्तत्रैकलक्षणम् ।

साध्ये सति विरोधोऽयमतस्तर्केण साध्यते ॥२९४॥

[§ ३४५. तत्र बहिरन्वयादिना किञ्चित् विनापि तेन तर्जित्वात् । न च सर्वत्र
तत्सम्बो यतः तस्मादेव स भवेदित्याह—]

30

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥३२३॥

[§ ३२१. ततः सामर्थ्येनैव तत्करणमभ्युपगन्तव्यं तच्च ततो न संभवति, तदेवाह—]

प्रत्येति न प्रमाहेतुं प्रत्येति पुनरप्रमाम् ।

5

प्रमाहेतुतदाभासभेदोऽयं सुव्यवस्थितः ! ॥३२४॥

[§ ३२२. भवतु तर्हि प्रमाणादेव अनुमानाद् हेतुप्रतिपत्तिरिति चेदत्राह—]

नियमेन न गृह्णाति निःशङ्कं चतुरस्रधीः ।

अन्यथाऽसंभवेऽज्ञाने ह्यर्थश्चात्मव्यवस्थितः ॥३२५॥

[§ ३२३. तत्र कल्पितस्तद्भाव उपपन्नः, तदाह—]

10

प्रतिव्यूढस्तु तेनैव प्रभवोऽनलधूमयोः ।

प्रत्यक्षेऽर्थे प्रमाणेन विकल्पेन प्रकल्पितः ॥३२६॥

[§ ३२४. एवमेतत् प्रमाणतः प्रसङ्गादेव तत्प्रतिपत्तोः एतदेव दर्शयति—]

प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां यदि तत्त्वं प्रतीयते ।

अन्यथानुपपन्नत्वमतः किञ्च प्रतीयते ? ॥३२७॥

15

[§ ३२५. प्रतिबन्धो यदि असाधरणः न तस्मादनुमानम्, यत्र तत्सिद्धिः प्रसङ्गात् साध्यस्यापि तत्र तत् एव सिद्धेः अन्यत्र चाविद्यमानत्वात् । साधारणक्षेत्, न तर्हि स विषयः प्रत्यक्षस्य स्यात्, तस्य स्वरक्षण एव नियमादतः प्रमाणान्तरस्यैव विषयो वक्तव्यः, तदेवाह—]

प्रमाणसाधनोपायः प्रमाणान्तरगोचरः ।

व्याप्यव्यापकभावोऽयमेकत्रापि विभाव्यते ॥३२८॥

20

[§ ३२६. प्रतिबन्धसमारोपनिवारणार्थं तत्तिरूपणमिति कथं तद्व्यापारवान् विकल्पो न प्रमाणम् । अप्रमाणान्तनिवारणायोपादानुमानवत्, एतदेवाह—]

सत्यप्यन्वयविज्ञाने सं तर्कपरिनिष्ठितः ।

अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते ॥३२९॥

[§ ३२७. पुनरपि तर्कस्यैव प्रामाण्यं दृढयन्नाह—]

25

सहृष्टैश्च धर्मैस्तत्र विना तस्य संभवः ।

इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम् ॥३३०॥

तस्माद् वस्तुबलादेव प्रमाणम्,

[§ ३२८. यद्येवं भवतोऽपि तृतीयं प्रमाणं प्राप्तम्, प्रत्यक्षवत् परोक्षेऽप्यनन्तर्भाव-

दिति चेदाह—]

80

मतिपूर्वकम् ।

बहुभेदं श्रुतं साक्षात्पारम्पर्येण चेज्यते ॥३३१॥

अयमर्थक्रियाहेतुरन्तरेण निरन्वयम् ॥३०२॥

[§ ३५५. परिणामे भावसाङ्कर्यम्, कस्यचित्त्वपर्यायैरिव परपर्यायैरव्यविशेषात् तदा-
पत्तेरिति चेदत्राह—]

भेदाभेदात्मनोऽर्थस्य भेदाभेदव्यवस्थितिः ।

लोकतो बानुगन्तव्या समागविसमागवत् ॥३०३॥

5

[§ ३५६. साम्प्रतं तद्विशेषाणामपि तद्वस्तुत्वं तद्व्यापकस्य तद्वचनादवगतमपि विनेया-
नुग्रहणार्थं दर्शयन्नाह—]

सामान्यभेदरूपार्थसाधनस्तद्गुणोऽखिलः ।

[§ ३५७. कुतस्तत्साधन एवार्थं न क्षणिकत्वादिसाधनोऽपीति चेदत्राह—]

अन्यथाऽनुपपन्नत्वनियमस्यात्र संभवात् ॥३०४॥

10

[§ ३५८. कीदृशो वा शब्दादिर्यत्र क्षणभङ्गसाधनम् ? निष्कलपरमाणुरूप इति
चेन्न, ... सञ्चये तर्हि सौहृद्येणैव तेषां प्रतिपत्तिः स्यात् तत्त्वभावत्वात्, तथा च कथमेकवृत्तादि-
व्यवहारः ? विकल्पापरोपितादेव त्पोल्यात् क्षणभेदव्यवहारवदिति चेदेतदेव दर्शयति—]

प्रत्यक्षेऽपि समानान्यनिर्णयः प्रतिरुद्धयते ।

यथा क्षणक्षयेऽणूनाम् ;

15

[§ ३५९. अत्रोत्तरमाह—]

इत्यात्मातौ विडम्बयेत् ॥३०५॥

[§ ३६०. तन्मापरोपितः स्थूलाकारः तद्व्यवस्थितैरेकैः प्रत्यक्षस्याप्रतिवेदनात् ।
एकत्वाभ्यवसायाच्च तत्कल्पनस्य प्रतिज्ञेपादेतदेवाह—]

अष्टयन्त्रवैद्यनियमादभिज्ञाः परमाणवः ।

20

[§ ३६१. ततो यथा विभ्रमेतरविकल्पेतरादीनामेकत्र समुच्चयः तथा वस्तुस्वामान्यादेव
सूक्ष्मेतरामेदेतराणामपि । एतदेवाह—]

देशकालान्तरव्याप्तिस्वभावः क्षणभङ्गिनाम् ॥३०६॥

सम्प्रत्यस्तमिताशेषनियमा हि प्रतीतयः ।

[§ ३६२. तस्मादक्रमवत् क्रमेणापि अनेकान्तात्मक एव भावः तथा प्रत्यभिज्ञानात् । 25
ननु च प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षविषय एव प्रवृत्तिमन्त्रान्यत्र अतिप्रसङ्गात् । न च प्रत्यक्षस्य परापर-
पर्यायेषु प्रवृत्तिर्यतः तेषां कथञ्चिदभेदप्रतिपत्त्या तस्मादनेकान्तविषयत्वात्प्रत्यभिज्ञानं तत्र स्यादिति
चेदत्राह—]

अग्रहः क्षणज्ञोऽपि ग्रहणे किमनिश्चयः ? ॥३०७॥

[§ ३६३. ...समारोपनिरसार्थत्वस्य तत्त्वादिति चेदत्राह—]

80

- उपलब्धेऽथ हेतुत्वादान्तर्भावात् स्वभावतः ।
तयोरनुपलम्बेषु नियमो न व्यवस्थितः ॥३४०॥
[§ ३४८. पुनरपि नियमेन (नियम) विधुरंयितुं लिङ्गान्तरमुपदर्शयन्नाह—]
अभविष्यत्यसंभाव्यो घर्मो घर्मान्तरे क्वचित् ।
5 शेषवद्धेतुरन्योऽपि गमकः सुपरीक्षितः ॥३४१॥
[§ ३४९. साम्प्रतं नैयायिकादिकल्पितमपि तन्नियममतिदेशेन विधुरयन्नाह—]
एतेन पूर्ववद्वीतिसंयोग्यादौ कथा गता ।
तल्लक्षणप्रपञ्चश्च निषेद्धव्योऽनया दिशा ॥३४२॥
[§ ४००. सम्प्रति हेत्वाभासं दर्शयन्नाह—]
10 अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये बिडम्बिताः ।
हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते ॥३४३॥
[§ ४०१. यच्चन्यथानुपपत्तिवैकल्यमेकान्ततः सत्त्वादीनाम्, क्षणभङ्गादिवत्, परिणा-
मेऽपि न तेषां हेतुत्वं स्यादिति चेन्न, एकान्ततस्तदभावादेतदेवाह—]
विरोधादन्वयाभावाद् व्यतिरेकाप्रसिद्धितः ।
15 कृतकः क्षणिको न स्यान्नैकलक्षणहानितः ॥३४४॥
[§ ४०२. विरोधमेव दर्शयन्नाह—]
सत्ता सम्प्रतिबद्धैव परिणामे क्रियास्थितेः ।
निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये ॥३४५॥
[§ ४०३. कः पुनरन्वय (नरय) मन्वयो नाम यतो निरन्वयो निर्व्यापारत्वमुच्यते इति
20 चेदब्राह्—]
अवस्थादेशकालानां भेदेऽभेदव्यवस्थितिः ।
या दृष्टा सोऽन्वयो लोके व्यवहाराय कल्प्यते ॥३४६॥
[§ ४०४. उक्तमर्थं रत्नेकान्यां सदृशान्नाह—]
सर्वसन्तानविच्छेदः सति हेतौ फलोदयः ।
25 अन्यथा नियमाभावादानन्तर्यं विरुद्धयते ॥३४७॥
[§ ४०५. ततः क्षणिकादेरर्थक्रियाव्यावृत्तिनिर्णयात्तदात्मकं सत्त्वं कृतकत्वादयश्च तद्वि-
शेषाः तत्साधनाय प्रयुक्ता विरुद्धा एव, परिणामस्यैव साधनादित्यावेदयति—]
सत्त्वमर्थक्रियाऽन्ये वा वस्तुधर्माः क्षणक्षये ।
हेत्वाभासा विरुद्धारूपाः परिणामप्रसाधनाः ॥३४८॥
80 [§ ४०६. सम्प्रति अनैकान्तिकास्तदभासानाह—]
सर्वज्ञप्रतिषेधे तु सन्दिग्धा वचनादयः ।

[§ ३७३. एकस्य स्वपरप्रतिमासिनः स्वभावद्वयस्यासंभवात्, अत आत्मानमेव प्रत्ययः प्रतिभासयतीति चेदत्राह—]

आसादितविशेषाणामणूनामतिवृत्तितः ।

एकाकारविवेकेन नैकैकप्रतिपत्तयः ॥३१६॥

[§ ३७४. भवत्वेन युगपद्वित्रमेव न तत्कमेण क्षणिकत्वादिति चेन्न; चित्रस्यापि क्षणक्षीण- 5 शरीरस्याऽप्रतिवेदनादेतदेवाह—]

कालापकषपर्यन्तविवर्त्ततिशया गतिः ।

अशक्तेरणुवत् सेयमनेकान्तानुरोधिनी ॥३१७॥

अंशग्रहविवेकत्वान्मन्दाः किमतिशोरते ? ।

[§ ३७५. सत्यपि तदव्यासात् बहिस्तेषां स्वाकारनिर्णये नातः (नान्तः) तत्संभवः इत्याह—] 10

निर्णयेऽनिर्णयान्मोहो बहिरन्तश्च तादृशः ॥३१८॥

[§ ३७६. [महामतिवृत्ति] प्रतिक्षणपरिणामादिसकलसूक्ष्मविशेषेष्वपि किमेति चेत् ? स्यादेव यथासावनावृत्तः स्यादेतदेव दर्शयति—]

जीवः प्रतिक्षणं भिन्नश्चेतनो यदि नावृत्तः ।

सकलग्रहसामर्थ्यात्तथाऽऽत्मानं प्रकाशयेत् ॥३१९॥ 15

[§ ३७७. प्रतिक्षणपरिणामे जीवस्य क्षणिकत्वमेव न निरूप्यमिति चेन्न; तस्यापि प्रसङ्गमि-
ह्यावलेन तत्र व्यवस्थापितत्वात् । तदपि सद्यशापरापरोत्पत्तिविभ्रमादेव न तात्त्विकादेकत्वादिति
चेदत्राह—]

तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञा न सदृशापरहेतुतः ।

अवस्थान्तर्विशेषोऽपि बहिरन्तश्च लक्ष्यते ॥३२०॥ 20

[§ ३७८. पुनरपि तादात्म्यात् प्रत्यभिज्ञानमित्यत्रोपपत्तिमाह—]

सूक्ष्मस्थूलतरा भावाः स्पष्टास्पष्टावभासिनः ।

वितथेतरविज्ञाने प्रमाणेतरतां गते ॥३२१॥

[§ ३७९. सामूल्यं परामर्शरूप दर्शनं परामर्शस्य कारणं तु भवति संस्कारप्रबोधस-
हायमिति चेदत्राह—] 25

यस्मिन्नसति यज्जातं कार्यकारणता तयोः ।

मेदिनां प्रत्यभिज्ञेति रचिनोऽयं शिलाह्वयः ॥३२२॥

[§ ३८०. तदेवं पक्षधर्मत्वादिकमन्तरेणापि अन्यथानुपपत्तिवलेन हेतोर्गमकत्व तत्र तत्र
स्थाने प्रतिवाचमेदं (पाञ्च नेद) स्वबुद्धिपरिकल्पितमपि तु परमागमसिद्धमित्युपदेशयितुकामो भगव-
त्सीमन्वरस्वामितीर्थङ्करदेवसमवशरणात् गणवरदेवप्रसादादापादितं देव्या पद्मावल्या यदानीय 30
पात्रकेसरिस्वामिने समर्पितमन्यथानुपपत्तिवार्त्तिकं तदाह—]

प्रज्ञाप्रकर्षपर्यन्तभावः सर्वार्थगोचरः ।

[§ ४१७. भवतु वक्ता सर्वज्ञः तद्वचनस्य तु कथं यथार्थत्वं यतस्तज्ज्ञानार्थिनामन्वे-
णीयः स्यात् ? खरसत एव शब्दानामयथार्थबुद्धिहेतुत्वेन तद्वक्तानामपि वस्तुगोचरत्वानुपपत्तेरिति
चेदत्राह—]

5 तत्कार्योत्कर्षपर्यन्तभावः सर्वहितामिधा ॥३५७॥

[§ ४१८. तदेवं वक्तृत्वस्य सर्वज्ञत्वेनाविरोधमुपपाद्य पुरुषत्वादेरप्युपपादयन्नाह—]

यथा वचनसर्वज्ञकार्यकारणभूतयोः ।

अविरोधेन चागवृत्तेराद्रेकस्तन्निषेधने ॥३५८॥

तथैव पुरुषत्वादेरक्षयाद् बुद्धिविस्तरे ।

10 सर्वप्रकाशसामर्थ्यं ज्ञानावरणसङ्ख्यात् ॥३५९॥

[§ ४१९. एतदेव स्पष्टयन्नाह—]

अक्षयात्पुरुषत्वादेः प्रतिपक्षस्य सङ्ख्यात् ।

सर्वतोऽक्षमयं ज्योतिः सर्वार्थैः सम्प्रयुज्यते ॥३६०॥

[§ ४२०. यदि प्रतिपक्षपरिहृयात् ज्योतिः, कृत्रस्थानां तदभावात् कथं रूपादिवेदन

15 मिति चेदत्राह—]

कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्मपटलाच्छता ।

संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः ॥३६१॥

साक्षात्कर्तुं विरोधः कः सर्वथावरणालये ? ।

सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति ॥३६२॥

20 [§ ४२१. परदुःखादिकं यदि सर्वज्ञो न जानाति कथं तज्ज्ञत्वम् ? जानाति चेत्

कथञ्च दुःखादिमान् .. इति चेदत्राह—]

परदुःखपरिज्ञानाद् दुःखितः स कथं भवेत् ? ।

स्वतो हि परिणामोऽयं दुःखितस्य न योगिनः ॥३६३॥

[§ ४२२. किं पुनर्भावनापाटवात् कुतश्चिद् बुद्धिप्रकर्षो दृष्टः यतः सकलवेदनमपि

25 ततो भवेदिति चेत् ? वाढमस्ति, इत्याह—]

भावनापाटवाद् बुद्धेः प्रकर्षोऽयं मलक्षयः ।

कारणासम्भवाक्षेपविपक्षः सम्प्रतीयते ॥३६४॥

[§ ४२३. तदेवमनैकान्तिकत्वं वक्तृत्वादीनामभिधाय साम्प्रतमसिद्धमपि हेत्वाभासं दर्श-

यन्नाह—]

30 असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने ।

[§ ४२४. बहुविधत्वं चेप्यते, तत्कथमिति चेदत्राह—]

[§ ३२६. बहुमेदत्वमेव तस्य दर्शयितुं तद्व्यापारानाह—]

अर्थमात्रावबोधेऽपि यतो नर्ते प्रवर्त्तनम् ।

स युक्तो निश्चयो मुख्यं प्रमाणं तदनश्नवत् ॥३३२॥

[§ ३२७. तद् व्यापारान्तरोपन्यासेन दर्शयति—]

लिङ्गसांवृतयोस्तुल्या गृहीतग्रहणादपि ।

5

व्यवच्छेदाविसंवादव्यवहर्तृप्रवृत्तयः ॥३३३॥

[§ ३२९. अविसंवादव्यवहारयोः निश्चयेऽपि परस्य प्रसिद्धत्वात् तत्र व्यवच्छेदं दर्शयन्नाह—]

शब्दाद्ययोगविच्छेदे तत्प्रामाण्यं न किं पुनः ? ।

अनुमानं तु हेतोः स्यादविनाभावनिश्चयात् ॥३३४॥

10

[§ ३२२. तदेवं कार्यादावन्यथानुपपन्नत्वादेव हेतुत्वमवस्थाप्य अनुपलम्भेऽपि तत एव तदवस्थापयन्नाह—]

यथा कार्यं स्वभावो वाप्यन्यथाऽऽशङ्क्यसंभवः ।

हेतुश्चानुपलम्भोऽयं तथैवेत्यनुगम्यताम् ॥३३५॥

[§ ३२३. तदेवमदृश्यानुपलम्भस्य गमकत्वमन्यथानुपपत्तिवलेनोपपाद्य दृश्यानुपलम्भ-16
स्यापि तत एव तत्, न तदन्तरेणेति दर्शयन्नाह—]

प्रत्यक्षानुपलम्भश्च विधानप्रतिषेधयोः ।

अन्तरेणेह सम्बन्धमहेतुरिच लक्ष्यते ॥३३६॥

[§ ३२४. इदानीं तत्प्रपञ्चं दर्शयति—]

प्रपञ्चोऽनुपलब्धेर्नाऽपक्षे प्रत्यक्षवृत्तितः ।

20

प्रमाणं सम्मवाभावाद्विचारस्याप्यपेक्षणात् ॥३३७॥

[§ ३२५. साम्प्रतमुन्नाभादेस्तदुत्पत्त्याधमावेऽपि गमकत्वोपदर्शनेन हेतुः (तोः) त्रैवि-
ध्यमपि विष्णुसयन्नाह—]

तुलोल्लामरसादीनां तुल्यकालतया न हि ।

नामरूपाविहेतुत्वं न च तद्व्यभिचारिता ॥३३८॥

25

तादात्म्यं तु कथञ्चित्स्यात् ततो हि न तुलान्तयोः ।

[§ ३२६. न केवलं तुल्यकालत्वात् कथञ्चिद्वादे चानिष्टापत्तेः तुलान्तयोरेव न तादा-
त्म्यमपि तु अन्ये (अन्ये) घामपीलाह—]

सास्त्रादीनां चन्द्रार्वाक्परमाणयोः ॥३३९॥

[§ ३२७. तदेवमुन्नाभादेस्कार्यसम्भावस्यापि लिङ्गलोपपादनेन त्रैविध्यनियमं प्रतिपिच्य 30
पञ्चकैसरिखाभिनाऽपि सन्नियमः प्रतिपिद्ध इति दर्शयन्तद्वचनमाह—]

[§ ४३४. स्याद्वादिमतमनवबुद्धा तत्रेदमुच्यमान धर्मकीर्त्तविदूषकत्वमावेदयति—]

पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥३७२॥

[§ ४३५. एतदेव प्रसिद्धेन निदर्शनेन दर्शयन्नाह—]

सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।

5

तथापि सुगतो बन्धो मृगः खाद्यो ययेष्यते ॥३७३॥

तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।

चोदितो दधि खादेति किमुद्गममिधावति ? ॥३७४॥

[§ ४३६. सम्प्रति जात्यन्तरं दर्शयन्नाह—]

अत्रैवोभयपक्षोक्तदोषारेकानवस्थितेः ।

10

[§ ४३७. पुनरपि तदन्तरमाह—]

अनन्वयादिदोषोक्तेः प्रपञ्चो वाऽनया दिशा ॥३७५॥

[§ ४३८. ननु यथा न्यायसाधर्म्यादिसमा जातिर्नैयायिकेन कथ्यते तथा त्वया किन्ने-
ति चेदत्राह—]

मिथ्योत्तराणामानन्त्यात् शास्त्रे वा विस्तरोक्तिः ।

15

साधर्म्यादिसमत्वेन जातिर्नेह प्रतन्यते ॥३७६॥

[§ ४३९. यथा जयेतव्यवस्था तथा दर्शयन्नाह—]

प्रकृताशेषतत्त्वार्थप्रकाशपटुवादिनः ।

विज्जुवाणोऽज्जुवाणो वा विपरीतो निगृह्यते ॥३७७॥

[§ ४४०. तस्मादेकस्य प्रकृतसिद्धेरेव परस्य निग्रहो न प्रकारान्तरेण, तदेवाह—]

20

असाधनाङ्गवचनमदोषोद्गाधनं द्वयोः ।

न युक्तं निग्रहस्थानमर्थापरिसमाप्तिः ॥३७८॥

[§ ४४१. एतदेव दर्शयति—]

वादी पराजितोऽयुक्तो वस्तुतत्त्वे व्यवस्थितः ।

तत्र दोषं ज्जुवाणो वा विपर्यस्तः कथं जयेत् ? ॥३७९॥

25

[§ ४४२. कः पुनसौ दृष्टान्तो यदोषानुद्गाधनं प्रतिवादिनो निग्रहस्थान सङ्कल्पयन्ति
सौगताः ? इति चेदत्राह—]

सम्बन्धो यत्र निर्जातः साध्यसाधनधर्मयोः ।

स दृष्टान्तः, तदाभासाः साध्यादिविकलादयः ॥३८०॥

[§ ४४३. कुतः पुनरेषामनुद्गाधनाच्च निग्रहस्थानमिति चेदत्राह—]

30

सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात् ।

अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षयः ॥३८१॥

[§ ४०७. येषां तु त्रैरूप्याद्गमकत्वं तन्मत्या हेतव एवेत्याह—]

रागादिसाधनाः स्पष्टा एकलक्षणविद्विषाम् ॥३४९॥

[§ ४०८. परकीयं तत्रोत्तरं दर्शयति—]

धर्मिधर्मस्य सन्देहे व्यतिरेके ततो भवेत् ।

असिद्धिः प्रतिबन्धस्येत्यपरे प्रतिपेदिरे ॥३५०॥

5

[§ ४०९. अत्रोत्तरमाह—]

वाचो विरुद्धकार्यस्य सिद्धिः सर्वज्ञवाधिनी ।

शिरःपाण्यादिमन्वाद्या विरुद्धव्याप्तिसिद्धयः ॥३५१॥

[§ ४१०. तदेव विरुद्धकार्योपलब्धिं विरुद्धव्याप्तोपलब्धिञ्च प्रतिपाद्य व्यापकविरुद्धोप-
लब्ध्यादिनाऽपि तद्वाधनं दर्शयन्नाह—]

10

सत्सम्प्रयोगजत्वेन विरुद्धः सकलग्रहः ।

स्वभावकारणासिद्धेरेकलक्षणविद्विषाम् ॥३५२॥

[§ ४११. एवमेते वचनादयः कार्यस्वभावानुपलम्भरूपतया त्रैविध्यमपरित्यजन्तोऽपि
अन्यथानुपपत्तिवैकल्यादेव अगमकाः, तदेव दर्शयति—]

कथञ्च सम्भवी वक्ता सर्वज्ञस्तस्य तेन नो ।

15

यावत्प्रकृष्यते रूपं तावत्कार्यं विरुध्यते ? ॥३५३॥

[§ ४१२. स्यादेव यदि विज्ञानाहचनम्, न चैवं विवक्षायास्तत्कारणत्वात् । सा च
रागविशेषत्वेन दोषात्मा सती विब्रूताशेषदोषतो निःशेषतत्त्वज्ञानान्निवर्त्तमाना वचनमपि निवर्त्तयत्येव ।
तत्कथनान्यथानुपपत्तिर्यतः तत्सुगतादावनिवर्त्तितप्रसरतया प्रवर्त्तमान विवक्षा दोषोपस्थापनेन निःशे-
षवेदित्वं व्यापादयेदिति चेदत्राह—]

20

विवक्षामन्तरेणापि वागवृत्तिर्जातु वीक्ष्यते ।

वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥३५४॥

[§ ४१३. अतो विज्ञानहेतुकैव तत्प्रवृत्तिरेतदेव दर्शयन्नाह—]

प्रज्ञा येषु पटीयस्यः प्रायो वचनहेतवः ।

विवक्षानिरपेक्षास्ते पुरुषार्थं प्रचक्षते ॥३५५॥

25

[§ ४१४. भवतु वा विवक्षा, तथापि न दोष इत्याह—]

अप्रमत्ता विवक्षेयम्, अन्यथा नियमात्ययात् ।

[§ ४१५. ततः सा प्रमादरहितैव ततो न दोषवतीत्याह—]

इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम् ? ॥३५६॥

[§ ४१६. कुतः पुनः कस्यचित् सकलज्ञानं यत् 'कथम्' इत्याहुष्यते इति चेदत्राह—]

30

[§ ४५०. भवतु नाम कश्चिद्विषयदर्शी परमवीतरागश्च सः, तत्कृतः प्रतिपत्तव्यः... न च प्रमाणान्तरमस्ति यतस्तत्प्रतिपत्तिः । अतः कथं तस्य अवचनानुशास्त्रत्वेन पर्येषण प्रेक्षा-वह्निरिति चेदत्राह—]

तथान्यगुणदोषेषु संशयैकान्तवादिभिः ।

८ पुरुषातिशयो ज्ञातुं यद्यशक्यः किमिष्यते ? ॥३८८॥

[§ ४५१. ततो न रागादिभिः तदन्यन्यापारादिर्यतः ततः पुरुषातिशयप्रतिपत्तिरन्य-
मिचारिणी न भवेदेतदेवाह—]

परोक्षोऽप्यविनाभावसम्बद्धैर्गुणदोषयोः ।

शास्त्रैर्निर्वर्तितैः शास्त्रकारवत्सम्प्रतीयते ॥३८९॥

10 [§ ४५२. सम्प्रति सर्वैकान्तवादिनः सुगतादेः दोषवत्त्वमेव तज्ज्ञापारसमधिगम्यमावे-
दयन्नाह—]

सिद्धिर्द्विसावृतस्तेषाम्प्रत्यक्षचर्यप्रवृत्तिः ।

स प्रत्यस्तमिताऽशेषदोषो नेति प्रतीयते ॥३९०॥

[§ ४५३. भवतु नाम सुगतस्तथाविधः तथापि किमिह—]

15 हेयोपादेयतत्त्वस्य सोपायस्य किलेशः ।

प्रवक्तेति धिगनात्मज्ञं तदसाध्यमसाधनम् ! ॥३९१॥

[§ ४५४. पुनरप्यत्रैवोपचयमाह—]

सर्वथा सदुपादेयं हेयं सत्तदकारणम् ।

तदर्थोऽयं प्रयासश्चेत्यहो सत्यन्यवस्थितिः ! ॥३९२॥

20 [§ ४५५. इदमेव श्लोकैः विवरीतमाह—]

करुणा स्वपरज्ञानसन्तानोच्छेदकारणम् ।

इति नः करुणोष्टमत्यन्तं परदुःखं न गोचरः ॥३९३॥

[§ ४५६. इति तद्वेतुना नैव कृपा, या युक्तिमुच्छ्रुति, तदेवाह—]

नत्त्वज्ञानाद्यनुत्पादहेतुरुन्मार्ग एव सः ।

25 [§ ४५७. केवल चित्तज्ञानस्य अपरिशुद्धस्य सतः सामग्रीविशेषतः परो भागो विशुद्ध
उत्पद्यत इति तत्राह—]

मिथ्याविकल्पविज्ञानभावनापरिपाकतः ॥३९४॥

तत्त्वज्ञानमुदेतीति कृतस्तत्त्वविनिश्चयः ? ।

[§ ४५८. तन्नानादिसंस्कारसंभवः तदपरिज्ञानादेस्तत् (नादेतदे) बाह—]

30 अनादिबासना न स्यात् त्रैलोक्यमविकल्पकम् ॥३९५॥

अन्यथाऽसंभवाभावमेदात्स बहुधा स्मृतः ॥३६५॥

[§ ४२५. कैः कृत्वा स बहुधा इत्याह—]

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्कारविस्तरैः ।

[§ ४२६. भवतु तर्हि सान्ध्यनिरन्वयविशेषविवक्षारहितं तदुभयसाधारण विनाशमात्रं धर्मी सिद्धत्वादिति चेन्न, विशेषद्वयस्थासम्भवात् । नहि निरन्वयोऽपि विनाशः कचिदवगातिपथ-५ प्रस्थापी सान्ध्यस्यैव प्रतीतेः तत्कथं तयोः किञ्चित् सामान्यं नाम यस्य हेतुमति आश्रयत्वमुप-कल्प्येत ? तदेवाह—]

सर्वथा नास्ति सामान्यं परिणामविनाशयोः ॥३६६॥

यो हेतोरश्रयः, अनिष्टेः, इष्टः स्वात्मा विशेषतः ।

[§ ४२७. तत्र कल्पनासिद्धस्य सिद्धत्वमित्यसिद्ध एव सत्त्वादिः, एतदेवाह—] 10

साध्यसाधनभावो न शब्दनाशित्वसत्त्वयोः ॥३६७॥

[§ ४२८. अत्रैव प्रतिवस्तूपमया दृष्टान्तमाचष्टे—]

अनलः पावकोऽग्नित्वादित्यनेकान्तविद्विषाम् ।

[§ ४२९. भवतु कल्पितसामान्येकान्तः इति चेन्न; अनवस्थादोषस्योद्घोषितत्वात् । भवतः कथं तयोस्तद्भाव इति चेदाह—] 15

सर्वान्यसदृशः शब्दः सत्त्वादिपरिणामतः ॥३६८॥

सर्वार्थान्यासमः शब्दः शब्दादिपरिणामतः ।

[§ ४३०. शब्दस्य परिणामि (णाम) त्वे परिणामिना भवितव्यम् तस्य तद्धर्मत्वात् । न चासौ कश्चिदप्यस्तीति चेन्न; पुनरुपपत्त्यानां भावात् । एतदेवाह—]

अणूनां श्रुतयोग्यत्वातिशयादानहानयः ॥३६९॥ 20

शब्दोत्पत्तिविनाशास्तत्साध्यसाधनसंस्थितिः ।

[§ ४३१. सम्प्रति चित्तनाचार्यानुसरणेन पुण्यातिशयावासिमनुसन्दधान. श्रीमत्पात्रके-सरिवचनेन हेत्वाभासानामुपसंहारं दर्शयन्नाह—]

अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः ॥३७०॥

अकिञ्चित्कारकान् सर्वास्तान् वयं सङ्गिरामहे । 25

[§ ४३२. सम्प्रति दूषणामासं दर्शयन्नाह—]

तत्र मिथ्योत्तरं जातिः,

[§ ४३३. कीदृशं तदित्याह—]

यथाऽनेकान्तविद्विषाम् ॥३७१॥

दध्युद्धादेरभेदत्वप्रसङ्गादेकचोदनम् ।

तज्ज्ञानपूर्वकं तत्पर्यमनुमानसमीक्षितम् ।

मानं वस्तुबलादेव सर्ववस्तुनिबन्धनम् ॥४०४॥

[§ ४६८. यथपौरुषेयस्यापि पुरुषगुणबलादेव अर्थतत्त्वनिश्चयः, प्रवचनस्य पौरुषे-
यत्वमेव किञ्च भवतीति मन्वान आह—]

5 आगमः पौरुषेयः स्यात्प्रमाणमतिलौकिकम् ।

संवादासंभवाभावात् समयाविप्रलम्भनः ॥४०५॥

[§ ४६९. किञ्चायमनुपलम्भो वादिनः स्वस्य वा भवेत् सर्वस्य वा गत्यन्तराभावात् ।
तत्रोभयत्रापि दोषावेदयन्नाह—]

सकलज्ञस्य नास्तित्वे स्व-सर्वानुपलम्भयोः ।

10 आरेकासिद्धते तस्याप्यर्वागदर्शनतोऽगतेः ॥४०६॥

[§ ४७०. ततो युक्तमक्षानपेक्षं केवलिनः प्रत्यक्षम् तत्र वैशेष्यस्य तत्त्वक्षणस्य पुष्कल-
त्वात्, तस्य चावरणविवेकनिबन्धनत्वेन अक्षन्यापारपराधीनत्वामाभादेतदेवाह—]

विज्ञानमञ्जसा स्पष्टं विप्रकृष्टे विरुद्धयते ।

न, स्वप्रेक्षणिकादेर्वा ज्ञानावृत्तिविवेकतः ॥४०७॥

15 [§ ४७१. साम्प्रतं प्रतिपादितार्थसद्ग्रहार्थं लोकानाच्छाणः प्रथमम् आत्मनो ज्ञाना-
त्मकत्वे सर्वस्य सर्वदर्शित्वपर्यनुयोगम् आवरणविवेकवैचित्र्येण परिहरन्नाह—]

ततः संसारिणः सर्वे कथञ्चिच्चेतनात्मकाः ।

तत्तत्स्वभावतो ज्ञानं सर्वत्र शबलायते ॥४०८॥

[§ ४७२. अनादिमूर्तकर्मसम्बन्धात्तत्प्रदेशानुप्रवेशरूपात् कथञ्चिमूर्तत्वस्यापि भावा-
20 तदेवाह—]

अभिन्नो भिन्नजातीयैर्जीवः स्याच्चेतनः स्वयम् ।

[§ ४७३. स तर्हि कस्मात् सर्वतो न प्रकाशते सर्वविषयतयेति चेदत्राह—]

मलैरिव मणिर्विद्धः कर्मभिर्न प्रकाशते ॥४०९॥

[§ ४७४. यदा तु तदावरणमलानां निःशेषवृत्त्या जीवतो विच्छेदः तदा प्रकाशत
25 एवासौ समन्ततः सर्वार्थसाक्षात्करणरूपतया च तदेवाह—]

सर्वार्थग्रहसामर्थ्यात् चैतन्यप्रतिबन्धिनाम् ।

कर्मणां विगमे कस्मात् सर्वानर्थान्न पश्यति ? ॥४१०॥

[§ ४७५. निरवशेषनिर्भूतबोधवरणमलस्यापि केवलिनः पुनः कुतश्चिदभिसम्बन्धसंभ-
वादनर्थोपनिबन्धः किञ्च भवतीति चेदत्राह—]

30 प्रभुः साक्षात्कृताशेषप्रपञ्चमुबनन्नयः ।

अनर्थैः परमात्मानमत एव न योजयेत् ॥४११॥

[§ ४४४. कः पुनरयं वादो नाम यत्रेदं निग्रहस्यानमित्तब्राह्म—]

प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैव सिद्धये ।

वचनं साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः ॥३८२॥

[§ ४४५. ततो लाभाद्यभाव एव निग्रहो वक्तव्यः इति चेदब्राह्म—]

आस्तां तावदलाभादिरयमेव हि निग्रहः ।

5

न्यायेन विजिगीषूणां स्वाभिप्रायनिवर्तनम् ॥३८३॥

[§ ४४६. सम्प्रति वादामासं दर्शयति—]

तदाभासो वितण्डादिरभ्युपेताव्यवस्थितेः ।

तदात्मोत्कर्षणायैव वाचो वृत्तिरनेकधा ॥३८४॥

[§ ४४७. साम्प्रत प्रत्यक्षादिब्रानाना सख्यादिकथननिरूपणे प्रयोजनमुपदर्शयितुं कामं, 10
परेण प्रशङ्कारयति—]

प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्रागर्थसंवादानात्,

सङ्ख्यालक्षणगोचरार्थकथने किं कारणं चेत्तसाम् ? ।

आ ज्ञानं सकलागमार्थविषयज्ञानाविरोधं बुधाः,

प्रेक्षन्ते मदुदीरितार्थगहने सन्देहविच्छिन्नये ॥३८५॥

15

[§ ४४८. कुत. पुनर्न्यायदर्शनादि निःश्रेयसनिबन्धनतया प्रसिद्धमपि शास्त्रान्तरं परि-
क्षय्य पुरुषार्थसिद्धये भगवदा [ज्ञा] य एव भवतामभिरतिरिति चेदब्राह्म—]

शास्त्रं शक्यपरीक्षणेऽपि विषये सर्वं विसंवादकम्,

मिथ्यैकान्तकलङ्कितं बहुमुखैरुद्धीक्ष्य तर्कागमैः ।

दाहातैः परिणामकल्पविटपिच्छायागतैः साम्प्रतम्,

20

विस्मयैर्कलङ्करणनिचयन्यायो विनिश्चीयते ॥३८६॥

इति न्यायविनिश्चये द्वितीयः अनुमानप्रस्तावः ॥



३. तृतीयः प्रवचनप्रस्तावः ।

[§ ४४९. तदेव प्रस्तुतप्रस्तावाम्या प्रसङ्गानुमानयोः प्रामाण्यं निश्चित्य साम्प्रत वचनस्य
तत्तिष्ठय(यं)प्रतीतप्रस्तावान्तरवृत्तेन सूचितं दर्शयितुमाह—]

25

सकलं सर्वथैकान्तप्रवादातीतगोचरम् ।

सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमात्मानुशासनम् ॥३८७॥

तदर्थदर्शिनोऽभावान्मलेच्छादिव्यवहारवत् ।

[§ ४८५. सत्यपि तदर्थमिच्छे अनादिसम्प्रदायत्वे वेदागमस्य भवितव्यं तदर्थदर्शिनो पुरुषेणेति प्रतिपादयिषुः पूर्वपक्षयति—]

अनादिसम्प्रदायश्चेदायुर्वेदादिरागमः ॥४१८॥

5 [§ ४८६. अत्रोत्तरमाह—]

कालेनैतावताऽनासः कथञ्च प्रलयं गतः ? ।

[§ ४८७. ततो यत्सिद्धं तदाह—]

सिद्धं श्रुतेन्द्रियातीतं त्रिकालविषयं स्फुटम् ॥४१९॥

[§ ४८८. तर्हि तथाविषयस्य तज्ज्ञानस्य संगता (सुगता) दिव्येन भावात् त एव
10 तद्वेदादेः प्रवर्षकार्षेः (काः सुः) इति चेदत्राह—]

तथा न क्षणिकादीनां सर्वथासशुणाययात् ।

[§ ४८९. उपसंहरणाह—]

तद्विरम्य विरम्यैतद् युक्तं शास्त्रप्रवर्त्तनम् ॥४२०॥

[§ ४९०. तदेवं तस्य शास्त्रं प्रत्युपयोगमभिधाय तत्र प्रवृत्तेर्यवत्त्व प्रत्यभिहितुराह—]

15 तादृशोऽभावविज्ञाने शास्त्रे वृत्तिरनर्थिका ।

[§ ४९१. तत्र बाधकवत् साधकस्याप्यसंभवेन सशयत्येवोपपत्तेरिति चेदत्राह—]

सन्देहेऽपि च सन्देहः ततस्तत्त्वं निरूप्यते ॥४२१॥

[§ ४९२. तदेवं वेदावयवत्वेन आयुर्वेदादेः नित्यत्वे दोषमभिधाय साम्प्रतं शब्दमात्रस्य
नित्यत्वे तं दर्शयन्नाह—]

20 स्वतन्त्रत्वे तु शब्दानां प्रयासोऽनर्थको भवेत् ।

व्यक्त्यावरणविच्छेदसंस्कारादिविरोधतः ॥४२२॥

वंशादिस्वरवारायां सङ्कुलं प्रतिपत्तितः ।

क्रमेणाशुग्रहेऽयुक्तः सकृद्ग्रहणविभ्रमः ॥४२३॥

तात्त्वादिसन्निधानेन शब्दोऽर्थं यदि जायते ।

25 को दोषो येन नित्यत्वं कुतश्चिदवकल्प्यते ? ॥४२४॥

[§ ४९३. भवतोऽपि तदुपादानस्य प्राग्भाविनः कुतो नोपलब्धिरिति चेदत्राह—]

उपादानस्य सूक्ष्मत्वाद्युक्तञ्चानुपलम्बनम् ।

[§ ४९४. प्रत्यभिज्ञानात्तत्र नित्यत्वमेवोपपन्नं न भेदः, तत्रातिपक्षेस्तेनैव प्रतिक्षेपादिति

चेदत्राह—]

सादृश्यात्, नैकरूपत्वात् स एवायमिति स्थितिः ॥४२५॥

[§ ४५६. ततः प्रत्यक्षत्वादात्मदर्शनस्य न तद्विपरीतेरनुमानविकल्पैरुपपन्ना बोद्धा
(बाध) परिकल्पना । तदाह—]

निरूपद्रवभूतस्य वाषाऽयुक्ता विपर्ययैः ।

[§ ४६०. भवतु तर्हि सविद्वैतमेव अविशेषवत्, यद्यद्वैते न तोषोऽस्ति मुक्त एवासि
सर्वथेत्यभिधानादिति चेदत्राह—]

विच्छेदो वरमुच्छेदात् विदस्तत्पक्षपाततः ॥३९६॥

[§ ४६१. तदवस्थितिश्च करुणयेति चेत्तदाह—]

यत्तावत्करुणाचन्वात्तिष्ठत्येव हि चेतसाम् ।

सन्तानः,

[§ ४६२. अत्र दूषणमाह—]

स परोच्छेदान्न समत्वं प्रपद्यते ॥३९७॥

[§ ४६३. ससारदुःखसम्बन्धः सन्तानस्याऽसतः कथम् ? योषोऽपि तदसम्बन्धः
सन्तानस्यासतः कथम् ? ततः कथञ्चित्सत एवासौ तथा चेदाह—]

तथा निरास्रवीभावः संसारान्मोक्ष उच्यते ।

सन्तानस्यात्मनो वेति शब्दमात्रं तु मिथ्यं ॥३९८॥

[§ ४६४. साम्प्रत साध्यादिमते वेदस्य तत्त्वचिह्न्यासुराह—]

नित्यस्यापि सतः साक्षाददृश्यानुभवात्मनः ।

सुखादिर्विषयः शब्दादविशेषयित्वाऽन्यथा ॥३९९॥

प्रदर्श्यैः

[§ ४६५. साहसान्तरं पुनरित्यादिना निवेदयति—]

पुनरस्यैव गुणयोगनिवृत्तिः ।

निर्वाणमाह वेदोऽयं प्रमाणमिति साहसम् ! ॥४००॥

[§ ४६६. समानस्यापि कर्तुः कचिद्विप्रलम्भसमवे चक्षुरादावप्यनाद्यासापचरेतदेवाह—]

विश्वलोकाधिकज्ञाने विप्रलम्भनशङ्किनः ।

प्रामाण्यं कथमक्षादौ चञ्चले प्रमिमीमहे ? ॥४०१॥

[§ ४६७. तदेव त्रिमिरन्तरलोकोक्त्याचिह्न्यासुराह—]

परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ।

अदृष्टदोषशङ्कायाममानं सकलं भवेत् ॥४०२॥

प्रत्यक्षागमयोरिष्टं प्रामाण्यं गुणदोषयोः ।

दर्शनादर्शनाध्यासात् कचिद् वृत्तसमत्वतः ॥४०३॥

क्रमेणोच्चार्यमाणेषु ध्वनिभागेषु केषुचित् ।

न वर्णपदवाक्याख्या विकारेष्वेव संभवात् ॥४३३॥

[§ ५०४. स्वमते तु तत्संभव दर्शयन्नाह—]

शब्दभागाः स्वहेतुभ्यः समानोन्नयहेतवः ।

5

सकलाग्रहणात्तेषां युक्ता हि ओन्नगोचराः ॥४३४॥

[§ ५०५. तथाच पुद्गलपर्यायः शब्दः शरीरावयवसम्बन्धेनोपलभ्यमानत्वात् शीतातपा-
दिवत् ...एतदेव दर्शयन्नाह—]

परिणामविशेषा हि भावानां भावशक्तयः ।

ध्वनयस्तत्समर्थानामभावादतिरेकिणाम् ॥४३५॥

10

[§ ५०६. साम्प्रत प्रकरणार्थमुपसंहर्य दर्शयन्नादितः शब्दानामपौरुषेयत्वे दोषमा-
वेदयति—]

वाच्यमपौरुषेयीणामाविर्भावो न युज्यते ।

[§ ५०७. पौरुषेयस्यापि वाचकत्वमपि (त्वमनमि) मतस्यापि किञ्च स्यादिति चेदत्राह—]

सम्यग्ज्ञानाद्भ्रूशः सत्यः पुरुषार्थमिधायकः ॥४३६॥

15

अत्रापौरुषेयत्वं जातु सिद्धमनर्थकम् ।

[§ ५०८. किं पुनस्तत्सत्यम् यदमिधायित्वेन शब्दः सत्य उच्यते इत्यत्राह—]

सर्वार्थानामनेकात्मपरिणामौ व्यवस्थितौ ॥४३७॥

मार्गस्तद्विषयश्चेति मतं सत्यं चतुर्विधम् ।

[§ ५०९. जीवादीनाञ्च मार्गविषयच प्रतिपादनमपरिह्यततद्रूपस्य प्रेक्षावतो मोक्षार्थायाः

20 प्रवृत्तेरनुपपत्तेः अत एवाह—]

अहं ममास्त्रवो बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः ॥४३८॥

कर्मणामिति सत्कृत्य प्रेक्षाकारी समीक्षते ।

तत्त्वज्ञानप्रभावेण तपः संवरणं घणाम् ॥४३९॥

तपसश्च प्रभावेण निर्जीर्णं कर्म जायते ।

25

रागद्वेषौ विहायैव गुणदोषवतोस्तयोः ॥४४०॥

मोक्षज्ञानात् प्रवर्तन्ते मुनयः समबुद्धयः ।

सज्ज्ञानपरिणामात्मतत्त्वसम्प्रतिपत्तितः ॥४४१॥

पीतदोषाअवाकारो विपरीतग्रहक्षयः ।

[§ ५१०. कर्मपुद्गलश्लेषोऽपि जीवस्य अपरमोहादिपूर्वकः तत्त्वात् षत्पराधिरसोपश्लेषवत्

30 इति सिद्ध आश्रवो बन्धश्च, तद्रूपश्लेषस्य बन्धत्वात्, तद्वेतोश्च मोहादेराश्रवत्वात् । एतदेवाह—]

[§ ४७६. कुतः पुनः प्रभोर्निरवशेषप्रपञ्चशुवनत्रयसाक्षात्करणमिति चेदत्राह—]

एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।

नर्ते तदागमात् सिद्ध्येत्,

[§ ४७७. नन्वेवम् आगमस्य तत्पूर्वकत्वं न भवेत् ततोऽपि पूर्वं तस्य भावादिति चेदत्राह—] 5

न च तेन विनाऽऽगमः ॥४१२॥

[§ ४७८. नचैवमन्योन्यसंश्रयः; हेतुहेतुमद्भावेन परमागमकेवलज्ञानसन्तानस्य बीजाङ्कुर-
वदनादित्वात् । एतदेव दर्शयन्नाह—]

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।

प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥४१३॥

10

[§ ४७९. ग्रहणस्यादयो हि देशकालजातीयविकल्पेन प्राणिनां श्रेयःप्रसन्नबायोपनिपा-
तपिशुनतया प्रतीयमाना निःशेषानपि देशकालविशेषान् तस्मिन्नासिनः त्रसत्यावराचनेकविक-
ल्पान् प्राणिनः तदधिकरणानदृष्टविशेषानपि तद्वेतुफलविकल्पेन प्रत्याययन्ति, अन्यथा तत्पिशु-
नतया तत्प्रतिपक्षेणुपपत्तेः । तत्कथमशेषविषयमेव ततस्तत्र साधितं भवेदेतदेवाह—]

ग्रहादिगतयः सर्वाः सुखदुःखादिहेतवः ।

15

येन साक्षात्कृतास्तेन किञ्च साक्षात्कृतं जगत् ? ॥४१४॥

[§ ४८०. साम्प्रतं परस्य निर्वन्धाङ्गिण्वलोपनिबन्धनत्वे सत्यपि तस्य सूक्ष्मादिपदार्थ-
साक्षात्करणमवरयम्भातीति दर्शयन्नाह—]

सूक्ष्मान्तरितदूरायाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥४१५॥

20

[§ ४८१. भवत्येव तत्प्रसङ्गसाधनं यदि ग्रहणस्यादिक्रममनुमानतः प्रतिपक्ष कश्चिदुप-
दिशेत्, न चैवम्, तच्छास्त्रस्य वेदाङ्गत्वेनापौरुषेयस्य उपदेष्टुरभावात्, एतदेवाह—]

वेदस्यापौरुषेयस्य स्वतस्तत्त्वं विवृण्वतः ।

आयुर्वेदादि यद्यङ्गम् ;

[§ ४८२. अत्रोत्तरमाह—]

25

यन्नस्तत्र निरर्थकः ॥४१६॥

[§ ४८३. स च पुरुष तदर्थसाक्षात्कार्येण नापरः ---तदेव दर्शयन्नाह—]

शास्त्रज्ञानं तथैव स्यात् सामग्रीशुण्णदोषतः ।

[§ ४८४. प्रयत्नसापेक्षत्वेन तत्र नित्यत्वविरोधस्याभिधानात् । तदविरोधेऽपि दूषणमाह—]

अविरोधेऽपि नित्यस्य भवेदन्धपरम्परा ॥४१७॥

30

[§ ५२०. तत्र [प्रवचनं] सन्निष्ये सप्तमज्ञा प्रवर्तते इति, तद्विनिश्चयं कुर्वन्वाह—]

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविभागतः ॥४५१॥

स्याद्विविधप्रतिषेधान्यां सप्तमङ्गी प्रवर्तते ।

[§ ५२१. तत्र प्रथमद्वितीयौ तद्भावभावयोः प्रत्येकं प्रतिपत्तिर्याम्, तृतीयस्तु बहुभ्य-
5 जिज्ञासायाम् । तदेवाह—]

तदतद्वस्तुभेदेन बाधोद्भूतेस्तथोभयम् ॥४५२॥

[§ ५२२. चतुर्थस्तु युगपत्प्रतिपत्तिर्याम् वचनप्रवृत्तेरसंभवात्तदाह—]

तदतद्वागवृत्तेऽत्र,

[§ ५२३. पञ्चमादिमङ्गत्रयं तु प्रथमाके प्रत्येकं जिज्ञासया चतुर्थेन सम्मेलनात्तदेव
10 निवेदयति—]

सह तद्वागवृत्तिना ।

[§ ५२४. तर्हि कियर्थोऽयं स्यादेवकारप्रयोगः विनापि तेन भङ्गविकल्पानामुपपत्तेरिति
चेदुच्यते—]

प्रयोगविरहे जातु पदस्यार्थः प्रतीयते ॥४५३॥

15 स हि शब्दार्थत्वस्वज्ञैस्तस्येति व्यपदिश्यते ।

[§ ५२५. किं स्यात्कारादेः प्रतीतिार्थस्य प्रयोगेन इति चेन्नापमुपालम्भो लोका (के)
प्रतीतिार्थानामपि प्रयोगप्रतीतेरिदमेवाह—]

अहमस्मीति वाक्यादौ सिद्धावन्यतरस्थितेः ॥४५४॥

उभयोक्तिवदत्रोक्तौ उपालम्भो विरुद्धयते ।

20 [§ ५२६. प्रकारान्तरेणापि स विरुद्धते इति दर्शयति—]

यदि केचित् प्रवक्तारो वृत्तिवाक्यार्थयोरेषि ॥४५५॥

सूत्रेष्वेव तयोरुक्तौ त्रैलोक्यं किञ्च वर्तते ? ।

[§ ५२७. तर्हि स्यात्काराविप्रयोगोऽपि सफल एव तद्विषये मन्दमतीनां भावादेतदेवाह—]

केवलं प्रतिपत्तारः स्याद्वादे जडवृत्तयः ॥४५६॥

25 [§ ५२८. परत्रापि जडवृत्तय इति दर्शयति—]

जातितद्भवदपोहादिवादश्च न हि जानते ।

[§ ५२९. के तर्हि स्याद्वादमनुरुन्धते यदि सौगतदयो जडवृत्तय इति चेदत्राह—]

सर्वथैकान्तविश्लेषतत्त्वमार्गाव्यवस्थिताः ॥४५७॥

व्याख्यातारो विवक्षातः स्याद्वादमनुरुन्धते ।

[§ ४२५. यदि चायं निर्वन्धः तथामृतमाऽपि प्रत्यभिज्ञया प्रतिक्षेपान्नित्यः शब्द एवेति । तत्राह—]

यदि चैवंविधो नित्यो नित्यास्ते विबुधादयः ।

प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाणं स्याद् युगपद्विभक्तदेशयोः ॥४२६॥

[§ ४२६. मवतु ततस्तत्राप्यभेदप्रतिपत्तिरिति चेदत्राह—]

5

सर्वार्थानामनादित्वे स विशेषो निराश्रयः ।

योऽन्यथासम्भवी शब्दघटाद्याख्योऽवभासते ॥४२७॥

[§ ४२७. तदुच्चारणस्य पारार्थ्यान्ययानुपपत्त्या नित्य एव शब्दः इति चेदुत्तरमाह—]

स वर्णपदवाक्यानां कालदेशादिभेदिनाम् ।

सहशानां प्रबन्धोऽयं सर्वेषां न विरुध्यते ॥४२८॥

10

[§ ४२८. कयं पुनरसति नित्यत्वे शब्दस्य प्रामाण्यमिति चेत्, क एवमाह—तस्य प्रामाण्यमिति, सम्यग्ज्ञानस्यैव तत्त्वात् । शब्दस्य तु तत्त्व तत्कारणत्वेन उपचारात् । न च तदेतत्त्वमपि नित्यत्वात्, अपि तु तदर्थविदिपुरुषपूर्वकत्वात्, एतदेव दर्शयन्माह—]

वाचः प्रमाणपूर्वायाः प्रामाण्यं वस्तुसिद्धये ।

स्वतः सामर्थ्ययिष्ठेषात् सङ्केतं हि प्रतीक्षते ॥४२९॥

15

[§ ४२९. तदेवमेकैकधा समयप्रतिपत्तिसमवेनोपपन्नं तत्प्रतीक्ष्यैवार्थि(वार्थ)प्रत्यायकत्वं वचनस्य । तदनेकत्वमेव दर्शयन्माह—]

स पुनर्बहुधा लोकव्यवहारस्य दर्शनात् ।

शब्दार्थयोर्विकल्पेन सन्निवेशोऽनुवर्तते ॥४३०॥

[§ ४३०. यदि पुनः शब्दस्य वस्तुनि स्वत एव योग्यत्वं को दोषो येन सङ्केतस्तत्रा- 20 पेक्ष्यते ? इति चेदुच्यते—तत्सर्वविषय नियतविषय वा ? पूर्वविकल्पे ततो युगपत्सर्वार्थप्रतीति- प्रसङ्गात्, तथा च न ततो नियतविषयप्रवृत्त्यादिरिति व्यवहारविलोपः । तत आह—]

न सर्वयोग्यता साध्वी सङ्केतान्नियमो यदि ।

[§ ४३१. द्वितीयविकल्पे दोषमाह—]

सम्बन्धनियमेऽन्यत्र समयेऽपि न वर्त्तताम् ॥४३१॥

25

[§ ४३२. कस्तर्हि तयो. सम्बन्ध- ? इत्याह—]

न हि शब्दार्थसम्बन्धो यतोऽर्थः सम्प्रतीयते ।

तादृशो वाचकः शब्दः सङ्केतो यत्र वर्त्तते ॥४३२॥

[§ ४३३. तत्र सौगतमते शब्दस्य संभवो वर्णस्यैव अनवस्थितो (तेः) तन्त्रमान्यनः पदादेरप्यव्यवस्थितेः । एतदेवाह—]

30

[§ ५३८. भगवतोऽज्ञानपेक्षदर्शनत्वात्तदाह—]

अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम् ।

[§ ५३९. सर्वार्थावलोकनमेव दर्शयन्नाह—]

शास्त्रे दुरवगाहार्थतत्त्वं दृष्टं हि केवलम् ॥४६६॥

5 **ज्योतिर्ज्ञानादिबत्सर्वं स्वत एव प्रणेतृभिः ।**

[§ ५४०. तद्वत् अन्यदपि सर्वं तत्तैर्दृष्टमेव अन्यथा तद्विषयानुपदेशाल्लिङ्गानन्वयव्यतिरेकाविसंवादिशास्त्रप्रणयनानुपपत्तेः । अनुपदेशादयः प्रणयनविशेषणत्वेन संहता एक (एव क) स्माद्धेतवो न प्रत्येकमपीति चेदत्राह—]

सङ्घातो हेतुरेतेषां पृथगन्यत्र सम्भवात् ॥४६७॥

10 [§ ५४१. ततो न सुगतादीनां प्रणेतृत्वं तदभावात् । तत्र च दोषमाह—]

एवं हि सुगतादिभ्यो वरमीक्षणादयः ।

[§ ५४२. अर्हतामपि किं तत्त्वदर्शित्वकल्पनया शास्त्रादेव अनुष्ठेयार्थप्रतिपत्तेः, तस्य च संवादादेव प्रामाण्यावगमात् इति चेदत्राह—]

शास्त्रं तल्लक्षणव्याप्तं सर्वज्ञादेरबाधनात् ॥४६८॥

15 **अपौरुषेयवृत्तान्तोऽन्यत एव विरुद्धयते ।**

[§ ५४३. सम्प्रति शास्त्रार्थमुपसंहरन्नाह—]

प्रत्यक्षमज्ञसा स्पष्टमन्यच्छ्रुतमविम्वम् ॥४६९॥

प्रकीर्णं प्रत्यभिज्ञादौ प्रमाणे इति सङ्ग्रहः ।

[§ ५४४. साम्प्रतं परोक्षविकल्पानां प्रागुपवर्णितमपि प्रामाण्यमनुस्मरणार्थं पुनरुप-
20 दर्शयिषुः प्रथमं तदाद्यत्वात् स्मरणज्ञानस्योपदर्शयति—]

इदमेवमिति ज्ञानं शृङ्गीतग्रहणेऽपि नः ॥४७०॥

[§ ५४५. साम्प्रतं तर्कस्य प्रामाण्यं दर्शयितुमाह—]

प्रत्यक्षेऽर्थेऽन्यथारोपव्यवच्छेदप्रसिद्धये ।

अनुमानमतो हेतुव्यवच्छेदेऽनवस्थितिः ॥४७१॥

25 [§ ५४६. साम्प्रतमुपमानस्य प्रत्यभिज्ञाविशेषत्वेन प्रमाणान्तरत्वमुपाचिकीर्तुः तदेव तावत्परि (तावत्पर) कल्पनामादर्शयति—]

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।

[§ ५४७. तान् प्रति अतिप्रसङ्गं दर्शयन्नाह—]

रागादयः सजातीयपरिणामामिदृक्ष्यः ॥४४२॥

सूचयन्ति हि कर्माणि खहेतुप्रकृतीनि च ।

[§ ५११. साम्प्रतं 'तत्त्वज्ञान' इत्यादिना उक्तमपि कर्मेनिर्जरं विनेयजिघृक्षया स्पष्ट-
मभिषिक्तुराह—]

सात्मीमावाद्विपक्षस्य सतो दोषस्य सङ्क्षये ॥४४३॥

5

कर्माश्लेषः, प्रवृत्तानां निवृत्तिः फलदायिनाम् ।

[§ ५१२. कुतः पुनः विपक्षस्य सात्मीमानः ? इत्याह—]

प्रतिपक्षस्थिरीभावः प्रायः संस्कारपाटवात् ॥४४४॥

[§ ५१३. के पुनस्ते दोषाः येषां तद्भावनाविपक्षभावेनोपेक्ष्यते इति चेदत्राह—]

निर्हासातिशयो येषां तत्प्रकर्षापकर्षयोः ।

10

[§ ५१४. तत्र तस्य [नैराल्पस्य] भावना, तत्संभवेऽपि न किञ्चित्फलमित्यावेदयति—]

यथप्यनात्मविज्ञानभावनासंभवस्ततः ॥४४५॥

न निरोधो निरोधे वा न प्रयोजनमीक्ष्यते ।

[§ ५१५. तत्र सौगतकल्पितो मोक्षः, तदभावाच्च तन्मार्गत्वम् । अनात्मविज्ञानामियो-
गस्य नैराल्पज्ञानस्य मिथ्यात्वाच्च न तदभ्यासस्य मार्गत्वमित्यादर्शयति—]

15

हेयोपादेयतत्त्वार्थविपरीतव्यवस्थितेः ॥४४६॥

मिथ्याज्ञानमनात्मज्ञं मैथ्यादिप्रतिरोधतः ।

[§ ५१६. साम्प्रतं क्षमते प्रमोदादेर्विषयभावादिना विधानमुपपन्नमिति दर्शयन्नाह—]

तत्त्वार्थदर्शनज्ञानचारित्र्येषु महीयसाम् ॥४४७॥

आत्मीयेषु प्रमोदादिरत एव विधीयते ।

20

[§ ५१७. न चैवमवस्थितस्यापि सुगतस्य क्वचिन्मैथ्यादिकं संभवतीत्याह—]

यस्तावत्करुणावत्त्वात्तिष्ठत्येव हि चेतसाम् ॥४४८॥

सन्तानः स परोच्छेदाच्च समत्वं प्रपद्यते ।

[§ ५१८. तत्र उच्छेदात्मा मोक्षः संभवति । कस्माद् हि कर्तव्य इत्याह—]

तस्माच्चिरात्सवीभावः संसारान्मोक्ष उच्यते ॥४४९॥

25

सन्तानस्यात्मनो वेति शब्दमात्रं तु मियते ।

[§ ५१९. एकान्तनित्यत्वेन (त्वे) विनश्यैकान्तवन्निर्वाणस्यैवाभावप्रसङ्गादेतदेवाह—]

नित्यस्येच्छा प्रधानादियोगोऽनित्यः किमात्मनः ॥४५०॥

मिथ्याज्ञानादनिर्मोक्षः तथाऽनेकान्तविद्विषाम् ।

नैकान्तक्षायिकाणामतिशयमवदन्नैव नानार्थसाध्यम्,
 नैष्ठिकञ्चन्यं तपो वाऽविगलितसकलक्लेशराशेर्विनाशे ।
 निष्पर्यायं प्रवृत्तं सकलविषयगं केवलं वेद नित्यम्,
 योऽयं तस्मै नमामः त्रिसुवनगुरवे शम्भवे शान्तये ते ॥४७९॥

5 [§ ५५७. पुनरपि शासनस्यारोप्यत्व फलवत्त्वेन दर्शयन्नाह—]

युक्तायुक्तपरीक्षणक्षमधियामत्यादराधिनाम्,
 संसेव्यं परमार्थवेदसकलध्यानास्पदं शाश्वतम् ।
 लोकालोककलावलोकनबलप्रज्ञागुणोद्भूतये,
 आभव्यादकलङ्कमङ्गलफलं जैनेश्वरं शासनम् ॥४८०॥

10

इति न्यायविनिश्चये तृतीयः प्रवचनप्रस्तावः ॥

[समाप्तश्चायं ग्रन्थः]



[§ ५३०. प्रमाणप्रसिद्धत्वादेव अनेकान्ते संशयादिदोषप्रसङ्गोऽपि प्रेक्षावतां नावत-
तीत्याह—]

अनेकलक्षणार्थस्य प्रसिद्धस्याभिधानतः ॥४५८॥

संशयादिप्रसङ्गः किं स्याद्वादेऽमूढचेतसः ? ।

साकल्येनेह सामान्यविशेषपरिणामधीः ॥४५९॥

5

मिथ्यैकान्तप्रवादेभ्यो विदुषो विनिवर्त्तयेत् ।

[§ ५३१. कथं पुनः शासनत्वाविशेषेऽपि शासनान्तरपरिहारेण भगवदर्हन्मशासनत्वेन
प्रामाण्यमित्यारेकाया तथा तदर्शयन्नाह—]

आप्तवादः स एवार्थं यत्रार्थाः समवायिनः ॥४६०॥

प्रमाणमविसंवादात्,

10

[§ ५३२. कथं पुनः दृष्टागमविरोधविकलतया प्रमाणमप्यनेकान्तवादः.....सकलवेदिन
एवेति निश्चयः ? कथं वा यथोक्तगुणोपपन्नोऽपि कचिन्मिथ्यावचनानामप्रणेता इत्येव निर्णयः ?
वीतरागाणामपि सरागवच्छेदासंभवादेतदेव दर्शयति—]

प्रणेता यदि शङ्क्यते ।

[§ ५३३. प्रथमशङ्कायामुत्तरमाह—]

15

आत्मा योऽस्य प्रवक्ताऽयमपरालीढस्तत्पथः ॥४६१॥

नात्यक्षं यदि जानाति नोपदेष्टुं प्रवर्त्तते ।

[§ ५३४. द्वितीयशङ्कायामप्याह—]

परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ॥४६२॥

अदृष्टदोषाशङ्कायामन्यत्रापि प्रसज्यते ।

20

[§ ५३५. ततः स्वसंवेदनं प्रमाणयता प्रवचनमपि प्रमाणमभ्युपगन्तव्यम् अविशेषात् ।
एतदेवाह—]

प्रत्यक्षागमयोरिष्टं प्रामाण्यं गुणदोषयोः ॥४६३॥

उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां कचिद् वृत्तसमत्वतः ।

[§ ५३६. तदेवं प्रवचनस्य प्रामाण्ये यत्सिद्धं तदर्शयन्नाह—]

25

तथा साक्षात्कृतादोषशास्त्रार्थोऽक्षानपेक्षणात् ॥४६४॥

सद्वृत्तकेवलज्ञानः सर्वज्ञः सम्प्रतीयते ।

[§ ५३७. सकलाकारपरिच्छयानिर्भूतमपि कथं तदशेषविषयमिति वेदत्राह—]

ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते ? ॥४६५॥

1
2
3

4
5
6
7
8
9
10
11
12
13
14
15
16
17
18
19
20
21
22
23
24
25
26
27
28
29
30
31
32
33
34
35
36
37
38
39
40
41
42
43
44
45
46
47
48
49
50
51
52
53
54
55
56
57
58
59
60
61
62
63
64
65
66
67
68
69
70
71
72
73
74
75
76
77
78
79
80
81
82
83
84
85
86
87
88
89
90
91
92
93
94
95
96
97
98
99
100

यदि किञ्चिद्विशेषेण प्रमाणान्तरमिष्यते ॥४७२॥

प्रमितोऽर्थः प्रमाणानां बहुभेदः प्रसज्यते ।

[§ ५४८. तर्हि स्मरणादिकं किन्नाम प्रमाणमिति चेद्वाह—]

सर्वमेतच्छ्रुतज्ञानमनुमानं तथाऽऽगमः ॥४७३॥

[§ ५४९. कथं पुनरागमः प्रमाणमिति चेद्वाह—]

5

सम्प्रदायाविधातेन यदि तत्त्वं प्रतीयते ।

[§ ५५०. किं पुनः प्रत्यक्षं किं वा परोक्षमित्यत्राह—]

आद्ये परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुराक्षसम् ॥४७४॥

[§ ५५१. कथं तर्हि मतिज्ञानस्यैव (वं) अवग्रहादिभेदस्य प्रत्यक्षत्वमुक्तम् आत्ममात्रापेक्ष-
त्वाभावादिति चेद्वाह—]

10

केवलं लोकबुद्धयैव मतेर्लक्षणसङ्ग्रहः ।

[§ ५५२. कथमागमस्य परोक्षत्वमुक्तम्—‘अनुमानं स्यागमः’ इति; तस्य अज्ञानत्वात्,
ज्ञानस्यैव चागमे परोक्षत्वकथनादिति चेद्वाह—]

स्याद्वादः अवगणज्ञानहेतुत्वाच्चक्षुरादिष्वत् ॥४७५॥

[§ ५५३. तत्किमिदानीं प्रमाणफलमित्याह—]

15

प्रमाणस्य फलं तत्त्वनिर्णयादानहानधीः ।

निःश्रेयसं परं वेति केवलस्याप्युपेक्षणम् ॥४७६॥

प्रत्यक्षं श्रुतविज्ञानहेतुरेव प्रसज्यते ।

[§ ५५४. प्रमाणवन्नयानामपि अविगमहेतुत्वं—“तेऽपि विप्रतिपत्तिनिरासेन निर्णेतव्यम्
(व्याः) इति चेद्वाह—]

20

इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः ॥४७७॥

[§ ५५५. तदेवं व्यवस्थापितप्रामाण्यस्य प्रवचनस्य शास्त्रान्ते प्रयोजनमाह—]

मिथ्यात्वं सौगतानां कणचरसमयं कापिलीयं प्रमेयम्,
प्रागल्भ्यं शाबराणां जिनपतिविहिताशेषतत्त्वप्रकाशे ।

पर्याप्तत्वं व्यपोहन्नुपहसनमयं प्रस्तुवन्न्यायमार्गे,

25

स्याद्वादः सर्ववादप्रवणगुणगणः श्रेयसे नोऽस्तु नित्यम् ॥४७८॥

[§ ५५६. किं पुनस्तच्छ्रेयो यदर्थत्वं स्याद्वादस्याशास्यते इति चेत् ? सकलावरणपरि-
क्षयविजृम्भितं केवलज्ञानमेव । तदेवाह—]

स्थूलस्य कस्यचिद्दर्शनात्, अन्यथार्थी नियम वैस्यद्येच्छा वृत्तयः (?) सङ्कलनान्तर-
वत् । न तादृशं सञ्चितालम्बनं युक्तम्; विविधान् विधानस्य (विवादानुविवादनस्य)
विकल्पनान्तरीयकत्वात् । तदेकान्ते परत्र को [ऽ] परितोषः ? सकृत्प (त्र) तिभास-
मेदः संविदात्मनः सन्तानान्तरवत् । तत्र मेदामेदसाधनो न मेदसाधनो न मेद-
5 प्रतिषेधो विषयवत्, विज्ञानसञ्चये पुनरसङ्गमादपरामर्शस्पर्शादिज्ञानयोगपक्षे तदर्थान-
न्तरमानसप्रत्यक्षेऽपि समानः प्रसङ्गः । तत्र अतीतविषयं परिस्फुटं युक्तम् अतिप्रस-
ङ्गात् । तदेवं विष्णुतवद् भावनातो निवर्त्तते । अचिन्तायां विकल्पसंहारे तथादृष्टौ
पुनर्भावयतोऽनिवृत्तेः ॥७॥

[१ २. सदर्थनियतं ज्ञानं फलं तत्त्वार्थनिर्णयः ।

10 तदभावे प्रमाणामं मानसं सविकल्पकम् ॥ ५ ॥]

§ ४. सदर्थनियतं ज्ञानम्, नहि सतोर्विषयविषयित्वेऽपि अनियमो आदृक्-
दुपचारस्यापि तत्रानुपयोगः । सम्भवत्यपि भावानां स्वभावमेदः । फलं तत्त्वार्थ-
निर्णयः, स्वार्थमात्राध्यवसायाभावे दर्शनस्य सञ्चिधानामेदेन दृष्टसजातीयामिला-
पास्मृतेः उभयव्यवसायोऽपि न स्यात् । तदभावे प्रमाणामम्, तिमिराद्यवग्रहः
15 प्रमाणं चन्द्रादिष्वविसंवादं न पुनः शुक्त्यादौ, तथाऽनभिनि (ऽमिनि) बोधे यथार्थदर्श-
नेऽपि विश्रवसम्मवात् । मानसं सविकल्पकम्, सुखादिरविकल्पप्रत्यक्षाप्रत्यक्षैकान्ते
न मानसं क्षणपरिमाणादेरप्रतिभासः केशादिविवेकवत् । परोक्षज्ञानार्थपरिच्छेदः परो-
क्षवत् । सत्यपि समानेतरपरिणामातिशये नानैकसन्तानात्मना (नां) तथाभावसङ्कर-
व्यतिक [र] व्यतिरेकाद् अन्वयिनोरस्त्वलत्समानैकप्रत्ययविषयत्वं परस्परपरिग्रहपरि-
20 णामाविनाभावी मतिश्रुतयो [ः] स्वार्थविवेको नियतोद्भवेतरविवर्त्तेन गुणवत्, उभयो-
पयोगलक्षणत्वादात्मनः ।

स्वनिश्चयफलापेतं मानाभासं सुषुप्तवत् ।

§ ५. स्वतो निर्णयात्मकं फलम्, प्रमाणान्तरानुभवनिर्णयं पुनर्मानामम् ।

शास्त्रार्थज्ञानसंवादः तत्प्रत्यक्षप्रसाधनः ॥ ६ ॥

25 § ६. सर्वमिथ्यैकान्तातीजा (ता) तिष्ठयज्ञानं प्रवचनम्, अतिकरणप्रत्यया-
त्यये सर्वथा सम्बन्धग्रहणायोगादन्वपरम्परयाऽनुपपन्नम् ॥७॥

कालेने (नै) तावता [ऽ] नासः कथं न प्रलयं गतः ? ।

§ ७. नहि शब्दः स्वतः प्रमाणं विप्रतिपत्तिदर्शनेन तदर्थोपलम्भसम्प्रदाया-
पेक्षः संवादसत्यप्रतिपत्तेः । दोषावरणक्षयोपशमप्रयोगातिशयवशाद् विज्ञानविशेषा-
30 नुपपत्तौ तज्ज्ञानमपि न प्रमाणम् । तदर्थदर्शनसमयसंवादे सममिहारेण प्रमाणान्तर-
प्रवर्त्तने सम्प्रदायाऽविच्छेदः ।

श्रीमद्भट्टकलङ्कविरचितः

॥ प्र मा ण स ड्ड हः ॥

तदामासौ विपर्याससंशयो (यौ) मतिविभ्रमात् ॥११॥

§ १४. न संशयो व्यवसायसादृश्यामिनिबोधनियमादनुद्धूतविकल्पो [५] नध्यवसायः, तदतद्विशेषाव्यवसायानियमप्रत्ययो विमर्शो [५] नध्यवसायः । विपर्यासः प्रत्यक्षप्रतिभासवैकल्येन हिताहितविवेकविरहः ॥छा॥

५ सम्भवप्रत्ययस्पर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः ।

अन्यथासम्भवासिद्धेरनवस्थानुमानतः ॥१२॥

§ १५. समक्षविकल्पानुस्मरणपरामर्शसम्बन्धामिनिबोधस्तर्कः प्रमाणम् । संवादसामर्थ्यभेदेन सहक्रमसंयोगभाविषु तथाभावाऽभावनियमनिश्चये न पुनरवग्रह-
व्यापारो विषयविषयिसन्निपातसमन्तरलक्षणत्वात् । नहि प्रतिबन्धनिर्णयात् आक्
१० सिद्धमनुमानम्, अनवस्था च ॥छा॥

विवर्त्तः सर्वथैकान्ते विरुद्धः पुरुषादिवत् ।

§ १६. प्रधानपुरुषकालपरमाणुस्वभावप्रवादेषु सहक्रमसंयोगवैस्य (वैस)-
रूप्यविरोधिचेतनेतरप्रभेदैकपरिणामे नास्मिन् विवादः सन्मात्राविशेषात् । अन्यथा
सर्वत् (सर्व) सर्वत्र सर्वथा स्यात् ॥छा॥

१५ नित्यमेकमनेकत्र निमित्तं समवायिनम् ॥१३॥

निरंशं कर्मसंयोगात् कारणं परिणामिनम् ।

§ १७. निमित्तम् उत्पत्तिमतां यदि नित्यं स्थित्युत्पत्तिविपत्तीनामक्रमः ज्ञाने-
च्छाकरणशक्तीनामव्यतिरेकात्, अन्यथा तदकर्तृत्वम् । तत्करणनियमे तुल्यः प्रसङ्गः,
व्यपदेशनियमाभावः, स्वतः सिद्धेः । तदुत्पत्तिमत्त्वेऽपि देशकालस्वभावानियमो
२० निर्हेतुकत्वात् । तद्धेतुत्वे पुनरक्रमः, तत्करणशक्तेस्तदात्मकत्वात्, व्यतिरेके समानः
प्रसङ्गोऽनवस्था च । सहसिद्धेः तद्वत्तायामात्मादेः तद्गुणत्वं सर्वत्र समवायाऽविशेषात् ।
नित्यानां स्वभावोत्पादवि(दावि)धातादनपेक्षा । तदन्यकरणे पुनरनिवृत्तः प्रसङ्गः ।
न कर्म संयोगकारणं सावयवविरोधात्, सर्वस्य परमाणुमात्रप्रचयो वा । परिणामेऽपि
निमित्तान्तरकल्पनायामनवस्था ।

२५ तत्रैकमर्थकृद् बुद्धेरानन्तर्यमनर्थकम् ॥१४॥

§ १८. एकमनेकत्र निष्पर्यायं प्रत्यवयवं न सर्वात्मना प्रत्येकं तत्स्वभावनै-
(वनै) कत्वविरोधात् । नैकदेशेन निरवयवानाम्, अन्यथा अनवस्था । 'वर्त्तते'
इति विज्ञप्तिभात्रेऽपि सर्वं समानम् । न चैतन्ममित्येव तदवयवविकल्पननिवृत्तिः ।
विभ्रमशून्यप्रतिपत्तिविप्रतिषेधः ।

३० इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम् ।

श्रीमद्भट्टाकलङ्कविरचितः

॥ प्रमाणसङ्ग्रहः ॥

१. प्रथमः प्रस्तावः



॥ नमः श्रीवर्द्धमानाय ॥

श्रीमत्परमर (स्परम) गम्भीरस्याद्वादाभोघलाञ्छनम् ।
जीयात् औलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ १ ॥

[§ १. प्रत्यक्षं विशदज्ञानं त्रिधा श्रुतमविष्टवम् ।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः ॥ २ ॥]

§ १. प्रत्यक्षं विशदज्ञानं तत्त्वज्ञानं विशदम्, इन्द्रियप्रत्यक्षम् अनिन्द्रिय- 5
प्रत्यक्षम् अतीन्द्रियप्रत्यक्षम् त्रिधा । श्रुतम् अविष्टवम् प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम् ।
परोक्षं *प्रत्यभिज्ञादि स्मरणपूर्वकम् । हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं द्वे एव प्रमाणे
इति शास्त्रार्थस्य सङ्ग्रहः, प्रतिभासमेदेन सामग्रीविशेषोपपत्तेः ॥ ३ ॥

प्रामाण्यमप्रसिद्धार्थक्यातेरर्थानुकारिणः ।

व्यभिचारादनिर्णीतं व्यावृत्तं सर्वतो गतम् ॥ ३ ॥

10

§ २. प्रमाणम् अच्युत्तञ्च (अच्युत्पन्न) सन्दिग्धविपर्यस्तार्थप्रतीतौ विषया-
नुविधायिनोऽकिञ्चित्कारेकाविपर्यासाऽनिवृत्ते (त्तेः) सर्वथा सारूप्यासंभवात् ।
अर्थोपलम्भाधवसायसामर्थ्ये अन्यकल्पनावैयर्थ्यं (धर्मा) त् । तज्ज्ञानसारूप्याध्यव-
सायस्य अन्यत्र वृत्तिः प्रान्तिकारणवत् । निष्कलानामेतच्च भवति, सकलव्यवच्छेद-
निर्णयाऽनिर्णयादिप्रसङ्गः ॥ ३ ॥

15

अक्षज्ञानमनेकान्तमसिद्धेरत्प (रप) राकृतेः ।

स्पष्टं सन्नितितार्थत्वाद् भावनातो निवर्तते ॥ ४ ॥

§ ३. चक्षुरादिज्ञानं सविकल्पकं सामान्यविशेषात्मविषयं वर्णसंस्थानादिभूतः

* प्रत्यभिज्ञा स्मृति ऋ

[§ ३. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम् ।

साध्याभासं यथा सत्ता भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः ॥२०॥]

§ २३. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम् । अव्युत्पत्तिसंशयविपर्या-
सविशिष्टोऽर्थः साध्यः । तत्र साधनसामर्थ्यम् । यथा सर्वं सामान्ये (न्य) विशेषात्म-
५ कमिति । ततोऽपरं साध्याभासम् । यथा सत्ता, सदसदेकान्तयोः साध-
नासम्भवाः, तदतदुभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वम् । भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः
विप्रतिपक्षयः सदसत्प्रमाणप्रमेयैकान्तात्म (त्मा) नो बहुप्रमेदाः प्रतिपन्नमिप्रायाणां
निरङ्कुशत्वात् ।

साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं यथा सति ।

10 प्रमेयत्वं निरंशानां प्रतिभासविरोधतः ॥२१॥

§ २४. साध्यार्थाऽसम्भवाभावनियमनिरचयैकलक्षणो हेतुः, सर्वमनेकात्मकं
प्रमेयत्वात् । नहि चक्षुरादिज्ञानमन्यद्वा स्वभावांतरविवेकेन ज्ञारुचिदे (जातुचिदे) -
कमाकारं विषयीकरोति । परस्परविश्लेषिणामणूनां भवतामप्यनुपलम्भः । विप्रतिपिद्धं
तादृशां वर्त्तनं सम्बन्धासिद्धेः, पृथक्सिद्धिप्रसङ्गः । शकला (सकला) वयवोपलम्भा-
15 सम्भवे तदग्रहः, तदवयवान्तरदर्शनादर्शनविरोधः ।

विश्वं सर्वगतं सत्त्वं व्यक्तं चेद् व्यक्तिभिः स्फुटम् ।

§ २५. एकमक्रमं सर्वव्यक्तिसामान्यमन्यतमाभिव्यक्तं स्वाश्रये यदि सतु-
प्र (सत्प्र) त्ययहेतुरविशेषेण सकलं सदै (दे) व प्रमेय (यम्) तद्विशेषे स्वभावहानिः ।

सर्वस्वाश्रयसम्बन्धे सामान्यं स्यात् प्रदेशवत् ॥२२॥

20 § २६. यदि सर्वगतं सामान्यं सर्वत्र विशेषप्रत्यस्तन (म) ये प्रत्ययसङ्करः ।
स्वाश्रयव्यापित्वे तथाऽनेकत्वम् । का अ विरिणो (आश्रयविरिणोऽ) वस्तुत्वम् ।
आश्रयाश्रयिभावोऽभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती सत्प्रत्ययकर्तृत्वाकर्तृत्वे सहकारिकारणापेक्षा-
विशेषतो निष्कलस्य युगपदनेकत्र वृत्तिः इति दुरन्वयम् । सतोऽपि तदाश्रयादर्शने
दर्शने च सावयवत्वम् ।

25 एकं चलं चलैर्नान्यैर्नष्टं नष्टैर्न चापरैः ।

आवृत्तै (तै) रावृत्तं (तं) रूपं रक्तं रक्तैर्विलोक्यते ॥२३॥

§ २७. विचित्रावयवात्मकमेकं बहिरन्तश्च कैश्चिदेव आत्मभूतैः अन्यैश्च
मात्राभेदैश्चलमचलम्, विनष्टमविनष्टम्, आवृतमनावृतम्, रक्तमरक्तम्, उपलम्भा-
नुपलम्भयोग्यं नापरैः, अनवस्थाप्रसङ्गः । तेनैव तदात्मकं युक्तं येनातिशयेन
80 वस्त्वन्तरं समवैति ।

अन्तरङ्गं स्वतः सिद्धमक्षादेर्व्यभिचारतः ॥ ७ ॥

§ ८. ज्ञानपरिणामव्यतिरेकिणो ब्रह्मविरोधात् । स्वयंप्रष्टुरलङ्घनार्हः स्वार्था-
लोकपरिस्फुटमवभासते सत्यस्वभावत् ॥८॥

एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्यकारणतेक्षणे ।

§ ९. चैतन्यस्वभावस्य शतः (सतः) सहक्रमसंयोगधर्मान्तरेभ्यो व्यावृत्ति-
रिति समवग्रहे स्फुटम् आत्मसहभाविना पूर्वापरकोटयोः अनाद्यनन्तयोरनवयवेन
परिज्ञानम् आवरणविगमे ।

परं ज्योतिरनाभासं सर्वतो भासमक्रमम् ॥ ८ ॥

§ १०. नातीन्द्रियमत्येव सर्वं [वि] त् सर्वत्र परिस्फुटं यथा ईक्षणिकादे [ः]
सकलज्ञानावरणपरिक्षये तु निराभासम्, सामान्यविशेषात्मनोऽयुगपत्प्रतिभासायोगात् । 10

लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ।

अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥९॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे प्रथमः प्रस्तावः ॥८॥



२. द्वितीयः प्रस्तावः

प्रमाणमर्थसंवादात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः ।

15

§ ११. इन्द्रियज्ञानं हिताहितप्रतिपत्तौ न वै साधकतय (सं) स्मृतिव्यवधा-
नात्, दृष्टसञ्ज (सजा) तीयसम्बन्धान्य (व्य) वसायनान्तरीयकत्वात् । अनधिगता-
र्थावग्रहेऽपि अर्थातिशयवैधुर्ये प्रवृत्तेरनङ्गमनध्यवसायादिनिमित्तम् । समधिगते पुनः
व्यामोहविच्छेदेन प्रमाणान्तरवत् ।

प्रत्यभिज्ञा फलं तस्याः प्रामाण्यं प्रतिपत्तिः ॥१०॥

20

§ १२. प्रत्यवमर्शः फलमपि प्रमाणम् उपादानादेः तदना (तच्चा) न्तरीय-
कत्वात् ।

द्रव्यसामान्यसंहारविषयः पुरुषादिवत् ।

§ १३. जीवादयो द्रव्यपदार्था विनियततद [त] त्परिणामसतन्व (तत्त्व)-
विवर्त्तग्रन्थिविकाराः कौमारादिवत् । सद्व्यपरिणामः सामान्यं यमलकवत् । समाराः 25
(भाग) विसभागयोरसाङ्कर्येण प्रत्यवमर्शः एकानेकस्वभावनियमः ।

४ चतुर्थः प्रस्तावः ।

अन्यथा [५] सम्भवो ज्ञातो यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ।

§ ३१ अनित्य आत्मादिः शरीरादेरनित्यत्वात् । नहि तत्परिणाममन्तरेण तद्विकारित्वं युक्तमिति । एतावता यदि प्रतीतिः किं सांध्यधर्मकल्पनया धर्मा-
 5 न्तरत्वात् ? उदेत्यति शक्यम् उद्गाद्गरणिः कृचिकोदयादिति । कालादिधर्मिकल्प-
 नायामतिप्रसङ्गः । शब्दानित्यत्वे चाङ्गुष्ठत्वादिरपि सिद्धः (?) । सात्मकं या (जी)
 वच्छरीरं प्राणादिमच्चादिति । चैतन्योपयोगादन्यत्रावृत्तौ सुषुप्तादिषु दर्शनादयुक्ता
 वृत्तिः । न शरीरपरिणामः तदग्रत्यक्षे (च) त्वे प्रत्यक्षः । तथाऽपरिणामिनः तद्गुणत्वे
 अमवस्था । सहभावनियमेऽपि अन्योन्यव्यपेक्षातोऽनादिसम्बन्धप्रसङ्गः, तदुभयत्रा-
 10 विशेषात् । पूर्वाम्यस्तस्मिन्नाविनामाविनः कचिद् गुणान्तरस्य लिङ्गतो जातिसरसंवा-
 देन निरञ्जस्य विग्रहव्याप्तिविरोधः । नानात्वे पुनरसम्भवः, प्रभवस्मृतिप्रत्यभिज्ञाद्यं
 (दि) विधातः । तथापरिणामे सकलदोषनिवृत्तिरित्यात्मभावसिद्धितः किमन्येन
 शब्दपरिणामे भावणत्वादिवत् ? पूर्वापरस्वभावपरिहारावासिलक्षणत्वाद् । उपाधि-
 प्रतिषेधे कृतकत्वादि वैश्वरूप्यं सत्ताव्यतिरिक्तं मा भूत् । सर्वस्य सतः तथा विप्रतिपत्तौ
 15 एकत्रानन्वये कथमुपसंहरेत् ? तद्विशेषानाक्षेपे किं साधनम् ? एकलक्षणानुपलक्षणे
 कार्यादिरगमत्व (मकत्वम्) । वचनपुरुषत्वानुपलब्धीनां कचिद् रागादि-सर्वज्ञता-
 भावसाधनसामर्थ्यवैधुर्यं (यं) व्याप्तिविशेषः कोऽपरोऽन्यथा [५] सम्भवात् ।

सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धयः ॥२९॥

§ ३२. स्वभावोपलब्धिः—यथा अस्त्यात्मोपलब्धेरिति । ज्ञानस्वभावपरिणा-
 20 भिनो विग्रहव्यापिन (नः) स्वसंवेदनेऽन्यवेदनम् । नहि सुखादयो मेदिनः संविद्वत्ते
 तथा [५] निर्णयात् । विग्रमकल्पनातो नान्योन्यमतिशयाते । स्वभावकार्योपलब्धिः—
 अभूदात्मा सरणात् । सत्यपि प्रभवसाक्षा (वस्या) तिष्ठत्ये तदसम्भवः, जन्यजनक-
 वद् विसदृशपरिणामेऽपि बालबुद्धवत् । स्वभावकारणोपलब्धिः—भविष्यति आत्मा
 सत्त्वात् । स्वभावान्तरपरिणामात्मकं भावलक्षणम् । सकलशक्तिविरहिणो निरुपा-
 25 ल्यत्वम् । स्वपरिणामविकलस्य परत्रासामर्थ्यम् । सहचरोपलब्धिः अस्या (अस्त्या)-
 त्मा स्पर्शादिविशेषात् । तादृशं लोको विवेचयति । सहचरकार्योपलब्धिः—अत्र वचनात्
 कायव्यापारः । अन्यव्यतिरेकानुविधानं सहचारिणो व्यापारं साधकतमत्वम् ।
 सहचरकारणोपलब्धिः—सकल आत्मा शरीरावयवमेदात् । तद्वृत्तिनान्तरीयकः
 संयोगः कार्यकारणयोः तथापरिणामः । तादृशः क्रमवृत्तेरप्रतिधातः । नानात्वेऽप्रति-
 30 सन्धानम् । एकस्य कालदेशान्तरव्यापित्वं प्रतिभासमेदेन रूपेतरयोर्दर्शनात् ।
 दर्शनवचद्वयौ तथा संश्लेषे सर्वथाऽसम्बद्धः प्रसङ्गः ।

§ १६. साधनस्य क्वचिदुपलम्भेऽपि विरोधाविरोधयोः तदर्थत्वात् । दोषा-
वरणपरिक्षये वचनदेः सम्भवो नान्यतः ।

अन्यथा सम्भवज्ञान (नं) कुतका भ्रान्तिकारणम् ॥१५॥

§ २०. विवक्षातो वाचोवृत्तेरन्यत्रानुपलम्भेन सर्वतः तदभावे व्यतिरेकचिन्ता
मिथ्योद्भिः, सुप्रमत्तयोः तदभावेऽपि दर्शनाद्, हेतुसन्निधानासन्निधानाविशेषः करण- ८
शक्त्यनुविधानात् ।

विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता ।

वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः ॥१६॥

§ २१. शरीरं यदि गुणदोषकारणं तन्निर्हासातिशयानुविधानम् । तेषां शरीर-
स्थितिहेतुत्वे तत्रानुपरमः स्यात् । दोषावरणकारणत्वे तत्प्रकर्षापकर्षाविरोधः । तदा- 10
त्मकत्वे पुरुषस्यैकभावे निवृत्तिः चैतन्यवत् । तद्गुणदोषानुविधायिनी वर्णपदवा-
क्यानुपूर्वी दोषा(जा)तिं विशेषयेद्, विवक्षायामपि अविषये स्वयमप्रवृत्तेः ।

प्रत्यक्षनिर्णयाकृते सामान्यानुस्मृतिस्ततः ।

प्रत्यभिज्ञा ततस्तर्कः ततः साध्यपरिग्रहः ॥१७॥

आत्मैव मतिमा (मान्) दृष्टसामान्याभिनिबोधतः ।

15

परोक्षेऽप्यविनाभावमुपैति श्रुतपाटवात् ॥१८॥ ॥॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे द्वितीयः प्रस्तावः ॥



३. तृतीयः प्रस्तावः

अनुमानसमासार्थमनुमानमतः परम् ।

प्रमाणं कचिदेकस्य विधानप्रतिषेधयोः ॥१९॥

20

§ २२. साध्याविनाभावे सहक्रमसंयोगलक्षणे साधनस्य साक्षात्कृते साध्य-
(ध्या) र्थसमाक्षिप्तः तत्र स्मृतिविकल्प (ल्पः) कुतश्चित् प्रमाणम्, कथञ्च ऊहादिः ?
स्वसंबेदनेऽपि समारोपव्यवच्छेदामावात्, इव (इत) रथा विप्रतिपत्तेरनन (नु) मानम्,
स्वतो [५] सिद्धस्य साधनान्तरेऽप्यनवस्था । अयुक्तम्- § १.) “ नाऽप्रत्यक्षमनु-
मानव्यतिरिक्तं मानम् ” इति । सर्वत्र संवादाविशेषे तद्विधिप्रतिषेधयोर्विप्रतिषेधः 25
शास्त्रानुमानवत् ।

स्वभावविरुद्धव्याप्यव्यापककार्यकारणोपलम्भानुपलम्भप्रयोगभेदाः प्रत्यक्षेऽपि विवादवृत्तयो निर्णये नियमेन परीक्षामपेक्षन्ते । तदर्थसाधनं सर्वत्र ज्ञानशब्दव्यवहारसाधनम् ।

अध्यक्षस्यापरीक्षत्वादनुमानं (न) परम्परा ।

5

अविनाभावसम्बन्धेऽप्यन्तर्व्याप्त्याऽवतिष्ठते ॥३२॥

§ ३६. बहिर्दर्शनादर्शने धर्मिधर्मस्य न लिङ्गिलक्षणं तन्दुलपाकादिवत् । तन्नैतावता व्याप्तिः अन्यत्र विचारात्, यतो व्यापकं निवर्त्तमानं व्याप्यं निवर्त्तयेत् । कस्यचिद्वग्रहमात्रं नित्यानित्ययोः विरोधाऽविरोधात् नियमं न परीक्षते अतिप्रसङ्गात् । तदनुमानपरम्पराऽपि अनवस्था । प्रस्य दर्शनपाटवादिमतः स्वतो विवेच-
10 कत्वाद् विप्रतिपत्तिनिवृत्तिः । अविषयेऽन्यस्यावृत्तिः । तदाश्रयत्वाच्च सर्वत्र दृष्टान्तो नावश्यं बहिः ।

अपेक्षः सदनै(नि)कान्तं सम्पश्यद्विः (द्विः) समीक्षकैः ।

अन्यथायोगतः सर्वं [ः] तथैवेत्यनुमीयते ॥३३॥

§ ३७. साध्यसाधनयोः स्वभावप्रतिबन्धे साक्षात्कृतेऽपि साकल्येन व्याप्तिः
15 परीक्षातः । तद्विभ्रमकल्पनार्यां प्रकृतमकृतं स्यात् । तदामासाविशेषे कादाचित्कसंवाद-
स्याप्रतिबन्धेऽपि सम्भवत्त्वलक्षणयोगे व्यभिचारः, समीक्षाकारिणः पुनरविप्रतिसारः ।
तत्र सर्वत्र विभ्रमोपलम्भो [ऽ] विशेषात् । सतामेकान्तानेकान्तविच्छेदपरिच्छेदयो-
रभेदप्रत्यनीकस्वभावविधिविप्रतिषेधप्रतिबद्धे ।

प्रत्यक्षस्यापि सामग्रीप्रतिभासविशेषतः

20 § ३८. मतिश्रुतयोः प्रतिभासभेदेऽपि परमार्थैकतानत्वम् । सामग्रीभेदे प्रत्य-
क्षवर्त्तासं (वत्त्वांशं) मात्राभिनिबोधे नान्यार्थेऽन्यव्यवच्छेदः । अविषये स्वयमप्रवृत्तेः ।
अयथार्थात्मावभासविच्छेदः परोक्षमात्मानं कथञ्चिद् विदधतो विच्छेदेन बहिरर्था-
वलम्बनम् असाधारणनिर्मासविरहिणोऽपि अविरुद्धम् ।

ज्ञस्य विभ्रमसंश्लेषे कथञ्चिद्भ्रान्तिरात्मनि ॥३४॥

25 सर्वथा विभ्रमे तस्य विभ्रमोऽपि न सिद्ध्यति ।
यथा विभ्रमविच्छेदाज्ज्ञानात्यन्तरितं स्वयम् ॥३५॥
तथाऽर्थजातिधर्माणां तत्र सम्प्रतिपत्तितः ।

§ ३९. चेतनस्य सतः कथाश्चित्त्वमावाप्रतिपत्तौ न वै निमित्तान्तरमन्यत्र
विभ्रमात् । अन्यथा सुप्तप्रबुद्धाविशेषप्रसङ्गश्च (ज्ञः । उ) पलचितसुखादिविज्ञानस्वल-
80 क्षणक्षणक्षयादिविशेषानुपलक्षणे दूरासत्तादिदेशस्य पुरुषैकविषयोपलम्भवत् । कचिद्

खलक्षणमसङ्कीर्णं समानं सविकल्पकम् ।

समर्थं खगुणैरेकं सहक्रमविवर्त्तिभिः ॥२४॥

§ २८. उदयस्थितिसंहारलक्ष [ण] स्य सतः प्रतिभासादिभेदाभेदान्यां भेदा-
भेदप्रसिद्धिः, आत्मप्रतिबन्धेन तथा परिणामात् संशयविरोधवैयधिकरण्योभयदोष-
प्रसङ्गाऽनवस्थासङ्कारभावकल्पनाम् अन्योन्याविवेकप्रतीतिः अतिशेते । जात्यन्त- 5
राधिगमे मेघकादिवत् सत्यपि वैश्वरूपे तथापरिणामेन समानशक्तीनामेकत्वम् ।
तेनैव तत्समं कर्तव्यमिति नियमाभावात् । नहि सहकारिणां शक्तिसङ्करः । व्यक्ति-
वदेकैकस्य सकलशक्तियोगे सहकारिकारणापेक्षा मा भूत् । समग्राणां तदेकामिव्यक्तौ
युक्तः तदेककार्यः प्रादुर्भावः । प्रधानपुरुषयो [ः] शक्तिसङ्करप्रसङ्ग [ः] । गुणा-
नाञ्च न कर्तृत्वम्, अन्यत्राभिव्यक्तेः । तदिमे सामान्यविशेषात्मानो न सङ्कीर्यन्ते । 10

विज्ञानस्यैकरूपत्वे विज्ञेयस्याऽविशेषतः ।

§ २९. 'प्रतिभासभेदेऽपि बुद्धेरेकत्वम्' इति विरुद्धं पश्यामः । सर्वस्यैकांशमा-
त्रालुपङ्गः संवित्स्वभावस्य ते तयोत्पत्तिरेव संवेदनम्, अन्यथा एकत्रापि 'क्षणिकत्ववि-
ज्ञप्तिमात्रता सन्तानान्तरविवेक' इति न स्वतो नान्यतः । वितथनिर्भासाऽविशेषे वृक्षादि-
दर्शिनः स्वांशमात्राविग्रहविकल्पैर्न तत्त्वप्रतिपत्तिव्यापारव्याहारप्रतीतिः । विस्मवेऽपि 15
सर्वथा विग्रमे विग्रमासिद्धिः । अनेकात्मकत्वे बाह्यार्थे कोऽपरितोषः ? सर्वथा
विरोधपरिहारस्य कर्तुमशक्तेः । स्वसंवेदनमात्रस्य कदाचिदलुपलम्भे यथोपलम्भं
विप्रतिषेधेन शून्यताप्रतिपत्तेरशून्यतालुपङ्गः । तथाहि—

नाभावस्य प्रमेयत्वं न भावस्याऽप्रमेयता ॥२५॥

§ ३०. सर्वथा सतः प्रतीतौ अनिवृत्तिः । असदुपलम्भो विप्रतिषेधः । अर्थाभा- 20
वविकल्पस्य स्वविषयत्वम् । कस्यचित् कैवल्यमपरस्य वैकल्यम् । तदेतत् प्रमेयत्वमवि-
तत्त्व (थ) प्रत्ययात्मकं प्रमातरि प्रत्यक्षं प्रमेयधर्मतया तदधिगमयोग्यं स (स्व) भावः,
परोक्षं च । विषयद्वैविध्येन सञ्चवहारलक्षणं प्रमेयमेव । सर्वत्र सर्वथा भावे विरोधः ।

परापरविभागैकपरिणामविशेषतः ।

तान्येव पश्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः ॥२६॥

25

प्रमाणमात्मसात्कुर्वन् प्रतीतिमतिलङ्घयेत् ।

वितथज्ञानसन्तानविशेषेषु न केवलम् ॥२७॥

तत्र चित्रं भवेदेकमिति चित्रतरं ततः ।

चित्र (त्रं) शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्रतमं ततः ॥२८॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे तृतीयः प्रस्तावः ॥३॥

80



रूपकारः । तथा नित्यानां परस्परतो हेतुफलाभावः । निर्व्यापारेषु व्यापारसमारोपः क्रमयोगपद्यासम्भवो न कारकज्ञापकव्यवस्था पारमार्थिकी । तदाकस्मिन्कत्वे देशकालस्वभावविनियमायोगः । इष्टविधातकृतदे (कृदे) कस्य पूर्वापरस्वभावपरिहाराऽवाप्तिनान्तरीयकत्वादर्थसिद्धेः, इत्यनिभि (श्चि) तविपक्षव्यावृत्तिरनैकान्तिकः । कौटस्थो 5 (स्थे) विक्रियाविरोधः । क्षणिकत्वे सर्वथानन्वयः । जात्यन्तरे वितर्कयतः सम्मोहः । कृतकत्वादिषु समानश्वर्षः ।

जरत्खन्तरोपलम्भेन कथञ्चित्सकलग्रहः ॥४१॥

अतर्का (त्का) र्यव्यवच्छेदेऽप्यर्थमात्रोप्र (प) योगतः ।

§ ४१. स्वतो व्यतिरेके न उपाधयः स्युरि (र) तिप्रसङ्गात् । तथा दृष्टे प्रमा-
10 णान्तरवृत्तिर्न, एकोपावि(पाधि)प्रतिपत्तेः श(स)कलग्रहनान्तरीयकत्वात् । अन्यथा अनवस्थाप्रतीतिः । समारोपव्यवच्छेदे समानः प्रसङ्गः तत्परिच्छेदाऽविशेषः । इतरथा विपक्षानतिशयनात् । स्वतो निर्णयस्य अतद्हेतुफलापोहनिर्णयः, स्वविषय-
निश्चययोरविनाभावः, परतोऽनवस्था च । नहि निर्णयस्य स्वरूपमन्यदपि निर्णयात् । स पुनः अवश्यमात्मानं व्यवसाययत् (यन्) सकलं न्यायविषयीकरोति । सर्वथा
15 तदतद्भ्रान्तिविच्छेद एकत्र निश्चयसमारोपविधात्तात्, तदेतदपि गण्यपदमयाद् अल-
गम्यखकुदरपरिपतनमनुसरति । तस्मान्न भेदाऽभेदप्रतिपत्तिः उभयत्र व्याघाता [त्] ।
क्वचिदनयोरवाच्यतायां तद्वैकल्यम् । अतो न दृष्टाह् गरिष्ठमिष्टम् ।

§ ४२. प्राणादीनाम् अन्यथानिश्चितं सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि । स्वय-
मदृश्येऽपि न्यायस्य प्रविजृम्भणात् । प्रभवाभावविरोधप्रसिद्धिः व्याधिभूतग्रहादिवत् ।
20 अतः साकल्येन चलनोच्चान्यः (?) तादृशो विप्रतिषेध इत्यनभि (मिनि) निबोधनैकान्ति-
कत्वम् । अदृश्यानुपलम्भादभावाप्रसिद्धेः घटादीना(नाम्) नैरात्म्यासिद्धौ प्राणादेर-
निवृत्तिः इति तमासा (तमसो) नैर्घृण्यात् ।

§ ४३. चलानां तनुकरणश्रुवनादीनां सन्निवेशादेः अन्यथा निर्णीतं सर्वं
(सत्त्वं) विरुद्धमचलात्मनि । विप्रकृष्टेऽपि न्यायस्य विजृम्भणम् । परिणामिनि संशयः ।
25 सिद्धः संस्थानादिर्विवादास्पदे तथा प्रत्यवमर्शेनाभिधानमात्रम् । विशेषकल्पनायामति-
प्रसङ्गः । तादृशज्ञानपूर्वकत्वाभावेऽप्यविरोधादनैकान्तिकः ।

§ ४४. चलानां चक्षुरादीनां सन्निवेशादेः अन्यथा निर्णीतं सत्त्वम् इष्ट-
विधातकृत् अचलात्मनि । परिणामिनि संशयः । संहतानां पाराध्या (ध्या) नियमा-
भावः । कार्यकारणयोः भेदैकान्ताऽसिद्धेः ।

30 § ४५. चलानां शब्दादीनां सन्निवेशादेः सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि । प्रसङ्ग-
पुरुषादौ परिणामिनि संशयः । कार्यकाष्ठानामन्वयादेरनेककारणपूर्वकत्वे सम्भवः ।

तथा [५] सद्व्यवहाराय स्वभावानुपलब्धयः ।

§ ३३. स्वभावानुपलब्धिः—यथा न क्षणक्षयैकान्तोऽनुपलब्धेः । नहि बहि-
रन्तर्वा भेदनिर्भासविवेकः । परमाणुवच्छल (वत्स्थूल) स्य कस्यचित् प्रतिभासे तदा-
भासविरोधः । कार्यानुपलब्धिः—अत्र कार्याभावात् । सति तादृशे कार्ये यदि अक्रमः प्र-
(मप्र) सङ्गः । कारणानुपलब्धिः—अत्रैव कारणभावात् । नाशसमकालकार्यकल्पनायां ५
पश्चादपि असतोऽविशेषात् । समनन्तरभावेऽपि अतिप्रसङ्गः । विशेषव्यवस्थायां
तादात्मा (त्म्या) सिद्धिः । उपादानप्रचलमैः (सौ) प्रत्यभिज्ञादिहेतोः कोऽपरोऽतिश-
योऽन्यत्र परिणामात् । स्वभावसहचरानुपलब्धिः—नात्रात्मा रूपादिविशेषाभावात् ।
तादृशो [५] विवेके कथं दाहादिसाहसमाचरेत् प्रेक्षापूर्वकारी ? सहचरकार्यानुप-
लब्धिः—अत्र व्यापारव्याहारविशेषाभावात् । निवृत्तिप्रतिबन्धयोः विशेषानुपलक्षणे 10
पुनरविविक्तं स्यात् । सहचरकारणानुपलब्धिः—अत्रैव आहारमा (राऽमा) वात् । स
विचित्रः शरीरस्थितिहेतुर्विज्ञेयः । परिणामि-सहकारिकारणयोः तदविशेषेऽपि तादात्म्ये-
(त्म्ये) तदभेदेऽपि युगपद्भाविनामजन्मजनक [क] र्चुसहभावनियमः । स्वापदोन-
(स्वोपादान) सहकारिविवर्त्तविकल्पे प्रतिबन्धनियमे किं परस्प (रम्प) र्या नियम-
हेतुना ? तदन्यत्रानिवारणे स्वभावान्तरवत् । 15

सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धयः ॥३०॥

§ ३४. नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी । यथा स्वभावविरुद्धोपलब्धिः—नावि-
चलितात्मा भावः परिणामात् । स्थितिस्वभावैकान्तस्य स्वभावपरिहारविरोधः । स्वतो
[५] नश्वरत्वे कौटस्थ्यप्रसङ्गः । कार्यविरुद्धोपलब्धिः—न लक्षणविज्ञानं प्रमाणं विसंवा-
दात् प्रमाणान्तरापेक्षणे । कारणविरुद्धोपलब्धिः—नास्य परीक्षाफलम् अभावैकान्तमह- 20
णात् । संवृतिवादेऽपि समीक्षाविरोधः ।

व्याप्यव्यापकयोरेवं सिद्धयसिद्धी विचारतः ।

सदसङ्गव्यवहाराय तत्त्वान्यत्वविवेकतः ॥३१॥

§ ३५. सर्वत्र व्याप्यसिद्धिरविशेषेण व्यापकसाधनी । यथा [५] नित्यं
कृतकत्वात् । परिणामभावे तदनुपपत्तिः । तथा व्यापकस्यानुपलब्धिः व्याप्यवि- 25
निवर्त्तनी । न निरन्वयविनाशो भावस्य अत्यन्ताभावानुपलब्धेः । इति स्वभावसह-
चरकार्यकारणभेदपरिग्रहः । स्वभावविरुद्धव्याप्तोपलब्धयोः व्यापकानुपलब्धौ अन्त-
र्भावः । न नित्यः कृतकत्वात्, अकृतकत्वासिद्धिः (द्वेः) । अविशेषेण स्वभाव-
विरुद्धकार्यो (र्या) नुपलब्धयोः कार्यानुपलम्भे । तत्र प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् इति
नापरो हेतुरनुपलम्भात् । उपलब्धेर्वा अन्योन्यविवेकोपलम्भलक्षणत्वात् । अनयो 30
[:] स्वभावविरुद्धोपलब्ध्योरनुपलम्भलक्षणत्वात् । अन्योपलम्भोऽनुपलम्भः ।

विज्ञप्तिमात्रसिद्धेः स्यात् । अतद्रूपस्याप्यतत्परिच्छेदव्यतिरेकनियमेन विषयाकाराविशेषे विज्ञानसन्तानभेदवादो निरालम्बः । तद्विशेषो विभ्रमविवेकनान्तरीयकः । नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः इति स्वप्रमाणनिवृत्तिरन्यथाऽपि । सर्वोपलम्भनिवृत्तिरसिद्धा । सम्भवेऽपि निर्णेतुमशक्तौ तादृशो विप्रतिषेधे तत्प्रतिषेधयोः स्वयमुपलम्भात्मकत्वाच्च
5 स्वाश्रययोः सन्देहे सन्देहः ।

सिद्धे [५] किञ्चित्करो हेतुः स्वयं साध्यव्यपेक्षया ।

§ ५१. शब्दविनाशादौ सत्त्वेन सिद्धे सिद्धोऽपि कृतकत्वादिः प्रत्यक्षाग्नौ धूमवत् । विशेषाधानमर्थान्तरं (?) तत्र धूमदर्शिनः प्रत्यक्षवत् साक्षात्कृतेऽपि कृतसिद्धि (सिद्धि) पर्यासनिवृत्तिरज्ञातोऽहेतुः । साध्येऽपि कृतकत्वादिः अज्ञातः साधनाभासः ।
10 तदसिद्धलक्षणेन अपरो हेत्वाभासः, सर्वत्र साध्यार्थासम्भवाभावनियमासिद्धेः अर्थज्ञाननिवृत्तिलक्षणत्वात् । अनयोरर्थेऽपि विरुद्धाव्यभिचारिणः सम्भवः, यथा नित्यो भावः तद्भावं प्रत्यनपेक्षणात् । तद्वेतूनामसामर्थ्ये तद [त] त्कारणासम्भवः । कादाचित्कत्वमपेक्षितः स्यात् । नहि भावादव्या (दन्या) र्थाक्रिया । कादाचित्कत्वमप्युक्तः (क्तम्) स्वमादिषत् । क्वचित् प्रतिभासभेदो विरुद्धधर्माध्यासो वा ग्राह्यमाहकवत् । न चापरं
15 भेदलक्षणमित्यविविक्तं तत्त्वम् । स्वतो जन्मनि सदसतोः प्रभवविरोधः । परतः तुल्यः पर्यनुयोगः । एतेन उभयाभ्यामविकल्पाः प्रत्युक्ताः । तत्र निर्व्यापारेषु व्यापार-कल्पनायां परत्र को [५] परितोषः ? नित्यसन्निधाने कल्पनागौरवपरिहारेण भाव-धर्मपरिसमाप्तेः । तथा सर्वमनित्यमर्थक्रियाकारित्वात् । तदभावे निरुपाध (ख्य) त्वम् । पूर्वपरस्वभावपरिहारावाप्तिरुक्ता तदवस्थस्य । न तावत् क्रमेणः कस्यचिद-
20 कत्र करणाकरणविरोधात् । पूर्वमसमर्थ पञ्चादपि । सहकारिकारणवैकल्यं समानम् । तदपेक्षाऽयोगः । तत्कृतमुपकारमात्मसात्कुर्वतः स्वभावभेदः । अन्यकरणे असम्ब-न्धाऽनवस्था । न सर्वथा नित्यमुपकर्तुं युक्तम् । अकिञ्चित्करोऽनपेक्ष [:] स्यात् । नापि यौगपद्येनः तत्करणस्वभावस्य पुनस्तदकरणेऽपि स्वभावहानिः । सहकारिवैक-ल्यादि समानं प्रत्यभिज्ञानेऽपि । सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भाच्चैकत्वम् । तादृशं भेद-
25 नान्तरीयकम् । न चापरं भेदलक्षणमिति । स्वभावप्रतिबन्धे नैतावन्योन्यमतिशयाते । समुदायोऽहेतु [:] मिथ्यैकान्तपरिग्रहात् ।

सर्वथान्योन्यसम्बन्धे विरुद्धं श (स) कलात्मनि ॥४४॥

‘§ ५२. प्रत्येकं सह वा सामान्याविशेषार्थसाधनः ।

एकान्ताश्रये विरुद्धः तद्वेदिति सन्देहकृत् ।

80 संशयाद्धेतुभावेऽपि साध्येऽकिञ्चित्करोऽस्त्विलः ॥४५॥

§ ५३. किं वै व्यभिचारिणः सन्देहः सत्यप्यविनाभावे पक्षविपक्षयोः तद-

विभ्रमेऽपि वस्तुमात्रोपग्रहे व्यक्तमनेकान्तसिद्धिः, इति साकारौ विषय-विषयिणौ स्याताम् । एवं हि कालादिव्यवहितात्मपर्यायसम्युपग्रहे परत्र कः प्रतिपातः? व्यामोहविच्छेदाविशेषेण अन्तस्तमोविगमे बहिरकारणं संस्कृतेन्द्रियवत् । मूर्च्छितादौ बहिरङ्गसाकल्येन अन्तरङ्गं बलीयस्त्वम् । तदतत्कार्यविच्छेदमुपैति न तत्त्वपरिच्छेदमिति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । तत्समारोपविधिप्रतिपेधयोस्तादात्म्ये प्रकृतमकृत (तं) ५ स्यात् । समानपरिणामरहितानां (ना) मतत्कार्यव्यावृत्तौ समानप्रत्ययः चक्षुरादिवत् । समे समविकल्पजनकत्वे क्वचित् परामर्शेनियमः तादृशो दर्शने सामान्यस्य तैरप्याश्रयणीयत्वम्, अर्थक्रियाविरोधः, कल्पनागौरवतो जातिलक्षणसंवृतेः । स्वसामान्यलक्षणयोर्भेदाभावे प्रत्यक्षेतरयोस्तादात्म्येऽप्यनवस्थादिदोषानुपपन्नः । सविकल्पसिद्धः तदन्यविधिप्रतिपेधविषयमनुमानम् ।

10

अप्रत्यक्षेऽपि देहेऽस्मिन् स्वतन्त्रमवभासनात् ॥३६॥

प्रत्यक्षं तद्गुणो ज्ञानं नो जातिस्मरदर्शनात् ।

सत्यं तमाहुर्विद्वांसो विद्यया विभ्रमेण यः ॥३७॥

यथार्थमयथार्थस्या (र्थ वा) प्रभुरेषोऽवलोकते ।

तुलोल्लाम-रसादीनां तुल्यकालतया नहि ॥३८॥

15

नाम-रूपादिहेतुत्वं तादात्म्यं सहचारतः ।

अन्वयोऽन्यव्यवच्छेदो व्यतिरेकः स्वलक्षणम् ॥३९॥

ततः सर्वा व्यवस्थेति नि (नृ) त्येत् काको मयूरवत् ।

इति प्रमाणसङ्ग्रहे चतुर्थः प्रस्तावः ॥३॥



५. पञ्चमः प्रस्तावः ।

20

अन्यथानिश्चितं सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि ॥४०॥

निर्व्यापारो हि भावः स्यान्नित्यत्वे वा निरन्वये ।

§ ४०. साध्याभावसम्भवनियमनिर्णयैकलक्षणो विरुद्धो हेत्वाभासः, यथा नित्यः शब्दः सच्चात् इति । सर्वथा [S] विचलितात्मनः क्वचिदनुपयोग [ः] । कस्याचिद्भावे स्वयमनायासयतो भावान्तराऽविशेषिणोऽमावाविशेषसन्निधानेऽप्य- 25

§ ५५. प्रागुत्पत्तेः असतः पूर्वं प्रत्यनपेक्षा, निष्पन्नस्यापि सतः स्वयमनाधे-
यातिशयात्मनो भावान्तरवत् । एतेन उभयाबु (नु) भयविकल्पः प्रतिव्यूढः । सत्ता-
सम्बन्धेऽपि समानः प्रसङ्गः । कालावनपेक्षिणः सर्वतो व्यावृत्तेः स्वतन्त्रो भावः
स्यात् । अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः कृतकः । तत्कृतमुपकारमात्मसात्कुर्वतः तन्निय-
5 तवृत्तेः सर्वथा तत्कार्यतया प्रतिक्षणं भेदिनः तद्भावाऽव्यवसायतया तदपेक्षणम् ।
इतरवा (था) कारणस्यापि सतः सामर्थ्ये सकृत् कार्यजनने विश्वमक्रममकार्यकार-
णमनुपाख्यम् । सति समर्थे तत्राभवत् नियमेन पश्चात् स्वयं भवत् किमानन्तर्यम-
पेक्षते ? तदसामर्थ्याविशेषेण प्रागपि स्यादभावानन्तर्याविशेषेण । तदयं प्रभवसमर्थः
सतीं विहाय मृतां पुत्राय कामयते । सम्भवत्यपि परिणामिनां शक्तिविचित्रता
10 अभावविलक्षणत्वात् । विरुद्धधर्माध्यासेऽपि नानैकव्यवस्था नानार्थैकज्ञानवत् ।

तदयं भावः स्वभावेषु कृण्डलादिषु सर्पवत् ।

§ ५६. तत्र स्पष्टनिर्मासो विकल्पः सन्निधानापेक्षी भावनातो निवृत्तिः सुखा-
दिवत् । अन्यथा स्मरणप्रत्यभिज्ञाऽभावः । तदेवं परस्परपरिणामपरिग्रहविवर्त्ताहित-
विविधपर्यायैरवस्थान्तरमनुभवति ॥८॥

16 उत्पादविगमप्रौढ्यं सत् प्रत्येकमसम्भवात् ॥५२॥

§ ५७. नाशस्यापि कारणे सिद्धं कृतकत्वमुत्तरोदयाऽविशेषेण । पूर्वापरावधि-
परिच्छिन्नसत्तासम्बन्धेऽपि तादात्म्याऽनतिक्रमः । तत्र उत्पादिसंहारौ स्थितिरहितौ
स्याताम् । एवं प्रतिक्षणम् उत्पादविगमप्रौढ्ययुक्तं सत् । सकृदपि अतत्त्वभावस्य
तन्नियमविरोधः । नाशस्थानपेक्षायां न कदाचिद्भवेत् पूर्वोत्तराविशेषेण । स्वतो
20 हेतोर्नश्वरस्थास्त्रुदेति न पुनरनपेक्षः । परस्परपरिणामाहितविशेषपरिग्रहेऽपि स्वरस-
वृत्तेरप्रतिघातः विषयसन्निधानाहितविशेषविज्ञानवत् । स्वरसमङ्गुरस्यापि विरोधि-
प्रत्ययविहितविशेषलक्षणेन निवृत्तिं पश्यामः । सदसतोः पूर्वापरभावनियमः ।
कथञ्चित् कार्यकारणवत् अचलस्याप्यव्ययादुचरीभवति । तादात्म्यपरिणामेन
सत्त्वप्रतिभासनात् । सर्वस्य अनेकान्तात्मकत्वे तदतद्व्यवस्था तथापरिणामात् ।
35 नहि तथा अपरिणतं तत् विप्रतिषेधात् । प्रसिद्धमवसादश्चप्रत्यासत्तिविप्र-
कर्षयोरपि नानैकस्वभावनियमः पितापुत्रवत् । सन्तानस्य अन्यथाऽसम्भवात् ।
एकप्रत्यवमर्शविशेषव्यवस्थायां एकत्वविधानम् । विभ्रमकल्पनाऽनानैकव्य-
वस्था, नैकयोगक्षेमलक्षणमेकम् अतिप्रसङ्गात् । विरुद्धधर्माध्यासाद् बहिरन्तर्मुख-
प्रतिभासविज्ञानैकतानिबृत्तिः । अर्थज्ञानविवेकप्रतिभासयोः अदृश्येतरयोरविरोधे संस्र-
40 स्थूलकलाकलापस्य प्रतिक्षणमुदयस्थितिसंहारमनुभवतः क्रमवृत्तेरप्रतिघाते विवेक-
कल्पनाविवेकः । आदौ दृष्टापरस्वभावाविघातेन पुनः क्षयदर्शनात् सिद्धेः (द्धः) अन्ताद्योः

§ ४६. चलानां सुखादीनां सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि । ग्रधानादौ तेषामनु-
प्रवेशो वा । चलात्मनि चैतन्यपरिणामिनि तदुभयत्र वृत्तेरनैकान्तिकम् ।

सहोपलम्भनियमः स्याद् भेदस्यापि साधकः ॥४३॥

§ ४७. उक्तविधातृकृद् द्रव्यपर्यायपरमाणूनां सहदर्शनम्, यथा भेदः, तद-
न्यथा विधातो भेदप्रतिषेधको न स्यात् । भेदमात्रस्य साधनात् । नहि सर्वविधानां ५
सहोपलम्भोऽपरः सहोत्पत्तेः । स्वभावान्तरविरोधकल्पनायां तथोपपत्तिः । सन्दिग्धा
[.] कर्तुरस्मरणोऽपि दयः । सतः स्मृतेरभावो यदिरुद्धः सर्वः सर्वज्ञः स्यात् । अन्य-
तमस्यापि सम्भवे सत्प्रतिषेधे विप्रतिषेधः । शास्त्रलिङ्गतः प्रतिपत्तावनिवयः । तद्विश्ले-
षण (पेण) वृत्तौ प्रत्यक्षेऽपि कार्यव्यभिचारः । सतो दर्शयसाकम्पनियमे स्मृतिर्न
भवेत् । तदभावे मानान्तराऽसिद्धिः । स्वतः प्राप्ताव्यविप्रतिषेधे पुनरन्वयपरम्पर्या 10
न गुणोत्कर्षः । तदर्थसंबादस्मरणव्यतिरेकेऽपि सर्वथा साधकप्रमाणप्रतिषेधे च
सन्देहः । इत्यनैकान्तिकसेदाः निश्चितसन्दिग्धव्यभिचारिणाऽनेकप्रकाराः ।

§ ४८. त्रिलक्षणयोगेऽपि 'सर्वज्ञो न वक्तृत्वात्' इति पक्षधर्मस्य सपक्ष एव
दर्शनात् स्वभावप्रतिबन्धेन प्रमाणान्तरं व्याप्तिः अयुक्तप्रतिपत्तिः, अतो न व्यापका-
नुपलब्धिर्व्य (विध्व) वस्था । तथा च न कश्चिद् विशेषः । तादृशवचनादिगुणी- 15
पपत्तौ अन्तर्व्याप्ति (ते) रसिद्धावगमकत्वम्, तत्सिद्धौ अनन्वयेऽपि । न स्वगाथा-
रणा हेतवः, तद्यथा नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् । सर्वथाऽपि परिणामिनः तदसम्भवे-
कान्तः, तत्र सर्वहेतुनामसाधारणत्वम् । साकम्प्येन व्याप्तिदर्शनेऽविप्रतिपत्तिः । अन्यथा
प्रकृतेऽपि कथमुपसंहरेत ?

सर्वथा भावात् सन्देहेऽप्यन्यथाव्यस्तसंविदः ।

20

§ ४९. असिद्धः चाक्षुषत्वादिः । शब्दस्य परिणामेऽपि चक्षुरादिज्ञानमयु-
क्तम् । रूपादिविवर्तस्य तत्त्वव्यतिक्रमेण द्रव्यमनादिनिबन्धनं (निघ्नम्) न शब्द-
पर्यायो (यः) चाक्षुषत्वप्रसङ्गादिति हेतुलक्षणं पुष्पाति ।

[§ ४. सहोपलम्भनियमोऽप्यन्योन्यार्थविद्वां विदाम् ॥४३॥]

§ ४०. सहोपलम्भनियमोऽपि अर्थज्ञानयोः अन्योन्यार्थविद्वां विदाम् । 25
यदेकार्थोपनिबद्धदृष्टयः परस्परज्ञानं परचित्तविदो वा तदर्थं नावि (नाव) इयं संविदन्ति,
बहिरसति तादृशो [५] सम्भवः । विग्रमे कुतो विशेषः ? तथा सिद्धो हेतुः कृतश्चिद्
ग्राह्यग्राहकविक्षेपनिवृत्तेः विप्रतिषेधः । एवमसहानुपलम्भो व्यावृत्तिमात्रं श्रव-
णयोरिव बाह्येतरपक्षयोरसिद्धः । सदसतोरसम्बद्धो (न्यो) भेदाभावे भावसिद्धौ किं
वादः ? तत्र एकोपलम्भनियमः, तदात्मकत्वे साध्याऽविशेषः । स्वोपलम्भनियमो 30

- खपुष्पवत् प्रत्येकमनेकात्मनि संशयः कचिद् ऊर्ध्वतादिवत् । तादात्म्यनिर्णये परस्परपरिहारे (२) स्थितिः एकानेकस्वभावयोः निमित्तमेदात् । निष्प्रत्यनीकत्वे वैयधिकरण्यात् । उभयदोषे सद्बुभयोपयोगेन भेदसंहारे साङ्ख्येण व्यवस्था भा भूत् । तदनयोरेकस्यापि कस्यचिद्व्यस्य अभावात् स्वरूपस्यातद्भाविनः स्वनियतस्याऽभावात् सर्वव्यवहार-
 5 सङ्करः । तदतिशये व्यतिरेकादुभयाभावः । एकमनेकात्मकं स्ववचनविरुद्धम् ; शबलाकारज्ञानाभावात् । प्रत्यक्षविरुद्धम् ; कस्यचिदेकस्यानुपलम्भेन । संहारसूत्र-नीलादेरपरं न मेचकादिकं प्रमेयम् । तद्वद्वेरपि तद्वपत्वे तथाभावः, तदेकात्मकत्वविरुद्धं द्रव्यान्तरवत् । यदेकं तदेकात्मकमेव नानात्वविरुद्धं तदेकाशवत्, तदत्यये धर्मनैरात्म्यम् । तथोपलब्धिः इत्यसिद्धम् । वेद्यवेदकैकाकारज्ञानेऽपि अनेका-
 10 न्तिकत्वम्, यथोपलम्भं भावस्वभावनियमाभावः स्वभवत् । तथोपलम्भस्य तद्भाव-नियम इष्टविधातकृत् । परिणामविधातः तदन्यथोपलम्भभावाः, साधनान्तरं तदपि प्रकरणसमम्, तथाऽन्यथा सम्भवसमारेकतः प्रक्रियाप्रवृत्तेः । नहि दृष्टाद् गरिष्ठमिष्टं यतोऽयं तथादर्शी प्रमापणीयः । साध्यसाधनव्यवस्थायां पुनः सन्देहो यथा किञ्चि (स्त्रि) दयं स्थाणुः स्यात् इति । निपातस्य पूर्वप्रयोगनियमे विरुद्धञ्च परनियमोपलब्धेः ।
 15 उच्यैर्दर्शने व्यभिचार इत्यनेकवा (वा) ज्ञप्तेरूपे परस्य तद्विप्रतिपत्तौ अप्रतिपत्तौ प्रकृतार्थविधानप्रतिषेधविधुरे गुणदोषविशेषामवस्थातो (?) जयपराजयाऽसम्भवे राजकुलवत् ज्ञापनारम्भेऽपि निग्रहस्थानम् आकस्मिकम्, अतिशयान (अतिशयने) क्रथमस्थानं स्यात् । भूतदोषोद्भावेऽपि तत्त्वं प्रतिपित्तवो निगृह्यते (न्ते) सन्नार्थ-स्थायिनो वा प्रस्तुतानुपयोगप्रलपैरिति प्रकृतार्थप्रत्यायने वागदोषेऽपि ज्ञप्याकं
 20 विजयते, यथाऽनित्यः सत्त्वात् इति ।

असिद्ध [:] सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः ।

द्वेषा समन्तभद्रस्य सत्त्वाविरचलात्मनि ॥५६॥

४६१. यावान् कश्चित्त्वभावो मिथ्यैकान्ते स सर्व आश्रयासिद्धः । तदत्यये
 तेषां च तत्राभावः तदात्मकत्वात् । नहि अस्ति सम्भवः यस्मिंश्चो भावः परस्पर-
 25 विश्लेषविधातात् तत्रासिद्धिः अनेकान्तसिद्धिः । तत्प्रतिविधानं हि तत्, कचिद् कश्चित् असिद्धो धर्मः प्रतिपक्षापेक्षी । तदतत्परिणामलक्षणोऽर्थः स्वभावान्तरविरोधी परस्परविवेकस्थितेः अर्थान्तरवत् । तदयम् अन्तरङ्गबहिरङ्गप्रत्यनीकस्वभावप्रतिषेध-विकलतया विरुद्धम् । व्यभिचारी प्रभवसामान्यसहचरप्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरपि तदर्थान्तरभावयोः तथापरिणामव्यवस्थायाम् । साध्यसाधनभेदेऽपि तादात्म्यम् ।
 30 निष्कलस्य तथाप्रतिभासविक्रियाविरोधः । गुणपर्ययवद्भ्रमम् । व्यतिरेके पृथगुप-लम्भसहभावेऽपि समवायिनो नैकयोगक्षेमलक्षणो गुणभावः । तादात्म्ये कथञ्चि-

१ एतदनन्तरं ता० प्रती 'व्यतिरेके पृथगुपलम्भसहचरविशेष समवायिनो' इति पाठः पुनर्लिखितः ।

वेदिनि सम्भवी ? प्राग् विपर्यासवद्बुचस्यानिराकरणं सर्वत्र समानम् । साध्ये गुणदोषयोः कस्यचिदन्वेषणं सिद्धसाध्यार्थयोः सिद्धासिद्धाऽकिञ्चित्करविस्तरा विरुद्धादयः ।

अन्यथासम्भवासिद्धः साधनः प्रतिरूपकः ।

विरो (रु) द्धोऽकिञ्चित्करो ज्ञातः प्रत्येकमिति सङ्ग्रहः ॥४६॥

विरुद्धाव्यभिचारी स्यात् विरुद्धो विदुषां पुनः ।

5

प्रकृया (प्रक्रिया) व्यतिरेकेण सर्वे सम्मोहहेतवः ॥४७॥

तथाहि सर्वहेतूनां भावना सत्त्वमीक्षते ।

स विरुद्धोऽन्यथाभावाद् असिद्धः सर्वथात्ययात् ॥४८॥

व्यभिचारी विपक्षेऽपि सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः ।

अज्ञातः संशयासिद्धव्यतिरेकान्वयादितः ॥४९॥

10

विरुद्धाव्यभिचारी स्यादर्थमात्रावधारणात् ।

अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिरङ्गमनर्थकम् ॥५०॥छा॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे पञ्चमः प्रस्तावः



६. षष्ठः प्रस्तावः

[५५. समर्थवचनं वादः शाश्वतं सत्क्रियाश्रयात् ।]

15

५५४. समर्थवचनं वादः । प्रकृतार्थप्रत्यायनपरं साक्षिसमर्थं जिगीषतोरे-
कत्र साधन-दूषणवचनं वादः । शाश्वतं सत् क्रियाश्रयात् । 'सर्वं नित्यं कृत-
कत्वात्, यत् कृतकं तन्नित्यं युक्तं यथा आत्मा, तथा च सर्वं कृतकम्, तस्माच्चित्त्यम्'
इति साधनाङ्गवचनोपालम्बच्छलेन स्वामेव स्थितिं विधुरयं (यन्) सर्वथानर्थनिव-
न्धिनो विजयते । विचित्रा हि परप्रत्यायनोपायाः स्वनिश्चयवत् । प्रत्यक्षेऽपि कुतश्चित् 20
साधनसम्बन्धप्रतिपत्तेः । सम्मोहन्यवच्छेदेन तत्त्वावधारणे स्वयं साक्षात्कृतेऽपि
साधनवचने कथञ्चिन्नित्यव्यतिचारे विनिश्चयोपपत्तौ साध्यधर्मसम्बन्धदर्शनस्य
प्रतिज्ञाविशेषेण तदन्यतरवचनप्रतीतौ वाचकम् उपनयादिसमम् । अन्यथा साध्य-
समम् । तदेवमपि 'युक्तं न वा' इति तर्क्य तावदक्षिणी विस्फाल्य । यदि युक्तम्; किं-
कृताकृत [त] नियमेन ? तावत् प्रयोक्तव्यं यावता साध्यसाधनमधिकरणं प्रत्येति ॥छा॥ 25

नहि नैः सर्वथाऽसिद्धं कर्तुं युक्तं निरन्वये ॥५१॥

न कश्चित्तेतनो ज्ञाता तदर्थस्येति तामसम् ।

पदादिसत्त्वे साधुत्वनू(न्यू)नाधिक्यकमस्थितिः ॥६२॥

प्रकृतार्थाविधातेऽपि प्रायः प्राकृतलक्षणम् ॥छ॥

इति प्रमाणसङ्ग्रहे षष्ठः प्रस्तावः ॥



5

७. सप्तमः प्रस्तावः ।

सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमार्थानुशासनम् ॥६३॥

- ४ ६३. सर्वमिथ्यैकान्तातीतं ज्ञासनम् अनवयवेन प्रमाणम्, साक्षात्कृतसमय-
संवादेन तादृशोऽबाधनं प्रत्यक्षादिवत् । असिद्धसंज्ञानसामग्रीप्रभवतया प्रमाणान्तर-
सम्प्रवाससम्भवेऽपि कारणगुणदोषसाकल्यवैकल्याभ्यां प्रवृत्तेरङ्गम् । सर्वत्र शङ्कानिवृत्तेः
10 स्वतः प्रतिबन्धवैधुर्ये प्रणेतुरनुभवैरनादिदेऽपि कायविज्ञप्तिवत् । स्वतः प्रामाण्यमती-
न्द्रिये न वै शुद्धेर्विप्रतिषिद्धं वचनवत् । स्वविषये प्रकर्षनियमेन दोषावरणपरिक्षयाभावे
तदर्थ्येष्वाभासः । प्रकारान्तरासम्भवेन तदर्थज्ञानाभ्यासप्रकर्षप्रभवपरिष्कृतप्रत्यये
प्रियमनुष्ठितम् । कश्चित्तत्त्वपरिच्छेदव्यामोहविच्छेदयोस्तादात्म्येन सर्वहोपोपादेयोपा-
पपरिज्ञाने किमपरिज्ञानं (तं) स्यात् ? तद्विशेष (तद्विशेष) व्यामोहे तदर्थसिद्धे ॥
15 सर्वस्य प्रकरणोपयोगः । साकल्येन वृत्तौ प्रवचनं विप्रकृष्टेऽपि स्पष्टमवितथं प्रतिवि-
शिष्टस्वभावं स्वप्नादिवत् । प्रतिबन्धवैकल्ये स्वप्रभवकायवागव्यवहारानुमेया रागादि-
प्रतिपक्षाः ।

पुरुषातिशयोऽज्ञेयो विप्रलम्भी किमिच्यते ? ।

- ४ ६४. यदि ज्ञानविशेषो दूरवगाहः प्रेक्षावतः कथमागमार्थेषु प्रवृत्तिः ?
20 सर्वविशेषाणां शक्यक्रियत्वात् । सिद्धेऽप्यकृतकस्य प्रामाण्ये तद्विशेषापरिज्ञानम् ।
श्रुतेः प्रापञ्चो विपर्ययः सर्वथा व्यवस्था न स्यात् । तदर्थं त्रिपुरदहनदिवद् आत्म-
धातोऽपि सितासनपुरःसरो मिथ्यैकान्तप्रलापी प्राकृतप्रज्ञाविगाहार्थदिग्युद्धः स्वय-
मङ्गीकृतातीन्द्रियार्थप्रत्यक्षदेशनात् सत्यतयाऽप्रमावरहितो मनुष्यधर्मा करणादिच्छलेन
सम्भावितोद्बुद्धचित्तिः । असिद्धहिंसानृतस्तेयाम्रहस्वविषयगुणोत्कर्षमासं (तं) -
25 समानः यथार्थदर्शनादिगुणो नेति निःशङ्कं ज्ञेयः । ६३.) “क्षीणावरणः समधिगतलक्ष-
णोऽपि सन् विचित्राभिसन्धिः अन्यथा देशयेत्” इति विप्रलम्भशङ्की तादृशं प्रकरणा-
नुपयोगविशेषं किमर्थं प्रवृत्तिकामो मृगयतो (ते) ? दृष्टेष्टयुक्तं (क्ति) विरुद्धार्थप्रव-
चनसमयान्तराणां प्रणेतारो विप्रकर्षेऽपि विशेषतो निर्णीयन्ते शास्त्रकारा इव शास्त्रैः
यथार्थदर्शनादिसाकल्यवैकल्यप्रतिबन्धेन ।

पूर्वापरस्वभावाग्निपरिहारयोः साध्यसाधनभावः । श (स)कलशक्तिविरहिणोऽवस्तुत्वे तदुपादानविच्छेदः, प्रकृतिविकारनान्तरीयकत्वादर्थान्तरप्रसूतेः । त्रिलक्षणं प्रतिक्षण-
मविकल्पितं विकल्पलक्षणम्, अन्यतरव्यतिरेकेऽनुपपन्नम् । सधुदायेऽसङ्करप्रसङ्गः ।
एकशः तल्लक्षणान्वये मेदकल्पनानर्थक्यम् । तदयम् उत्पाद एव तिष्ठति, नश्यति ।
नशयेव तिष्ठति, उदेति । स्थितिरेव नश्यति उदेति ॥७॥

5

प्रकृताऽशेषतत्त्वार्थप्रकाशपट्टवादिनः ।

विद्वद्वाणोऽनुवाणो वा विपरीतो निगृह्यते ॥५३॥

§ ५८. नित्य आत्मा कथमन्यथा कृतक इति ? न्यूनतया किलायमपि अस्मात्
प्रत्यवस्थातुमकुतज्ञः स्वयमवयवान् कलयति ।

स्यादजग्रं परापेक्षमुदयं प्रलयं प्रति ।

10

अभावस्यानपेक्षत्वं भावस्य परिनिष्ठिते ॥५४॥

§ ५९. न खलु अकृतकस्य नित्यत्वम् । उत्पादविगमक्रियामावस्यैव क्षणिकस्या-
नपेक्षत्वम् । सिद्धासिद्धयोः तदयोगः । स्वयमात्मलाभं प्रति अपेक्षितपरपरिस्पन्दं नित्यं
कथमकृतकम् ? सर्वदेशकालादिसम्बन्धसातत्ये तत्कृतोपकारापेक्षम् । व्यतिरेकेऽन-
वस्था, सम्बन्धासिद्धिः । स्वयमात्मलाभस्य कथञ्चिद् व्यपदेशः । नित्यानित्ययोरचलयोः 15
अनुपकारेऽपि सत्त्वभावानतिक्रमाविशेषः । 'कृतकाकृतकयोः नित्यानित्यस्वभावा-
प्रतिषेधः' इति दूषणोद्धावने भूयस्तथैकान्तप्रतिषेधे श(स)कलकलाकलापसमाश्लेषजा-
त्यन्तरप्रतिपत्तिनान्तरीयके प्रकृतसाधने परं पराक्रमते । तथाऽनित्यं कृतकत्वादित्य-
त्रापि सर्वं समानम् । अधिचालिर्न (चलिनां) क्रियानिष्ठुचिः, स्वभावान्तरलक्षणत्वात्
सचायाः । तथाऽप्रतिपादने साधनदूषणसामर्थ्याऽपरिज्ञानम् । अज्ञाताऽकिञ्चित्क- 20
रामिधानेऽपि जयाभावः प्रकृतसाधनशक्तिवैशुण्येन ।

साध्ये परतिरस्कारो जल्पः तच्छक्तिनो जयः ।

तत्र मिथ्योत्तरं या (जा) तिः यथाऽनेकात्मविद्विषाम् ॥५५॥

§ ६०. सर्वभनेकान्तात्मकं सत्त्वात् इत्यत्र (त्रा) रेकाः प्रत्येकमाहोस्वित् सधु-
दितम् ? सिद्धसाधनम् सर्वस्य अनेकात्मकताविज्ञानम् । एकात्मकत्वप्रतिषेध (वे) 25
विरोधः । कचिदेकताऽभावे अनेकत्वाऽसिद्धिः । अथ एकैकशः एकात्मकत्वम् अन्यथा
ज्ञानात्मम् ; अधिकरणं प्रतिज्ञानन्तरं पुनरकिञ्चित्करम् । अथ एकत्वविधेः सामानाधिकर-
ण्यम् ; उभयदोषप्रसङ्गः साध्यसाधनसम्बन्धासिद्धिः । अथ तादात्म्यम् ; सङ्करः, परस्पर-
गानुप्रवेशः । विशेषे नैकाधिकरणत्वम् । संश्लेषे पुनरनवस्था । अतो निरु (रु) पाठ्यतया

१ अथ "सौर्ध" (सिद्धहेम० १-३-३६) इत्यनेन वाता-+एव = नाशयेव इति शेषम् ।

§ ६७. सन्निकर्षाद् रूपज्ञानं यदि स्पष्टावग्रहः, तदर्थप्रतिघाते दीपरश्मिवद् अनियमप्रकाशप्रसङ्गः । स्फटिकाद्युपहितार्थप्रतिबिम्बोष (प) लम्बवच्छ (च्छु) तौ तदार्थाधिगमे प्रमाणान्तरेऽपि तदयमर्थमभिनिबुध्य श्रुतविकल्पे द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषविषयमधिगच्छति । व्यामोहविच्छेदे सति मतिश्रुतयोरेकत्वेऽपि कथञ्चित् प्रतिभासभेदो अवग्रहादिषत् । तदेतदसद्रूपत्वेऽपि तत्समाधिगमनिमित्तम् । तत्र तदधिगम एव सत्यपि सारूप्ये स्थापनादिवत् ।

परं ज्योतिरनाकारं पर्यायानुक्रमस्यिति ।

§ ६८. स्थापनाश्रुतिरेव व्यापिनी सर्वत्र समानाकारसम्भवः । सतोऽपि कचिदसद्विशेषो व्यतिरेकासिद्धिः, समयस्मरणाभावे तदर्थप्रतिपत्तिः । असत्यर्थज्ञा-
10 पने तदभ्यासमात्रेऽपि भेदोऽतिशयप्राप्तिः । विचित्राभि [स] न्धयः प्रतिपत्तारः । स्वाध्यायतपःप्रभावमूलं सकलमूलं तदर्थज्ञानं तत्परिच्छेदसामर्थ्यं प्रतिनियतभेदमेतदाकारातिरेकेण व्यभिचारदृष्टौ तदावरणपरिक्षये निरुपाधिकप्रवृत्तिः, यथाप्रतिबन्ध-
क्षयोपशमं वर्षपदवाक्यानुपूर्वीसंहारातिशयः परमाणुक्रमनिमेषलक्षणपर्यायसमासतः तात्वादिन्यापाराहितसंस्काराः सदृशापरपरिणामेन श्रद्धवा (धां) राः शरीरावयव-
15 संस्पर्शिन्यः प्रत्यवभासेरन् ।

§ ६९. श्रोत्रं हि नाप्राप्यकारि चक्षुरिव प्रत्यासन्नाग्रहणप्रसङ्गः । तदभिघाते विशेषोपलम्भे दिग्विभागप्रतीतिः । अवगृहीतस्याप्रत्यक्षगुणत्वमयुक्तम्, अनाहित-
विशेषयुगोत्पत्तिविनाशाऽसम्भवात् । निरंशानां क्रमवृत्तौ अर्थान्तरव्यक्तिवद् अर्थो-
पयोगः स्यात् । कृतश्चिदक्रमस्य व्यक्तावनभिष्यङ्गौ तदन्यवैयर्थ्यम् । ध्वनिविशे-
20 षाहितसंस्कारश्रुतिपरिणामी तदर्थमधिगच्छेत् । गुणपर्ययवद्द्रव्यम् । स्पर्शवतः क्रम-
दृष्टेः द्रव्यत्वं न कस्यचिदपरिणामिनः, पौर्वापरयोर्भागस्य परपरिणामे वर्णान्तर-
परावृत्तौ असकलप्रतिपत्तिः । उभयपरिणामे अनुक्रमग्रहणनियमानुपपत्तिः [:] प्रतिवर्ण-
त्रयसंभेदेन कस्याचित्तिरोभावे परोऽपि तादृशपरिणामः समनन्तरमाविर्भवति कारण-
सामग्रीसञ्चिधौ । प्रत्यभिज्ञानेऽपि नानात्वम् । युगपद्भिन्नदेशोपलब्धैः (ब्धेः) सर्व-
28 गतत्वे सर्वत्र सर्वदोषलब्धिः । अपरिणामिनः तान्वादेरभिव्यक्ता [वा] वरणविच्छेदात्
क (क्) संस्कारादिवियोगः । सकृच्चानादेशोपलम्भो व्यापिनः प्रयासेऽपि न स्यात् ।
व्यञ्जकन्यापारे व्यङ्ग्यविशेषानियमः । करणसञ्चिपातौ (तो) पनीतश्रावणस्वभावः
पूर्वापरकोट्योः दीपादिद्रव्यवद् अनुपादानानुत्पत्तिरपरिणामविधातः । तथाऽनुपाल-
म्भेऽपि नित्यस्वभावान्तरप्रतिबन्धी । तथाहि—द्रव्यमेव भावाव्यभिचारि तदात्मक-
30 त्वाद्युराप (त्वाद् युगपत्) क्रमभावेऽपि तदेकज्ञेयत्वेमलक्षणवचामसदृशोपलम्भतः ।
तथा हि (तद्धि) शेषाप्रतिपत्तेरात्मा स्वामी तदर्थकृत् ॥६९॥

द्भेदः स्पर्शदिः संख्यादिवत् । प्रत्ययभेदिनोऽप्येकत्वं सामग्रीभेदेन कार्यकारणवत् ।
वर्णसंस्थानादेरकत्वे विप्रतिभासः, क्वचिद् दूरासन्नादिकरणगुणवैगुण्यतारतम्यभेदेन
मुक्तादिविशेषस्य रूपज्ञानस्य प्रतीतिः, अन्यथा देशादिनियमेन चन्द्रादौ तथा संवादः
कथञ्चिद्विप्रतिसांगः सामग्रीवैकल्येऽपि न स्यात् । वितण्डात्मतिरस्कारः सं (स)
वैतण्डिको मिथ्यादृष्टिः नियमेन परतिरश्चिकीर्षया स्ववचनप्रतिधाती यथा सदस- 5
दात्मा क [श्चित्] ।

स्वभावपरभावाभ्यां चाचोवृत्तिरनेकधा ।

४६२. यदि स्वरूपेण अस्ति पररूपेणापि भावस्य क्वचिदभावविरोधः ।
चेतनेतरविकल्पेऽपि न वस्तुविकल्पः । सत्ताविशेषेण प्रमाणस्य अप्रमेयत्वे स्वरूपं न
स्यात् । प्रमेयस्याऽप्रामाण्येऽपि संवादाविशेषेण वेद्यवेदकयोः परस्परपरिहारेऽपि बहिर- 10
न्तश्च वेद्यता । विशेषेण व्यापारनिर्मासस्य केवलस्य दर्शनात् आत्मनः स्वयम् आत्मा-
न्तरेण सत्त्वम् अनन्यवेद्यनियमात् । निर्व्यापारस्य व्यापारतो वृत्तिः उदयस्थिति-
संहारविरहे एकाकारस्याऽदृष्टौ पुनः अनेकस्य तथा विरोधेन भावलक्षणवैधुर्यम् ।
सर्वे (व) विकल्पातीतं तत्त्वमिति स्वामेव कृतिं स्ववाचा विडम्बयति । यदि
पररूपेण असत्; तद्विविक्तस्वरूपस्य कथञ्चिदनुपलब्धौ पररूपाऽविशेषेण स्वरूपेणापि 15
इति; सोऽयमात्मानं विडम्बयति ताराम् । संवृत्त्या स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्थां
समारभयन् सुतरां विडम्बयति परमार्थविपर्ययेण । तथाऽपरपर (तथा पर) प्रसिद्धप्रमा-
णेन ४२. “नाप्रत्यक्षं प्रमाणं न परलोकादिकं प्रमेयम् अननुमानमनागमं च” इति
लोकविसंवादशाल्तागमनिकायादयोऽधिकरणभेदेपि केवलम् आत्मोत्कर्षणार्थं लाभ-
लोकपूजाख्यातिहेतवो बाग्वृत्तयोऽनेकधा, वर्णपदवाक्यानुपूर्वीनियमः तत्त्वप्रति- 20
पचेरनङ्गम्, अन्यत्र आहोपुरुषिकातः । कल्पनातोऽनवस्था ।

शून्यसंवृतिविज्ञानकथानिष्क (ञ्क) लदर्शनम् ॥५७॥

सञ्चयापोहसन्तानाः श (स) तैते जाय (ञ्च) हेतवः ।

प्रतिज्ञाऽसाधनं यत्तत्साध्यं तस्यैव निर्णयः ॥५८॥

यददृश्यमसंज्ञानं त्रिकमञ्ज्ही (ह्री) कलक्षणम् ।

25

प्रत्यक्षं निष्कलं शेषं भ्रान्तं सारूप्यकल्पनम् ॥५९॥

क्षणस्थानमसत्कार्यमभाष्यं पशुलक्षणम् ।

प्रेत्यभावात्ययो मानमनुमानं मृदादिवत् ॥६०॥

शास्त्रं सत्यं तपो दानं देवतानि (ने) त्यलौकिकम् ।

शब्दः स्वयंभुः सर्व [अ] कार्याकार्येष्वतीन्द्रिये ॥६१॥

30

लक्षणम् अन्तर्ज्योतिर्मयम् अनादिनिधननिर्मासमात्मीयतत्त्वम् अर्थान्तरानपेक्षं चैत-
न्यवत्, मोहादिसम्बन्धान्वयस्व (व्य) तिरेकानुविधायिनः तादृशोऽज्ञानादयः तिमि-
रादिवत् स्वेहेतुप्रतिपक्षपाटवे निवर्त्तेरन् । आलोकादयो दोषसंश्लेषविश्लेषहेतवः अण्ड
[ञ] नादिवत्, न्मा (मा) र्भावविगमाद् दूरेऽयोग्यानां परिनिवृत्तिः । साध्यसाधनमिध्या-
5 सङ्कल्पाभिनिवेशो निसर्गतः पापीयान्, यथा आत्मज्ञस्वभावस्य व्यतिरेकिणी बुद्धिः
अपरिणामिनोऽर्थोपलम्भेऽकर्तुः करणतया संविद्विषयं व्यवस्थापयन्ती स्वयमन्वय-
व्यतिरेकौ संसारमोक्षौ अनुया (मा) पयति । सर्वथा विशिष्टा गुणसम्बन्धविवेकतः
पुरुषार्थसिद्धिरिति परस्परविरुद्धम् । तादृशो भावान्तराविशेषः । सत्त्वादिसामान्यगुण-
सम्बन्धेन चेतनानिबृत्तिरन्तःकरणसंज्ञिभावदृष्टकल्पना अनवस्था, सामान्यविशेष-
10 समवायव्यपदेशे चेतनाव्यतिरेकेणात्मा मा भूदुपयोगलक्षणातिरेकतो अचेतनादिवत् ।
परस्परपरिहारस्थित (ति) लक्षणतया चेतनेतरात्मनोः चेतनेतरसमवायिविवेकतः
समधिगमः परं निर्वाणम् ।

§ ७४. स्वांशमात्रविषयेन (ण) निरंशपरमार्थेन सर्वथान्या(न्य)वैद्यविरोधे पर-
दुःखमज्ञानतः करुणैव तावन्न भवेत् । विभ्रमतो भावे विभ्रमो न स्यात् । दुःखविन-
15 श्वरस्य भावोपलम्भेऽपि सिद्धसाधनी [य] परतन्त्रो देवानां प्रियः । सन्तानाभावसाधने
समानः प्रसङ्गः । प्रभवसादृश्यप्रत्यासत्तेः अन्यथाभावः स्वपूर्वापरस्वभावमतद्वेतुफल-
व्यावृत्तं मानसं तत्त्वं तत्परं विच्छिन्नपि स्वयमुपेक्षमाणः कृपात्सु (कृपालु) रिति कष्ट-
भनात्मज्ञतापरिगत तमः । तदीदृशे संज्ञान्तरविकल्पेऽपि स्वपरसन्तानभावनया
कचिदुपकारापकारसङ्कल्पहेतवः स्नेहादयः प्रवर्त्तेरन् । भेददर्शने सङ्कल्पाभावकल्पनायां
20 संज्ञान्तरसमावेशे यमः समाधिः । आत्मवतां विशेषतः तत्स्वभावगुणदोषविवेकतो हिता-
हितप्राप्तिपरिवर्जनं यथा विपरीतचेतसां सकलदोषसन्ततयः कारणपरतन्त्रेऽपि कार्य-
जन्मनि तत्करणनियमवैधुर्यं (यै) सङ्कीर्येरन् । निरभिप्रायवृत्तौ अनिवारणे वंशवत् आदौ-
त्रिलक्षणस्यान्तेऽप्यनन्ता जीवराशयः प्रदीपादेः अन्ते क्षयं (य) दर्शनेनार्थाभावसिद्धिः ।
एकत्र दृश्यादृश्यस्वभावप्रसिद्धे निर्णयेऽनिर्णयवत्, भावस्वभावोऽयं यत् कथञ्चिद्
25 भवित्येव (भवत्येव) मध्यवत् सदैवान्यथा न भवेत्पर्यवसाने परिणामिनः कारणपर-
म्पराभावप्रसङ्गः । स्वतौ (तो) विवर्त्तशक्तिविरहिणो बहिःक्षेपे सुतरामसामर्थ्यम् । उपका-
र्योप [का] रकसन्निधानात् सन्निधानसाम्ये परस्परविवर्त्तग्रन्थीनां देशकालाद्यपेक्षिणां
प्रभवनियमः । तन्निरपेक्षणां संयोगविरोधः । प्रत्यासत्ति (ति) विप्रकर्षविकल्पप्रत्य-
स्तमयेन व्यवधानेऽपि प्रसङ्गोऽनवस्था च । तदयम् अर्थप्रवृत्तिनिमित्तप्रदेशादिसहचारी
30 विनश्वरविकल्पविषयः निवर्त्तते (निवर्त्तते) न प्रवर्त्तते इति दुस्तरं द्रौस्थ्यमापद्यते ।
तादृशः पुरुषपरिणामस्वभावेषु तदभावप्रसङ्गात्तदाधिकारे जन्ममरणनिर्दिष्टो भूत् । विभ्रमे
तद्विकल्पविभ्रमेण विभ्रमोऽपि न सिद्ध्येत् । परिणामे यथा कार्यकारणनानैकत्वं शुक्लम्

समानपरिणामार्थं सङ्केताच्छब्दवृत्तिः ॥ ६४ ॥

१ ६५. क्वचित् समयानपेक्षणे शास्त्रमपौरुषेयमनर्थवद् । अनादित्वे व्यवहारवद् व्याख्याविप्रतिपत्तौ परमगहने कः साक्षी यतो निःशङ्कं चेत् पुरुषः ? स्वयंकृतसमये तदर्थदर्शी कथञ्चिद् व्यवहारिणः प्रवर्त्तयेत् । नित्येऽपि शब्दार्थसम्बन्धे अनवस्था-
प्रसङ्गः । सङ्केतदर्शिनः तत्प्रतिपत्तौ तदन्यतमे चलत्यचलति वा अचलश्चलो वा विप्र- 5
तिपिद्धः । नित्यानामनित्यानां वा सब (सम्ब) न्योऽनुपकारविशेषणे सिद्धस्य परतन्त्रतायोगो व्यतिरेकाव्यतिरेकयोरनवस्थासङ्करप्रसङ्गः । तत्सङ्केताद्यमिव्यक्तौ
अन्यकल्पनासामर्थ्यम्, उभयोरव (च) लात्मतया देशकालावस्थामेदेन उपलम्भास-
म्भवः अन्यत्र प्रतिपत्तेः । अन्यत्र सङ्केते अतिप्रमङ्गः । सामान्यसन्निवेशिनि तथा समवा-
याविशेषेण नियतवृत्तेर्विशेषाविशेषव्यपोहवत् । स्वभावभेदानुपलब्धेर्ज्ञानाभिधानानु- 10
प्रवृत्तेः, अन्यथा सम्भवो द्रव्यगुणसमवायेषु प्रसङ्गः । समानप्रत्ययजनकेषु तदव्यति-
रेकेण समविपक्षतया सम्प्रज्ञायमानेषु जातिधर्मपरिसमाप्ता च त (सावत) त्कारणव्या-
वृत्तावसाधारणत्वम् । अभावविशेषे जातिवत् समानप्रत्ययः, समानो नाम एकज्ञाननी-
लादिवत् । चक्षुरादिज्ञानेऽपि सर्वत्र सर्वथा सारूप्यव्यभिचाराभावः, तादृप्यनियम-
सम्भवः । दर्शनेतरयोः सर्वथा भेदे पश्यतो [S] स्मृतिरस्मृतेरुपरामर्श इति विषयज्ञानवत् 15
समनन्तरयोर्मतिश्रुतयोः स्वभावभेदे वेद्यवेदकलक्षणम्, तदेकार्थविषये (य) योरभि-
न्नात्मना बहिरपि शब्दार्थसङ्केते तदर्थप्रत्यभिज्ञाने वा सत्यार्थता, समानैकात्मप्रतिपत्तौ
सत्यानृत्यार्थताभेदः । समवायसाफल्यवैकल्याभ्यां शब्देऽपि आभिनिबोधिकवद्
भिन्नप्रतिभास एकतानत्वम् । यथार्थदर्शनादिगुणवैगुण्याभ्यां अवचनेतरव (वं) शसंबुचौ
सर्वविशेषकल्पनायामाप्तागमपदार्थप्रमाणप्रवृत्तिफललिङ्गाचारित्रं मा भूत् । स्वांशमात्रा- 20
बलम्बिनो नार्थप्रतिपत्तिः ।

१ ६६. एकत्र बहुभेदासम्भवे मिथ्याविकल्पो न स्यात् । सर्वथा विभ्रमे
नीलादिविशेषवद् देशकालादिभेदेऽपि दृष्टसमानार्थ विकल्पयतः तद्विषयताप्रत्यक्षवद्
देशादिनियमः, अन्यथा स्वप्नवद् दूरासन्नकार्यकारणभावप्रतिविधावनानैकं समनन्त-
रसाधारणमात्मानं संविदत् (नृ) स्वरूपतत्त्वविभ्रमं वा साधारणं प्रतिलक्ष (तिष्ठ) णं त्रिका- 25
लगोचरानन्तपर्यायदर्शी दोषावरणक्षयोपशमवशाद् दर्शनविषयसामान्यविशेषात्मानं
समासादयेत् स्थापनादिवत् । प्रतिमादौ यथासमारोपं व्यवस्थापिते तत्समानविक-
ल्पमात्मानं धारयति, समानेऽपि सर्वत्र तथाऽर्थदर्शनादिगुणयोगवियोगः तत्त्वमि-
थ्याप्रतिपत्तिः । सत्यां प्रतीतौ तदनुमानं श्रेयोऽवाप्तिपरिहरत्तद्गुणदोषविवेको वा
सन्निधिवत् तत्स्थाया (तच्छाया) प्रतिपत्तौ तदनुमानं स्वरूपप्रतिभासातिशये तथा- 30
परिणतम्, न चैतद् युगपद्विषयदेशोपलम्भे स्वपरप्रत्यक्षं विभ्रमकल्पनाविरुद्धम् ।

तथा संसारस्थितेरेवानुमानात्मभूताविशेषेऽपि प्रज्ञादिगुणनियमवत् वरमागमात् प्रवृत्तौ
प्रत्यक्षाद्यविरुद्धात् प्रवृत्तिरिति ।

सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः सत्यः पुरुषार्थाभिधायकः ।

अहेतुरन्यहे (?) क्यार्थपरिनिष्ठितचेतसाम् ॥६८॥

६ अहृष्टदोषशङ्कायामन्यत्रापि प्रसह्यते ।

अहं ममाश्रयो बन्धः संवरो निर्जरा क्षयः ॥६९॥

कर्मणामिति संख्या (सत्कृत्य) प्रेक्षाकारी समीहते ।

कृपा स्वपरसन्तानस्थानसंहारकारणम् ॥ ७० ॥

अचेतः करुणात्यन्तमन्यदुःखमजानतः ।

१० कूटस्थस्य सतः साक्षाददृश्यानुभवात्मनः ॥७१॥

सुखादि विषयः शब्दाद्यविशेषोऽपि (षधि) योन्यतः ।

गुणयोगवियोगाभ्यां संसारपरिनिर्मुक्ती ॥७२॥

सम्बन्धः सर्वभावानां शास्त्रं दृष्टेष्टबाधितम् ।

॥ [इति] प्रमाणसङ्ग्रहे सप्तमः प्रस्तावः ॥



१५

८. अष्टमः प्रस्तावः ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविधानप्रतिषेधतः ॥७३॥

सहक्रमविवक्षायां सप्तमङ्गी तदात्मनि ।

. § ७८. सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि स्वपरभावानुगमव्यावृत्तिवत् परापरस्व-

भावानुगमपरावृत्तिप्रसङ्गेन तत्त्वमवकिरन् कथमविचार्यः ? तदाऽनानैकत्वं कारकज्ञा-

२० पकव्यवस्था [प] कत्वम् । विभ्रमे विभ्रमः । स्वामिलाप्यानमिलाप्यत्वम् अमिलाप्या-

नमिलाप्यबहुवच्चात् । प्रतिभासमेदेऽपि मतिश्रुतयोः अन्वयव्यतिरेकार्थविषयत्वं

शब्दार्थग्रहणं प्रत्यभिज्ञानादेरात्मनो विशेषे प्रत्यक्षवत्तदाभावः, अन्यथा सन्तानान्त-

रवत्तस्य इतरथा भावः । तदेकार्थाविषयत्वं धर्ममेदेऽपि तदविशेषात् । स्वभावामेदे

जात्यन्तरं स्यात् । तत्र अर्थमेदाऽमेदौ सदसन्तौ व्यतिरेकेण निराशयत्वात् । वृत्ति-

२५ विकल्पविरोधे सम्बन्धोपकाराधनवरथादोषैः स एव सर्वथाऽखण्डिताकारस्य प्रत्यक्ष-

वत् शब्दबुद्ध्यावप्रतिभासने तदमेदाभावमवधारयन् वा तत्प्रत्यक्षप्रतिभासमेदनिदर्श-

नेन तद्विषयावि (धि) गमविकलविकल्पेन तत्प्रतिपक्षविप्रतिषेधेन ध्रुवत्वापरिणामिनि

§ ७०. सर्वस्य निर्दिष्टस्य सर्वथा नोपकारकत्वम् । शरीरादिपरिणामोपयोग-
साधनेन गतिस्थितिकरणविधाते तदनुपकार्यं भोक्तृत्वविरोधः । सम्बन्धासिद्धिः उपकारः
परिणामाव्यतिरेकेणानवस्था । सर्वत्र तद्गुणोपलब्धावधिष्यानातिरेकः तन्नियतवृत्ता-
वतिरेकव्यतिकरसङ्करप्रसङ्गः । तद्गुणान्तरसम्भावाविशेषस्वात्मान्तरस्यापि कालाद्य-
विशेषेणेच्छादिसमवायनियमः कुतः संसारः ? चेतनस्यापि नित्यमदृश्यस्य स्वयं विज्ञाने ६
न बुद्धिरचेतना अतीतकार्यकारणतया विकारिणमात्मानं न कथं दर्शयते ? तदुपलम्भा-
निवृत्तेरविशेषेण तद्वृत्तिसङ्करः । तदात्मानतिशायनं (१) यदि विग्रहमात्रव्यापी न भवेत्
सहव्याप्तिरूपभोगे न स्यात् । परस्यैव संसारे नात्मनः कर्मफलसम्बन्धः । सन्तान-
स्यापि निरू (रु) पाख्यतया न संसारः ।

साधनं नत्वं (तत्त्वं) विज्ञानं चारित्र्यं समयस्थितिः ।

10

§ ७१. आत्मेतरसम्बन्धवियोगकारणतत्त्वबुद्धेरस्ति कायाधिकरणस्य तदनुष्ठान-
विशेषतो भोक्तृः, तन्निसर्गादिवि (धि) गमः, तद्विषयवृत्तेः संसार आत्मसुखदुःखतर्पणा-
दिप्रवृत्तिनिवृत्त्योरकारणविशेषौषधवत् । अन्यतरवैकल्येन परस्याप्यपरिसमाप्तिः ।
साध्यसाधनयोरनवयवेन विज्ञानस्वभावव्याप्तौ प्रकृतविषयव्यापारविशेषापेक्षया
साधनस्य त्रैविध्यम्, सकलात्मपरिज्ञानेऽपि विरतविग्रहसम्बन्धस्य परत्वम् । 15

सम्बन्धयोगतः स्थानप्रस्थाने तद्विशेषतः ॥६६॥

§ ७२. चेतनस्यार्थान्तरसम्बन्धवैकल्ये न शरीरस्थितिः । संयोगपरिणामतः
कार्यकारणवद् अनादिसम्बन्धविवर्त्ती सुवर्णपाषाणादिष्व् विशेषोपपत्ते [ः] ज्ञानस्व-
भावस्य मोहादिमूर्त्तानुप्रवेष्टे मदिरादिष्व् । मन्त्रादेस्तादृशोपयोगाविरोधः । धर्मादेर-
ज्ञानस्वभावे तदविशेषः । चेतनस्य हीनस्वाप (स्थान) प्रापणं बन्ध [ः] संस्कारवशात् 20
देशान्तरप्राप्तिः देवदत्तादिष्व्, परापरकर्मप्रबन्धात् परवंसो (ज्ञो) त्यप्तिः वितटपात-
(धीजपादप) वत् । सत्यपि परस्परदे (स्परं मेदे) योग्यतालक्षणः सम्बन्धः ।
मूर्त्तानां च स्निग्धरूक्षताभावे तादृशो वृत्तेः । नायं प्रज्ञागुणः तत्प्रकर्षाप्रकर्षनिर्हासा-
तिशयजातीयाम्बासविवर्त्ती क्रोधादिकर्मोपादानयोग्यताम् आत्मनः सूचयेत् । युगप-
द्भावनिर्वासनानियमः । परिणामान्तरेऽपि तदन्वयेन अविकलतया युगपदुपलम्भ- 25
प्रसङ्गः । तदुद्भवोऽभिभवस्वभावप्रतिषेधे तिरोभावाऽसम्भवः । इतरस्यापि तदात्म-
कत्वात् । चेतनोपतापहेतवः कर्मणो न विशिष्यन्ते । तदयं दोषप्रभवः सति हेतोर्वा
कदाचिदुपरमते ।

आत्मनो दोषसम्बन्धम् आत्मज्ञः सन्निवर्त्तयेत् ।

§ ७३. निसर्गतोऽनवरतव्यामोहसमुदयवशात् स्वरसतो वृत्तप्रसादवृत्तदोष- 30
प्रसरस्य प्रतीकारो न आत्मात्मीयप्रज्ञाप्रकर्षप्रतिषेधः ग्रथमवत् । ज्ञानदर्शनेऽपि

शब्दपर्यायः शाबलेयादिवत् प्रकृतिभेदेऽपि देशकालादिभेदानुविधायिनां गवादिवि-
कल्पोपजननं समानवर्णभागानां परपरिहारस्थितिः । पदविभागवद् अनवस्थितानाम्
एकवस्तुभावसम्बन्धविवेकेऽपि वर्णपदवाक्यानुपूर्वीनियमवत् सतो न समुदायसमुदाय-
(धि) नियोगः । तथाहि-गोशब्दार्थयोरश्वादिव्यावृत्तेः गोबुद्धिजनकत्वं तुल्यम् वाक्या-
5 न्तरवत्, वाच्यवाचकव्यावृत्तावपि शाबलेयादिभेदान्वये तदर्थभिधानप्रत्ययानाम् अत-
द्यावृत्तितुल्यरूपं गवादिवत् । कचिदेकत्र ऐक्यव्यवहारासम्भवः परत्र कल्पनावृत्तेः ।

नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः तथा सङ्केतसम्भवः ॥७४॥

§ ८१. स्वतो योग्यताविधेरयोगः, प्रयत्नतोऽपि चन्द्रदेशकालगतिनियमवत्
सम्मोहविच्छेदः, प्रकरणादिवशात् नानार्थवाक्यानामेकार्थनियमः, सिद्धे तदर्थसम्बन्धे
10 समयव्यपदेशः, तदवचनोऽपि यथाभिप्रायगतं (गतं) जल्पव्यवसायशृङ्गग्राहिकया तर्हि
सम्मोहनिवृत्तिः सम्बन्धाभिज्ञा [न] स्याम्यासातिशयविवर्धे साधारणासाधारणविष [य]
योः सम्भवत्सङ्केतेतरये । मये फलाभावः । स्वयमकृतसङ्केतार्थप्रतीतिः तत्कालमा-
विनोरन्वयः, तदयं स्व (स्वा) भाविको ज्ञानज्ञेयसम्बन्धवत् सामग्रीविशेषोपपत्तेः ।

सम्बन्धान्तरतो नास्ति साध्यसाधनसंस्थितिः ।

15 § ८२. सत्यपि शब्दार्थयोः कार्यकारणभावे अयोग्यतायां न तत्प्रतिपत्तिरर्थो-
न्तरवत्, विप्रकृष्टार्थविवक्षाविशेषसम्बन्धासिद्धेः, अर्थज्ञानविवक्षाप्रयत्नवाच्यदीर्घाकरण-
व्यापाराविशेषे व्योमादिविशेषसम्बन्धवत् । तदेते प्रत्यर्थनियताः प्रतिनियतवृत्तयः स्वयं
यत्र योग्याः तमर्थसवगमयेयुः, नतं सम्प्रदायात् ग्रहादिगतिनियमो रसवीर्यविपाका-
दिर्वा संवादयितुमशक्यो यतः तत्प्रतिबद्धजन्मनि विवक्षामेव प्रतिपादयेयुरिति ।

20 शब्दाः शब्दान्तरं सङ्ख्याकालकारकलिङ्गतः ॥७५॥

§ ८३. पदवाक्यान्तरेषु वर्णपदसारूप्येऽपि भेदः तदर्थवत् । नहि सङ्ख्यासङ्ख्ये-
ययोरभेदो विप्रतिभासात् । कचिद् गुणगुणिनोरन्यतरदर्शनोऽपि तददृष्टेः द्विचन्द्रादिव-
देकत्वाज्नेकत्वयोः परस्परपरिहारेण गुणिनो विशेषणात् । कालस्य कचिदभेदकत्वे पूर्वा-
परस्वभावप्राप्तिपरिहारेणान्वयिनाऽपि निरुपाख्यत्वम्, कारकभेदभेदिनोऽभिधाना-
25 योगः । सकृदपि कार्यविशेषोपलक्षितार्थशक्तिभेदानां शक्तिमतोऽर्थान्तरत्वे अन्यतरवि-
लोपः । कारकभेदानुविधायित्वे कार्याणां वैधरूप्यमकारणं स्यात्, अन्यथा स्त्रीपुरुषा-
दिभेदिनोपयोगः (?) । कचिद् विशेषनिर्णयामावे ब्राह्मणत्वादिवत् तदभिधा [ना] त्
तदभिधानयोग्यतालक्षणं सम्प्रदायाविच्छेदे समक्रियाविशेषेण शब्दप्राधान्यतो नय-
वस्तुनो [ऽ] साधारणस्य विजातीयव्यवच्छेदनिबन्धनाः पर्याया न सङ्कीर्यन्ते । अभावा-
30 न्तराख्यातो भावान्तरासिद्धौ कृतकानित्यादिवत् व्यापारव्यतिरेकिणोऽभावाविशेषेण
तावता सर्वार्थपरिसमाप्तौ कारककल्पनाऽभिलापिनी निष्कलेषु भावेषु वेद्यवेदकनिर्भा-

उपलम्ब्यवस्थायाः सामग्रीभेदेऽपि एकत्र प्रत्ययमर्थे बालादिवद्, भावान्तरस्मरणाच्च । निरंशस्याऽनेकत्र वृत्तिविरोधः । आत्मवृत्तेरर्थान्तरसम्बन्धाभावे साकल्यवैकल्यतः यामः स्वयमर्थे स्ववृत्तिरनवस्था च । वा (क) स्यचित् सकलपरिणामिनः कर्मावरणचित्रात्मनोऽधिष्ठानभेदे सकृत् सम्भवप्रसङ्गेन देवदत्तवत् । पुद्गलानाम् असङ्ख्येयं तत्त्वं शब्दादिभेदतः, परिणामादेरेककारणप्रत्ययनीकनियमे भेदानामविरोधः ५ चैतन्येषु प्रसङ्गः, तदत्यये निरु (क) पाल्यत्वं संविदाच्च (दां त) दीक्षणव्याप्तेः ।

४७५. सुखादिसंविद्विषयस्य तत्परिणामविज्ञानात्मनः परत्रावृत्तावचेतनज्ञानसङ्गम आत्मकार्यपरिसमाप्तिः । अज्ञानस्य वा सुखादित्वे शब्दादिन्यतिरेकिणोऽभावः । क्वचिद् भावनाविशेषे विशेषदृष्टौ तदेतव (तद्) निमित्तमिति नयोगासिद्धौ चैतन्यपरितापवत् परापरभाविनियमभेदाभेदयोः कुतः प्रकृतिविकारव्यवस्था ? स्वयमवि- 10 कारिणो विकारकल्पनायाम् आत्मनोऽपि गुणान्तरस्य तथापरिणामे निमित्तमात्राविशेषण समवायनियमो मा भूत् ; समाचार्या (समवाया) विशेषतो द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषनियमो वा । न खन्वारम्भकावयवान्योन्यावार्तिर्जन द (?) तिरेकेण प्रभवप्रवृत्तौ यतः पदार्थभेदः । सम्बन्धविशेषस्पर्शादिप्रतामनियतस्निग्धरूपाणां भावात्, येन सूक्ष्मकठिनादिविशेषाः स्थूलद्रव्यादिकमारमन्ते, तत्समस्थाने न तथा भवेयुरलर (लम्) 15 र्थान्तरकल्पनया । तूलोपलादिस्पर्शवैकल्ये क्वचिद् विशेषः, जातिभेदे कथमानन्त्यं न स्यात्, भूतानामत्यन्तसम्बन्धगन्धादिरसङ्करे चित्रः समाधिः ।

४७६. पार्थिवादिविशेषेषु पुद्गलः स्पर्शादिमान् खलस्नेहो घृ (घा) रणादिमिगुणपर्यायैः स्पर्शादिस्वभावान्वयैः अयं सुखदुःखादिविज्ञानोपयोगव्यावृत्त्यनुगमात्मकः । तथाहि—नार्यं स्पर्शः संस्थानादिमान् नापि तत्स्वभावः स्पर्शादिमान् तद्व्यति- 20 रिक्तो निरुपाख्यः । परस्परविवेके स्वभावप्रतिषन्धो मा भूत् । तदुद्भूतवृत्तौ हर्येतरस्वभाव अनुभूतविरोधे स्वभावस्य स्वभावपरिहारे अत्यन्तनिवृत्तिप्रसङ्गः । परापरपर्यायावाप्तिपरिहारस्थितिलक्षणीऽर्थः स्पर्शादिविशेषक्रमवर्त्ति तविद्गमा (तद्विगमा) सम्भवे अस्त्यन्तरम् उत्पादविगमप्रौढ्यवत् प्रगलेतरयोः सम्भवस्थानपरिणामविरोधेऽपि । न वै दु (दृ) एष्ट् गरिष्ठमिष्टम् । तद्विशेषोपपत्तौ— 25

अन्त [:] ज्योतिः स्वतः सिद्धमनुमानानुरोधतः ॥६७॥

४७७. स्वतः सिद्धं चै [त] न्यं भूतेभ्यः परम् । विरुद्धकर्मविशेषकल्पनायां सम्भवानुपपत्तिः तत्त्वव्यवस्थितेरन्यथाऽपरिसंख्यानम् । परस्परपरिणामस्थितौ समुदायं (ये) तत्स्वभावभावो ज्योमादिवत् । शरीरादेः पुंगल (पुद्गल) स्वभावानतिरेकः । तथा च स्कन्धवदनिवृत्तिः प्राणादीनां सामग्रीसाकल्येन वृत्तेरसक्ति (?) क्षयोपलक्षणादौ 30 प्रमाणान्तरं विरुद्धम्, तन्मात्रानुबन्धिनि तदयोगः । परिणामादेः तुल्यः पर्यनुयोगः ।

व्यवत् । जात्यन्तरकल्पनायां च तद्विधिप्रतिषेधात्मकत्वम्, तदतदुभयानुभयविकल्पेन प्रत्येकमपि चक्रकम्, सर्वनयामासप्रतिपादक्यातिसंख्येयत्वेऽपि वर्णानुपूर्वीभेदानां तद्विशेषवस्तुविकल्पानन्त्यम् ।

अन्योन्यनिरपेक्षाणामप्रमाणप्रमेयता ।

- 5 § ८८. सकलकलाकलापमया सत्ता परस्परविधिप्रतिषेधपरमार्थांश्चक्ष्मरूपूलसंस्थानादिभेदमूर्त्तिवत् प्रमाणप्रमेयैकान्तप्रभेदपरिहारेण परस्परपरिग्रहपरिणामसिद्धिरिति ।

द्रव्यपर्याययोर्भेदमेकान्तेन प्रपञ्चयन् ॥७८॥

नैगमः सप्तधा शास्ति हि भावानां व्यवस्थितिम् ।

सर्वमेकं सतो [५] भेदादिभिर्मिथ्यार्थसङ्ग्रहः ॥७९॥

- 10 स प्रत्यस्तमिताशेषद्रव्यपर्यायभेदतः ।

आत्मादिभेदमाश्रित्य व्यवहारं प्रतिक्षिपेत् ॥८०॥

पर्यायाद् व्यतिरेकाणामन्वयप्रतिपत्तिः ।

अक्रमं स च भेदानां ऋजुसूत्रो विधारयन् ॥८१॥

कार्यकारणसन्तानसमुदायविकल्पतः ।

- 15 शब्दो लिङ्गादिभेदेन वस्तुभेदं सञ्जुद्दिशन् ॥८२॥

अभिरूढस्तु पर्यायैरित्थम्भूतः किता (या) श्रयः ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविकल्पतः ॥८३॥

नयद्वयविभागेन नैगमादिरनेकधा ।

मतिश्रुतादौ भेदानां स्वपरप्रतिवेदिनाम् ॥८४॥

- 20 कल्पना चार्थसम्बन्धेनान्वेति नयलक्षणम् ।

प्रमाणनयनिक्षेपैरात्मादिप्रविभागतः ॥८५॥

सम्प्रेक्षे नितरा [रां] सिद्धं तत्त्वज्ञानमनन्तरम् ।

॥ इति प्रमाणसङ्ग्रहे अष्टमः प्रस्तावः ॥



विविधधर्माध्यासविकल्पविषयताऽविरोधेन प्रमाणानुसारेण लोकोऽयं स्वयमेव विलो-
पयन्तं व्यवस्थापयेत् ।

६ ७६. स्वतः सतां सामान्यविशेषाणाम् असताञ्च द्रव्यगुणकर्मणां स्वभावभेदं
प्रकल्पा (न्य) प्रयोजनसामर्थ्यसम्बन्धिनियमव्यतिरेकेण परिणामिनः कथञ्चित् सद-
सदसन (दन) भिलापतद्योगविकल्पविधानतः प्रकृतिं क्रमयेत् । स्वभावान्तरग्रहत्यागतः ६
क्रमयौगपद्यविवक्षायां भिलापाऽनभिलापौ, तदुपाधिभेदेन जात्यन्तरस्य तथा प्रति-
पादने सम्बन्धो ग्रहणनियमासम्भवः । सङ्ग्रहव्यवहारजुष्टत्रार्थन [य] संश्रयात् सामान्येन
तत्त्वप्रत्यवस्थितोऽभेदौकाक्षप (भेदैकान्तप) रिग्रहः सर्वविशेषाणां सत्ताविशेषात्, सदेव
प्रत्यक्षं सर्वतो व्यावृत्तस्य बुद्धावप्रतिभासने कालादिविशेषस्य विकल्पविषयत्वम् । नहि
कालादयः प्रत्यक्षाः, तेषामविशेषे परापरभावासिद्धेः, उपाध्यन्तरकल्पनायाम् अनवस्था- 10
ऽप्रतीतिरित्यतिरेके नीलादयो न स्युः । एकत्रानेकधर्मानुपपत्तेः । समुदायस्य परस्परप-
रिग्रहाव्यवधानानुपपत्तिर्नार्थान्तरवृत्तेः, निर्व्यापारे चेतनादिविकल्पे संहृताविकल्पा-
वस्थायां सन्मात्रानिवृत्तेरिति कारकज्ञापकव्यवस्थाविलोपे क्षणिक वक्षि (१) वादः स्यात् ।
सदसत्प्राप्तित्यागेतरविकल्पविशेषेण तदतत्प्रवृत्तिसङ्करः । विग्रमेतरविवेकस्य प्रमाणेतर-
भेदनिष्ठाता (घृता) दृशः सकलतत्त्वप्रतिष्ठापने स्वपरभेदव्यवहारपरिग्रहः । स्वलक्षणम् 15
आत्मानं यदि परैर्मिश्रयति सर्वथा परत्वम् । अनेकधर्मसम्बन्धेऽप्येकत्वहानिरनानैकत्वं
अतो [ऽ] न्वयो भावलक्षणं परिकल्पितपरार्थान्वयवत् । क्वचित् सामर्थ्यासिद्धिभेदेऽपि
नैरन्तर्यादिव्यतिरेके [ऽ] निष्ठा कार्यस्य सूक्ष्मस्यादर्शने न कार्यदर्शने स्पृष्टादिप्रतिपत्तिः ।

६ ८०. इमे नैरन्तर्येऽपि व्यावृत्तिस्वभावा भावाः शक्तिप्रतिभासादिभेदे, ते शुद्धा-
शुद्धद्रव्यपर्यायपरिग्रहविभागतोऽर्थनयाः । सर्वे सर्वेषामर्थरूपत्वे समयात् परतः स्मृतिः । 20
न वै शब्दमर्थं प्रतिपादयति । सत्यप्रतिपत्तेः स्वभावोपलम्भेऽपि समयस्मरणभावे
भावात् तदनुस्मरणेऽपि लिङ्गवत् प्रतिबन्धासिद्धिः । स्मरणहेतुरर्थोऽपि लिप्यादिवत्
वस्तुदर्शने नाम संस्काराभिव्यक्तेः समाने विज्ञातेतरस्वभावे निमित्तनैमित्तिकभावेऽप्य-
विचारे वा न कश्चिद्विशेषः । सङ्केतस्मरणकरणनियमाभावे अर्थोऽर्थम् अविनामा-
विनं गमयेत् । सदसद्विषयविवेकिनो अर्थक्रियां प्रति स्मरणेऽप्यविशेषः । प्रयत्नतो 25
विशेषेषु समयावृत्तिरसमितविशेषाधिगमे अतिप्रसङ्ग इत्यवाच्यता शब्दपर्यायतः तत्तत्त्वं
सदृशापरदर्शने हि शब्दपर्यायोऽर्थः, स्वभावानन्वयात् अवगणग्रहणयोग्यताव्यावृत्तिः,
यदि नार्थपर्यायः तत्त्वभावनिवृत्तिः उपलम्भविषयस्य पूर्वापरकोट्योरसम्भवः, तत्तद्व-
्यान्तरकारकधर्मो यं यं नियमेन तात्त्वादयः तादृशं सन्निधापयेयुः प्रदीपादिवत् । सर्वत्र
सर्वस्य सर्वदा व्याप्तिः सन्निधानो (ना) विशेषेण प्रतिनियतवृत्तीनां प्रकाशनियमा- 30
भावः । सर्वत्रोपादानसम्भवेऽपि कारणानां प्रत्यर्थव्यापारभेदः । तदयमर्थः अनादिर्न

श्रीमद्भद्राकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती ।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया ॥

-शुभचन्द्रः

सेन व्यापारयति द्रव्यपर्यायनयद्वयप्रविभागे प्रमाणप्रमेयभेदेषु परस्परं प्रतिषेधैकान्तपरिग्रहः । स्वहेतोरेव निर्वृत्तस्य कार्यतोऽनुपकारे कारणस्य पारतन्त्र्यानुपपत्तिः, अर्थ एव ज्ञानं गमयेत् सन्निधाने तथानिर्यासनात् । संवादनिरपेक्षस्य ग्रामाण्यासिद्धेः ।

प्रत्यक्षं सर्वविज्ञानं स्वरूपस्य स्वतो गतेः ।

§ ८४. अर्थाधिगमस्य तादात्मा (तस्य) मनात्मविदोऽन्यत्र ग्रामाण्याविशेष- 5
पात् । परस्परार्थविदः तुल्यः प्रसङ्गोऽनवस्था च । स्वविषयनिर्भासाविवेकेन कचिद-
स्पष्टं प्रमाणसामग्रीविशेषतः प्रमाणान्तरव्यवस्था मा भूत् । विषयव्यवधानेऽपि सन्नि-
कर्षाऽविशेषः सुखादिवत् । तदतद्वृत्तानं तद्विषयतानुपपत्तेः सकलनिष्क [ल] स्ववि-
कल्पितेतरस्वभावनियमः । साक्षात् सा (स्वा) कारमर्पयतः तत्प्रतिपक्षेऽतिप्रसङ्गः ।

परोक्षपरतन्त्राणां स्पष्टाकारविवेकतः ॥७६॥

10

§ ८५ यथास्वं विभ्रमविवेकविकलं तदपरिस्फुटं प्रतिसंवेदनेऽपि भेदानामवग्र-
हादेः परतो निश्चयं कचिदवगृहीते संशयादेरभावः समीहितेऽप्यनधिगमे निर्णयस्य
विगते षाऽवधारणामावे न स्मृतेः इत्यकिञ्चित्कारेक (का) विपर्यासपराक्रमः ।
परिणामपाटवातिशये संवादशक्तेः सदा विभ्रमेण तथामाद्यस्यापि कुतश्चिदकस्माद्वाहि-
णामाकाङ्क्षाऽनिवृत्तिः ।

15

प्रक्रमार्थाविशेषेण श्रुतौ भेद [:] परिस्फुटः ।

§ ८६. कचिद् यथाश्रुतमवगृह्णाति, पुनः समीहमानो निर्णीतिं स्मृतिबीजमा-
घत्ते वा स्वभावोपलम्भोपयोगसंस्कारविशेषः, संवृतविषयसाक्षा हि समुपलक्षितविशेष-
सङ्ख्यानेऽपि शब्दः प्रत्ययः संशयादिवत् । अभिलापानपेक्षो मतिविकल्पः सन्निहितविष-
यावयवसमीहावायधारणासमानानुसरणसंकलनपरामर्शाभावे तन्नामविकल्पविकलतया 20
वर्णपदवाक्यानुपूर्वीवत् वर्णावयवानुसरणविकल्पे तदाख्याकल्पनायामनिष्ठानुपपन्नः ।
समस्तसजातीयसम्बन्धानुसरणचिन्ताप्रकर्षेण तद्विशेषाभिनिबोधः तदभिधानमपि
सन्निवेशयेत् । साक्षादनुभवात्मनः रमृत्यादेरभ्यासविशेषे पाटवोपपत्तेः । दूरदूरतरा-
दिभेदेन स्वतोऽर्थं प्रति संयोगसमवायतदनुदयमनुभवस्वभावनिर्णये परापेक्षः कथमर्थं
निष्ठापयेत् । सकलनियमग्रहेऽविकलसामग्रीजन्मनां सर्वथा विषयत्वं प्रतिविम्बोदयवत् 25
तथा परिणतेरन्यथा प्रतिभाससम्भवे बुद्धेरपरत्र न कश्चिद्विरोधः ।

आत्मज्ञानादिभेदानामानन्त्यं नयचक्रतः ॥७७॥

§ ८७. द्रव्यपर्यायभेदे तद्भावे उत्पादविगमप्रौढ्यविरहे वर्णव्यतिरेकवद् । उभ-
यकल्पनायामुभयदोषः, अनुभयवद् अन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणानुगमे प्रमाणप्रमेय-
व्यवहारनिवृत्तिः अनवस्था । सर्वथाऽवज्ञान्यकल्पनायां सर्वदोषप्रसङ्गः सर्वथा वक्त- 30

६. नवमः प्रस्तावः ।

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इव्यते ॥८६॥

नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ।

§ ८६. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्, तदेव प्रमाणं न शब्दादिः
अन्यत्रोपचारात् । प्रमाणमेव हि ज्ञान (नं) मत्प्रज्ञानादेरनधिगतेः । चैतन्येऽपि तल्ल- 5
क्षणविशेषे बालादिवत् ज्ञानवान् न विसंवादयेत् । ज्ञानं प्रमाणं भवत्येव, व्यपेक्षातः
तद्विधिकरणादिपरापेक्ष (क्षं) परोक्षम् । आत्मनियतं प्रत्यक्षम् । परिणामविशेषाविरोधे
दोषावरणक्षयोपशमोदयवृत्तं [ः] त्रसं (स) स्थावरादिगुणप्रकर्षाप्रकर्षेऽपि स्य (°) स्यादिव-
श्चाद्आत्मस्वभावाऽव्यतिरेकेण हिताहितप्राप्तिपरिहारोपयोगसामर्थ्यविरहेऽपि गर्भाण्ड-
सूच्छितादिव [त्] स्वतो जीवतीति वृत्तेऽपि नार्द्रकाप्यादौ प्राणादिपरिणामविशेषेऽपि 10
चैतन्यविलक्षणतया सूर्तिमतः कायादिप्रवृत्तश्रोतसः कर्मणो वा सकलश्रुतभावनार्सं-
वरणविगलितनिखिलक्लेशविजृम्भितकेवलज्ञानाधिगमफलस्य प्रागपि तत्त्वज्ञानात्
प्रत्यक्षादिः उपायः । स्वयमनिक्षिप्तविषयः कथाश्चिद् वितर्कयन्तो निदर्शनाद्य-
भावेऽपि क्षयोपशमविशेषापेक्षया मार्गप्रतिपत्तिनिक्षिप्तेतरवस्तुस्वभावेऽपि तद्विषयवि-
ज्ञानवत् । तदुपायाऽविशेषेऽपि अनुपयोगादिवत् प्रत्यासत्तिविप्रकर्षतारतम्यम् इव्यते । 15
साक्षादुपायानाधिगमेऽपि तत्प्रतिपस्थुपायतया तत्त्वं स्वविषये सर्वस्य गुणदोषविचारेण
अतिप्रसङ्गनिवृत्तिः । नयः कपिलादेरभ्युपगमः, प्रमेयधर्मतया विरुद्धाव्याभिचारिणं
स्वभावप्रतिबन्धपरिच्छेदेन तदतिरेकव्यवच्छेदः तत्त्वाधिगमः प्रतिपन्न (त्र) सिप्रायः
तर्हि वस्तुमात्रानिरोधे किं वै सन्दिग्धादिपरिग्रहः साकल्येनेष्यते ? समानो हि तेषामर्था-
श्रयः तत्प्रतिषेधेन युक्तितोऽर्थपरिग्रहः सर्वथैकान्तव्यतिक्रमः अ (क) मभावनया 20
चिन्तामयबुद्धिः आत्मेतरत्वमनुसरति ।

प्रामाण्यं यदि शास्त्रगम्यमथ न प्रागर्थसंवादानात्,

सङ्ख्यालक्षणगोचरार्थकथनं किं चेतसां कारणम् ।

आ ज्ञातं सकला [गमा] र्थविषया (य) ज्ञानाविरोधं बुधाः,

प्रेक्षन्ते तदुदीरितार्थगहने सम्मोहविच्छिन्नतये ॥८७॥छ॥

25

॥ इति प्रमाणसङ्ग्रहं नाम प्रकरणां समाप्तम् ॥छ॥



ज्ञानं प्रमाणं ज्ञानमित्यपि । अकलङ्कवचो ॥ [पत्रपरी० पृ० ५] "प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः" [न्यायवि० वि० पृ० ४८६.]

प्रत्यक्षस्य विशदज्ञानात्मकत्वेन लक्षणस्थानुसरणं तु निम्नग्रन्थेषु दृश्यते-प्रमाणसं० पृ० ९७ । सिद्धिवि० टी० पृ० ७१ A ९६ B । तत्त्वार्थको० पृ० १८१ । प्रमाणपं० पृ० ६७ । 5 परीक्षामु० २।१ । जैनतर्कभा० पृ० ९३ । प्रमाणनि० पृ० १४१ । प्रमाणनय० २।२ । प्रमाणमी० १।१३ । जैनतर्कभा० पृ० २ ।

तुलना-"साक्षात्कारित्वमेव प्रत्यक्षार्थः ।" [प्रमाणवात्तिकाल० लि० पृ० ४१०, ४३९। मु० पृ० १३०] "मुख्यसंव्यवहारेण संवादि विशदं मतम् । ज्ञानमध्यक्षमन्यद्भिः परोक्षमिति सङ्ग्रहः ॥" [सत्यति० टी० पृ० ५९५] पङ्क्तं बृह० पृ० ८५ A

10 पृ० १. पं० १२. 'मुख्यसंव्यवहारतः'-आगमिकज्ञानचर्चायाम् इन्द्रियानिन्द्रियजस्य प्रत्यक्षस्य मतिज्ञानान्तर्गतत्वात् परोक्षत्वं सुरपट्टम् । आर्थरक्षितार्थैः (प्र० १४४) नन्दीसूत्रकारैश्च (नन्दि० ३) इन्द्रियप्रत्यक्ष-नोइन्द्रियप्रत्यक्षरूपेणापि इन्द्रियानिन्द्रियजमतिज्ञानस्य निर्देशः कृतः । अतश्च आगमिकपरम्परायामेव इन्द्रियानिन्द्रियजमतिज्ञानस्य प्रत्यक्ष-परोक्षेतिविषयद्वयरूपतया निर्देशात् सन्ध्यायो विरोधः । स च जिनमद्भगणिचमाश्रमयैः विधेया- 15 वक्ष्यकमाष्ये (गा० ९५) "इदियमणोभवं जं सं राधवहारपञ्चकम् ॥" इति इन्द्रियानिन्द्रियज-मतिज्ञानं संव्यवहारप्रत्यक्षतया स्वीकृत्य परिहृतः ।

नागार्जुनप्रभृतिबौद्धाचार्यैः भाष्यमिकमतानुसारिभिः "हे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्ध्यानां धर्मदेशना । लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥" [भाष्यमिकका० पृ० ४०२] इत्या-दिवचोभिः ज्ञानक्षेत्रादिभेदोपदेशेन शून्यतायां समायातस्य विरोधस्य परिहारः तदुपपेशानां 20 लोकसंवृत्तिसत्यत्वमुररीकृत्य विधीयते । एवमेव धर्मकीर्तिना "प्रमाणं व्यवहारेण" [प्रमा-णवा० २।५] प्रज्ञाकरगुप्तेन च "तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत् पूर्वं तु सांख्यवहारिकस्य" [प्रमाणवात्तिकाल० लि० पृ० ७६] इति व्यवहार-सांख्यवहारिकादिभिरेव शब्दैः संवेदना-द्वैते भेदविरोधः समाधीयते । संव्यवहारशब्दोऽयं भाष्यमिककारिकायामपि (पृ० ४८९) प्रयुक्तः । वाक्यायटीकाया (पृ० १४) तत्त्वसंग्रहपत्रिकायाञ्च (पृ० ७८४) सुस्पष्टमुद्धृतम् अत् 25 "सांख्यवहारिकस्येदं प्रमाणस्य लक्षणं यदुत प्रमाणमविसंवादिज्ञानमिति ॥" इति संव्य-वहारशब्दस्य जैनबौद्धदर्शनसाधारणत्वं संसूच्यते । जैनगामे व्यवहारनयस्यापि एतदर्थ-कत्वमेव बोध्यम् ।

मुख्यसंव्यवहारतया प्रत्यक्षस्य द्विधा विभागाः निम्नग्रन्थेषु द्रष्टव्यः-प्रमाणपं० पृ० ६८ । परीक्षामु० २।५ । प्रमाणनय० २।४ । प्रमाणमी० १।१।१५, २० । प्रमाणनि० पृ० २३ । 30 न्यायदी० पृ० ९ । जैनतर्कभा० पृ० २ ।

पृ० १. पं० १२. 'परोक्षं शेष'-तुलना- प्रमाणपं० पृ० ६९ । परीक्षामु० ३।१ । सत्यति० टी० पृ० ५९५ । प्रमाणनय० ३।१ । प्रमाणमी० १।२।१ । जैनतर्कभा० पृ० ८ ।

पृ० १. पं० १३. 'प्रमाणे इति'-'तत्प्रमाणे' [तत्त्वार्थसू० १।१०] इति सूत्रार्थं समन्वेष्टा ग्रन्थकृता लघीयखण्डवन् न्यायविनिश्चये (का० ४६९) प्रमाणसङ्ग्रहे च (का० २) 35 इदमेवोक्तमिति ।

पृ० १. पं० १४. 'सन्निकर्षादे'-तुलना-"ज्ञानं प्रमाणं नाज्ञानमिद्वितीयार्थसन्नि-

॥ टिप्पणानि ॥

[Notes.]

- [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० १२८] “सैवं साधकवाधकप्रमाणाणुपपत्तौ सत्यां समानधर्मो-
पलब्धिः विनश्यदवस्था विरोधस्तुत्या सहाविनश्यदवस्थयैकस्मिन् क्षणे सती संशयज्ञानस्य
हेतुरिति सिद्धम् ।” [न्यायवा० ता० टी० पृ० २४७] “न हि साधकवाधकप्रमाणाभावमवधूय
समानधर्मोदिदर्शनादेवासी ।” [न्यायकृमु० स्त० २ पृ० ८] “यत्पुनरुक्तं धर्मकीर्तिना-साधक-
5 वाधकप्रमाणाभावात्तर्हि सन्देहोऽस्तु इति तत्राह-” [सिद्धिवि० टी० पृ० ४३१ A.] “साधक-
वाधकप्रमाणाणोर्निर्णयात् भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादारेका स्यात् ।” [अष्टा०
वष्टसह० पृ० ४९] प्रमाणनय० १।१२ । प्रमाणमी० पृ० ५ पं० ९ । “साधकवाधकप्रमाणाभावात्
सर्वज्ञे संशयोऽस्तु इत्युक्तम् ।” [अष्टसह० पृ० ४९] प्रमेवरत्नमा० ३।२९ ।

- पृ० २. पं० १६. ‘अक्षार्थयोगे’-तुलना-“अक्षार्थयोगजाद्वस्तुमात्रग्रहणलक्ष-
10 यात् । जातं यद्वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः ।” [तत्त्वार्थको० पृ० २१९] “अक्षार्थयोगे
दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ।” [प्रमाणमी० १।१२७] “अक्षार्थयोगे इत्यादि व्याचक्ष्णायैः
आप्यकारैरेव ।” [न्यायवि० वि० पृ० ३२ A.]

- अवग्रहणादीनां चतुर्णां लक्षणानि निर्युक्ति-आप्ययोः इत्थं द्रष्टव्यानि-“अथायं
उग्राह्यं अवग्रहं तद् विद्याल्लक्षणं ईदं । अवसायं च अवग्रहं धरणं पुण्य धारणं वेति ।” [आव०
15 वि० भा० १७१] “सामर्थ्यव्यावर्तनग्राहणसुग्राहो भेदमग्राहणमहेह । तस्माद्वगमोऽवाचो अविविक्तं
धारणा तस्त ।” [विशेषा० भा० १८०]

- पृ० २. पं० २१. ‘विषयविषयि’-तुलना-“तत्र अव्यक्तं वक्ष्यस्वमिन्द्रियैः
विषयग्रहणात्तत्त्वानुवाचरणमवग्रहः ।” [तत्त्वार्थवि० भा० १।१५] “विषयविषयिस्तन्निपात-
समग्रानन्तरमात्रग्रहणमवग्रहः । विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति, तदनन्तरमवस्थ
20 ग्रहणमवग्रहः ।” [सर्वार्थसि० १।१५] राजवा० १।१५। वक्ताटी० सत्ररू० । प्रमाणप० पृ० ६८ ।
सन्नति० टी० पृ० ५५२ । प्रमाणनय० २।७ । न्यायटी० पृ० १० ।

इदमेव अवग्रहलक्षणं समुद्धृतं न्यायवित्त्वयविवरणे (पृ० ३२ A.)

- पृ० २. पं० २१. ‘विषयस्तावत्’-तुलना-“विषयस्य तावत् द्रव्यपर्यायात्मन्ने-
र्यस्य विषयिणश्च निर्बुध्युपकरणलक्षणस्य द्रव्येन्द्रियस्य लब्ध्युपयोगस्वभावस्य च भावेन्द्रियस्य
25 विशिष्टपुद्गलपरिणतिरूपस्य अर्थग्रहणयोग्यतास्वभावस्य च यथाक्रमं सन्निपातः बोध्यदेशा-
वस्थानं तदनन्तरोद्भूतं सत्तामात्रदर्शनस्वभावं दर्शनमुत्तरपरिणाम स्वविषयव्यवस्थापनवि-
कल्परूपं प्रतिपद्यमानमवग्रहः ।” [सन्नति० टी० पृ० ५५३] पद्व० ग्रह० पृ० ८४ A. प्रमा-
णमी० पृ० २१ ।

- पृ० २. पं० २२. ‘द्रव्येन्द्रियं’-तुलना-“निर्बुध्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।”
80 [तत्त्वार्थसू० २।१७] प्रमाणमी० १।१२२ ।

पृ० २. पं० २२. ‘लब्ध्युपयोगौ’-तुलना-“लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।”
[तत्त्वार्थसू० २।१८] प्रमाणमी० १।१२३ ।

- पृ० २. पं० २३. ‘अर्थग्रहणशक्ति’-तुलना-“लम्बनं लब्धिः । का पुनरसौ ?
ज्ञानावरणक्षयोपशमविरोधः ।” [सर्वार्थसि० २।१८] राजवा० २।१८ । तत्त्वार्थसा० पृ० १११ ।
85 प्रमाणमी० पृ० १८ । “स्वार्थसंविद्योग्यतैश्च लब्धिः ।” [तत्त्वार्थको० २।१८] “आवर-
णक्षयक्षमप्राप्तिरूपं अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धिः ।” [स्या० रत्ना० पृ० ३४४] नैतर्कभा० पृ० १ ।

लघीयस्त्रयस्य

टि प्य शा नि



अकलङ्कं जिनं नत्वा तात्पर्यैतिहासोल्लेखैः ।

न्यायोऽयमाकलङ्को वै विशदीक्रियते मया ॥

पृ० १. पं० ६. 'सन्तानेषु'—सन्तानशब्दोऽर्थं बौद्धैः अपरासृष्टभेदेषु कार्य-
कारणभूतेषु पूर्वोत्तरक्षणेषु सम्प्रयुज्यते । स च सन्तानो न पारमार्थिकः कश्चित् मालाङ्गभूत-
मीकिक्षेपु सूत्रवत्, अपि तु "सन्तानः समुदायरश्च पङ्क्तिसेनादिबन्धुषा । सन्तानो नाम न 5
कश्चिदेकः परमार्थसन् सम्भवति । किं तर्हि ? कार्यकारणभावप्रवृत्तक्षणपरम्पराप्रवाहरूप एवार्थं
ततो व्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात् । तस्मादेतेषामेव क्षणानामेकपदेन प्रतिपादनाय सङ्केतः कुतो
बुद्धैः व्यवहारार्थं 'सन्तानः' इति ।" [बोधिवचनं० पृ० ५० ३३४ । शिलासमु० पृ० ३५९ ।
तत्त्वसं० पृ० ५२३] इत्यादिबचनात् व्यवहारार्थं क्रियमाणः सङ्केतरूप एवायम् । अयञ्च तस्या-
न्यत्वादिबिक्लपरिभाष्य एव अवस्तुत्वान् "तत्त्वान्यत्वप्रकाराभ्यामभाच्यमयं वर्यते" इति 10
तत्त्वसङ्ग्रहकारवचनात् [पृ० ५१०] ।

पृ० १. पं० ८. 'सत्त्वार्थं व्यवतिष्ठते करुणया'—सम्प्राप्तबोधेरपि बुद्धस्य न
सद्यः निर्वाणसपि तु बुद्धत्वसंबन्धककर्मवशात् सत्त्वार्थं करुणया तिष्ठन्ति । "तिष्ठन्त्येव परा-
धीना येषां तु मद्गती कृपा ।" [प्रमाणवा० २।१९८] "अकल्पकल्पासङ्ख्येयभावनापरिषद्भिदाः ।
तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु मद्गती कृपा ॥" [अभिसमयालङ्कारालो० पृ० १३४] इत्यादि वचनात् । 15

यथाहि—दर्शनविशुद्ध्यादिभिः भावनाविशेषैः जैनतीर्थकराः पुराकृतसंसारिणीबोद्ध-
रणाभवासयसमुपाजिततीर्थकरनामकर्मोदयं यावत् तिष्ठन्ति, देशनया च सन्तर्पयन्ति भव्य-
जीवान् तथैव—"अनेन पुण्येन तु सर्वदर्शितामवाप्त्य निजिन्य च दोषविद्विषः । जराकृतासृत्यु-
मह्यमिसङ्कुलात् समुद्धरेय भावसागराजगत् ॥" [अभिसमयालङ्कारालो० पृ० १३२] "अनेन
चाह कुशलेन कमेणा भवेय बुद्धो न चिरेण लोके । देशेय धर्मं जगते हिताय मोक्षेय सत्त्वान् 20
बहुदुःखपीडितान् ॥" [मह्यवज्रसङ्ग्रह पृ० ९] "उत्पादयामि ब्रह्मोधिचित्तं निमन्त्रयामि बहु-
सर्वसत्त्वान् । इष्टां चरिष्ये ब्रह्मोधिचारिकां बुद्धो भवेयं जगते हिताय ॥" [मह्यवज्रसङ्ग्रह
पृ० ५] "अतीर्णान् तारयिष्यामि अमुक्तान् मोक्षयाम्यहम् । अनाथाभ्राथयिष्यामि स्थाप-
यिष्यामि निर्बुधैः ॥" [बुद्धदेव पृ० ८२] इत्यादिभिः जगदुद्धरणभावनाविशेषैः बुद्धा अपि
सादृशं संस्कारविशेषं समुपार्जयन्ति, येन सम्यक्सम्बोधिपरिणयस्य अपि अनन्तकल्पं करु- 25
णया तिष्ठन्ति देशनया च सन्तारयन्ति भवनिदाघपरिपीडितान् प्राणिनः ।

पृ० १. पं० १२. 'प्रत्यक्षं विशदज्ञानं'—समग्रैश्च कारिका 'तदुक्तसकलबुद्धेर्ज्ञेः'
इति कृत्वा प्रमाणपरीक्षायाम् (पृ० ६९) अष्टसहस्रान्मन् (पृ० १३४) समुद्धृता । "प्रत्यक्षं विशदं

८४ A. "अवग्रहादीनां क्रमोपजनधर्माणं पूर्वं पूर्वं प्रमाणमुत्तरमुत्तरं फलम् ।" [प्रमाणनी० १११३९]

- पृ० ३. पं० ७. 'परमार्थैकसंविदे'—अत्रार्थं पूर्वपक्षः—संवेदनाद्वैतवादिनः खलु निरंशं संविद्द्वयं मन्यमानाः कल्पिते संवेद्याकारे—सारूप्ये प्रमाणव्यवस्थां संवेद्याकारे—
5 अधिगतस्वरूपे फलव्यवस्थाञ्जोरीकुर्वन्ति । तथा चोक्तम्—“स्वसंविदिः फलं वात्र तद्व्या-
दर्शनिश्चयः । विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥” [प्रमाणसू० १११०] । “अर्थस्त-
रूप्यमस्य प्रमाणम् । तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्धेरिति ॥” [न्यायवि० १११९, २०] । “विषयाधिगति-
श्चात्र प्रमाणफलमिष्यते । स्ववित्तिर्वा प्रमाणं सारूप्यं योग्यतापि वा ॥” [तत्त्वसं० पृ० १५८]

- पृ० ३. पं० ७. 'क्षयमङ्गादेरपि'—तत्रोत्तरम्—यतः निरंशसंवेदनं वस्तु तत् एव
10 तन्निष्ठक्षयिकत्वस्यापि स्वरूपवत् प्रत्यक्षविषयतैव स्यात् इति । ततश्च यथा प्रत्यक्षगृहीतक्ष-
यिकत्वग्राहिणः अनुमानस्य प्रमाणं स्वीकुर्वन्ति बौद्धाः । तथैव प्रत्यक्षगृहीतनीलाद्यर्थग्राहिणः
संज्ञत्यपरनाम्नो विकल्पस्यापि प्रमाण्यं स्वीकुर्युः । न च तेषां मते विकल्पस्य प्रमाण्याता 'गृही-
तग्रहणाश्रेष्ठं' साधुतम्—दर्शनोत्तरकालं साधुतं विकल्पज्ञानं प्रमाणं नेष्टं दर्शनगृहीतस्यैव
ग्रहणात् तेनैव च प्रापयितुं शक्यत्वात् साधुतमकिञ्चित्करमेव ॥ [प्रमाणवा० मनोरथ० १५५]
15 इत्यभिधानात् ।

पृ० ३. पं० ११. 'अर्थक्रियार्थी हि'—तुलना—'अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रेक्षावान्
प्रमाणमप्रमाणं वाञ्छन्वेष्टे ॥' [हेतुवि० लि० प्र० परि०] तत्त्वसं० पृ० ७७८ ।

- पृ० ३. पं० ११. 'रूपादिक्षणचयादि'—अत्रार्थं भावः—सौगतानामिदंममिदं
यन् निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण सर्वात्मना वस्तुनः स्वरूपस्यास्य ग्रहणं भवति । “तस्मात् दृष्टस्य
20 भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः ॥” [प्रमाणवा० १४६] इति वचनात् । तत्र यद्यपि नीलां वस्तु
सर्वात्मना प्रत्यक्षेण गृहीतं तथापि यस्मिन्जो विकल्पोत्पादकता निर्विकल्पकस्य तस्मिन्नेव
अंशे प्रामाण्यम् अथ च प्रवृत्तिजनकत्वम् । तथा चोक्तम्—“प्रत्यक्षेण गृहीतेषु विरोधैश्श-
ब्दवर्जिते । यद्विशेषावसायोऽस्ति प्रत्यक्षः सः प्रतीयते ॥” [प्रमाणवा० १५९] । “अविक-
ल्पमपि ज्ञानं विकल्पोत्पत्तिशक्तिमत् । निःशेषव्यवहाराङ्गं तद्द्वारेण भवत्यतः ॥ १३०६ ॥
25 प्रत्यक्षमुत्पन्नमपि यत्रांशवसायं जनयति स एवांशो व्यवहारयोग्यो गृहीत इत्यामिषीयते ।
यत्र तु भ्रान्तिनिमित्तवशात् समारोपप्रवृत्तेर्न व्यवसायं जनयितुमीशं स व्यवहारयोग्यत्वाद्
गृहीतोऽप्यगृहीतप्रत्यक्ष इति तत्र अनुमानस्य प्रवृत्तिसमारोपव्यवच्छेदाय प्रवर्तमानस्य प्रामाण्यं
भवति, न पुनः प्रत्यक्षानन्तरमाविविकल्पस्य तस्य प्रवृत्तिसमारोपव्यवच्छेदाभावात् ॥”
[तत्त्वसं० पृ० १९०] अतः नीलनिर्विकल्पकं नीलांशे व्यवसायं जनयत् तस्मिन्नेवांशे
30 प्रमाणम्, न पुनः क्षणक्षयाद्यंशो तत्र व्यवसायजनकत्वाभावात् इति पूर्वपक्षोत्तरार्थम् ।

- उत्तरपक्षस्यार्थं भावः—यदा हि नीलनिर्विकल्पके नीलांशस्य क्षणक्षयाद्यंशस्य च
स्फुटः प्रतिभासः संजातः तदा किं कारणं यत् निर्विकल्पके खण्डशः—नीलांशे प्रामाण्यं न
क्षणक्षयांशे । यदि नीलविकल्पवशात् नीलांशे प्रामाण्यं तदा तदैव विकल्पज्ञानं मुख्यरूपतया
फलं स्वीकर्तव्यम् । यदि च निर्विकल्पकात् विकल्पः संजायते तदा कुतो न अखण्डशः—नीलां-
85 शवत् क्षणक्षयाद्यंशेऽपि विकल्पोत्पत्तिः इति ?

पृ० ३. पं० १७. 'तथैकत्वम्'—तुलना—“क्रमोपलब्धिनियमात् स्यादभेदः स्वसं-
विदाम् । सुखदुःखादिभेदेऽपि सहवीक्ष्यानियामवत् ॥” [सिद्धि० पृ० ३५९]

कर्पादि" [प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ३] "न वै सन्निरुपादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमुपपन्नं तस्या-
र्थान्तरस्यैव स्वार्थव्यवसितो साधकतमत्वानुपपत्तेः ।" [प्रमाणनय० ११४]

पृ० २, पं० ३. 'तन्नाज्ञानस्य'—तुलना—'तन्नाज्ञानं प्रमाणमन्यत्रोपचारात् ।"
[प्रमेयक० पृ० ७ B]

पृ० २, पं० ४. 'प्रत्यक्षत्वम्'—तुलना—'तस्मान् इदं स्पष्टं व्यवसायात्मकं ४
स्वार्थसन्निधानान्यव्यतिरेकानुविधाया प्रतिसंस्थानिरोच्यविसवादकं प्रत्यक्षं प्रमाणं युक्तम् ।"
[सिद्धिदि० पृ० ९६ A]

पृ० २, पं० ६. 'अनुमानाद्यतिरेकेण'—तुलना—'अनुमानाद्याधिक्येन विशेष-
प्रकाशानं स्पष्टत्वम्" [प्रमाणनय० २१३] जैनतर्कभा० पृ० २ । "प्रतीत्यन्तराव्ययधानेन
विशेषवत्तया वा प्रतिभासनम् वेशद्यम् ।" [परीक्षामु० २१४] न्यायवि० वि० पृ० ४२ B. 10
'विशेषमिदन्त्वेनावभासनम्" [जैनतर्कभा० वृ० पृ० ९५] प्रमाणमी० ११११४ । "एतदेव
स्पष्टं यत् सर्वाकारप्रतिभासः" [प्रमाणवाक्तिकाल लि० पृ० ३०६]

समुद्भूतेयम्—स्याद्वावरणा० पृ० ३१६ । शास्त्रभा० टी० पृ० ११० B

पृ० २, पं० ८. 'तत्र सांव्यवहारिकम्'—तुलना—परीक्षामु० २१६ । प्रमाणनय०
२१५ । जैनतर्कभा० पृ० २ । 15

पृ० २, पं० ९. 'तदस्ति सुनिश्चिता'—तुलना—"अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चिता-
सम्भवद्वाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवन्, शास्त्रप्रामाण्यात् ।" [सिद्धिदि० पृ० ४२१ B.] अष्टका०,
अष्टसह० पृ० ४४ । आप्तप० पृ० ५६ । तत्त्वार्थको० पृ० १८५ । प्रमाणलि० पृ० २९ । पृष्ठ-
वृह० पृ० ५३ । प्रमाणमी० पृ० १४ ।

पृ० २, पं० ९. 'यावज्ज्ञेयव्यापि'—तुलना—"ज्ञानं नो चेन्निरुपममं विशदं 20
सर्वगतं स्वनः । लोकोन वेद कुतः "सर्वज्ञविकल्पानिति ॥" [सिद्धिदि० पृ० ४२३] "सर्वज्ञा-
भावसंविद्येतरन्यथानुपपत्तितः । पुरुषातिशयः सिद्धः ।" [सिद्धिदि० पृ० ४२८] प्रमाणमी०
पृ० १४ पं० १६-१७ ।

पृ० २, पं० ११. 'सत्त्वपुरुषत्ववक्तृत्वादेः'—कुमारिलेन सर्वज्ञनिराकरणाय
वक्तृत्वं यत्—"प्रत्यक्षाद्यविसर्गादि प्रमेयत्वादि यस्य च । सद्भावधारणे शक्तं को नु तं कल्पयि- 25
ष्यति ॥" (मी० श्लो० पृ० ८५) तत्त्वसमग्रहपत्रिकायाम् (पृ० ८८१) "अर्थं च वक्तृत्वाख्यो
हेतुः 'यस्य ज्ञेयप्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः' इत्यत्र आदिशब्देन आक्षिप्त एवेति 'तदत्रादि-
पदाक्षिप्तं वक्तृत्वे योजमन्यते ।" इत्युक्त्यात् अनुमीयते यत् मीमांसारूपेण व्याख्यातारः
'प्रमेयत्वादि' इत्यत्र आदिपदेन वक्तृत्वादिकान् हेतून् समुच्चिनन्ति । तानेव वक्तृत्वादीन्
हेतून् ग्रन्थकारः प्रतिबन्ध्या सर्वज्ञाभावज्ञानस्य अशक्यत्वसाधने प्रयुनक्ति । 30

तुलना—नयचन्द्र० पृ० १२३ । "उक्त्यादेर्दोषसंज्ञयो नेत्येकं व्यतिरेकोऽस्य सन्निधो
व्यभिचार्यतः ॥" [प्रमाणवा० ११४४] सिद्धिदि० पृ० ४२९ ।

पृ० २, पं० १३. 'अत्रानुपलम्भ'—तुलना—प्रमाणमी० पृ० १४ ।

पृ० २, पं० १४. 'साधकवाधकप्रमाणा'—'साधकवाधकप्रमाणाभावान् सन्देहो
जायते' इति विचारस्य तुलना—"साधकवाधकप्रमाणाभावमात्रं चात्र सन्देहेन लक्ष्यते ।" 35

भावः क्रमेण युगपद्वा न अर्थक्रियां कर्तुं क्षमः इति मतं पूर्वपक्षीकृतम् । तथाहि—“क्षणिके-
ष्वपि भावेयु ननु चार्थक्रिया कथम् ।” क्रमेण युगपन्नापि यतस्तेष्वर्थक्रियाकृतः । न भवन्ति
ततस्तेषां व्यर्थः क्षणिकतामयः ॥” [तत्त्वसं० पृ० १५३]

- जैनैः तेनैव हेतुना सर्वथा क्षणिके नित्ये च अर्थक्रियाकारित्वामात्रं प्रसाध्य कथञ्चि-
५ नित्यानित्यात्मन्यर्थे अर्थक्रियाकारित्वं संसाध्यते । द्रष्टव्यम्—शास्त्रवा० श्लो० ४३७ ।
अष्टमह० पृ० २०२ । प्रमेयक० पृ० १४७ A न्यायकुमु० पृ० ३७९ ।

समुद्भूतेयम्—न्यायवि० वि० पृ० ५२७ A. प्रमाणसी० पृ० १४ ।

पृ० ४. पं० ५, ‘अर्थक्रियासमर्थ’—“अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः” [न्याय-
वि० १।१५] प्रमाणवा० ३।३।

- 10 पृ० ४. पं० ६, ‘स्वभूतिमात्रम्’—“तथा—क्षणिकाः सर्वसंस्काराः स्थिराणां कुतः
क्रिया । भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव बोध्यते ॥” [बोधिवर्ण० पृ० ५० ३७६]

पृ० ४. पं० ७, ‘विषयाकारस्यैव’—पूर्वपक्षः—“अत्रापि फले विषयाकारतैव प्रमा-
णम् । यथाह आचार्यः—नन्वव्यतिरेकाद् ग्राहकाकारोपि कस्मान् प्रमाणम् ? अत्रोच्यते—
तत्प्राप्तिमात्रतैवास्य प्रमाणं न तु सन्नपि । ग्राहकात्माऽप्यर्थत्वाद्वाहोर्ध्वेऽप्येवमेव ॥”

- 15 [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ७०]

इति प्रमाणप्रवेशे द्वितीयः परिच्छेदः ॥



पृ० ४. पं० २३, ‘ज्ञानमात्रं’—अस्यां कारिकायां ग्रन्थकारः मतिस्तुतिसंज्ञेत्यादि
सूत्रे [तत्त्वार्थसू० १।१३] अनर्थान्तरत्वेनोक्तानां मत्यादीनाम् अवस्थाविशेषापेक्षया मतित्वं
श्रुतत्वञ्च निरूपयति ।

- 20 अत्र व्याख्यामेव—प्रमाणद्वाराः “किं यत् नामयोजनात् जायतेऽविशदं ज्ञानं तदेव
श्रुतमुतान्यदपि ? इत्याह—प्राज्ञनामयोजनात् । नाम्नः अमिषानस्य योजनात् पूर्वमुपजायते
यदस्पष्टं ज्ञानं तच्छ्रुतम् नामयोजनाजनितायास्पष्टज्ञानसाधन्यान् इत्यभिप्रायः । ‘चिन्ता च’
इत्यत्र चशब्दो भिन्नप्रक्रमः ‘शब्दानुयोजनात्’ इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । तेन न केवलं नाम-
योजनात् पूर्वं यदस्पष्टं ज्ञानमुपजायते तदेव श्रुतं किन्तु शब्दानुयोजनाच्च यदुपजायते तदपि
25 श्रुतमिति संगृहीतं भवति ॥” [न्यायकुमु० लि० पृ० २२२ B.] इत्यादिसङ्गमेव स्मृत्यादिज्ञा-
नान्युभयया शब्दयोजनात् प्राक् अनन्तरञ्च श्रुतेऽन्तर्भावयन्ति । कारिकायामावातस्य
आद्यशब्दस्य कारणार्थकताञ्च सूचयन्ति ।

- विद्यानन्दास्तु—शब्दयोजनात् प्राक् मतिज्ञानोदात्तादामिनिबोधिकपर्यन्तज्ञानानां मतित्वं
शब्दानुयोजनाच्च तेषामेव श्रुतत्वं स्वीकुर्वन्ति । तथाहि—“अत्र अकलंकदेवाः प्राहुः—ज्ञानमात्रं
30 स्मृतिः संज्ञा” “तत्रेदं विचार्यते—मतिज्ञानादाद्यादामिनिबोधिकपर्यान्ताच्छेषं श्रुतं शब्दानु-
योजनादेवेत्यवधारणम्, श्रुतमेव शब्दानुयोजनादिति वा ? (पृ० २३९) इत्युक्ता मतिः
प्राज्ञनामयोजनात् । शब्दानुयोजनादेव श्रुतमेव न न वाच्यते” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २४१]

- सम्प्रतिटीकाकारस्तु विद्यानन्दाभिमतव्याख्यानमेव प्रतीयन्ति, तथाहि—“अत्र च यत्
शब्दसंयोजनात् प्राक् स्मृत्यादिकमविसंवादिव्यवहारनिर्वर्तनञ्चमं प्रवर्तते तन्मतिः, शब्दसंयोज-
35 नात् प्रादुर्भूतं तु सर्वं श्रुतमिति विभागाः ॥” [सम्प्रति० टी० पृ० ५५३] यद्द० बृह० पृ० ८४ B.

पृ० २. पं० २३. 'उपयोगः पुनः—तुलना—'उपयोगः प्रथिवानम् ।' [तत्त्वा-
र्थाधि० भा० १११९] 'तन्निमित्त आत्मनः परिणाम उपयोगः ।' [सर्वार्थसि० २११८] राजवा०
२११८ । तत्त्वार्थश्लो० २११८ । तत्त्वार्थसा० पृ० १११ । प्रमाणमी० पृ० १८ । जैनतर्कभा० पृ० १ ।
'उपयोगस्तु रूपादिग्रहणव्यापारः ।' [त्या० रत्ना० पृ० ३४४]

पृ० २. पं० २४. 'पुनरग्रहीत'—'अवग्रहीतेऽर्थे विपर्यायैकदेशाच्छेषानुगमनं ६
निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा ।' [तत्त्वार्थाधि० भा० १११५] 'अवग्रहग्रहीतेऽर्थे तद्विशेषा-
कादृच्छणमीहा ।' [सर्वार्थसि० १११५] राजवा० १११५ । बबला टी० सत्प्रक० । तत्त्वार्थश्लो० पृ०
२२० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सम्प्रति० टी० पृ० ५५३ । प्रमाणनय० २१८ । पद्द० बृह० पृ० ८४A.
प्रमाणमी० १११२७ । न्यायटी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।

पृ० २. पं० २६. 'तथेहितविशेष'—'अवग्रहीते विषये सम्यगसम्यगिति गुणदो- 10
षविचारणाध्यवसायापनोदोपायः ।' [तत्त्वार्थाधि० भा० १११५] 'विशेषनिर्ज्ञानाद्याद्यात्म्या-
वगमनमवाधः ।' [सर्वार्थसि० १११५] राजवा० १११५ । बबलाटी० सत्प्रक० । तत्त्वार्थश्लो० पृ०
२२० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सम्प्रति० टी० पृ० ५५३ । प्रमाणनय० २१९ । पद्द० बृह० पृ० ८४A.
प्रमाणमी० १११२८ । न्यायटी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।

पृ० २. पं० २६. 'कथञ्चिदभेदेऽपि'—तुलना—सम्प्रति० टी० पृ० ५५३ । प्रमा- 15
णमी० पृ० २२ । पद्द० बृह० पृ० ८४A. 'कथञ्चिदभेदेऽपि परिणामविशेषादेवां व्यपदेशमेदः ।'
[प्रमाणनय० २१२२]

पृ० २. पं० २८. 'धारणा'—'धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्थं मत्यवस्थानमवधारणं च
धारणा प्रतिपत्तिः अवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोधः इत्यनर्थान्तरम् ।' [तत्त्वा-
र्थाधि० भा० १११५] 'अथेतस्य कालान्तरेऽस्मिन्मरणकारणं धारणा ।' [सर्वार्थसि० १११५] 20
राजवा० १११५ । बबलाटी० सत्प्रक० । प्रमाणप० पृ० ६८ । सम्प्रति टी० पृ० ५५३ । प्रमाणनय०
२११० । प्रमाणमी० १११२९ । पद्द० बृह० पृ० ८४A न्यायटी० पृ० ११ । जैनतर्कभा० पृ० ५ ।
'महोदये च कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानम् । अनन्तबीयोऽपि तया
निर्णीतस्य कालान्तरे तथैव स्मरणहेतुः संस्कारो धारणा इति ।' [त्या० रत्ना० पृ० ३४९]

पृ० ३. पं० १. 'ईहाधारणयोरपि'—तुलना—'अज्ञानात्मकतायांतु संस्कारस्येह
तस्य वा । ज्ञानोपादानतान स्याद्रूपादेरिव सास्ति च ॥' [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २२१] विगोणः 25
भा० १८२ । प्रमाणमी० पृ० २१ पं० २५. पृ० २२ पं० ५. पृ० ३० पं० २३ ।

पृ० ३. पं० ५. 'बह्वाद्यवग्रहा'—तुलना—'बहुबहुविधचिपानिस्तुतालुक्तब्रुवाणां
सेतवराणाम्' [तत्त्वार्थश्लो० १११६] 'अवग्रहादवग्रहत्वात् मतिज्ञानविभागा एषां बह्वादीनामर्थानां
सेतवराणां भवन्त्येकशः ।' [तत्त्वार्थाधि० भा० १११६] बबलाटी० सत्प्रक० । 30

पृ० ३. पं० ६. 'पूर्वपूर्वप्रमाणत्वं'—तुलना—'पूर्वपूर्व प्रमाणमुत्तरोत्तरं फलमिति
क्रमः ।' [प्रमाणवार्तिकाल० डि० पृ० ४] 'तथा पूर्व पूर्व प्रमाणमुत्तरोत्तरं फलमिति' [न्या-
यवि० टी० डि० पृ० ४०] 'साम्प्रतं पूर्व पूर्व प्रमाणं स्यात् फलं स्यादुत्तरोत्तरम् इत्यमि-
तीदम्' [सिद्धिभि० टी० पृ० १८४A] 'केचिद्बहुः— पूर्व ज्ञानं प्रमाणमुत्तरं ज्ञानं प्रमा-
णफलमिति ।' [तर्कभा० मो० पृ० ११] सम्प्रति० टी० पृ० ५५३ पं० ६ । पद्द० बृह० पृ० 85

तुलना-“साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेवं प्रसज्यते ।” [न्यायकृष्ण० ३।९] “सादृश्यं चेत् प्रमेयं स्यात् वैलक्षण्यं न किं तथा ।” [जैनतर्कभा० पृ० ७६]

समुद्धृतेयम्—स्या० रत्ना० पृ० ४९८ । रत्नाकराव० ३।४ । प्रमेयरत्नमा० ३।५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

- ६ पृ० ७. पं० २३. ‘इदमल्पं’—तुलना-“एकविधायी खड्गः सप्तपण्यो विषमच्छदः इत्यादितसस्काराणां पुनस्तत्प्रत्यक्षदर्शिनानामभिज्ञानं किञ्चाम प्रमाणं स्यात् । तथा स्त्र्यादिलक्षणाश्रवणात् तथादर्शिनः समभिज्ञानम्, संख्यादिप्रतिपत्तिश्च पूर्वापरनिरीक्षणात्, पश्यतां च नामयोजना उपमानवत् सर्वं प्रमाणान्तरम् ।” [सिद्धिभि० पृ० १५० B.] परोक्षामु० ३।५-१० । प्रमाणनय० ३।५, ६ । प्रमाणमी० १।२।४ ।

- १० समुद्धृतेयम्—स्या० रत्ना० पृ० ४९८ । प्रमेयरत्नमा० ३।५ । प्रमाणमी० पृ० ३५ ।

पृ० ७. पं० २६. ‘अर्थापत्तिः’—“अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो बाध्योऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना । यथा जीवति देवदत्ते गृहमावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना ।” [शाबरभा० १।१।५] मी० श्लो० अर्था० श्लो० १ ।

- पृ० ८. पं० १. ‘परोक्षेऽन्तर्भावात्’—तुलना-“अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसंभवाभावादन्यपि च प्रमाण्यानीति केचित् मन्यन्ते तत्कथमेतदिति ? अत्रोच्यते—सर्वाथेयानि मतिश्रुतयोरन्तर्भवानि इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात् ।” [तत्त्वार्थशि० भा० १।१२] “उपमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्...” [सर्वाथेयि० १।११] “अर्थापत्त्यादेरनुमानजन्यतिरेकेऽपि परोक्षेऽन्तर्भावात् ।” [अष्टसह० पृ० २८१]

इति प्रमाणप्रवेशे तृतीयः परिच्छेदः ॥



- २० पृ० ८. पं० ६. ‘यद्ययैवाविसंवादि’—तुलना-“यथा यत्र विशदं तथा तत्र प्रत्यक्षम् । यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाण्या । (पृ० ६५ B.) तथा च सर्वं स्वभावे परभावे वा कथञ्चिदेव प्रमाणं न सर्वथा ।” [सिद्धिभि० पृ० ८६ A.] “यथा यत्राविसंवादः तथा तत्र प्रमाण्या ।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०] सिद्धिभि० टी० पृ० ६९ B. “यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाण्यातेत्यकलंकदेवैरप्युक्तत्वात् ।” [अष्टसह० पृ० १६३] “यद्ययैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा २५ मतम् । विसंवाद्यप्रमाणं च तद्व्यक्तपरोक्षयोः ॥” [सम्प्रति० टी० पृ० ५९५]

- पृ० ८. पं० १०. ‘तिमिराद्युपसंभव’—तुलना-“यैनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति । तेन प्रत्यक्षतद्गमासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुक्तेतव्या, प्रसिद्धानुपहृतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कविषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूतकारावभासनात्, तथोपहृताच्चादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात् । तत्प्रकारोपेक्षया व्यपदेशजन्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत् ।” [अष्टसह० पृ० २७७] “अनुपप्लुतदृष्टीनां चन्द्रादिपरिवेदनम् । तत्संख्याविषु संवादि न प्रत्यासन्नताविषु ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १७०] “तिमिराद्युपसंभवाच्चान् चन्द्रादावविसंवादकत्वात् प्रमाणं तत्संख्यादौ तदेव विसंवादकत्वादप्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायास्तत्संख्यात्वात् । यतो ज्ञानं यदप्यनुकरोति तत्र न प्रमाण्यामेव समारोपव्यवच्छेदापेक्षत्वात् । अन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिर्न स्यात् कृतस्य करणयोगात् तदेकान्तदानेः कथञ्चित्करणा-

५० ३. पं० १८, 'प्रमाणफलयोः'—“इत्युक्तं लघीयलक्ष्ये प्रमाणफलयोः क्रम-
भावेऽपि तादात्म्यं प्रत्येयम् ॥” [सिद्धिनि० टी० ५० १९ B.]

इति प्रमाणप्रवेशे प्रथमः परिच्छेदः ॥



५० ३. पं० २३, 'तद्द्रव्यपर्याया'—तुलना—“तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्”
[युक्त्यनुशा० श्लो० ४७] “अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्” [न्यायवा० श्लो० २९] ६
परीक्षामु० ४११। प्रमाणनय० ५११। प्रमाणमी० १११३०। “द्रव्यपर्यायात्मार्यः इत्येकलक्ष्णेदेव-
मिधानात्” [तत्त्वार्थश्लो० ५० ४२४]

५० ३. पं० २४, 'स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा'—“तत्र यदर्थाक्रियामर्थं
तदेव वस्तु स्वलक्षणमिति । सामान्यलक्षणं च ततो विपरीतम् ॥” [प्रमाणसमु० टी० ५० ६]
“यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदः तत्स्वलक्षणम् । तदेव परमार्थसत् ॥” 10
[न्यायवि० १११३, १४] “स्वमसाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम् ॥” [न्यायवि० टी० ५० २२]
“अर्थक्रियासमर्थं यत्तदत्र परमार्थसत् । अन्यत्संयुतिमत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणम् ॥”
[प्रमाणवा० ३१३] “अन्यत् सामान्यलक्षणम् । सोऽनुमानस्य विषयः ॥” [न्यायवि० ११६,
१७] “...सामान्येन लक्षणं सामान्यलक्षणम्, साधारणं रूपमित्यर्थः ॥” [न्यायवि० टी०
५० २४] “यदाह—न हि स्वसामान्यलक्षणाभ्यामपरं प्रमेयमस्ति, स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षं 15
सामान्यविषयमनुमानमिति । यदा साक्षाज्ज्ञानजननं प्रति शक्त्येन प्रतीयते तदाऽसौ स्वेन
रूपेण लक्ष्यमाणात्मानं स्वलक्षणम् । यदा तु पारम्पर्येण शक्तता तस्यैव प्रतीयते तदा सामा-
न्यरूपेण लक्षणमिति सामान्यलक्षणम् ॥” [प्रमाणवार्तिकाल० लि० ५० २७३]

तुलना—“न हि बहिरन्तर्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा तथैवोपलभ्यमाने यथैकान्त-
वादिभिराज्ञायते ॥” [अट्टज०, अट्टसह० ५० १७५] 20

५० ४. पं० ३, 'अर्थक्रिया'—सौगतैः नित्यपक्षस्य असत्त्वसिद्धयर्थं 'क्रमयौगप-
द्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वाभावात्' इति हेतुः प्रयुज्यते । तथाहि—“यदि न सर्वं सत् कृतकं वा
प्रतिक्षणविनाशि स्यादक्षणिकस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाभ्योगात् अर्थक्रियासामर्थ्यलक्ष-
णमतो निवृत्तमित्यसदेव स्यात् ॥” [वादन्याय ५०७] 'क्रमयौगपद्याभ्यामित्यादि—नेव प्रत्यक्षतः
कार्यविरहाद्वा शक्तिविरहोऽक्षणिकत्वे उत्पन्नं किन्तु तद्वधापकविरहान्, तथाहि—क्रमयोग- 25
पद्याभ्यां कार्यक्रिया व्याप्ता प्रकारान्तराभावात् । ततः कार्यक्रियार्थलक्षणापक्रयोः तयोरक्ष-
णिकत्वे विरोधान्निवृत्तेः तद्वधाप्रायाः क्रियाशक्तेरपि निवृत्तिः इति सर्वशक्तिविरहलक्षणमस-
त्त्वमक्षणिकत्वे व्यापकानुपलब्धिराकर्षति विरुद्धयोरप्रायायोगान् । ततो निवृत्तं तत्त्वं क्षणिके-
ष्वेव अवतिष्ठमानं तदात्मतामनुभवति इति यत् सन् तत् क्षणिकमेव ॥” [हेतुवि० टी० लि०
५० १४२ B.] 'क्रमेण युगपदापि यस्मादर्थक्रियाकृतः । न अवन्ति स्थिरा भावाः निःस- 30
त्वास्ते ततो मताः ॥” [तत्त्वस० ५० १४३] क्षणभ्रमि० ५० २० । उत्यादि ।

नित्यवस्तुवादिभिः अनेनैव हेतुना क्षणिकेऽर्थक्रियाभावाः प्रतिषेधन्या प्रमाप्यन्ते ।
तथाहि—“क्षणिकस्यापि भावस्य सत्त्वं नान्त्येव सोऽपि हि । क्रमेण युगपदापि न कार्यकरणे
क्षमः ॥” [न्यायम० ५० ४५३] न्यायवा० ता० टी० ५० ५५८ । विनि० न्यायम० ५० ६३० ।

तत्त्वसमूहे 'क्षणिकेष्वपि इत्यादिना भदन्तयोगमेनमनमाशङ्कते' इत्युक्त्या 'क्षणिर्नापि 35
१८

शब्दादुच्चरिताद्विचक्षितार्थप्रतिभासी विकल्पोऽनुमीयत इत्यर्थः ॥ [प्रमाणवा० मनोरथ० पृ० ४]
 “यद्यथा वाचकत्वेन वस्तुभिर्विनिवन्धते । अनपेक्षितवाङ्मार्थं तत्तथा वाचकं मतम् ॥” [प्रमाण-
 वा० १।६७] “परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिवन्धना । न स्वात्मवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदेषु ॥
 अतोताजातयोर्वापि न च स्मादनृतार्थता । वाचः कस्यापिचित्त्वे वा बौद्धार्थविषया मता ॥”

- 5 [प्रमाणवा० १।२०९-१०] “विषयापरतन्त्रत्वाच्च शब्दाः सन्ति कुत्र वा । तद्भावादर्थसिद्धौ तु सर्वं सर्वस्य सिद्ध्यति ॥” [प्रमाणवा० २।१६] “यथोक्तम्-वक्तुमिष्टार्थं सूचयेयुः शब्दाः ॥”
 [तर्कना० नो० पृ० ४]

इति प्रमाणप्रवेशः प्रथमः ॥



- पृ० १०, पं० २३, ‘भेदामेदात्मके’-“तथा चाहाकलङ्क-भेदाभेदा-यतोऽपेक्षा-
 10 नपेक्षाभ्यां” [वाच० नि० मल्ल० पृ० ३७० B.] गुष्ठत्ववि० पृ० १६ B.

पृ० १०, पं० २४, ‘अपेक्षाऽनपेक्षा’-“निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः
 सापेक्षत्वमुपेक्षा ॥” [अष्टा०, अष्टसह० पृ० २९०]

- पृ० १, पं० २४, ‘नयदुर्नया’-“निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥”
 [वाचमी० श्लो० १०८] “तन्हा सन्ने वि णया मिच्छादिद्वि सपन्नपण्डित्वा । अण्यण्यण्यणि-
 15 स्सिमा सण हवति सम्मत्तसञ्जावा ॥” [सम्पत्ति० १।२१] “नयाः सापेक्षा दुर्नया निरपेक्षा
 लोकोपेक्षि सिद्धाः” [सिद्धि० पृ० ११७ B.] “तथा चोक्तम्-अर्थस्यानेकरूपस्य धीः
 प्रमाणां तद्वशावाः । नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तनिराकृतिः ॥” [अष्टा०, अष्टसह० पृ० २९०]
 “धर्मान्तरापेक्षानोपेक्षाहानिखलस्यत्वात् प्रमाणास्तदुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाणास्तद-
 तत्त्वभावप्रतिपत्तेः सत्यपिपत्तेः तदन्यनिराकृतेष्व ॥” [अष्टा०, अष्टसह० पृ० २९०] “सदेव
 20 सत् स्यात्सदिति त्रिधाधर्मो मीयेत दुर्नोतिनयप्रमाणाः ॥” [अन्ययोग्य० श्लो० २८]

- पृ० १०, पं० २५, ‘उत्पादव्यय’-“उपपत्ते वा विगप वा ध्रुवे वा” [स्वानाग०
 स्या० १०] “सद्वृत्तं वा” [व्या० प्र० वा० ८ व० ९ सप्तद्वार] “सद्वृत्तवृत्तस्यैव, उत्पादव्य-
 यधौव्ययुक्तं सत्” [तत्त्वार्थसू० ५।२९, ३०] “द्वयं पञ्चयविषयं दन्वविषया य पञ्चवा गतिर्य ।
 उपायद्विद्विभंगा इदं द्विव्ययलक्षणं एयं ॥” [सम्पत्ति० गा० १।१२] “नोत्पादस्थितिर्भगाना-
 25 मभावे स्यान्मतित्रयम् ॥” [मी० श्लो० पृ० ६१९] “उत्पादस्थितिर्भगानां स्वभावाद्गुणविविधा ।
 तद्वैतनामसामर्थ्यात् अतस्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥” [सिद्धि० पृ० १९७]

- पृ० १०, पं० २५, ‘द्रव्यपर्याया’-“द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या । कर्षं ह्यपेक्षते
 एवं हि हरयते लोके मृत् कयाचिद् आकृत्या युक्तः पिण्डो भवति । पिण्डाकृतिमुपमृष्टं घटिकाः
 क्रियन्ते । घटिकाकृतिमुपमृष्टं कुण्डिकाः क्रियन्ते । यथा सुवर्षं कयाचिदाकृत्या युक्तः पिण्डो
 30 भवति । पिण्डाकृतिमुपमृष्टं रुचकाः क्रियन्ते । रुचकाकृतिमुपमृष्टं कटकाः क्रियन्ते । कटकाकृ-
 तिमुपमृष्टं स्वस्तिकाः क्रियन्ते पुनराकृत्याः सुवर्षं पिण्डः पुनरपरया आकृत्या युक्तः लदिराकृत-
 रसहस्रो कुण्डले भवतः । आकृतिरनित्या चान्धा च अवयवि द्रव्यं पुनस्तदेव । आकृत्युपमर्देन
 द्रव्यमेवावशिष्यते ॥” [मत० महाभा० १।१११] योग्या० ३।१३।

- पृ० १०, पं० २६ ‘नयो’-“नयाः कारकाः साधका निर्वर्तका निर्मासका उप-
 35 सम्भका व्यवहृता इत्यनर्थान्तरम् । जीवादीन् पञ्चार्थान् जयन्ति प्राणवन्ति कारकान्ति साध-
 वन्ति निर्वर्तवन्ति निर्मासवन्ति उपसम्भयन्ति व्यवहृत्पन्तीति नयाः ॥” [तत्त्वार्थवि० वा०
 १।१६] “सत्यर्थेणैव साधकस्य साधक्यार्थविशेषः । स्याद्वाद्वाधिमन्त्रयमिरोक्त्यवज्ञाये नयः ॥”

पृ० ५. पं० १. 'अविसंवादस्मृतैः'—तुलना—“धारणारूपं च मतिः अविसंवाद-
स्वरूपस्मृतिकलस्य हेतुत्वात् प्रमाणम् ।” [सन्निधि० टी० पृ० ५५३] पद० बृह० पृ० ८४ A.

पृ० ५. पं० २. 'प्राक्शब्द'—तुलना—“मतिस्मृत्यादयः शब्दयोजनमन्तरेण न
भवन्तीत्येकान्तो न, तदेकान्ते पुन. न कश्चित् रयुः तन्नामस्मृतेरयोगात् अनवस्थानादेः ।”
[सिद्धिदि० पृ० १०० A.] “प्राक्शब्दयोजनात् मतिज्ञानमेवत शेषमनेकप्रमेदं शब्दयोजनादु-
पनायमानमविशद ज्ञानं श्रुतम् इति केचित् ।” [सन्निधि० टी० पृ० ५५३] पद० बृह० पृ० ८४ A. 5

पृ० ५. पं० १०. 'नहि प्रत्यक्षं'—तुलना—“नहि कस्यचित् साकल्येन व्याप्तिज्ञानं
प्रत्यक्षं कश्चित् कदाचिद्भविष्यति सन्निहितविषयवस्तोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।” [सिद्धिदि० पृ०
१५६] अष्टम०, अष्टसह० पृ० १११. “यथाहुः—न हीदमियतो व्यापारम् कर्तुं समर्थं सन्निहितवि-
षयवलेनोत्पत्तेरविचारकत्वात् ।” [शां० भा० नामनी पृ० ७६६] व्यापारा० ता० टी० पृ० १३७ । 10

पृ० ५. पं० ११. 'तन्नामप्रत्यक्षम्'—उद्धृतमिदम्—प्रमाणसं० पृ० १०१ ।

पृ० ५. पं० १२. 'प्रमाणान्तरत्वात्'—तुलना—“सन्निकृष्टप्रकृतयोः साकल्ये-
नेदन्तया नेदन्तया वा व्यवस्थापयितुकामस्य तर्कः परं शरणात् ।” [सिद्धिदि० पृ० २९३ A.]

पृ० ५. पं० १६. 'तादात्म्यतदुत्पत्तौ'—श्रीराम हि तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव
अविनाभावनियमं वक्ष्यन्ति; तथाहि—“स च प्रतिबन्धः साम्येयं क्षिप्तस्य वस्तुतत्त्वादात्म्या-
त्तात्मादर्थोद्भूतत्वेन ।” [व्यापारि० पृ० ४१] “कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियमकात् ।
अविनाभावनियमः...” [प्रमाणसं० १३२] 15

पृ० ५. पं० २०. 'चन्द्रादेः'—तुलना—“चन्द्रादौ जलचन्द्रादि सोऽपि तत्र तथा-
विधः । छायादिपावपादी च सोऽपि तत्र कदाचन ।” [तत्त्वार्थसंग्र० पृ० २०१]

पृ० ५. पं० २३. 'भविष्यत्प्रतिपक्षेत'—तुलना—“कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्या-
सप्तिकलसिधत् ।” [नी० श्लो० पृ० ३५१] प्रथ० व्यो० पृ० ५७१ । “प्रतिबन्धपरिसङ्ख्यायाम्
उद्वेग्यति शकटं कृत्तिकोदयादिति किं प्रमाणम् ।” [सिद्धिदि० पृ० ३१७ B] प्रमाणसं० पृ० ७१।
परीक्षासं० ३१६३ । प्रमाणसं० ३१८० । प्रमाणसं० पृ० ४१ । जलतर्कभा० पृ० १६ । 20

पृ० ६. पं० ५. 'अदृश्यानुपल'—“विप्रकृष्टविषयानुपलब्धिः प्रत्यक्षानुमाननिवृ-
त्तिलक्षणा संशयहेतुः प्रमाणनिवृत्तावप्यर्थाभावात्सिद्धेः ।” [व्यापारि० पृ० ५९] वाक्याव
पृ० १८ । “अनुपलब्धिलक्षणाप्रमाणुपलब्धेः संशयहेतुत्वा अगमकत्वादिति भावः ।”
[वादन्यायटी० पृ० १९] 25

तुलना—अष्टम०, अष्टसह० पृ० ५२ ।

पृ० ६. पं० २०. 'प्रत्यक्षानुपलम्भ'—“प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः ।”
[हेतुवि० टी० पृ० ७३] 30

पृ० ६. पं० २८. 'सर्वविज्ञानानां'—अत्रार्थं पूर्वपक्षः—“सर्वचित्तचैतानामात्मसंवे-
दनम् । चित्तमर्थमात्रमादि । चैता विरोधावस्थाग्राहिणः सुखादयः ।... नास्ति सा काचि-
चित्तावस्था यस्यामात्मनः संवेदनं प्रत्यक्षं न स्यात् ।” [व्यापारि० पृ० १९]

पृ० ७. पं० ६. 'उपमानं'—पूर्वपक्षः—“प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनसूपमानम् ।”
[व्यापारि० १११६]

- पृ० ११. पं० १. 'द्रवति'—“तुलना-द्विविधि गच्छति ताहं ताहं सम्भावपञ्ज-
याहं जं । द्विविधं त भवति अगुण्यमूदं तु सत्तादो ॥” [पञ्चास्ति० गा० ९] “यथात्वं पर्या-
यैर्द्रव्यन्ते द्रवन्ति वा तानि द्रव्याणि ॥” [सर्वांरि० ५०२] “द्रवति द्रोष्यति दुद्रवैति (अदुद्रवत)
द्रुः द्रोर्विकारोऽव्ययो वा द्रव्यम् ॥” [नयचक्र० पृ० ९ B.] “द्रोर्विकारो द्रव्यम्, द्रोर्वयवो
5 वा द्रव्यम्, द्रव्यं च भव्ये भवतीति भव्यम् द्रव्यम्, द्रवतीति द्रव्यम् द्रव्ये वा, द्रवणात् गुणानां
गुणसन्धावो द्रव्यम् ॥” [नयचक्र० पृ० ४४१ B.] “द्विप दुयप दोर्वयवो विगारो गुणाण
संदावो । द्रव्यं भव्यं भावस्स मूअयार्चं च जं जोमां ॥” [विशेषा० गा० २८] “अथवा यस्य
गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवस्तु तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम् । किं पुनस्तत्त्वम् ? तद्भावस्तत्त्वम् ।
तद्यथा आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्ति आमलकं बदरमि-
10 त्येव भवति । अन्यर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्धावो द्रव्यमिति ॥” [पात० महागा०, ५११११९]

- पृ० ११. पं० १. 'द्रव्यार्थिक'—“द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्त्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः ॥”
[सर्वांरि० ११६] “पञ्चवर्णितसामण्यं वयस्यं दन्वद्विष्यस्स अस्थिति । अवसेसो वयस्यविही
पञ्चवमयणा सपडिवक्को ॥” [सन्मति० गा० ११७] “द्रव्येणार्थः द्रव्यार्थः, द्रव्यमर्थो यस्त्येति
वा, अथवा द्रव्यार्थिकः द्रव्यमेवार्थो यस्य सोऽर्थं द्रव्यार्थः ॥” [नयचक्र० पृ० ४ B.]
15 वषकाटी० सत्यक० ।

- पृ० ११. पं० १०. 'संग्रह'—“संगहिय पिडिअत्थं संगहवयसं समासो षिति ॥”
[अनुयोग० ४ द्वा०] आष० लि० गा० ७५६ । विशेषा० गा० २६९९ । “अर्थानां सर्वैकदेशसं-
ग्रहस्य संग्रहः ।” “आह्व-यत्संगृहीतवचनं सामान्ये देशतोऽप्य च विरोधे । तत्संग्रहनयनियतं
ज्ञानं विद्यान्नयविधिः ॥” [तत्त्वार्थाधि० भा० १३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १३५ ।
20 “स्वजात्यविरोधेनैकधर्ममुपनीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविरोधेण समस्तग्रहणात् संग्रहः ॥”
[सर्वांरि० १३३] राजवा० १३३ । “विधिष्यतिरिक्तप्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिसामान्येव तत्त्व-
मित्यव्यवसायः समस्तस्य (मस्तस्य) ग्रहणात् संग्रहः । द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भाद्
द्रव्यमेव तत्त्वमित्यव्यवसायो वा संग्रहः ॥” [वषकाटी० सत्यक०] “शुद्धं द्रव्यमभिधेति
सन्मात्रं संग्रहः परः । स चारोषविशेषेषु सद्वासीन्यमागिह ॥” [तत्त्वार्थवलो० पृ० ७०]
25 त्रयविध० दलो० ६७७ प्रमेयक० पृ० २०५ B “शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य संग्रहस्तदशुद्धितः ॥” [सन्मति०
टी० पृ० २७२] नयचक्र गा० ३४ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७१३ । स्मा० म० पृ०
३११ । जैनतर्कमा० पृ० २२ ।

- पृ० ११. पं० १२. 'सर्वमेक'—तुलना—“यथा सर्वमेकं सदविशेषात् ॥” [तत्त्वार्थाधि०
गा० १३५] “अह्व महासामानं संगहियं पिडित्यमियरं ति । सव्वविसेसानन्नं सामन्नं
80 सव्वहा भणियं ॥” [विशेषा० गा० २७०१] “विश्वमेकं सदविशेषात् इति यथा ॥”
[प्रमाणनय० ७१६]

- पृ० १२. पं० ७. 'न च श्रणिकानाम्'—तुलना—“कार्यकारणता नास्ति बहिरन्तः
सन्ततिः कुतः । निरन्वयात् कुतस्तेषां सारूप्यमित्यर्थवत् ॥ सति क्षणिके कारणे यदि कार्यं
स्यात् क्षणिकमक्रमं जगत् निःसन्तानि स्यात् । तस्मिन्नसति भवतः कुतः पुनः कारणानन्त-
रोत्पत्तिनियमः ? सदेव कारणं स्वसत्ताकालमेव कार्यं प्रसङ्ग जनयेत् । स्वरसत एव कार्योत्पत्ति-
कालनियमे स्वतन्त्रस्य कुत एव कार्यत्वम् । नैरन्तर्यमात्रात् प्रभवनियमे सर्वत्र सर्वेषामविशेषे
85 कुतः प्रभवनियमः । द्रव्यस्य प्रभवनियमे न किञ्चिदतिप्रसज्यते स्महेतोः परप्रत्ययतायाम् ॥”
[सिद्धिदि० पृ० ३६३-६४]

निष्ठेः, तदस्य विसंवादोप्यवस्तुनिर्भासात् चन्द्रादिबस्तुनिर्मासादविसंवादोऽपीत्येकस्यैव ज्ञानस्य यत्राविसंवादः तत्र प्रमाणता इतरत्र तद्विभासात्तेति ॥ [सन्नति० टी० पृ० ५९५]

पृ० ८. पं० १८. 'सर्वतः संहृत्य'—धर्मकीर्तिना उक्तं यत्—शान्तचेतस्कृतया चञ्चुषा यत् रूपदर्शनं भवति तन्निर्विकल्पकम् । तस्मिंश्च रूपस्वलक्षणं क्षणिकपरमात्मात्मकं प्रति-
भाति । तथाहि—“संहृत्य सर्वतस्त्विच्छन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चञ्चुषा रूपमीक्षते साऽ- 5
क्षया मतिः ॥” [प्रमाणवा० ३।१२४] अन्यकृता तत्प्रतिविहितम्—यत् तदवस्थायामपि सविक-
ल्पकमेव ज्ञानं स्थिरस्थूलाद्यर्थग्राह्यमुच्यते ।

तुलना—“संहृत्य सर्वतस्त्विच्छन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना । स्थितोऽपि चञ्चुषा रूपं त्वं च स्पष्टं व्यवस्यति ॥” [तत्त्वार्थको० पृ० १८६]

पृ० ८. पं० १९. 'न पुनरसाधारणैकान्तम्'—तुलना—“नहि जातुचिवसहाय- 10
माकारं परमात्मो यथा व्यावर्त्यते तथैवानिर्णयत । नानावचवरूपाद्यात्मनो घटादेः बहिः सम्प्र-
तिपत्तेः न परमाद्युसंचयरूपस्य ॥” [सिद्धिभि० पृ० ३६ B]

पृ० ८. पं० २०. 'प्रतिसंहार'—“प्रतिसंहारः पुनर्विकल्पप्रवृत्तिः” [व्यापकमु०
लि० पृ० २७० A.]

पृ० ९. पं० १. 'प्रतिसंविदितो'—तुलना—“नहि संविद्येः बहुबहुविधप्रभृत्या- 15
कृतयः स्वयमसंविदिता एव उच्यन्ते अत्ययन्ते वा यतः सत्योऽपि अनुपलब्धिताः स्युः
कल्पनायत् ॥” [सिद्धिभि० टी० पृ० ९८ B.]

पृ० ९. पं० ३. 'सदृशापरापरो'—“तां पुनरनित्यतां पर्यवपि मन्दबुद्धिः नाभ्य-
वस्यति, सचोपलम्भेन सर्वदा तद्भाषकाचिप्रलम्बः सदृशापरोत्पत्तिविप्रलम्बो वा” ॥
[प्रमाणवार्त्तिकाल० लि० पृ० २३७] 20

पृ० ९. पं० २१. 'अभ्रान्त'—अभ्रान्तं विशेषणं बौद्धापेक्षया “कल्पनापोढम-
भ्रान्तं प्रत्यक्षम् ॥” [व्यापवि० १।४] इत्यभिधानात् । अव्यभिचारीति विशेषणं नैयायिका-
पेक्षया श्रेयम् “इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ॥”
[व्यापवृ० १।१४] इत्युक्तत्वात् ।

पृ० ९. पं० २३. 'नहि दृष्टेऽनुपप'—तुलना—“समावेऽप्यक्षतः सिद्धे परैः 25
पर्यनुपपद्यते । तत्रोत्तरमिदं वाक्यं न दृष्टेऽनुपपन्नता ॥” [प्रमाणवार्त्तिकाल० लि० पृ० ६८]

पृ० ९. पं० २४. 'वक्त्रमिप्रायेऽपि'—तुलना—“विवक्षाप्रभवं वाक्यं स्वार्थे न प्रवि-
ष्यते, यतः कथं तत्सूचितं लिंगेन तत्त्वव्यवस्थितिः । वक्त्रमिप्रायमात्रं वाक्यं सूचयन्तीति
अविशेषेणाक्षिपन् न पास्यर्थेणापि तत्त्वं प्रतिपद्यत । नच वक्त्रमिप्रायमेकान्तेन सूचयन्ति
श्रुतिद्वयदेः अन्यतएव प्रसिद्धेः । ॥” [सिद्धिभि० पृ० २६४] 30

पृ० ९. पं० २६. 'सत्येतरव्यवस्था का'—तुलना—“वाक्यानामविशेषेण वक्त्र-
मिप्रेतवाचिनाम् । सत्यानृतव्यवस्था न तत्त्वमिध्याव्यवस्थानात् ॥ मिध्यादर्शनज्ञानात् मिध्या
यत्वं गिरां मतम् । ॥” [सिद्धिभि० पृ० ५०२]

पृ० १०. पं० ३. 'वक्तुरभिप्रेतं'—“वक्तुव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते ।
प्रमाणस्य तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिवन्धनम् ॥ वक्तुव्यापारो विवक्षा तस्य विषयो योऽर्थः 35
समारोपितवहीरूपो ज्ञानाकारः प्रकाशते बुद्धौ विवक्षात्मिकायां तत्र शब्दस्य प्रमाणस्य लिङ्गत्वम्

चद्वयेयं कारिका-सूक्ततागधी० पृ० २२७ A. ।

- पृ० १४. पं० ६. 'गुणानां परमं'—कारिकेवं निम्नग्रन्थेषु समुद्धतास्ति—“तथा च शाखानुशासनम्—गुणानां...” [योगभा० ४१३] “धृष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः—गुणानां...” [योगभा० तत्त्ववै० ४१३] योग० शास्वती, पात० रह० ४१३ “भगवान् धार्वाण्यः—गुणानां...”
 5 [शा० भा० भावती पृ० ३५२] नयचक्र० पृ० ४३ A. तत्त्वोपप्लव० पृ० ८० । “गुणानां सुमहदू-
 पम्...” [प्रमाणवार्त्तिकाल परि० ४ पृ० ३३] अष्टसह० पृ० १४४ । सिद्धिनि० टी० पृ० ७४ B.

- पृ० १४. पं० ११. 'समवायेन'—“पटस्तन्तुष्विवेत्यादिशब्दार्थेभ्यः स्वयंकृताः । शृङ्गं गवीति लोके स्यात् शृङ्गे गौरित्यलौकिकम् ॥” [प्रमाणवा० १३५०] “वृत्ते शाखाः शिलाभ्रगा इत्येषा लौकिका भविः । शिलाव्यपरिशिष्टांगनैरन्तर्गत्योपलम्बनात् ॥ तौ पुनस्त-
 10 स्विति ज्ञानं लोकातिक्रान्तमुच्यते ॥” [तत्त्वसं० पृ० २६७]

- पृ० १४. पं० १७. 'नयः'—“वयह विणिच्छिन्नश्च वयहारो सव्यद्वयेषु ॥” [अनुयोग० ४ द्वा०] भाव० नि० गा० ७५६ । विषेवा० गा० २७०८ । “लौकिकसम उपचार-
 प्रायो विस्तृतायै व्यवहारः” आह च—लोकोपचारनियतं व्यवहारं विस्तृतं विद्यात् ॥
 [तत्त्वार्थाधि० भा० १३३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १३३५ । “संप्रहृत्याक्षितानामर्थानां
 15 विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः ॥” [सर्वार्थसि० १३३३] राजवा० १३३३ । भवलाटी० सत्रक० ।
 तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३७१ । नयविव० श्लो० ७४ । प्रमेयक० पृ० २०५ B. सन्मति० टी० पृ० ३१० ।
 नयचक्र गा० ३५ । तत्त्वार्थसारपृ० १०७ । प्रमाणनय० ७३३ । स्या० म० पृ० ३११ । जैनतर्क-
 भा० पृ० २२ ।

- पृ० १४. पं० १७. 'दुर्नयः'—“कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक् । प्रमाण-
 20 वाचितोऽन्यस्तु तदामासोऽवसीयताम् ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१] नयविव० श्लो० ७६ । प्रमेयक०
 पृ० २०५ B. न्यायावता० टी० पृ० ८६ । प्रमाणनय० ७३५, २६ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

- पृ० १४. पं० २८. 'श्रुजुसूत्र'—“पञ्चुपपन्नगाही श्रुजुसूत्रो ग्रायविही सुयोपपन्नो ॥”
 [अनुयोग० ४ द्वा०] भाव० नि० गा० ७५७ । विषेवा० गा० २७१८ । “सतां साम्प्रतानामर्थानाम-
 मिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः ... । आह च—साम्प्रतविषयमाहकमृजुसूत्रनयं समासतो विद्यात् ॥”
 25 [तत्त्वार्थाधि० भा० १३३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १३३५ । “श्रुजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयति
 इति श्रुजुसूत्रः ॥” [सर्वार्थसि० १३३३] “सूत्रपातवद् श्रुजुसूत्रः ॥” [राजवा० १३३३] “श्रुजु
 प्रगुणं सूत्रयति नयत इति श्रुजुसूत्रः । सूत्रपातवद् श्रुजुसूत्र इति ॥” नयचक्र० पृ० ३५४ B. ।
 भवलाटी० सत्रक० । “श्रुजुसूत्रं ग्रायव्यंति वस्तुसत्सूत्रयेदजु । प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्य-
 स्थानपर्यायात् सतः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१] नयविव० श्लो० ७७ । प्रमेयक० पृ० २०५ B.
 30 सन्मति० टी० पृ० ३११ । नयचक्रभा० ३८ । तत्त्वार्थसारपृ० १०७ । प्रमाणनय० ७३८ । स्या०
 म० पृ० ३१२ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

पृ० १५. पं० ४. 'दुर्नयः'—“निराकरोति यद् द्रव्यं बहिरन्तरश्च सर्वदा । सतदामोऽ-
 मिमन्तव्यः प्रतीतरेषांपतः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१] नयविव० श्लो० ७८ । प्रमेयक० पृ०
 २०६ A. न्यायावता० टी० पृ० ८८ । प्रमाणनय० ७३३, ३१ । जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

- 35 पृ० १५. पं० ७. 'शब्दः'—“इच्छद् विसेसितरं पञ्चुपपन्नं ग्रायो सद्गो ।”
 [अनुयोग० ४ द्वा०] भाव० नि० गा० ७५७ । विषेवा० गा० २७१८ । “यथार्थमिधानं शब्दः”
 आह च—विद्याद्यथार्थशब्दं विशेषितपदं तु शब्दनयम् ॥ [तत्त्वार्थाधि० भा० १३३५] तत्त्वार्थहरि०,

[आप्तमी० श्लो० १०६] “वस्तुन्यनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याया-
त्यप्रापणप्रवणप्रयोगो नयः ।” [सर्वाधो० १।३३] “ज्ञातृणांमभिसन्धयः स्तु नयास्तं द्रव्य-
पर्यायतः” नयो ज्ञातृयतं मतः ।” [सिद्धिबि० पृ० ५१७ A. ५१८ A.] “प्रमाणप्रकाशितार्थ-
विशेषप्ररूपको नयः ।” [राजवा० १०।३३] “नयन्ते अधोन् प्रापयन्ति गमयन्तीति नयाः, वस्तुनो-
जेकात्मकस्य अन्यतमेकात्मैकान्तपरिग्रहात्मका इति ।” [नयचक्र० पृ० ५२६ A.] “यथोक्तम्- 5
द्रव्यस्यानेकात्मनोऽन्यतमेकात्मावधारणम् एकदेशनयनाज्ञयाः ।” [नयचक्र० पृ० ६ B.]
“एतेषु वस्तुणोऽपेक्षाधर्म्युपो जमवधारणेष्वेव । नयणं धर्मेण तत्रा होई नत्रो सत्तहा सो य ।”
[विनोपा० गा० २६७६] “नयन्तीति नयाः, अनेकधर्मात्मकं वस्तु एकधर्मेण नित्यमेवेदम-
नित्यमेवेति वा निरूपयन्ति ।” [तत्त्वार्थहरि० १।६] तत्त्वार्थसिद्धं १।६। “दत्तं हि-ययदि त्ति
णयो भयिओ वहुहिं गुणपञ्चएहिं जं दब्बं । परिणामखेतकालंतरेसु ञ्चिण्हट्टसम्भाव ।” 10
..... प्रमाणपरिग्रहीतार्थिकदेशवस्त्वध्यवसायो नयः ।” [धवलाटी० सप्तमं०] “स्वार्थिकदेश-
निर्णीतिलक्षणे हि नयः स्मृतः ।” (पृ० ११८) “नीयते गम्यते येन श्रुतायादो नयो हि नः ।”
[तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६८] नयविब० श्लो० ४। “अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्तुंशप्राप्ती ज्ञातुरभि-
प्रायो नयः ।” [अमेयक० पृ० २०५ A.] “जं खाणीण विषयं सुयमेवं वस्तुयंससंगहणं ।
व इह ययं पडचं खाणी पुण तेहि खाणोहिं ।” [नयचक्र० गा० २] “वस्तुनोऽनन्तधर्मस्य प्रमाणं 15
(य) व्यञ्जितात्मनः । एकदेशस्य नेता यः स नयोऽनेकधा स्मृतः ।” [तत्त्वार्थसां० पृ० १०६]
“तद्द्वारायातः पुनरनेकधर्मनिष्ठार्थसमर्थनप्रवणः परामर्शः शेषधर्मस्वीकारितरस्कारपरिहार-
द्वारेण वर्चमानो नयः ।” [न्यायावता० टी० पृ० ८२] “नीयते येन श्रुतान्यप्रमाणविपर्ययकृत-
त्यार्थत्यांशः तदितरांशोदासीन्यतः स प्रतिपक्षुरभिप्रायविशेषो नयः ।” [प्रमाणनय० ७।१]
त्या० म० पृ० ३१०। “प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः एकदेशप्राप्तिः तदित- 20
रांशप्रतिक्षेपिणः अध्यवसायविशेषो नयाः ।” [जैतकं० गा० ५० २१] “अकृतत्वत्वंशप्राप्ती
तदितरांशप्रतिक्षेपो अध्यवसायविशेषो नयः ।” [नयचक्र० पृ० ७९] नयप्रदीप पृ० ९७ B

मलयगिर्यार्यार्थमतेन सर्वेऽपि नयाः मिथ्या एव, तथाहि—“अनेकधर्मात्मकं वस्तुवधा-
रणपूर्वकमेकेन नित्यत्वाद्यन्यतमेन धर्मेण प्रतिपाद्यस्य बुद्धिं नीयते प्राप्यते येनाभिप्रायविशेषेण
स ज्ञातुरभिप्रायविशेषो नयः । इह हि यो नयो नयान्तरसापेक्षतया न्यायद्वलाब्धित्वं 25
वस्तु प्रतिपद्यते स परमार्थतः परिपूर्णं वस्तु गृह्यति इति प्रमाण एवान्तर्भवति, यस्तु नयवा-
दान्तरनिरपेक्षतया स्वाभिप्रेतेनैव धर्मेण अवधारणपूर्वकं वस्तु परिच्छेदतुल्यमिति स नयः
वस्त्वैकदेशपरिग्राहकत्वान्, ... स च निचमान्मिथ्यारुष्टिरेव ।” [आन० नि० मन्त्र० पृ० ३६९ A.]

पृ० १०. पं० २६. ‘स द्रव्यार्थिकः’—“तत्र समतुर्विधम्, तद्यथा द्रव्यान्तिकं मातृका-
पदास्तिकम् इत्यत्रास्तिकम् पर्यायास्तिकमिति ।” [तन्माधो० भा० ५।३१] “उच्यं द्रव्यास्तिकं 80
मातृकापदास्तिकं च द्रव्यनयः । उत्पन्नास्तिकं पञ्चायान्तिकं च पर्यायनयः ।” [तत्त्वार्थहरि०
५।३१] तत्त्वार्थसिद्धं ५।३१। “द्व्यद्विओ य पञ्चवणओ य सेमा विषयपामि ।” [नयनि०
१।३] “नयो द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च ।” [तत्त्वार्थहरि० १।६] “द्वौ मूलभेदौ द्रव्यान्तिकः,
पर्यायास्तिक इति । अथवा - द्रव्यार्थिकः - पर्यायार्थिकः ।” [राजवा० १।३५] “नत्र
मूलनयो द्रव्यपर्यायार्थगोचरौ । मिथ्यात्वं निरपेक्षत्वं सम्यक्त्वं तद्विपर्यये ।” [निर्दिधो० 85
पृ० ५२१ A.] “तेषां वा शेषशासनाग्राणां द्रव्यार्थपर्यायार्थनयो द्वौ नमामनौ मूलभेदौ
तत्त्वभेदा संप्रदादयः ।” [नयचक्र० पृ० ५२६ A.] “द्व्यद्विओ य पञ्चवणओ य सेमा विषयपामि ।” [विनोपा० गा० ४३३१] धवलाटी० मन्त्र० । प्रमाणनय० ७।१।

- पृ० १७. पं० ३. 'दुर्नय'—“यथा शब्दादयोऽपि सर्वथा शब्दाव्यतिरेकमर्थं समर्थ-
यन्तो दुर्नयाः ।” [न्यायावता० टी० पृ० ९० ।] “तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः ।”
[प्रमाणनय० ७।३४] जैनतर्कभा० पृ० २४ । “पर्यायव्यवहारीनामभिधेयानां त्वमेव कश्चिद्विज्ञेयः
तदाभासः ।” [प्रमाणनय० ७।३८] जैनतर्कभा० पृ० २४ । “क्रियानां विष्टं वस्तु शब्दाव्यवस्था
5 प्रतिष्ठिपंस्तु तदाभासः ।” [प्रमाणनय० ७।४२] जैनतर्कभा० पृ० २४ ।

पृ० १८. पं० ८. ‘ज्ञानं प्रमाण’—तुलना-प्रमाणसं० पृ० १२७ । “सत्तत्त्व-ज्ञानं
प्रमाणमित्याहुरूपान्यो ” [ववलाटी० सूत्ररू०]

- पृ० १८. पं० २७. ‘तिमिराशुभ्रमण’—“तिमिराशुभ्रमणनौयानसंज्ञोभाधनादि-
तविभ्रमं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । तिमिरमच्छादोर्विभ्रमः, इन्द्रियगतमिदं विभ्रमकारणम् । आशुभ्रमण-
10 मलातादेः, मन्दं हि भ्राम्यमाणेऽस्मातादौ न चक्रभ्रान्तिरुत्पद्यते तदर्थमाशुभ्रमणेन विरोध्यते
भ्रमणम् । एतच्च विषयगतं विभ्रमकारणम् । नावा गमनं नौयानम् । गच्छन्त्यां नावि स्थितस्य
गच्छद्दृष्टादिभ्रान्तिरुत्पद्यते इति यावद्ग्रहणम् । एतच्च बाह्याश्रयस्थितं विभ्रमकारणम् । संज्ञोभो
वातपितृलोभमणाम् । वातादिषु हि क्षोभं गतेषु व्यलितस्तस्मादिभ्रान्तिरुत्पद्यते । एतच्चाध्यात्म-
गतं विभ्रमकारणम् ।” [न्यायवि० टी० पृ० १६]

- 15 पृ० १६. पं० १. ‘इन्द्रियमनसी’—“इन्द्रियमनसी विज्ञानकारणमिति वचनात् ।”
[न्यायवि० वि० पृ० ३२ A.] “तस्मादिन्द्रियमनसी विज्ञानस्य कारणं नार्थोऽपीत्यकलं कैरपि ”
[तत्त्वार्थ सूत्रो०-पृ० ३३०]

- पृ० १६. पं० ११. ‘आलोकोऽपि’—तुलना-‘नार्यालोको क्रूरणं परिच्छेद-
त्वात्तमेवत् । तद्व्यवस्थितेरेकानुविधानाभावाच्च केशोऽप्युक्तज्ञानवत्तत्त्वज्ञानवत् ।” [परीक्षा०
20 २।६, ७] प्रमाणनी० १।१।२५ ।

पृ० १६. पं० १६. ‘तमो निरोधि’—“उद्धृतेयम्-सिद्धिभि० टी० पृ० १८७ B
“तमोनिरोधे वीक्षन्ते तमसा नाश्रुतं परम् । षटादिकम् ” [सम्पत्ति० टी० पृ० ५४४]

पृ० १६. पं० २४. ‘मलविद्मयणि’—उद्धृतेयम्-सिद्धिभि० टी० १९३ A भाष०
नि० मलय० पृ० १७ । इष्टोपदेशटी० पृ० ३० । कर्मपयटी० पृ० ८ ।

- 25 तुलना—“मलावृत्तमयेर्बन्धित्यथाऽनेकविधेयते । कर्मावृत्तात्मनस्तद्वद्योग्यता विविधा
न किम् ॥” [तत्त्वार्थसूत्रो० पृ० १९१]

- पृ० २०. पं० ६. ‘न तज्जन्म’—पूर्वपक्षः—“तस्माच्चक्षुरव रूपञ्च प्रतीत्येदेति नेत्र-
धीः । (३।१९०) भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः । हेतुत्वमेव युक्तिज्ञाः ज्ञाना-
कारणपक्षम् ॥ कार्यं हनेकहेतुत्वेष्वनुकुर्वदुदेति यत् । तत्तेनाप्यत्र तद्रूपं गृहीतमिति
30 चोच्यते ॥ (३।२४०-४८) अर्थेन षट्यस्तेनां न हि सुवत्त्वाऽर्थरूपताम् ।” तस्मात् प्रमेया-
धिगतेः साधनं मेयरूपता ।” [प्रमाणवा० ३।३०५]

तुलना—“तत्पुनः तज्जन्मसारूप्यादिलक्षणं समानार्थनानैकसन्तानेषु संभवात् व्यभि-
चरति, तदध्यवसायहेतुत्वं च । तथा चार्थग्रहणे न कश्चिद्व्याघातः । अनागतस्य सम्प्रत्यभावेऽ-
पि विषयतोपपत्तेः प्रत्यक्षस्यापि अविसवादः ।” [सिद्धिभि० पृ० ५६६-६८]

- 35 पृ० २. पं० १६. ‘स्वहेतुजनितो’—उद्धृतेयम्—“स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः स्वयं ग्राहो

पृ० १२. पं० ८. 'यस्मिन् सत्येव'-तुलना-"किं रूपः पुनरसौ कार्यकारणभावः अनुपलम्भसहायप्रत्यक्षनिवन्धनः ? इत्याह-तद्भावे आबः तदभावेऽभावश्चेति ।" [हेतुवि० टी० लि० पृ० ६९]

पृ० १२. पं० १४. 'कार्योत्पत्तिरिच्छेत न वै कारणसत्तया । यस्मिन् सत्येव यद्भावः सत्तस्य कार्यमितरन् कारणम् इति चक्षिकत्वे न संभवत्येव सहोत्पत्तिः 5 प्रसङ्गात् कुतः सन्तानवृत्तिः॥ [सिद्धिवि० पृ० १६०, ३२६]

पृ० १३. पं० ५. 'ब्रह्मवादस्तदामासः'—"निराकृतविशेषस्तु सत्ताद्वैतपरायणः । तदामासः समाख्यातः सद्भिर्दृष्टेष्टवाचनात् ॥" [तत्त्वार्थसू० पृ० २७०] नयविब० इत्यो० ६८। प्रमेयक० पृ० २०५ B व्यापावता० टी० पृ० ८५। प्रमाणनय० ७। १५-२१। जैनतर्कभा० पृ० २५।

पृ० १३. पं० ११. 'नैगमः'—"योगेहि माणेहि मिणइत्ति योगमस्स य निरुत्ती । 10 सेसाणं पि नयाणं लक्खणमिणमो सुण्ह वोच्चं ॥" [अनुयोग० ४ डा०] आब० नि० गा० ७५५। विशेषा० गा० २६८२। "निगमेषु येऽभिहिताः शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानं च देवासम्प्राप्ती नैगमः । आह च-नैगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनयगमापेक्षः । देशसम्प्राप्ती व्यवहारी नैगमो ज्ञेयः ॥" [तत्त्वार्थसि० भा० १। ३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्ध० १। ३५। "अभिनिरुद्धैतार्थसंकल्पमात्राद्वाही नैगमः ।" [सर्वासि० १। ३३] राजवा० १। ३३। "यदस्ति न तद्ब्रह्ममविलक्षणं वर्तत इति नैकं गमो नयः संप्रहासं प्रहस्वरूपप्रव्यर्थिको नैगम इति यावत् ।" [धवलाटी० सप्रक०] "तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः । यद्वा नैकं गमो योजनं स सत्ता नैगमो मतः । धर्मयोः धर्मिणोर्विषय विवक्षा धर्मधर्मिणोः ॥" पर्यायनैगमादि- 15 भेदेन नवविधो नैगमः । [तत्त्वार्थसू० पृ० २६९] नवविब० इत्यो० ३३-३७। प्रमेयक० पृ० २०५ A. सप्रति० टी० पृ० ३१०। नयचक्र गा० ३३। तत्त्वार्थसार पृ० १०७। "धर्मयोः धर्मिणोः धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्ष्यं स नैकं गमो नैगमः ।" [प्रमाणनय ७। ७] त्या० म० पृ० ३११। जैनतर्कभा० पृ० २१।

पृ० १३. पं० ११. 'नैगमामासः'—"अं सामजविसेसे परोप्परं वत्थुओ य सो मिणे । मज्झ अचन्तमओ मिच्छदिट्ठी कणादोब्ब ॥" [विशेषा० गा० २६९०] "तयोरत्यन्त- 25 मेदोत्तरित्योऽर्थं स्वाश्रयादपि । ज्ञेयो व्यजनपर्यायनैगमामो विरोधतः ॥" [तत्त्वार्थसू० पृ० २७०] नयविब० इत्यो० ६३। प्रमेयक० पृ० २०५ A. व्यापावता० टी० पृ० ८२। प्रमाणनय० ७। ११। जैनतर्कभा० पृ० २५।

पृ० १३. पं० १५. 'वृत्तिविरोधात्'-तुलना-"वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न ।" [व्युत्पत्त्युपा० इत्यो० ५५] "एकस्यानेकवृत्तिर्न आगामावाहूहि वा । आगित्वाद्वास्त्य नैकत्वं 30 दोषो वृत्तेरनाहृते ॥" [आद्यमी० इत्यो० ६२] अष्टसह०, अष्टसह० पृ० २१४। "तस्य तेषु सर्वात्मनाज्यया वा व्युत्पत्त्योः बाधकं प्रमाणम्" ... । [वादन्यायटी० पृ० ३०] "यद्वा सर्वात्मना वृत्तावनेकत्वं असंयते । एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न कश्चि सः ॥" [तत्त्वय० पृ० २०३] "यदि सर्वेषु कार्याभ्यमेकदेशेन वर्तते । अशा अंशेषु वर्तन्ते स च कुत्र स्वयं स्थितः ॥ सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थितः कथः कदापिषु । कार्यास्तावन्त एव स्युर्यावन्तस्ते 35 करादयः ॥" [बोधिवर्णन० पृ० ४९५]

पृ० १३. पं० १६. 'सतोऽर्थाः'—"सत्तानोगादसओ सओ व सत्तं हवेज वव्वस्स । असओ न खपुप्फस्स व सओ व किं सत्तया क्व्वं ॥" [निवेधा० गा० २६९४] १६

- “एवमेते त्रयः सकलादेशा भाष्येयैव विभाविताः संप्रद्वयवद्धारनुसारिण आत्मद्रव्ये । सम्प्रति विकलादेशाश्चत्वारः पर्यायनयाग्रया वक्तव्यास्तत्प्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः—देशादेशेन विकल्पयितव्यमिति विवक्षाथता च वचसः सकलादेशाता विकलादेशाता च द्रष्टव्या । द्रव्यार्थजात्यभेदात् तु सर्वद्रव्यार्थभेदानैवैकं द्रव्यार्थं मन्यते, यदा पर्यायजात्यभेदाश्चैकं पर्यायार्थं सर्वपर्यायभेदान् प्रतिपद्यते, तदा त्वविवक्षितसंज्ञातिभेदत्वात् सकलं वस्तु एकद्रव्यार्थाभिज्ञम् एकपर्यायार्थाभेदोपचरितं तद्विशेषैकभेदोपचरितं वा तन्मात्रमेकमद्वितीयं वा ब्रुवन् सकलादेशाः स्यान्त्रित्य इत्यादिस्त्रिविधोऽपि नित्यत्वानित्यत्वयुगपद्भावेकत्वरूपैकार्थाभिधानी । यदा तु द्रव्यपर्यायसामान्याभ्यां तद्विशेषाभ्यां वा वस्तुन एकत्वं तद्वत्तात्पर्यं समुपपाद्यते चतुर्थविकल्पे स्वांशयुगपद्वत् क्रमवृत्तं च पञ्चमपञ्चसप्तमेषुच्यते तथाविवक्षावशात् तदा तु तथा प्रतिपादयन् विकलादेशाः ।” [तत्त्वार्थभा० टी० पृ० ४१६]

- “तत्र विवक्षाकृतप्रधानभावसदाद्येकधर्मात्मकस्यापेक्षितापराधेधर्मकोटीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाङ्घितवाक्यात् प्रतीतेः स्यादस्ति घटः स्यान्नास्ति घटः स्यावक्तव्यो घटः इत्येते त्रयो भङ्गा सकलादेशाः । विवक्षाविरचितद्वित्रिधर्मातुरक्तस्य स्यात्कारपदसमुचितसंज्ञाधर्मस्वभावावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य प्रतिपत्तेः चत्वारो वक्तव्यमात्रा विकलादेशाः—स्यादस्ति च नास्ति घट इति प्रथमो विकलादेशः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च घट इति द्वितीयः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति तृतीयः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च घट इति चतुर्थः ।” [सम्प्रति० टी० पृ० ४४६]

- उ० यशोविजयैः यद्यपि शास्त्रवा० टी०—नैनतर्कभा०—मुख्यत्वविनिश्चयादीं सर्वेषु भगेषु सकलादेशविकलादेशोभयरूपता सिद्धान्तीकृता । तथापि तैः जघत्सहस्रीविवरणे ‘आद्याः त्रयो भङ्गाः सकलादेशाः शिष्टाश्च चत्वारो विकलादेशाः’ इत्यपि कृतान्तीकृतम् । तथाहि—“... किन्त्वाद्यमद्भुतयुषटकनिजपररूपयोः श्रृंगमाहिकया व्यवस्थापन एव नयमेवो मतमेवो बोधयुज्यते, तृतीयसंगस्त्ववक्तव्यत्वलक्षणः ताभ्यां युगपदादिष्टाभ्यां तद्भेदादनेकभेद इत्येते त्रयो निरवयवद्रव्यविषयत्वात् सकलादेशरूपाः, सदसत्त्व-सदवक्तव्याद्यश्चत्वारस्तु चरमाः सावयवद्रव्यविषयत्वाद्विकलादेशरूपाः, देशभेदं विनैकत्र तु क्रमेणापि सदसत्त्वविवक्षा सम्प्रदायविरुद्धत्वात् नोदेतीति न निरवयवद्रव्यविषयत्वमेवामित्यस्मदभिमतोक्तमेव युक्तमिति मन्तव्यम् ।” [जघत्सह० विव० पृ० २०८ B.] शास्त्रधार्ताटीकायाम् अयमेव सिद्धान्तः ‘केचित्तु’ इति कृत्वा निर्दिष्टः । तथाहि—“केचित्तु—अनन्तधर्मात्मकवस्तुप्रतिपादकत्वाविशेषेऽपि आयाख्य एव भङ्गा निरवयवप्रतिपत्तिद्वारा सकलादेशाः अग्रिमास्तु चत्वारः सावयवप्रतिपत्तिद्वारा विकलादेशाः इति प्रतिपन्नवन्तः ।” [शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ B.]

- ४० पृ० २१. पं० २५. ‘स्याज्जीव एव’—मलयगिर्याचार्याः स्यात्पदप्रयोगं प्रमाणवाक्ये एव उररीकुर्वन्ति । एतन्मतानुसारिण सर्वेषां नयानां मिथ्यारूपत्वात् । अतस्तैः ‘स्यात्पदलाङ्घितो नयः सम्यग्’ इत्यकलङ्क्यतस्य समालोचना कृता । समन्तभद्र-सिद्धसेनदिवाकरादिभि उपप्लुतात् अकलंकमतं हेमचन्द्रादयः समर्थयन्ति । (द्रष्टव्यम्—टिप्पण पृ० १४२ पं० १३)

- मलयगिरिकृता समालोचना इत्यम्—“नयचिन्तायासमि च ते दिग्मन्त्राः स्यात्पदप्रयोग-मिच्छन्ति तथा चाकलङ्क एव ग्राह-नयोऽपि तथैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्” इति । अत्र टीकाकारेण व्याख्या कृता—नयोऽपि नयप्रतिपादकमपि वाक्यं न केवलं प्रमाणवाक्यमित्यपि शब्दार्थः, तथैव स्यात्पदप्रयोगप्रकारेणैव सम्यगेकान्तविषयः स्यात्, यथा स्यादस्त्वेव जीव इति । स्यात्पदप्रयोगाभावे तु मिथ्यैकान्तगोचरतया दुर्नय एव स्यादिति । तदेतदयुक्तम्—

तत्त्वार्थसिद्धं १।३५ । “लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दः ।” [सर्वाधिकं १।३३] राजवा० १।३३ । “शब्दपुष्टतोऽर्थग्रहणप्रवणः शब्दनयः, लिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् ।” [षड्काटी० सत्प्र०] “कालादिभेदतोऽर्थस्य भेदं यः प्रतिपादयेत् । सोऽत्र शब्दनयः शब्दप्रधानत्वादुदाहृतः ।” [तत्त्वार्थको० पृ० २७२] नयविव० श्लो० ८४ । प्रमेयक० पृ० २०६ A. सन्पत्ति० टी० पृ० ३१२ । नयचक्र गा० ४० । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । 5 प्रमाणनय० ७।३२, ३३ । त्या० मं० पृ० ३१३ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

पृ० १५. पं० ८. ‘अमिरुद्ध’—‘वत्सूत्रो संक्रमणं होइ अवत्सूत्रप सममिरुद्धे ।” [अनुयोग० ४ हा०] भाव० नि० गा० ७५८ । “सत्त्वर्थेष्वसदक्रमः सममिरुद्धः ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्धं १।३५ । “जं जं सण्णं भासइ तं तं चिय सममिरोहणं जम्हा । सण्णंवरत्थविमुद्धो तच्चो तच्चो सममिरुद्धोत्ति ॥” [विषेया० गा० २७२७] “नानार्थ- 10 सममिरोहणात् सममिरुद्धः । “अथवा यो यत्रामिरुद्धः स तत्र समेत्यामिरुद्धेनारोहणात् सममिरुद्धः ।” [सर्वाधिकं १।३३] राजवा० १।३३ । षड्काटी० सत्प्र० । “सममिरुद्धः एव मत्तैकीभावेन आमिरुद्धेन एक एव रूपादिरर्थ एवेति वा या संज्ञा नानां (१) सममिरुद्धः ।” [नयचक्र० पृ० ४८१ A.] “पूर्वायशब्दभेदेन भिन्नार्थस्याभिरोहणात् । नयः सममिरुद्धः स्यात् पूर्ववद्वाच्य निरुचयः ।” [तत्त्वार्थको० पृ० २७३] नयविव० श्लो० ९२ । प्रमेयक० पृ० २०६ A. 15 सन्पत्ति० टी० पृ० ३१३ । नयचक्र गा० ४१ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।३६ । त्या० मं० पृ० ३१४ । जैनतर्कभा० पृ० २२ ।

पृ० १५. पं० ८. ‘इत्थम्भूतः’—“बंजण अत्य तदुभयं एवम्भूतो विसेसेई ।” [अनुयोग० ४ हा०] भाव० नि० गा० ७५८ । “व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूतः ।” [तत्त्वार्थाधि० भा० १।३५] तत्त्वार्थहरि०, तत्त्वार्थसिद्धं १।३५ । “येनात्मना मूलस्तेनैवाध्यवसाययति इत्थम्भूतः । 20 अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूतः परिणतः तेनैवाध्यवसाययति ।” [सर्वाधिकं १।३३] राजवा० १।३३ । “बंजणमत्येवत्थं च बंजण्येयोभयं विसेसेई । जहं षट्सङ्गं चेष्टावया तहा तं पि सेणेव ॥” [विषेया० गा० २७४३] “एवं भेदे भवनादेवम्भूतः । न पदानां समासोऽस्ति भिन्नकालवर्तिनां भिन्नार्थवर्तिनां चैकत्वविरोधात् । न परस्परव्यपेक्षाप्यस्ति वर्णार्थसंख्याकालादिभिर्भिन्नानां पदानां भिन्नपदपेक्षाभ्योगात् । ततो न वाच्यमप्यस्तीति सिद्धम् । ततः 25 पदमेकार्थस्यैव वाचकमित्यध्यवसाय एवम्भूतनयः ।” [षड्काटी० सत्प्र०] “तत्किंया-परिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयात् । एवम्भूतेन नीयेत क्रियान्तरपराङ्मुखः ॥” [तत्त्वार्थको० पृ० २७४] नयविव० श्लो० ९४ । प्रमेयक० पृ० २०६ B सन्पत्ति० टी० पृ० ३१४ । नयचक्रगा० ४३ । तत्त्वार्थसार पृ० १०७ । प्रमाणनय० ७।४० । त्या० मं० पृ० ३१५ । जैनतर्कभा० पृ० २३ ।

पृ० १५. पं० ६. ‘कालभेदात्तावत्’—‘तुलना-प्रमाणनय० ७।३३ । जैनतर्क- 80 भा० पृ० २२ ।

पृ० १६. पं० ५. ‘तदुत्पत्तिसारूप्य’—‘तुलना-‘तत्सारूप्यतदुत्पत्ती यदि संवेद्य-लक्षणम् । संवेद्यं स्यात्समानार्थं विज्ञानं समनन्तरम् ॥” [प्रमाणवा० ३।२३] प्रमाणनय० ४।४७ ।

पृ० १६. पं० १८. ‘स्त्यायत्यस्या’—“संस्त्यानप्रसवौ लिंगमास्थेयौ स्वरूपास्ततः । “अधिकरणसाधना लोके स्त्री स्थायत्यस्यां गर्भ इति । कर्तृसाधनश्च पुमान् सृते पुमानिति । 85 “संस्त्यानविवक्षाया स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्, सम्यग्विवक्षायां नपुंसकमिति ।” [पाठ० महो० ४।१।३]

इति प्रमाणनयप्रवेशः ॥



- ववहारे, सञ्जुसूय, सद्मे, सममिल्ले, एवंमूय ।" [त्याना० ७।१९] अनुयोग० १३६। "नैगमसंग्रहव्यवहारजुसुत्रशब्दसममिल्लेवस्मृताः नयाः ।" [तत्त्वार्थसू० १।३३] "नैगमसंग्रहव्यवहारकञ्जुसूय होई बोधव्ये । सद्मे य सममिल्ले एवंमूय य मूलनया ।" [आव० नि० गा० ७५४] "नैगमसंग्रहव्यवहारजुसुत्रशब्दा नयाः । आद्याशब्दो द्वित्रिमेदौ ।" [तत्त्वार्थवि० १।३४, ३५]
- 5 सिद्धसेनदिवाकरस्तु षड् नयान् स्वीकुर्वन्ति, जन्मतालुसारेण नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोरन्तर्भावात् । (सम्प्रति० १।४, ५)

पृ० २३. पं० ६. 'व्यतिरेकः'—तुलना—“अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषाविवत् ।” [परीक्षासू० ४।९]

- पृ० २३. पं० १६. 'ततस्तीर्थेक'—तुलना—“नित्ययत्नवयणसंग्रहविसेसपत्या-
10 रमूलवागरणी । इवद्विओ य पञ्चवयणओ य सेसा विवप्पासिं ।” [सम्प्रति० गा० १।३]

पृ० २३. पं० १८. 'न नैगमस्य प्रमाणता'—तुलना—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २६९।

पृ० २४. पं० ६. 'व्यवहारालु'—“व्यवहारालुकृत्येन” । [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७१]

तुलना—“प्रामाण्यं व्यवहारेण” । [प्रमाणवा० ३।५]

पृ० २४. पं० २३. 'चत्वारोऽर्थ'—तुलना—“चत्वारोऽर्थश्रयाः शेषाक्षर्यं शब्दतः ।”

- 15 [सिद्धिभि० पृ० ५१७ B] राजवा० पृ० १८६ । “अत्युपपन्नं सद्गोवसज्जणं वत्थुमुञ्जुसुत्तं ता । सद्गुप्पहायमत्थोवसज्जणं सेसया विवि ।” [विक्षेपा० गा० २७५३] प्रमाणनय० ७।४४, ४५ । जैनतर्कभा० पृ० २३ । नवप्रदीप पृ० १०४ B. “तत्रजुसुत्रपर्वन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मताः । त्रयः शब्दनयाः शेषाः शब्दाव्याख्यानोचराः ।” [नवविध० पृ० २६२]

उद्धृतमिदम्—“जीवाण्यर्थविनिश्चयात् ।” [आव० नि० मलय० पृ० ३८१ B.] सूत्रकृताय

- 20 टी० पृ० ३२६ A.

पृ० २५. पं० २६. 'न्यासः'—“विस्तरणं लक्षणतो विधानतरचाधिगमार्थं न्यासो निक्षेपः ।” [तत्त्वार्थवि० गा० १।५] “शिच्छय शिखणय सिवदि ति शिखलेवो । सो वि छविहो यामट्टवणाद्ववखेत्तमावसंगलमिदि ।” [धवलाटी० सत्प्रह०]

पृ० २५. पं० २६. 'चतुर्था'—“जत्य य जं जाणेज्जा निक्खेवं निक्खिक्खे निरवसेसं ।

- 25 जत्यवि अ न जाणेज्जा चउक्कं निक्खिक्खे तत्थ ॥ आवस्सयं चउक्खिहं पणणसे । तं जहा-
नामावस्सयं ठवणावस्सयं दव्वावस्सयं आवावस्सयं ।” [अनु० सू० ८] “नामस्थापनाद्रव्य-
भावतस्तन्-न्यासः ।” [तत्त्वार्थसू०-१।४]

मूलचारे षडान्वयकाधिकारे (गा० १७) सामायिकस्य निक्षेपः नामस्थापनाद्रव्य-
क्षेत्रकालमात्रैः षड्विध उक्तः । आवश्यकनिर्मुक्तौ (गा० १२९) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालव-
चनभावविकल्पात् साविधौ निक्षेपः प्ररूपितः ।

- 30 पृ० २६. पं० १. 'नाम'—“नाम संज्ञाकर्म इत्यनर्थानन्तरम् ।” [तत्त्वार्थवि० गा० १।५] “अतद्गुणो वस्तुनि संख्यवहारार्थं पुरुषाकारान्निधुन्यमानं संज्ञाकर्म नाम ।” [सर्वार्थसि० १।५] राजवा० पृ० २०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८। “पञ्चायाणमिधेयं डिअमणत्थे तयत्थनिरवेक्कलं । जाडिच्छिअं च नाम जावद्वयं च पाण्णं ।” [विक्षेपा० गा० २५] जैनतर्कभा० पृ० २५ । “अत्राभिप्रायकया सन्ना चेयणमचेयणे वा वि । ठवणादीं निरविकखा केवल सन्ना च नामिदो ।” [बृहत्कल्पवा० गा० ११] “तत्थ यामसंगलं यामयिमित्तं तरणिरवेक्कला मंगलसण्णा । तत्थ यिमिच्चं चउक्खिहं जाडि दव्व गुण किरिया चेदि ।” [धवलाटी० सत्प्रह०]

यथा मतः । तथा ज्ञानं स्वहेतुत्वं स्वयं तद्भाहकं मतम् ।" [सिद्धिदि० टी० पृ० १० B.]
न्यायवि० वि० पृ० ३३ A.

पृ० २१. पं० १४. 'उपयोगौ'—“तदुक्तम्—उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ प्रमाणनयभेदतः ।”
[सिद्धिदि० टी० पृ० ४ A.]

पृ० २१. पं० १६ 'स्याद्वादः'—‘स च तिष्ठन्तप्रतिरूपको निपातः । तस्याने- 5
कान्तविधिविचारादिषु बहुष्वर्थेषु संभवस्तु इह विषयानुशादनेकान्तार्थो गृह्यते ।” [राजवा०
पृ० १८१] “निर्दिश्यमानधर्मव्यतिरिक्तारोपधर्मन्तरसंसृचकेन स्यात्ता युक्तो वादोऽभिप्रेतधर्म-
वचनं स्याद्वादः ।” [न्यायावता० टी० पृ० ९३]

पृ० २१. पं० १७. 'ज्ञानदर्शन'—तुलना—“स्यात्प्रदप्रयोगात्तु ये ज्ञानदर्शनसुखा- 10
दिरूपा असाधारणा ये चाभ्युत्तवासंस्थातप्रदेशसूक्ष्मत्वलक्षणा धर्मा धर्माधर्मगणनास्तिकाय-
पुद्गलैः साधारणाः येऽपि च सत्त्वप्रमेयत्वधर्मित्वगुणित्वादयः सर्वपदार्थैः साधारणास्तैर्ऽपि च
प्रतीयन्ते ।” [आच० नि० मलय० पृ० १७० A.]

पृ० २१. पं० २०-२१. 'साकल्य'—‘वैकल्य’—सकलादेश-विकलादेशयोः स्वरूपे 15
प्रायः ऐक्यस्येऽपि केचिदकलंकाद्याचार्याः सर्वानपि भंगान् एकधर्मसुखेन अशेषधर्मात्मकवस्तु-
प्रतिपादनकाले सकलादेशरूपान् एकधर्मप्रधानतया अन्यधर्मात्त्र गौणतयाऽभिधानसमये
विकलादेशात्मकान् स्वीकृवंति । केचिच्च सिद्धसेनगणितप्रभृतयः सदसदवस्तुव्यवस्थां भंगत्रयम्
सकलादेशत्वेन शिष्टांश्च चतुरो भंगान् विकलादेशरूपेण मन्यन्ते । तथा च तेषां ग्रन्थाः—

“तथा चोक्तम्—सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो न्यायाधीन इति ।” [सर्वार्थसि०
११६] “तत्र यदा योगपथं तदा सकलादेशः ।” एकगुणसुखेनारोपवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः ।”
‘तत्रादेशवशात् सप्तभंगी प्रतिपद्यते ।” यदा तु क्रमं तदा विकलादेशः (पृ० १८०) निरंश- 20
स्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः ।” “तत्रापि तथा सप्तभंगी ।” [राजवा० पृ० १८१]
नयचक्र० पृ० ३४८ B. “सकलादेशो हि योगपथेनारोपधर्मात्मकं वस्तु कालाविभिरभेदवृत्त्या
प्रतिपादयति अभेदोपचारेण वा, तस्य प्रमाणाधीनत्वात् । विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण
भेदप्रामाण्येन वा ।” [तत्त्वार्थको० पृ० १३६] प्रमेयक० पृ० २०७ A. सप्तभंगि० पृ० ३२ ।
प्रमाणनय० ४१४, ४५१ जैनतर्कना० पृ० २० ।

“इयं सप्तभंगी प्रतिभंगं सकलादेशस्वभावा विकलादेशस्वभावा च ।” [प्रमाणनय० ४१
४३] जैनतर्कना० पृ० २० । गुस्तत्त्ववि० पृ० १५ A. शास्त्रवा० टी० पृ० २५४ A. “यदा मध्य-
स्थभावेनार्थित्ववशात् किञ्चिद्धर्मं प्रतिपादयिष्वः शेषधर्मस्वीकरणनिराकरणविशुद्धया विद्या
पार्थं प्रयुज्यते तदा तत्त्वचिन्तका अपि लौकिकवत् सम्मुखकारतयाचक्षते—बहुत जीवोऽस्ति
कचो प्रमाता भोक्तेत्यादि, अतः सम्पूर्णवस्तुप्रतिपादनाभावात् विकलादेशोऽभिधीयते नयमतेन 30
संभवद्वभार्यां दर्शनमात्रमित्यर्थः ।” यदा तु प्रमाणाध्यापारमविकल परामुश्य प्रतिपादयितु-
मभिप्रयन्ति तदाङ्गीकृतगुणप्रधानभावा अशेषधर्मसूचककथञ्चित्परायस्याच्चद्वयवृत्तितया साध-
नारख्या वाचा दर्शयन्ति ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इत्यादिकथा, अतोऽयं स्याच्छब्दसंज्ञितार्थ-
न्तरीभूतानन्तधर्मकस्य साक्षादुपनयस्तजीवशब्दक्रियाभ्या प्रधानीकृतताम्रभाषस्यावधारणव्य-
वच्छिन्नतदसंभवस्य वस्तुनः सन्दर्शकत्वात् सकलादेश इत्युच्यते । प्रमाणाप्रतिपन्नसम्पूर्णार्थ- 35
कथनमिति यावत् । तदुक्तम्—सा ज्ञेयविशेषगतिर्नैवप्रमाणात्मिका भवेत्तत्र । सकलप्राप्तिं तु मानं
विकलप्राप्तिं न्यो ज्ञेयः ।” [न्यायावता० टी० पृ० ९२]

- पृ० २६. पं० ५. 'सदादिभिः'—“खे किं ते अणुगमे? नभविहे पश्यत्ते तं जहा-
संतपयपरुषण्या, दम्बपमार्णं च, खित्त, फुसणा य, कालो य, र्वतंरं, भाग, भाव, अप्पावहुं
चेवा” [अनु० सू० ८०] “सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरमावात्पवहुत्वैरच” [तत्त्वार्थसू० ११८]
- पृ० २६. पं० ६. 'जीवस्थान'—“सुदुया बादरकाया ते सल्लु पञ्चत्तया अपज्जता ।
5 एइंदिया दु जीवा जिण्हिं कहिया चदुवियप्पा ॥ पञ्चत्तापञ्चत्ता वि होंति विगलिंदिया दु
छम्मेया । पञ्चत्तापञ्चत्ता सण्णि असण्णी य सेसा दु ॥” [मूलानुवार्थः गा० १५२-१५३]
जीवकाठ गा० ७२ । कर्मप्र० ४१२ ।
- पृ० २६. पं० ६. 'गुणस्थान'—“मिच्छादिद्वी सासादयो य मिस्सो असंजदोचेव ।
देसविरदो पमत्तो अपमत्तो वह य गायब्बो ॥ एतो अपुण्वकरणो अणियद्वी सुदुमसंपराओ य ।
10 वजसंतखीयमोहो सजोगकेवलजिण्हो अजोगी य ॥” [मूलानुवार्थः गा० १५४-१५५]
जीकाण्ड गा० ९-१० । कर्मप्र० २१२ ।
- पृ० २६. पं० ६. 'मार्गस्थान'—“गइ इंदिये च कावे जोगे वेदे कसायणाणे य ।
संजम इंसण सेत्ता भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥” [मूलानुवार्थः गा० १५६] जीवकाण्ड
गा० १४१ । कर्मप्र० ४१९ ।
- 15 पृ० २६. पं० १०. 'नहि गुणादिविनाशात्'—पुद्गला—“आत्मलानं विदुर्भोक्
जीवस्थान्तर्मलक्षणात् । नाभावं नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥” [सिद्धिपि० पृ० ३८४]
पृ० २६. पं० १०. 'जडः'—नैयायिकाः जडरूपत्वमात्मनो मुक्तौ स्वीकृत्यन्ति ।
तथाहि—“नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽप्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात्, यो यः सन्तानः
स सोऽप्यन्तमुच्छिद्यमानो दृष्टो यथा प्रदीपसन्तानः” [प्रब० व्यो० पृ० २० क] “तदेवं
20 नवानामात्मगुणानां निर्मूलच्छेदोऽपवर्ग इति यदुच्यते तदेवेवमुक्तं भवति तद्वत्पन्तविशेषो-
ऽपवर्ग इति” [न्यायम० पृ० ५०८]
- पृ० २६. पं० १० 'शून्यः'—“बौद्धाः शून्यात्स्फुल्वमपि मुक्तौ मन्यन्ते । तथाहि—
“इह हि भगवता उचितप्रज्ञाचर्याणां तथागतशासनप्रतिपन्नानां धर्माद्युधर्मप्रतिपत्तिमुक्तानां
पुद्गलानां द्विविधं निर्वाणमुपवर्णितं सोपविशेषम्, निरुपविशेषं च । तत्र निरुपविशेषस्याविद्या-
25 रागादिकस्य क्लेशरागास्य प्रहायात् सोपविशेषं निर्वाणमिष्यते । तत्रोपवीयतेऽस्मिन्नात्मस्तेह
इत्युपधिः । उपविशब्देन आत्मज्ञानिनिमित्ताः पञ्चोपादानस्कन्धा उच्यन्ते । शिष्यत इति शेषः ।
उपधिरेव शेष उपविशेषः । सह उपविशेषेण वर्तते इति सोपविशेषम् । किं तन्निर्वाणम् । तत्र
स्कन्धमात्रकमेव केवलं सत्कायदृष्ट्यादिक्लेशतत्स्फुरहितमवशिष्यते निहतारोपचौराग्राम-
मात्रावस्थानसाधर्म्येण, तत्सोपविशेषं निर्वाणम् । यत्र तु निर्वाणे स्कन्धमात्रकमपि नास्त
30 तन्निरुपविशेषं निर्वाणम् । निर्गत उपविशेषोऽस्मिन्निति कृत्वा । निहतारोपचौराग्रस्य भ्राममा-
त्रस्यापि विनाशासाधर्म्येण” [माध्यमिकव० पृ० ५१९]
- पृ० २६. पं० ११. 'तदमोक्ता'—सांख्या हि विरते प्रकृतिसंयोगे मुक्तव्यवस्थायं
पुरुषममोक्तारं साक्षिणमामनन्ति । तथाहि—“प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे रूतिर्भवति ।
था दृष्टास्तीति पुनरं दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ तेन निवृत्तप्रसवामयवशात् सप्रकृतिनिवृत्ताम् ।
85 प्रकृतिं परयति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥” [सांख्यका० ६१, ६५]

इति लघीयस्त्रयस्य टिप्पणानि ।

प्रमाणनयविभागाभावप्रसक्तैः; तथाहि—‘स्याज्जीव एव’ इति किल प्रमाणवाक्यम् ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इति नयवाक्यम् । एतच्च द्वयमपि लघीगच्छत्यलङ्कारे साक्षादकलङ्केनोदाहृतम्, अत्र चोभयत्राप्यविरोधः, तथाहि—स्याज्जीव एवेत्यत्र जीवशब्देन प्राणधारणनिबन्धना जीवशब्द-
वाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूताकारशब्दप्रयोगाद्जीवशब्दवाच्यतानिषेधः, स्याच्छब्द-
प्रयोगतोऽसाधारणसाधारणधर्माद्येः । ‘स्यादस्त्येव जीवः’ इत्यत्र जीवशब्देन जीवशब्द-
पाच्यताप्रतिपत्तिः, अस्तीत्यनेनोद्भूतविवक्षितास्तित्वावगतिः, एवकारप्रयोगात् यदाशक्ति-
सकलैरपि अगति जीवस्य नास्तित्वं तद्वपञ्च्येद्भूः, स्यात्प्रदप्रयोगात् साधारणासाधारणप्रति-
पत्तिरित्युभयत्राप्यविरोध एव ॥ [भाव० नि० मलय० पृ० ३७१ A.]

८० यथोक्तिजयैः सर्वमेतत् मलयगिरिमतं पूर्वपक्षीकृत्य इत्थं समाहितम्—“अत्रेदमव-
धेयम्—यो नाम नयो नयान्तरपेक्षस्तस्य प्रमाणान्तर्भावे व्यवहारनयः प्रमाणं स्यात्, तस्य तपः-
संयमप्रवचनप्रादुक्तत्वेन संयमप्राप्तिनिश्चयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात् । शब्दनयानाञ्च निषेध-
तुष्ट्याभ्युपगन्तव्यां भावान्युपगन्तरावदनयविषयविषयकत्वेन तत्सापेक्षत्वात्प्रमाणत्वापत्तिः ।
नयान्तरवाक्यसंयोगेन सापेक्षत्वे च प्राप्ते स्यात्प्रदप्रयोगेण सप्रतिपक्षनयद्वयविषयावच्छेदकस्यैव
लाभात् त्वेनानन्तधर्मात्मकत्वापरामर्शः । न चेदेवं तदानेकान्ते सम्योगान्तप्रवेशानुपपत्तिः, अत्र-
च्छेदकमेवं विना सप्रतिपक्षविषयसमावेशस्य दुर्वचत्वात् । इष्यते चायम्, यदाह महामतिः—
‘भयणा वि द्रु भङ्ग्यन्वा जह भयणा भसद् सत्त्वदन्वाह । एवं भयणानियमो वि होह समयाविरा-
हयथा ॥’ (सन्तति० गा० ३२७) इति । समन्तभद्रोऽप्याह—“अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणन-
यसाधनः । अनेकान्तः प्रमाणात् तदेकान्तोऽर्पितामयात् ॥’ (बहस्तय० श्लो० १०३) इति ।
पारमर्शेऽपि—‘इमा र्थं अते रयणप्पमा पुढवी किं सासया असासया ?’ गोयमा । सिय सासया
सिय असासया । से केण्णट्ठेणं भंते ! एवं जुचइ । गोयमा । दन्वट्ठयाप सासया पञ्चवट्ठयाप
असासया ।’ (भगवतीसु०) इति प्रदेशे स्यात्प्रदमवच्छेदकमेदप्रदशक्तयैव विवृतम्, अत एव
स्यादित्यवयवमनेकान्तद्योतकमेव तान्त्रिकैरुच्यते. सम्योगान्तसाधकस्यानेकान्तसौपकत्वात्,
न त्वनन्तधर्मपरामर्शकम्, अतो न स्यात्प्रदप्रयोगमात्राधीनमादेशसाकल्यं येन प्रमाणनयवाक्य-
धोर्मदो न स्यात्, किन्तु स्वार्थोपस्थित्यनन्तरमशेषधर्माभिदोपस्थापकविधेयपदवृत्त्यधीनम्, सा च
विवक्षाधीनेत्यादेशसाकल्यमपि तथेति नयप्रमाणावाक्यपरित्यक्तं मेद एव । मलयगिरिपादवचनं
तु अप्रतिपक्षधर्माभिधानस्थलेऽवच्छेदकमेदाभिधानानुपशुक्तेन स्यात्प्रदेन साक्षादनन्तधर्मात्मक-
त्वाभिधानात्तत्र प्रमाणनयमेदानभ्युपगन्तदुर्विदग्धद्विगम्बरनिराकरणाभिप्रायेण योजनीयम् ॥
[गुस्तत्त्ववि० पृ० १७ B.]

पृ० २२. पं० १. ‘अप्रयुक्तोऽपि’—“विधौ निषेधेऽन्यत्रापि ” [भाव० नि० मलय०
पृ० ३९९ B.] गुस्तत्त्ववि० पृ० १९ A

तुलना—‘शोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात् प्रतीयते । यथैवकारोऽयोगादित्यवच्छे-
दप्रयोजनः ॥’ [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३७] त्या० ख्या० पृ० ७१८ । रत्नाकरवशा० पृ० ६१ ।
सप्तमि० पृ० ३१ । त्या० म० पृ० २७९ । नयप्रदीप पृ० ९६ A

पृ० २२. पं० ३. ‘क्वचित् स्यात्कार’—तुलना—“अत्रान्यत्रापि इति अनुवादा-
तिदेशादिवाक्येषु ” ॥ [भाव० नि० मलय० पृ० ३९९ B]

पृ० २२. पं० १६. ‘लोको हि अर्थाप्यनाप्तिपु’—तुलना—“बुद्धिशब्दप्रमाणव्य-
वाहार्ये सति नामति । सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थोऽन्यनाप्तिपु ॥’ [आप्तमी० पृ० ८७]

पृ० २२. पं० २४. ‘नयाः सप्त’—“सप्त मूलश्रुत्या पयणत्ता तं जहा—एगमे, संगहे.

- न्तस्य त्यागात्, नाम्नः स्वलक्षणस्यापि स्वाभिधानविशेषानपेक्षस्यैव व्यवसायवचनात् । तद्वचने वा न कचिद्व्यवसायः स्यात्, नामतर्वशानामव्यवसाये नामार्थव्यवसायायोगात् । दर्शनेनाव्यवसायात्मना दृष्टस्याप्यदृष्टकल्पत्वात् सकलप्रमाणाभावः प्रत्यक्षस्याभावेऽनुमानोत्थानाभावान् । तत एव सकलप्रमेयापायः, प्रमाणापाये प्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः इत्यप्रमाणप्रमेयत्वम-
 5 शेषस्यावश्यमनुष्येत । तदुक्तं न्यायविनिश्चये-अमिलाप-”इति । ‘अमिलापविवेकतः’ इति अमिलापरहितत्वादिति व्याख्यानात् । प्रथमपक्षोपक्षिमदोषपरिजिहीर्षया तन्नामान्तरपरिकल्पनायामनवस्था । नामतद्वशानामपि नामान्तरस्मृतौ हि व्यवसाये नामान्तरतद्वशानामपि व्यवसायः स्वनामान्तरस्मृतौ सत्यामित्यनवस्था स्यात् । तथा च तदेवाप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुष्येत । अत्रापि इयमेव कारिका योज्या ‘अमिलापविवेकतः’ इति अमिलापविनिश्चयात्
 10 इति व्याख्यानात् ।” [अष्टसह० पृ० १२०] तत्त्वार्थको० पृ० २४० ।

पृ० ३०, पं० १८. ‘आत्मनाऽनेकरूपेण’-“तदुक्तं न्यायविनिश्चये-आत्मनाऽनेकरूपेण इत्यादि ।” [सिद्धिचि० टी० पृ० ५६ B. ५१२ A.]

- पृ० ३१, पं० ३. ‘परोक्षज्ञानविषय’-अत्र हि परोक्षज्ञानवादिनो सीमासकस्य लक्षणम् । तन्मत्तश्चेत्तन्म-“न ज्ञातेऽर्थे कश्चिद्विभुपलभते, ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति ।
 15 तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः” ।” न चार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धे रूपोपलम्भनम् । तस्मान्न बुद्धिविषयं प्रत्यक्षम्, अर्थविषयं हि तत् । अतः सिद्धमानुमानिकत्वं बुद्धेः फलतः ।” [शाबरभा० बृहती पृ० ८७]

तुलना-“परोक्षज्ञानार्थपरिच्छेदः परोक्षवत् ।” [प्रमाणसं० पृ० ९८ पं० १७]

- पृ० ३१, पं० ६. ‘अन्यथानुपपन्नत्व’-उद्धृतं पूर्वाह्नं प्रमेयरत्नमालाया (३।१५) -
 20 प्रमाणनिर्णये च (पृ० १२)

तुलना-“तथा चान्यथानुपपन्नत्वमसिद्धस्य न सिद्धयति ।” [सिद्धिचि० पृ० ११४ A.]

पृ० ३१, पं० १३. ‘अध्यक्षमात्मनि’-तुलना-“प्रत्यक्षमात्मनि ज्ञानसंपन्न-
 ज्ञानिकम् । प्रत्यात्मवेद्यमाहन्ति तत्परोक्षत्वकल्पनाम् ।” [तत्त्वार्थको० पृ० १९६]

- पृ० ३१, पं० २४. ‘विषयेन्द्रिय’-तुलना-“अपि चाध्यक्षताभावे धियः स्याल्लि-
 25 गतो गतिः । तच्चाक्षमर्थो धीः पूर्वो मनस्कारोऽपि वा भवेत् ॥ कार्यकारणसामग्र्यामस्यां सम्बन्धिना परम् । सामर्थ्यादर्शनात्तत्र नेन्द्रियं व्यभिचारतः ॥ तथाप्यौ धीमनस्कारौ ज्ञानं तौ च न सिद्धयतः । नाप्रसिद्धस्य लिगत्वं व्यक्तिरर्थस्य चेन्मता ॥” [प्रमाणवा० ३।४६१-६३]

- पृ० ३१, पं० २५. ‘मनस्कारादि’-“मनस्कारश्चेतस आभोगः । आनुजनमा-
 भोगः, आलम्बेन येन चित्तमभिमुखीक्रियते । स पुनरालम्बेन चित्तधारणकर्म । चित्तधारणं
 30 पुनः तत्रैवा (तत्रैवा) लम्बने पुनः पुनरिवत्तस्यावर्जनम् । एतच्च कर्म चित्तसन्तरेरालम्बन-
 क्षियमेन विशिष्टं मनस्कारमधिकृत्योक्तम् ।” [विश्विकारा० पृ० २०] “विषये चेतस आभर्जनं
 (अवधारणं) मनस्कारः मनः करोति आवर्जयतीति ।” [अभिषर्गको० व्या० २।२४]

- पृ० ३२, पं० ७. ‘असञ्चारोऽनवस्थानम्’-तुलना-“ज्ञानान्तरेणानुभवेऽनवस्था
 तत्र च स्मृतिः । विषयान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् स चेष्टते ॥” [प्रमाणसं० १।१३]
 85 “ज्ञानान्तरेणानुभवो भवेत्तत्रापि च स्मृतिः । दृष्ट्वा तद्वेदनं केन तस्याप्यन्येन चेद्विमाम् ॥ मालो
 ज्ञानविदां कोऽर्थं जनयत्यनुबन्धिनीम् । पूर्वा धीः सैव चेन्न स्यात्सञ्चारो विषयान्तरे ॥”

पृ० २६. पं० २. 'स्थापना'—“यः काष्ठपुस्तचित्रकर्माच्चनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स्थापनाजीवः देवताप्रतिकृतिवद् इन्द्रो रुद्रः स्कन्दो विष्णुरिति ॥” [तत्त्वार्थशि० भा० ११५] “काष्ठपुस्तचित्रकर्माच्चनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना ॥” [सर्वार्थशि० ११५] राजवा० पृ० २०। “जं पुण्यं तयत्यसुजं तयमिप्पाप्यं तारिसगारं। कीरदं व निरागारं इत्तरमियरं व सा ठवणा ॥” [विशेषा० गा० २६] “सम्भावमसम्भावे ठवणा पुण्यं इन्दुके- 5 समर्प्येति। इत्तरमणित्तरा या ठवणा नाम तु आवकह ॥” [बृहत्कल्पभा० गा० १३] ‘सम्भाव- स्थापनया नियमः, असम्भावेन वाऽतद्रूपेति स्थूयेन्द्रवत् ॥” [नयचक्रं० पृ० ३८१ A.] जैनतर्कभा० पृ० २५। “आहिदणामस्स अणणस्स सोयमिद्विवरणं ठवणा णाम। सा दुविडा- सम्भावसम्भावद्ववणा चेदि। तत्थ आगारवंतए वत्थुम्मि सम्भावद्ववणा। तत्त्विवरीया असम्भावद्ववणा ॥” [धवलाटी० सत्तरु०] “वस्तुनः कृतसंज्ञस्य प्रतिष्ठा स्थापना भता। सद्भा- 10 वेतरमेदेन द्विधा तत्त्वाविरोधतः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११]

पृ० २६. पं० ३. 'द्रव्य'—“द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञास्थापितोऽनादि- परिणामिकमावयुको जीव उच्यते ॥” [तत्त्वार्थशि० भा० ११५] “गुणैः द्रोष्यते गुणान् द्रोष्यतीति वा द्रव्यम् ॥” [सर्वार्थशि० ११५] “अनागतपरिणामविरोधेन प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्। अतद्रूप वा ॥” [राजवा० पृ० २०] “धवलाटी० सत्तरु०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० १११। 15 “द्रव्ये पुण्यं तत्त्वलाङ्घी जस्सतीता भविस्सते वा वि। जो वाधि अणुवज्जुतो इवस्स गुणे परिकहेइ ॥” [बृहत्कल्पभा० गा० १४] विशेपा० गा० २८। जैनतर्कभा० पृ० २५। “भूतस्य भाविनो वा भावस्य हि कारणं तु यल्लोके। तद् द्रव्यं तत्त्वज्ञैः सचेतनाचेतनं कथितम् ॥” [भाव० नि० मलय० पृ० ६ B.]

पृ० २६. पं० ३. 'भावनिक्षेपः'—“वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः ॥” 20 [सर्वार्थशि० ११५] राजवा० पृ० २१। धवलाटी० सत्तरु०। तत्त्वार्थश्लो० पृ० ११३। “जो पुण्यं अहत्पज्जुतो सुद्धनयाणं तु एस भाविदो। इवस्स वि आहिगारं विद्याणमायो तदुवज्जुतो ॥” [बृहत्कल्पभा० गा० १५] “भावो विवक्षितक्रियानुपूतियुक्तो हि वै समाख्यातः। सवैज्ञेयिन्द्रा- विविदेह्वनादिक्रियानुभवात् ॥” [भाव० नि० मलय० पृ० १ A.]

पृ० २६. पं० ४. 'अप्रस्तुतार्थ'—सुखना—“स किमर्थः ? अप्रकृतनिराकरणाय 25 प्रकृतनिरूपणाय च ॥” [सर्वार्थशि० ११५] तत्त्वार्थश्लो० पृ० ९८। “अथ किमिति निक्षेपः क्रियते ? इति चेदुच्यते—त्रिविधाः श्रोतारः अव्युत्पन्नः, अवगताशेषविवक्षितपदार्थः, एकदेश- शेषविवक्षितविवक्षितपदार्थ इति। तत्र प्रथमोऽव्युत्पन्नत्वात्तात्त्विकवस्थतीति विवक्षितपदस्यार्थम्। द्वितीयः सरोते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत इति, प्रकृतार्थादन्यमर्थमात्राय विपर्यस्यति वा। द्वितीयवस्तुतीयोऽपि सरोते विपर्यस्यति वा। तत्र यद्यव्युत्पन्न-पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः, अव्युत्प- 80 न्नव्युत्पन्नमुखेन अप्रकृतनिराकरणाय। अथ द्रव्यार्थिकः, तद्द्वारेण प्रकृतपरूपणायारो- धनिक्षेपा उच्यन्ते, व्यतिरेकधर्मनिर्ययमन्तरेण विविनिर्णयानुपपत्तेः। द्वितीयवस्तुतीययोः संशयविनाशायारोधनिक्षेपकथनम्। तथोरेव विपर्यस्यतोः प्रकृतार्थावधारणार्थं निक्षेपः क्रियते। उक्तं हि—अवगयणिवारट् पयदस्स परुवणाणिमिच्चं। संसयविणासणट् तत्त्ववधारणट् च ॥” [धवलाटी० सत्तरु०] वदन्तमिदं वाक्यम्—जैनतर्कभा० पृ० २५। 85

पृ० २६. पं० ५. 'निर्देशादिभिः'—“निर्देशे पुरिते कारणं कर्हि केसु कालं कइविहं ॥” [अनु० सू० १५१] “निर्देशास्वामित्वसाम्बन्धाधिकरणस्थितिविधानतः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० ११७] “किं केण कस्स कस्य वि केवचिरं कदिविधो य भावो य। कर्हि अणिओगद्वारे ॥” [मूलान्तर ८१५]

“अर्थकार्यतया ज्ञानस्पृतावर्थस्पृतेष्वेति । आन्त्या संकलनं ज्योतिर्मनस्कारेऽपि सा भवेत् ॥”

आन्तिरिति सम्बन्धः । यद्यर्थस्य कार्यं विज्ञानम् अथापि अर्थे कार्यं व्यापारो यत्येति ज्ञानस्पृता नियमेन अर्थस्मरणम्, अतस्तदेव मूढमतिसन्तानस्य तथा भवति प्रतिपत्तिः । एवन्तर्हि ज्योतिर्मनस्कारेऽपि तथा प्रतीतिः स्यात् । यथा विषयकार्यता विज्ञानस्य तथा
5 आलोककार्यता मनस्कारकार्यतापि तेन द्वयसंकलनेनापि प्रतीयेत । न हि कार्यत्ये कश्चिद्विशेषः । अथ विषये व्यापृतत्वात् तत्संकलनं मनस्कारे तत्रान्यापि [पृ०] तत्वात् तदा तर्हि आलोकेऽपि समान एव व्यापारः । न आलोकमग्राह्य रूपे व्याप्रीयते । तदसदेतत् । तस्मादप्या आलोकप्रतिभासमिति न भवति तथा रूपप्रतिभासमिति न स्यात् । तस्माद्व्यापकाकारमेव विज्ञानम् । कार्यतया तु तथा प्रतिपत्तौ—

10 सर्वेषामपि कार्याणां कारणैः स्यात्तथा ग्रहः । कुलालादिविवेकेन न स्मर्येत घटस्ततः ॥

तेनापि कार्षोऽपि घटादिः स्वकारणविवेकेन न स्मर्येत । अथ अर्थकृतः कश्चिदतिशयो केन ज्ञानस्मरणे अर्थोऽपि (पि) स्मर्यते, ज्ञानग्रहणे चार्थग्रहः, केवलस्य ज्ञानस्य न ग्रहण-स्मरणे, घटादिस्तु केवलोऽपि गृह्यते तेनादानादिकञ्च । तदपि स्वपक्षपाधनाय । तथाहि—
‘यस्मादतिशयो (यो) ज्ञानमर्थसंसर्गमाजनम् । सासृज्याच्चित्तिकमन्यत्स्याद् इष्टस्य यमलादिषु ॥

15 यदि तस्य विज्ञानस्य नार्थाकारता तदाऽर्थग्रहणेनैव सह विज्ञानं गृह्यते स्मर्यते चेति कोऽयं नियमः । तदर्थान्तर्गतं तु नियमेन तद्ग्रहणेनैव गृह्यत इति भवति नियमः । तस्मादर्थस्वरूपमेव विज्ञानमर्थग्रहणानन्तरीयकग्रहणं तत्स्थानान्तर्रीयकस्मरणञ्च ॥” [प्रमाण-वार्त्तिकाल० पृ० ८८-८९]

पृ० ३६, पं० ६, ‘अन्तःशरीर’—प्रज्ञाकरो हि स्वप्नावस्थायां सूक्ष्मशरीरं
20 स्वप्नान्तिकनामानं स्वीकरोति । तस्मिन्नेव त्रासलंघनधावनादयो भवन्ति । तदेव स्वप्नान्तिकं शरीरमत्र ग्रन्थकृता ‘अन्तःशरीर’ शब्देन आक्षिप्तम् । तन्निर्देशप्रचेत्यम्—“यथा स्वप्नान्तिकः कायः त्रासलङ्घनधावनैः । जाग्रद्वैश्विकारस्य तथा जन्मान्तरेऽप्यपि ॥” [प्रमाणवार्त्तिकाल० लि० पृ० १४८] “प्रज्ञाकरस्तु स्वप्नान्तिकशरीरवादी स्वप्नप्रदायामपि व्यवहारादिनिर्भासज्ञानस्य साक्षात् चिकीर्षादिप्रभवनियममन्युपगच्छति” [सिद्धिर्वि० टी० पृ० १३८ B.]

25 पृ० ३६, पं० १०, ‘विष्णुताक्षा’—विज्ञानवादिनः विष्णुताक्षबुद्धि—तैमिरिक चन्द्रद्वयबुद्धि—इष्टान्तेन सर्वेषां प्रत्ययानां निरात्मन्बन्तत्वं साधयन्ति । तथाहि—“विज्ञातिमात्र-मेवेदम् असद्व्यावसायनात् । यथा तैमिरिकस्यासत्केशचन्द्रादिदर्शनम् ॥” [विज्ञातिमात्र० निवातिका पृ० १] “अत एव सर्वे प्रत्ययाः अनात्मन्बन्धः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवविति प्रमा-रुहस्य परिशुद्धिः ॥” [प्रमाणवार्त्तिकाल० पृ० २२]

30 तुलना—“विष्णुताक्षा यथा बुद्धिः वितथप्रतिभासिनी । तथा सर्वत्र क्रिमेति जडाः सम्प्रतिपेदिरे ॥ सर्वज्ञानानां स्वयमविषयीकृतानां निर्विषयतासिद्धिः इष्टविघातकृन् विरुद्धः स्याद्वातलंघने ॥” [सिद्धिर्वि० पृ० ३३७]

पृ० ३६, पं० १६, ‘प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्’—“तदुक्तं न्यायविनिश्चये—प्रमाण-मात्मसात्कुर्वन्, इत्यादि ॥” [सिद्धिर्वि० टी० पृ० २६८ B.] प्रमाणसं० पृ० १०३।

35 पृ० ३६, पं० २८, ‘इन्द्रजालादिषु’—“तथा चोक्तमकलंकदेवैः—इन्द्रजाला-दिषु” [आप्तप० पृ० ४९] सिद्धिर्वि० टी० पृ० २०८ B.

न्यायविनिश्चयस्य

॥ टिप्पणानि ॥



पृ० २६, पं० ३. 'प्रसिद्धाशेष'—तुलना—'प्रमुद्गाशेषतत्त्वार्थबोध'... [भाष्य० का० १] पञ्चपदी० का० १ ।

पृ० २६, पं० ६. 'बालानां हितकामिनाम्'—तुलना—प्रमाणवा० ११२ । श्लोकोऽर्थं नयविवरणे (कारि० ११९) मूलरूपेण उपलभ्यते ।

पृ० २६, पं० १४. 'प्रत्यक्षलक्षण'—'आकलंकावबोधने' इति कृत्वा समग्रेयं ६ कारिका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके (पृ० १८४) विद्यते । 'तदुक्तं' अगबद्भिरकलङ्कदेवैर्न्यायवि- निश्चये इति कृत्वा पूर्वार्द्धं न्यायदीपिकाम् (पृ० ८) उद्धृतम् ।

पृ० २६, पं० १५. 'द्रव्यपर्यायसामान्य'—'तुलना—द्रव्यपर्यायसामान्यविशे- पास्तस्य गोचराः ॥ [जनतर्कना० पृ० १०१]

पृ० २६, पं० १५. 'सामान्यविशेष'—तुलना—“...सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य 10 ...” (पृ० २७) “सामान्यविशेषसमुदायोऽत्र द्रव्यम् ॥” [योगसू० व्यासभा० पृ० १६६] “सर्ववस्तुषु बुद्धिरथ व्यावृत्त्यनुगमात्मिका । जायते द्रव्यात्मकत्वेन विना सा च न सिद्धयति ॥ ...तेन नात्यन्तमेदोऽपि स्यात् सामान्यविशेषयोः ॥” [मी० श्लो० पृ० ५४६-४८] “सर्वेष्वपि वस्तुषु इयमपि गौरियमपि गौः अयमपि वृक्षोऽयमपि इति व्यावृत्तावृत्ताकारं प्रत्यक्षं देराका- लावस्थान्तरेष्वपि पर्यस्तमुदीयमानं सर्वमेव तर्कमासं विजित्य द्वयाकारं वस्तु व्यक्त्यापयत् 15 केनान्येन शक्यते बाधितुम् ॥” [भाष्यपदी० पृ० १८७]

पृ० ३०, पं० ७. 'एकत्र निर्णये'—पूर्वार्द्धं प्रमाणसंग्रहे (का० ८) उपलभ्यते ।

पृ० ३०, पं० १०. 'अमिलापतदंशानाम्'—अस्यां कारिकायां चौद्धामितस्य 'अमिलापवत्त्वं विकल्पस्य लक्षणम्' इति मतस्य स्पष्टनं कृतम् । तन्मतश्चेत्यम्— “अथ कल्पना च कीदृशी चेदाह—नामजात्यादियोजना । यच्चच्छाशाब्देषु नास्ति विशिष्टोऽर्थ उच्यते 20 इत्ये इति । जातिशब्देषु जाल्या गौरयमिति । गुरुशब्देषु गुरुण शक्त इति । क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति । द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विपाणीति ॥” [प्रमाणतमु० टी० पृ० १२] “अमिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना ...” [न्यायवि० पृ० १३] “...अमिलापिनी प्रतीतिः कल्पना ...” शब्दार्थवदनायोग्या वृत्त इत्यादिरूपतः । या वाचासमप्रयोगेऽपि अमिलापेव जायते ॥” [स्पष्टनं० पृ० ३६६]

25

अष्टसदस्याम् अष्ट सोढरशं व्याख्यानमित्यम्—“नामो नामान्तरेण विनापि स्थूरी केवार्थन्यकसायः किञ्च स्यात् ? सामिधानविशेषापेक्ष। एतावता निश्चयेऽर्थवसोयन्ते इत्येव-

- श्रैवान्येन विना क्वचित् । विरुद्धोऽर्थस्ततो हेतुर्यद्यस्ति सहवेदनम् ॥... पुनः इ. एषाह-यदि सहशब्द एकार्थः तदा हेतुरसिद्धः; तथाहि-नटचन्द्रमल्लप्रेक्षासु न ह्येकेनैवोपलम्भो नीलादेः । नापि नीलतदुपलम्भयोः एकेनैवोपलम्भः । तथाहि-नीलोपलम्भेऽपि तदुपलम्भानामन्यमन्तानगतानामनुपलम्भान् । यदा च सत्त्वं प्राणभूतां सर्वं चित्तक्षणाः सर्वज्ञेनावसीयन्ते तदा कथमेकेनैवोपलम्भः सिद्धः स्यात् । किंच, अन्योपलम्भनिषेधे सत्येकोपलम्भनियमः सिद्धयति । न चान्योपलम्भप्रतिषेधसंभवः, स्वभावविप्रकृष्टस्य विधिप्रतिषेधायोगात् । अथ सहशब्द एककालविवक्षया, तदा बुद्धविज्ञेयचित्तेन चित्तचैतरेच सर्वथाऽनैकान्तिकता हेतोः । यथा किल बुद्धस्य भगवतो यद्विज्ञेयं सन्तानान्तरचितं तस्य बुद्धज्ञानस्य च सहोपलम्भनिग्रमेऽर्थस्येव च नानात्वम्, तथा चित्तचैतानां सत्यपि सहोपलम्भे नैकत्वमित्यतोऽनैकान्तिका हेतुरिति । '... स्यादेतत् यद्यपि विपक्षे सत्त्वं न निश्चितं सन्दिग्धं तु तद्विज्ञानैकान्तिको हेतुः सन्दिग्धविपक्षन्यायुक्तिकत्वात् । '... [तत्त्वसं० पृ० ५६७-६९] भावरत्ना० बृहतीप० १।५। शा० भा० भासती २।२। योगसू० तत्त्ववै० ४। १४। न्यायकणि० पृ० २६४। मष्टज०, अष्टसह० पृ० २४२। प्रमेयक० पृ० २१। न्यायकुमु० पृ० १२२ । सन्नति० टी० पृ० ३५२ । स्या० रत्ना० पृ० १५२ ।

- पृ० ४१. पं० २२. 'तत्र दिग्भाग'-तुलना-"वटकेन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता । वरुणां समानदेशत्वात् पितृष्टः स्यादणुमात्रकः ॥" [विज्ञप्ति० विधिका पृ० ७] अतु शतक पृ० ४८ । "यद्वा सर्वात्मना बृहत्तौ अनेकत्वं प्रसज्यते । एकदेशेन चानिष्टा नैको वा न कश्चिद् सः ॥" [तत्त्वसं० पृ० २०३] न्यायकुमु० पृ० २२७ ।

- पृ० ४१. पं० २७. 'न चैकमेकरागादौ'-तुलना-"एकस्य चाब्रुतौ सर्वस्याश्रुतिः स्यादनाश्रुतौ । दृश्येत रक्ते चैकस्मिन् रागोऽरक्तस्य बाष्पातिः ॥" [प्रमाणवा० २।८५] "रक्ते च भाग एकस्मिन् सर्वं रज्येत रक्तवत् । विरुद्धधर्मभावे वा नानात्वमनुषज्यते ॥" [तत्त्वसं० पृ० १९८] प्रवयवितिरा० पृ० ८७। न्यायकुमु० पृ० २२८।

- पृ० ४२. पं० ५. 'चित्रं तदेकमिति'-अत्रार्थ पूर्वपक्षः-"चित्रं तदेकमिति चेदिव चित्रतरं तदः । नैकस्वभावं चित्रं हि मणिरूपं यथैव तत् ॥" [प्रमाणवा० ३।२००] तुलना-"तत्र चित्रं भवेदेकमिति वेतिह ॥" [प्रमाणसं० पृ० १०३]

- पृ० ४३ पं० १८ 'अत्यासन्नानसंस्तु'-पूर्वपक्षः-"अर्थान्तरासि सम्बन्धाज्जात्यन्ते येऽणवोऽपरे । उक्तास्ते संचितास्ते हि निमित्तं ज्ञानजन्मनः ॥" [प्रमाणवा ३।१९५]

पृ० ४३. पं० २४. 'कारणसाक्ष्ये'-"तदुक्तं न्यायविनिश्चये-कारणस्या " [सिद्धिदि० टी० पृ० ४६ B ३१४ A. ३४३ A.]

- पृ० ४३. पं० २६. 'समवायस्य'-अत्रार्थ पूर्वपक्षः-"अद्युतसिद्धानामाधार्थधार-मूतानां यः सम्बन्धः इह प्रत्ययहेतुः स समवायः । "इह तन्मुखे पदः इह वीरणे कट इह द्रव्ये गुणकर्मणी ।" [प्रमा० भा० पृ० ६६९]

पृ० ४४. पं० ३. 'शास्त्रा वृक्षेऽपि'-तुलना-छवी० टि० पृ० १४६ पं० ७ ।

पृ० ४४. पं० ६. 'तुलितद्रव्यसंयोगे'-तुलना-"गुरुत्वाधोगती स्यातां यद्यस्य स्यात्तुलानतिः ।" [प्रमाणवा० ४।१५४]

- पृ० ४४. पं० ११. 'आसूक्ष्मता'-तुलना-"आसूक्ष्माद् द्रव्यमालायास्तौल्य-त्वाद्गुणातवत् । द्रव्यान्तरगुरुत्वस्य गतिर्नैत्यपरोऽप्रवीत् ॥" [प्रमाणवा० ४।१५६]

[प्रमाणवा० ३।५१३-१४] “ज्ञानान्तरेणानुभवे सोऽर्थः स्वानुभवे सति । प्र (अ) सिद्धः सिद्धयसंसिद्धेः कदा सिद्धो भवेत्युनः॥ तज्ज्ञानज्ञानजातौ चेदसिद्धः स्वात्मसंविदि । परसंविदि सिद्धस्तु स इत्येतत्सुभाषितम् ॥ तस्याप्यनुभवे (ऽसिद्धे) प्रथमस्याप्यसिद्धता । तत्रान्यसंविदुत्पत्तावनवस्था प्रसज्यते ॥ गोचरान्तरसञ्चारस्तथा न स्यात् स चेष्ट्यते । गांचरान्तरसञ्चारे यदन्यं तत्त्वतोऽन्यतः ॥ न सि (छयेत्तस्य चा) सिद्धौ सर्वेषामप्यसिद्धता । अतश्चाभ्यम- 5 शेषस्य जगतः सम्प्रसज्यते ॥” [तत्त्वसं० पृ० ५६४] तत्त्वार्थसू० पृ० १६७ ।

पृ० ३३. पं० ६. ‘सारूप्येऽपि’-पूर्वपक्षः-“हेतुमावाद्यते नान्या ब्राह्मता नाम काचन । तत्र बुद्धिर्यदाकार तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते ॥” [प्रमाणवा० ३।२२४] “अर्थेन घटग- 10 र्थेनां न हि मुख्यार्थरूपताम् । अन्यत्त्वभेदो ज्ञानस्य भेदकोऽपि कथञ्चन ॥ तस्मात् प्रमेया- धिगतेः साधनं मेयरूपता ।” [प्रमाणवा० ३।३०५]

पृ० ३४. पं० १५. ‘सत्यं तमाहुः’-“तदुक्तं न्यायविनिरचये-सत्यं तमाहुः” 15 सदर्थमसदर्थं वा” [सिद्धिचि० टी० पृ० १८९] “सत्यं तमाहुर्विद्वांसो विद्यया विभ्रमेण यः ।” [प्रमाणसं० पृ० १०७]

पृ० ३४. पं० १६. ‘विषयज्ञान’-स्वसंवेदनज्ञानवादिभिः बौद्धैः हि विषयज्ञान- 20 तज्ज्ञानयोः भेददर्शनात् तदाकारता प्रसाध्यते । ग्रन्थकृता उक्तं यत्-विषयज्ञानतज्ज्ञानभेदः निराकारत्वेऽपि सुषटः । बौद्धानां तदाकारतासाधनप्रकारः इत्थं ब्रूतव्यः-

“विषयज्ञानतज्ज्ञानभेदाद् बुद्धेर्द्विरूपता । स्वतरेण्युत्तरे काले नष्टसाधविभाषितः ॥” [प्रमाणसं० १।१२] “ननु बाकारः प्रमाणं स्वसंवेदनं फलमिति साकारसिद्धौ स्यात्, तदेव 25 तु कथं सिद्धयति ? उक्तमत्र, अपि च-

विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषाद् बुद्धिरूपता ।

20

विषये रूपाद्यौ यज्ज्ञानं तदर्थस्वाभासम्, विषयज्ञाने तु यज्ज्ञानं तदर्थानुरूपज्ञानाभासम् 30 स्वाभासञ्च । अन्यथा यदि विषयज्ञानमर्याकारमेव स्यात् स्वाकारमेव वा विषयज्ञानज्ञानमपि तदविशिष्टं स्यात् । विषये यत् ज्ञानं तदर्थस्वाभासमिति साध्यम्, उत्तरां हेतुः, अन्यथेत्यादि बाधकप्रमाणम् ।” [प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ८३]

तुलना-“विषयज्ञानतद्विज्ञानयोरविशेषः-विषयाकारपरिच्छेदात्मनि ज्ञाने यदि स्वाकार- 35 परिच्छेदो न स्यात् तद्विषये विज्ञाने विषयाकाररूपतैवेति तयोरविशेषः स्यात् ।” [राजवा० पृ० ३५] “घटविज्ञानतज्ज्ञानविशेषस्तेन दुर्लभः ।” [गी० स्थो० पृ० ३२४]

पृ० ३४. पं० २५. ‘अर्थज्ञानस्मृता’-बौद्धा हि विषयसंकलितज्ञानस्मृत्यन्य- 40 थानुपपत्त्या तदाकारतां प्रसाधयन्ति । केनचिदाराङ्कितम्-“यत् मास्तु तदाकारता, केवलं ज्ञानमर्थकार्यम्, अतः अर्थसंकलितज्ञानस्मरणं जायते, न तु तदाकारतया” तत्र समाहितं बौद्धैः-“यत् तदाकारतां विनापि यदि अर्थकार्यतामात्रेण अर्थसंकलितस्मरणं स्यात्तदा ज्ञानम् 80 आप्लोकस्य मनस्कारस्य वा कार्यं भवति, अतः आप्लोक्तसंकलितस्य मनस्कारसंकलितस्य वा ज्ञानस्य स्मरणं स्यात् । न च दृश्यते अतः स्वीकार्यम्-यत् यदाकारं ज्ञानं तदाकारानुरक्तस्य स्मरणमिति ? यदि कारणत्वादेव अर्थस्य संकलनं ज्ञाने तदा घटेऽपि कुलालस्य कारयभूतस्य संकलनं स्यात्, तथा च घटस्मृतौ कुलालोऽपि स्मर्येत इत्यादि । ग्रन्थकृता अत्र तदाकारजा- 85 स्थापनाय बौद्धैः य अतिप्रसङ्ग आपादितः स ज्ञानं निराकारं स्वीकृत्यापि शक्तिप्रतिनिधमादेव समाहितः । अतिप्रसङ्गापादकः बौद्धग्रन्थस्त्वयम्-

पृ० ५०. पं० २३. 'मानसम्'—“तस्मादिन्द्रियविज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवः । मनः...”

[प्रमाणवा० ३१४३] “स्वविषयानन्तरविषयसङ्कारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तत् मनोविज्ञानम् ।” [न्यायवि० पृ० १७] “इदमित्यादि ब्रह्मज्ञानमभ्यासात् पुरतः स्थिते । साक्षात्करणवस्तु प्रत्यक्षं मानसं मनम् ॥” [प्रमाणवा० तिकाकालि० पृ० ४१०]

5 पृ० ५१. पं० १६. 'प्रोक्षितम्'—“प्रोक्षितं यद्वा दौ मन्त्रादिसंस्कृतं मांसादि ।” [शब्दकल्पद्रुम]

पृ० ५१. पं० २७. 'चतुःसत्य'—“चत्वार्यार्यसत्यानि । तद्यथा—दुःखं समुदयो निरोधो मार्गश्चेति ।” [धर्मसं० पृ० ५] “सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा । निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमर्थः क्रमः ॥” [अग्निवर्मको० ६१२]

10 पृ० ५१. पं० २६. 'योगिविज्ञानम्'—“प्राप्तुकं योगिनां ज्ञानं तेषां तद्भावनामयम् । विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते ॥” [प्रमाणवा० ३१८१] “भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति ।” [न्यायवि० पृ० २०] तत्त्वसं० पृ० ३९८ ।

पृ० ५२. पं० १. 'ओत्रादिवृत्तिः'—पूर्वपक्षः—“इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम् ।”

15 [योगसू० व्यासभा० पृ० २७]

तुलना—“कापिलास्तु ओत्रादिवृत्तेः प्रत्यक्षत्वमिच्छन्ति ।...” [प्रमाणसप्त० पृ० ६४] न्यायवा० पृ० ४३ । “वार्थगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह—ओत्रादिवृत्तिरिति ।” [न्यायवा० ता० टी० पृ० १५५] न्यायम० पृ० १०० । “ओत्रादिवृत्तिः ज्ञानेऽपि नहि नाम न विद्यते । न च ज्ञानं विना वृत्तिः ओत्रादेरुपपद्यते ॥” [प्रमाणवा० तिकाकालि० पृ० ४४०] तत्त्वसं० लि० पृ० ७७ । “ओत्रादिबृत्तिरप्यक्षमित्यप्येतेन चिन्तितम् । तस्या विचार्यमाणाया विरोधश्च प्रमाणतः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७] नवपक्षम्० पृ० ७६ A. बद्ध० बृह० पृ० ४१ । प्रमाणमी० पृ० २४ ।

पृ० ५२. पं० ४. 'तथाचार्य'—पूर्वपक्षः—“इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।” [न्यायसू० ११४] प्रश्न० भा० पृ० ५५३ ।

25 पृ० ५२. पं० १०. 'लक्षणं'—तुलना—प्रमाणसं० पृ० ९९ । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८४ । इति प्रथमं प्रत्यक्षप्रस्ताव ।



पृ० ५२. पं० २१. 'साधनात्'—तुलना—“साध्याविनामुचो लिंगात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम् । अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समञ्जसत् ॥” [न्यायवा० श्लो० ५] लघी० का० १२ । “साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः । प्रधानगुणभावेन विधानप्रतिषेधयोः ॥” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० १०७] प्रमाणप० पृ० ७० । परीक्षामु० ३११४ । प्रमाणनय० ३१९ । प्रमाणमी० ११२७ । न्यायदी० पृ० २० । जैनतर्कभा० पृ० १२ ।

पृ० ५३. पं० २. 'साध्यं'—“एवं हि यैरुक्तम्—साध्यं...” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४, १९७] “तदुक्तमकलंकदेवैः—साध्यं...” [प्रमाणप० पृ० ७२] “साध्याभासं यथा सत्ता भ्रान्तेः पुरुषधर्मतः ।” [प्रमाणसं० पृ० १०२] प्रमाणनि० पृ० ६१ । “तदुक्तं न्यायविनि-

35 श्रये—साध्यं...” [न्यायदी० पृ० २१]

पृ० ३७. पं० १. 'तत्र शौद्धोदनेरेव'—“तदुक्तं न्यायविनिश्चये—तत्र शौद्धोद-
नेरेव” तत्राद्यापि जडास्तकास्तमसो” [अट्टसह० पृ० ११६]

सुलना—“शौद्धोदनेरेव प्रज्ञापरिपोष्य लोकातिक्रान्तः कथं बभूवेत्यथिविस्मयमाग्नेह ।
तन्मन्ये (तन्मन्ये) पुनरथापि कीर्तयन्तीति किं वत परमन्यत्र मोहनीयप्रकृतेः ।” [अट्टसह०,
अट्टसह० पृ० ११६] “कथञ्चिद् अस्मात्प्रतिपक्षिमन्तरेण यथादर्शनमेतत्त्वादि भुवतः क्षणि 5
कप्रान्तैकान्तविषयस्तन्तानान्तराणि स्वभावनैरात्म्यं वा भुवतः शौद्धोदनेः तावदयं प्रहारायः
कथमिति सविस्मयं सकलं न चेतः । सन्त्यस्यापि अनुवक्तार इति किमन्यदनात्मज्ञतायाः ।”
[सिद्धिर्वि० पृ० ७४] “आचार्यस्तस्यैव तावदिदमीदृशं प्रज्ञास्त्वस्मिन् कथं वृत्तमिति सविस्म-
यानुकम्पजन्यचेतः । तदपरेऽन्यनुवदन्तीति निर्दयाक्रान्तमुवर्न दिग्यापकं तमः ।” [बादन्या-
गटी० पृ० ५१] 10

पृ० ३७. पं० ६. 'विभ्रमे विभ्रमे'—सुलना—“भ्रान्तावपि यदि भ्रान्तिः भ्रान्तितरेव
विशीर्यते । भ्रान्तावभ्रान्तावचितौ भ्रान्तिः सेति प्रसीयते ॥” [प्रमाणवात्तिकाळ० नि० पृ० ३०३]

“तदुक्तं न्यायविनिश्चये—विभ्रमे” [सिद्धिर्वि० टी० पृ० ६२ A.] अट्टसह० पृ० ११६ ।
“सर्वथा विभ्रमे तस्य” [प्रमाणसं० पृ० १०६]

पृ० ३८. पं० ३. 'परित्यज्यति'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“अणिप्रवीपप्रभयोः अणि- 15
मुद्रणमिवावतोः । मिथ्याज्ञानाविरोधेऽपि विरोधोऽर्थक्रियां प्रति ॥” [प्रमाणवा० ३।५७]

पृ० ४०. पं० ६८. 'विज्ञप्तिर्वितथा'—पूर्वपक्षः—“यथा [स्वप्न] त्ययापेक्षाद-
विद्योपप्लुतात्मनश्च । विज्ञप्तिर्वितथाकारा जायते सिमिरादिवत् ॥ असंविदिततत्त्वा च सा
सर्वापरदर्शनैः ।” [प्रमाणवा० ३।२१७]

पृ० ४१. पं० ६. 'सहोपलम्भ'—विज्ञानवादिनः अर्थसंविदोः सहोपलम्भनि- 20
यमादभेदेऽसाध्यमिति । तथाहि—“संक्रुस्तबेद्यमानस्य नियमेन धिया सह । विषयस्य ततोऽन्यत्वं
केनाकारेण सिद्धयति ॥ विषयस्य हि नीलादेर्विधिया सह स्रुदेव संवेदनम् । धिया सह न
पृथक् । ततः संवेदनादपरो विषय इति कथम् ?” [प्रमाणवात्तिकाळ० पृ० ११] “यद्
यस्मादपृथक् संवेदनमेव तत्तस्मादभिन्नं यथा नीलधीः स्वस्वभावात् । यथा वा तैमिरिकज्ञान-
प्रतिमासी द्वितीयं वदुपः—बन्धूमा । नीलधीवेदनञ्चेदम् इति पक्षधर्मोपसंहारः । अन्यत्र 25
नीलाकारवद्विधौ, तयोरभिन्नत्वं साध्यधर्मः, यद्योक्तः सहोपलम्भनियमो हेतुः । ईदृश
पञ्चाचार्येयं प्रथमो हेत्वर्थोऽभिज्ञेयः ।” [तत्त्वसं० पृ० ५९७]

सुलना—“सहोपलम्भनियमान् स्याद्भेदो नीलतद्विधयोः । असहानुपलम्भश्चेत् असिद्धः
प्रयगीचक्षान् ॥ सहोपलम्भनियमादभेदैकान्तसाधने न कचिद्भ्रान्तिज्ञानं स्यात् सुप्रभवत्
भ्रान्तिप्रत्यक्षयोः तेन तवेकान्तः, भ्रान्तिविविक्तप्रत्यक्षस्वभावोपपत्तेः । बहिरन्तश्च नीलतद्वि- 30
योदर्शनात् कुतः सहोपलम्भनियमः सिद्धः ? सकृदेकार्थोपनिबद्धद्वितीयानां परजानानुपलम्भेऽपि
तदर्थदर्शनात् कुतो नियमः ? तदेकक्षणवर्तिनां सहोपलम्भनियमान् स्वयं वा उत्पत्तेः सकल-
लगदेकसन्तानं प्रसज्येत । यदि पुनरेकज्ञानोपलम्भनियमः, असिद्धो हेतुः अन्यैकान्तिकश्च,
नीलस्य अनेकज्ञानोपलम्भवत् बहुतामपि द्रव्याणामेकज्ञानोपलम्भाप्रतिषेधात् । यद्यसहानु-
पलम्भः, को विरोधः ? प्रसज्यप्रतिषेधमात्रमसाध्यमाधनम् अस्त्येव (?) अयोर्द्वयविलक्षणान् ॥” 85
[सिद्धिर्वि० पृ० ३३३-३३६] प्रमाणसं० पृ० १०९ ।

“तत्र भवन्तशुभगुणस्त्वाह—विदुषोऽर्थं हेतुः यस्मात् सदृशदर्शय्यश्च लोकेऽन्यो (स्या)

वेदहिंसो ॥ १॥ [विंशपा० गा० २१४०] “अथ वास्तव्यमिहासी पदमो अहिलासपुत्रगो सोवि ।
अहिंसासत्ता अणो अह विलाहारमहिंसासी ॥ १॥ [ब्रम्हस० गा० १४५]

पृ० ६४. पं० १५. ‘तथा रागादयो’-तुलना-“रागद्वेषादयश्चामी पदबोध्य-
सयोगतः । अन्यथान्यतिरेकाभ्यां भवन्तः परिनिश्चिताः ॥ १॥ [तत्त्वस० पृ० ५४६]

5 पृ० ६६. पं० २. ‘न चेत्स’-तुलना-“तदुक्तम्-स्वतोऽन्यतो वा विवर्तते क्रमादौ-
तुफलाभेनो ॥ १॥ [सिद्धिवि० टी० पृ० ६५९ A.]

पृ० ६६. पं० २०. ‘साधनं’-तुलना-प्रमाणस० पृ० १०२ । “अन्यथानुपपत्त्ये-
कलक्षणं तत्र साधनम् ॥ १॥ [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २१४] परीक्षाम० ३।१५ । “तथा चोभ्यप्यापि
कुम्भारनन्दिभट्टारकैः-अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंगमगम्यते । प्रयोगपरिधाती तु प्रतिपाद्यानु-
राधतः ॥ १॥ [प्रमाणप० पृ० ७२]

पृ० ६६. पं० २३. ‘विरुद्धासिद्ध’-तुलना-“ईत्वाभासां असिद्धविरुद्धानै-
कान्तिकार्कश्रित्कराः ॥ १॥ [परीक्षाम० ६।२१]

पृ० ६७. पं० १. ‘एकं चलं’-तुलना-“एकं आद्यतैराद्युतं रूपं रक्त
रक्तैः ॥ १॥ [प्रमाणस० पृ० १०२]

15 पृ० ६८. पं० २७. ‘रूपादीनि’-तुलना-“नीलादीनि निरस्यान्यविश्रं विश्रं
यदीक्षते ॥ १॥ [प्रमाणवा० ३।२०२]

पृ० ७३. पं० २७. ‘शिलासर्वः’-तुलना-“स्वल्पक्षानि परिस्फुटम् अक्षुब्धौ
प्रतिभासन्ते इति शिलासर्वः कः अद्वीतः १॥ [सिद्धिवि० पृ० १२५ B.]

पृ० ७४. पं० १. ‘अन्यथानुपपत्त्य’-श्लोकोऽर्थे सिद्धिविनिश्चयेऽपि विद्यते । तद्वि-
20 क्रीकृता चात्र पात्रस्वामिकर्तृकत्वसमालोचनपुरस्सर भगवत्सीमन्धरस्वामिकर्तृकतया निर्दिष्टः ।
[सिद्धिवि० टी० पृ० ३०० A.] न्यायविनिश्चयविषये आराधनाकथाकोणे च अथ्य पञ्चावतीदेव्या
भगवत्सीमन्धरस्वामिसकाशादानीय पात्रस्वामिने समर्पणञ्च समुल्लिखितम् । श्लोकोऽर्थे तत्त्वा-
र्थश्लोकवार्तिके धार्मिककारं (राजवार्तिककारं) कर्तृकतया तत्त्वसंग्रहादेव च पात्रस्वामिप्रये-
वकतया समुद्धृतः । तथाहि—

25 “तथाह च-अन्यथानुपपत्त्य”-“[तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०३] “हेतुलक्षणं वार्तिककारेणै-
वमुक्तम्- अन्यथानुपपत्त्यं यत्र तत्र त्रयेण किम् । इति ॥ [तत्त्वार्थश्लो० पृ० २०५] प्रमाणप०
पृ० ७२ । जनतर्कवा० पृ० १३५ । सुबहुतागटी० पृ० २२५ । प्रमाणमी० पृ० ४० । “अन्यथेत्यादिना
पात्रस्वामिमंतमाराद्धते-अन्यथानुपपत्त्ये ननु दृष्टा सुहेतुता । नासति व्यरोहस्यापि तस्मात्क्षी-
बाक्षिलक्षणाः ॥ १॥ नान्यथानुपपत्त्यं यत्र तत्र-अन्यथानुपपत्त्यं ॥ [तत्त्वस० पृ० ४०६]
30 “तदुक्तं जैने-अन्यथानुपपत्त्यं ॥ [सत्यां० टी० पृ० ५६०] न्यायसौ० पृ० ३२ । “तदुक्तं
पात्रस्वामिना-अन्यथानुप ॥ [स्या० खला० पृ० ५२१]

तुलना-“अन्यथाऽन्वयवै ज्ञातो यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥ १॥ [प्रमाणस० पृ० १०४]

पृ० ७७. पं० २४. ‘तुल्योपाय’-तुलना-“तुल्योपायः तादृशस्य सहकारकः ॥
[प्रमाणस० पृ० १०७] “परस्परविनाभूतौ नोमोक्षानौ तुलान्तवोः ॥ १॥ [सिद्धिवि० पृ० ३१५ A.]

पृ० ४४. पं० १५. 'तान्नादि'—तुलना—“तस्य क्रमेण संयुक्ते प्रांशुराग्नौ सङ्घ-
घुने । मेघः ज्वालौन्ने वस्मात् वृष्टं सह च तोलिवे ॥ क्रमेण प्रापकावीतां संख्यासाध्यं च
युज्यते । सर्वादेर्वेक्षासस्तरोस्तरोस्तस्मादिति ॥” [प्रमाणवा० ५१५७-५८]

पृ० ४४. पं० २६. 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'—तुलना—“गुणात्ममासन्नो दन्वं प्र-
व्वस्तिमा गुणा । जन्मस्य पञ्चमस्य तु उमथो अस्मिन्ना भवे ॥” [उता० २८६] “दन्वं ४
सत्त्वत्त्वयिष्यं उत्पादव्ययधुवसंयुतं । गुणपञ्चयास्यं वा जं तं मय्यति सन्नयद् ॥”
[पञ्चाङ्गि० ग० १०] “मुखपर्ययवद् द्रव्यम्” [तत्त्वार्थ० ५१३८] “तं मय्यायद् दन्वु
तुलं नं गुण-पञ्चयुक्तु । द्रव्यव जायति वाहं गुण कम्-भुव पञ्च वुक्तु ॥” [पञ्चाङ्गि०
ग० ५७] कथी० टि० पृ० १४२ पं० २७ ।

पृ० ४५. पं० ५. 'मेदज्ञानात्'—तुलना—“मेदज्ञानात् प्रतीयते यथा मेदाः 10
परिपुष्टम् । तत्रैवमेदविज्ञानादमेदस्य जन्मस्थितिः ॥” [जैवतत्त्व० पृ० ११९] “उत्रा
भोक्तं न्यायविनिश्चये-मेदज्ञानात्” [चिद्वि० टी० पृ० १९९ A.]

पृ० ४५. पं० ११. 'सदोत्थात्'—दृष्टव्यम्—कथी० टि० पृ० १४२ पं० २१ ।

पृ० ४५. पं० १६. 'अत्राप्रतिप्रवेष्टा'—तुलना—“अस्मादुपयहनेन व्यावृष्ट-
तुगात्मकः । पुरवोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥” [नी० वृत्ते० पृ० ६९५] 15
“तद्वत् भवतः स्वमेवेतु कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥” [यम्यम् पृ० १२२]

पृ० ४५. पं० २४. 'स्वत्त्वस्या'—तुलना—प्रमाणवा० पृ० १०३ ।

पृ० ४६. पं० ५. 'तद्भावा'—तुलना—“तद्भावः परिणामः ॥” [तत्त्वार्थ० ५१४२]

पृ० ४६. पं० ११. 'भेदानां'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“नैकस्मिन्मतेभ्यः” [ब्रह्म०
२११११] “भेदानां बहुभेदानां तत्रैकस्मिन्मतेभ्यः ॥” [प्रमाणवा० ११११] 20

पृ० ४६. पं० १३. 'अन्वयो'—तुलना—प्रमाणवा० पृ० १०७ ।

पृ० ४६. पं० २३. 'उत्पादविगम'—तुलना—“उत्पादविगमप्रौढ्यद्रव्यपर्याय-
संयुक्तम् । कुलं श्रीवर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम् ॥” [सिद्धं भाषि० २०११]

पृ० ४६. पं० १८. 'नीयानादिषु'—नीयानादीनि विभ्रमकारणानि । दृष्टव्यम्—
कथी० टि० पृ० १४८ पं० ८ । 25

पृ० ४६. पं० ३२. 'तस्माद् दृष्टस्य'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“तस्माद् दृष्टस्य भावस्य
दृष्ट एवास्तिगुणः । अन्त्या न निश्चय इति साधनं सम्भवतीति ॥” [प्रमाणवा० ११४६]

पृ० ४६. पं० २५. 'अन्वयं कल्पना'—अत्रायं पूर्वपक्षः—“प्रत्यक्षं कल्पनापोढं
प्रत्यक्षैवेति सिद्धयति ॥” [प्रमाणवा० ११२२]

पृ० ५०. पं० १४. 'अविकल्पक'—पूर्वपक्षः—“प्रत्यक्षं कल्पनामेकम्” 30
[प्रमाणसं० १११] “यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नामजात्यादिकल्पमरहितं तद्वत्सत्त्वं अस्ति वर्तते इति
प्रत्यक्षम् ॥” [ज्ञानप्रवे० पृ० ७] “तत्र कल्पनापोढमात्रं अत्यक्षम् ॥” [ज्ञानप्रवे० पृ० ११]
तत्त्व० पृ० ३६६ । “तत्रायं न्यायमुल्लङ्घ्यः—यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ विधेरोपपत्तिरसम्भवेदो-
पपत्तिरविकल्पकं तद्वत्सत्त्वं अस्ति वर्तते इति प्रत्यक्षम् ॥” [उत्तरार्ध० पृ० ५० पृ० ३७२]

[न्यायवि० पृ० १३३] न्यायप्रवे० पृ० ९। प्रमाणमी० २।१।२९। “अस्तु मिथ्योत्तरं जातिर-
कलङ्कोक्तलक्षणा।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३०९, ३१०]

पृ० ७६, पं० ३०, ‘द्व्युष्टादेः’—पूर्वपक्षः—“सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनि-
राकृतेः। चोदितो दधि स्वादेति कियुष्टं नामिधावति।” [प्रमाणवा० १।१८३]

5 पृ० ८०, पं० २, ‘विदूषकः’—तुलना—“मिथ्यार्थाभास्थिरज्ञानचित्रसन्तानसाधकः।
तत्त्वज्ञानगिराङ्गं (१) दूषकत्वं विदूषकः॥” [सिद्धिवि० पृ० ३३० B.]

पृ० ८०, पं० १५, ‘साधर्म्यादिसमत्वेन’—“साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण-
वर्णविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रविष्टान्तानुपपत्तिसंशयप्रकरणहेतुर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युप-
लब्ध्यनुपलब्धिभित्त्याभित्त्यकार्यसमाः।” [न्यायसू० ५।१।१]

10 बादविधि-प्रमाणसमुच्चय-न्यायमुख-तर्कशास्त्रोपायद्वयविधौ साधर्म्यादिसमानां जातीनां
वर्णनमस्ति। द्रष्टव्यम्—प्रमाणमी० भाषादि० पृ० ११३। न्यायकुमु० टि० पृ० ३२३।

पृ० ८०, पं० १५, ‘नेह प्रतन्यते’—तुलना—“छलजातिनिग्रहस्थानभेदलक्षणां
नेह प्रतन्यते विस्तरमयात् अन्यत्र तद् द्रष्टव्यम्।” [सिद्धिवि० पृ० २५६ B.]

पृ० ८०, पं० २०, ‘असाधनाङ्ग’—पूर्वपक्षः—“असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं
15 द्वयोः। निग्रहस्थानमन्यतु न युक्तमिति नेष्यते॥” [वाकन्याय पृ० २]

तुलना—“असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः। निग्रहस्थानमिष्टं चेत् किं पुनः साध्य-
साधनैः॥” [सिद्धिवि० पृ० २७२ A.] तत्त्वार्थश्लो० पृ० २८१। प्रमेयक० पृ० २०३ A.
प्रमाणमी० २।१।३५।

पृ० ८०, पं० २८, ‘दृष्टान्तः’—तुलना—“साध्यसाधनयोर्व्याप्तिर्यत्र निश्चीयते
20 तराम्। साधर्म्येण स दृष्टान्तः सम्यन्धस्मरयान्मतः॥ साध्ये निवर्तमाने तु साधनस्याप्य-
संभवः। क्वाप्यते यत्र दृष्टान्ते वैधर्म्येणेति स स्मृतः॥” [न्यायाव० श्लो० १८—१९] परी-
क्षासू० ३।४७—४९। प्रमाणनय० ३।४०—४४।

पृ० ८०, पं० २८, ‘तदामासाः’—तुलना—“साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायवि-
धीरिताः। अपलक्ष्यहेतुत्वाः साध्यादिविकलादयः॥” [न्यायाव० श्लो० २४] परीक्षासू० ६।
25 ४०—४५। प्रमाणनय० ६।५८—७९। प्रमाणमी० २।१।२२—२७।

पृ० ८१, पं० ३, ‘वादः’—तुलना—“विरुद्धयोः धर्मयोरेकधर्मव्यवच्छेदेन स्वीकृत-
तदन्यधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणवचनं वादः॥” [प्रमाणनय० ८।१] प्रमाणमी० २।१।३०।

पृ० ८१, पं० ५, ‘आस्तां तावद्’—उद्धृतेयं कारिका—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७९।

पृ० ८१, पं० ८, ‘वितण्डादिः’—“यथोक्तोपपन्नः छलजातिनिग्रहस्थानसाध-
80 नोपलम्भो जल्पः। स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।” [न्यायसू० १।२।१, २]

पृ० ८१, पं० १२, ‘प्रामाण्यं यदि’—श्लोकोऽर्थं प्रमाणसंग्रहेऽपि (पृ० १२७) विद्यते।

इति द्वितीय अनुबानप्रस्तावः।



तुलना—“पक्षः प्रसिद्धो धर्मी, प्रसिद्धविशेषेण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः, प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति बाक्यशेषः ।” [न्यायप्रबन्धे० पृ० १] “साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः ।” [न्यायवा० श्लो० १४] “स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृतः पक्षः इति ।” [न्यायवि० पृ० ७९] “इष्टमवाधितमसिद्धं साध्यम् ।” [परीक्षामु० ३।१५] “अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ।” [प्रमाणनय० ३।१२] जैनतर्कशा० पृ० १३ । “सिद्धाधियित्तम- 5 सिद्धमवाच्यं साध्यं पक्षः ।” [प्रमाणमी० १।२।१३]

पृ० ५३. पं० १४. ‘आन्ते’—तुलना—“ आन्तेः पुरुषवर्मत्वात् ” [न्यायवा० पृ० २०] प्रमाणसं० पृ० १०२ ।

पृ० ५४. पं० ७. ‘व्याधिभूत’—तुलना—“ व्याधिभूतग्रहेन्द्रियप्रवृत्तिनिवृत्त्योः मन्त्रौपधादिशक्तेः कृतः सिद्धिः ? ” [सिद्धिभि० पृ० ३४९ A.] 10

पृ० ५७. पं० १४. ‘नो चेद्विभ्रम’—तुलना—“नो चेद् भ्रान्तिनिमित्तेन संयोज्येत गुणान्तरम् ।” [प्रमाणवा० १।४५]

पृ० ५६. पं० २. ‘मेचकादिवत्’—तुलना—“यथा कल्माषवर्णस्य यद्येष्टं वर्णानि-ग्रहः । चित्रत्वाद्बस्तुनोऽप्येवं मेदाभेदावधारणम् ॥ यदा तु श्वत्सं बस्तु गुणपक्षसिपद्यते । तद्वान्यान्यमेवापि सर्वमेव प्रतीयते ॥ ” [मी० श्लो० पृ० ५९१] नरसिंहमेचकवद् बस्तुनो 15 जात्यन्तरात्मकत्वाभ्युपगमात् ।” [अनेकान्तनय० पृ० २८१]

पृ० ५६. पं० १६. ‘प्रत्यभिज्ञा’—“ प्रत्यभिज्ञा द्विधा इत्यादिबचनात् ।” [सिद्धिभि० टी० पृ० १७८ B.]

पृ० ६२. पं० ३. ‘अप्रत्यक्षेऽपि’—“अप्रत्यक्षेऽपि ‘तद्गुणो ज्ञानं नो जाति-स्मरदर्शनात् ।” [प्रमाणसं० पृ० १०७] 20

पृ० ६२. पं० २८. ‘विकृतेरविकारिणी’—तुलना—“प्रसुप्तिकाद्यवस्थासु शरीर-विकृतावपि । नान्यथात्वं मनोबुद्धेस्तस्मान्नेयं तदाश्रिता ॥” [तत्त्वसं० का० १९३४] ‘न च यस्य विकारेऽपि यत्र विक्रियते तत्तत्कार्यं युक्तमतिप्रसङ्गात् ।” [तत्त्वसं० पृ० ५२७] न्यायकृष्ण० पृ० ३४६ ।

पृ० ६२. पं० २६. ‘निर्हासा’—तुलना—“बुद्धिज्यापारमेदेन निर्हासातिशयावपि । 25 प्रज्ञावेर्भवतो देहनिर्हासातिशयैर्विना ॥” [प्रमाणवा० २।७३]

पृ० ६३. पं० २४. ‘जातिस्मराणां’—तुलना—“जाह्नसरो न विगम्यो सरणाओ धालसाहसरणोऽयं । जह वा सदेसवत्तं नरो सरतो विदेसमिम् ॥” [विषेया० गा० २।५०] “जाह्नसरणं च जहं दोसहं केसिं च अवितहं लोप । पुञ्जमवणवियसेवियसंवादातो अयोगमव ॥” [वर्णसं० गा० १४६] “नात्मापि लोके नोऽसिद्धो जातिस्मरणसंग्रथात् ।” [शास्त्रवा० १।४०] 80

पृ० ६३. पं० २८. ‘नास्मृतैर्मिलापो’—“न स्मृतेरमिला”..... इत्यकलंक-वचनम् ।” [तत्त्वार्थश्लो० पृ० ३२९]

पृ० ६३. पं० ३१. ‘जातमानेऽपि’—तुलना—“पूर्वाजुमृतस्त्वत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षमयशोकसम्मतिपक्षेः ।” [न्यायवा० ३।१।१९] न्यायम० पृ० ४७० । तत्त्वसं० पृ० ५३२ । “पदमो यथाहिलासो अथवाहाराहिलासपुञ्जोऽयं । जह बालहिलासपुञ्जो जुवाहिलासो य 85

[सामप्रत्ययि० पृ० १५] “यथोक्तम्—सर्वादृष्टिस्तु सन्दिग्धा स्त्राटोऽप्येवमित्यादिपि । स्वलक्षितान्तर्गतस्यापि वीजस्य सत्त्वदर्शनात् ॥” [तर्कना० मो० छि० पृ० २२]

- पृ० ८४. पं० १४. ‘स्वमेच्छाधिकारदेव’—तुलना—“स्वमे च मानसं ज्ञानं सर्वार्थानुभवात्मकम् । (पृ० ८५६) अतीन्द्रियार्थविज्ञानयोगो नाप्युपलभ्यते । प्रज्ञादिगुणयोगित्वं पुंसां विद्यादिराकितः ॥ अस्ति हीचयिकाद्याभ्यां विद्या या सुविभाविता । परचित्तपरिज्ञानं करीतीहैव जन्मनि ॥ आदिशब्देन गान्धारीप्रश्रुतीनां ग्रहणम् ॥” [तत्त्वस० पृ० ८८८]

पृ० ८४. पं० १४. ‘ज्ञानावृत्तिविवेकतः’—तुलना—“एवं क्लेशावरणप्रहायं प्रसाध्य ज्ञेयान्नवरणप्रहायं प्रतिपादयन्नाह—साक्षात्कृतिविशेषाच्च दोषो नास्ति सवासनः । सर्वज्ञत्वमत्रः सिद्धं सर्वान्वरणमुक्तिः ॥” [तत्त्वस० पृ० ८७५]

- 10 पृ० ८५. पं० २. ‘एवं यत्कैवल्यज्ञानं’—पूर्वपक्षः—“एवं वैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनभेदितम् । सूत्रमातीतादिविवेकं जीवस्य परिकल्पितम् ॥ नर्ते तद्वृत्तामात्रं मिद्वयेभ्यं च वेनागमो विना ॥” [मो० श्लो० पृ० ८७]

पृ० ८५. पं० १५. ‘ग्रहादिशतयः’—तुलना—“धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत् पुंसां कृतः पुनः । ज्योतिर्ज्ञानाविशंखादः श्रुताचेत् साधनान्तरम् ॥” [सिद्धिदि० पृ० ४१९ A.]

15 चन्द्रसूर्योपरागादेवसतः संवाददर्शनात् । अप्रत्यक्षेऽपि पापादौ न भ्रामार्यं न युज्यते ॥” [शास्त्रवा० २।१] भ्रामणमी० पृ० १९ ।

- धर्मकीर्तिना ज्योतिर्ज्ञानोपदेशस्य सर्वज्ञत्वसाधकत्वे सन्दिग्धव्यतिरेकितोक्ता । तथाहि—
“सन्दिग्धसाधनव्यतिरेकमुदाहर्तुमाह—यथाऽसर्वज्ञाः कपिलादयोऽनाता वा अविद्यमानसर्वज्ञतामत्तालिङ्गभूतप्रमाणातिशयशान्तत्वादिति । अत्र वैधर्म्यादाहरणं यः सर्वज्ञ आसीत् वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपविष्टवान् तद्यथा शृणुमवधमानादिरिति ।” [न्यायवि० पृ० १२६] “तदिह वैधर्म्यादाहरणम् शृणुमवधमानादिरित्याह व्यावृत्तिः सन्दिग्धा । यतो ज्योतिर्ज्ञानं चोपदिष्टसर्वज्ञत्वमवैतमस्ती वा, कोऽत्र विरोधः ? नैमित्तिकमेतद्विज्ञानं ज्यमिचारि न सर्वज्ञत्वमनुष्मभयेत् ॥” [न्यायवि० टी० पृ० १२७]

पृ० ८५. पं० १६. ‘सूक्ष्मान्तरित’—कारिकेवं मूलतः स्वामिसमन्तभद्रोक्ता ।

25 तुलना—प्राप्तमी० का० ५ । प्रमाणमी० पृ० १२ । “तदुक्तं स्वामिभिः महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः ...” [न्यायवि० पृ० १३]

- पृ० ८६. पं० १. ‘स्लेच्छादिव्यवहारवत्’—तुलना—“तस्मादपौरुषेयत्वे स्यादन्योऽपुरुषाग्रयः । स्लेच्छादिव्यवहाराणां नास्तिक्वचक्वसामपि ॥ अनान्वित्वाद् भवेदेवं पूर्णसंस्कारसन्ततेः । संहृष्टोऽसौरुषेयत्वे कः सिद्धेऽपि क्षुण्णो मत्त्रे ॥” [प्रमाणमी० १।२५४-४८]
- 30 “सिद्धेऽपि तद्वन्मात्रेण प्रौढेऽप्यत्यागावे वा कप्रमविशंवाद्भक्तत्वं प्रत्येतव्यम् । स्लेच्छादिव्यवहारादेस्तादृशो बहुलमुपलम्भात् ॥” [अष्टसह० पृ० २३८] “कर्तृस्मरणेऽपि भवन्धानादित्वं स्यान्न पुनः नित्यत्वमेव, तथापि कथं प्रामात्यं तद्विशेषः स्लेच्छादिव्यवहारवत् ।” [सिद्धिदि० पृ० ४०८ A.]

पृ० ८६. पं० ६. ‘कालेनैतावता’—तुलना—प्रमाणस० पृ० १८ ।

35 पृ० ८६. पं० १०. ‘स्वतन्त्रत्वे तु शब्दानाम्’—तुलना—“नित्यत्वेऽपि सक्कला सर्वेणां स्यात् सक्कलस्य । समस्तग्रहयोग्यत्वात् ज्यमिर्नां समवस्थितेः ॥ तत्त्वतुमुपकारम-

पृ० ७५. पं० २६. 'चन्द्रावीक्षप्रमाणयोः'—तुलना—“सदेतस्मिन् प्रसिद्ध-
नियमे कथं चन्द्रावेक्षां प्रमाणद्वारात् परमाणोऽनुमीयेत नानयोः कथंकारणमात्रः सहेव
भावात् । न च तादात्म्यलक्षणो भेदात् ।” [सिद्धिदि० पृ० ३०६ B.]

पृ० ७६. पं० ७. 'एतेन पूर्ववत्'—प्रमाणं पूर्वपक्षः—“अथ तत्पूर्वकं त्रिविध-
नुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ।” [न्यायसू० १।१।१]

पृ० ७६. पं० ७. 'वीति'—पूर्वपक्षः—“तत्र प्रथमं तावत् द्विविधं वीतिमवीतं च ।
तत्र अन्वयबुद्धेर्न प्रवर्तमानं विधायकं वीतम् । अतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम् ।
तत्र अवीतं शेषवत् । वीतं द्वेषा पूर्ववत्, सामान्यतोदृष्टम् ।” [सात्वततन्त्रकी० पृ० ३०]

पृ० ७६. पं० ७. 'संयोग्यादी'—पूर्वपक्षः—“अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि
समवायि चेति लौकिकम् ।” [वैश० सू० १।२।१]

पृ० ७६. पं० १०. 'अन्यथानुपपन्नत्व'—तुलना—“अन्यथानुपपन्नत्वं हेतुल-
क्षणमीरितम् । तदप्रतीतिरस्येद्विषयसंस्त्वदाभिता ।” [न्यायसू० श्लो० २२]

पृ० ७६. पं० १८. 'निर्व्यापारो'—तुलना—प्रमाणसं० पृ० १०७ ।

पृ० ७६. पं० २८. 'सत्त्वसमर्थ'—तुलना—“अन्यथा निश्चितं सत्त्वं विरुद्धम-
लात्मनि ।” [प्रमाणसं० पृ० १०७]

पृ० ७६. पं० ३१. 'सर्वज्ञप्रतिषेधे'—तुलना—“सर्वज्ञवीतरागयोर्विप्रकरोद्वचना-
देस्तत्र सत्त्वमसत्त्वं वा सन्दिग्धम्, अनयोरेव द्वयो रूपयोः सन्देहेऽनैकान्तिकः ।” [न्यायसू०
पृ० १०५] “लक्षणाद्वैशेषिकसंज्ञो नेत्येके व्यतिरेकोऽप्यसन्दिग्धोऽव्यभिचार्यतः ।” [प्रमाणसं०
२।१४२] परीक्षामु० ६।३३ । प्रमाणनय० ६।५७ ।

पृ० ७८. पं० २२. 'परदुःखपरिधानात्'—तुलना—“सर्ववेदने तु परसन्तान-
रागादिवेदने रागादिमत्त्वमिति न सत्, तथाहि—परसन्तानसंविन्नौ वीतरागित्ववेदने । सत्त्व
रागित्वमप्यस्तीत्येतद्वत्त्वानुपपन्नम् । न चैवास्तौ रस्मी पररागवेदने तथा परवीतरागवेदने
वीतरागमेव । समयसमि सदैवेति चेन्न; एकेनाप्यनुभूतत्वाभावे रागी कथं मतः । तदर्थस्य हि
संविन्नो न रागित्वादिसमर्थः । तथाहि—न घटवेदने घटीभवति । एवं रागादयोऽपि परसन्ता-
नान्तर्गतस्तदवस्थतया अवगम्यमाना न रागित्वं निर्वर्तयन्ति ।” [प्रमाणवार्तिकाल० लि० पृ० ४३४]

पृ० ७८. पं० ३०. 'असिद्ध्यास्तु'—तुलना—“तत्र शब्दान्तिवत्त्वे साध्ये चाक्षुप-
त्वादित्युभयसिद्धः ।” [न्यायप्रब० पृ० ३] “अविद्यमानसत्ताकः परिग्रहो शब्दः चाक्षुप-
त्वात् ।” [परीक्षामु० ६।२३ ।] प्रमाणनय० ६।५० ।

पृ० ७६. पं० ३. 'विरुद्धा'—“एकलक्षणताहात्वाद्धैत्वान्नसा निर्वर्तिताः ।
विरुद्धानैकान्तिकासिद्धात्ताकिञ्चित्करादयः । अन्यथानुपपत्त्या निर्वर्तिता हेतुः । अन्यैवेवोप-
पत्त्या विरुद्धः । अन्यथा योपपत्त्याऽनैकान्तिकः । तथा अन्यथा च सन्निधिरसिद्धः । अत्राने
पुनस्तोतोगिञ्चित्करः तथैव । न एकलक्षणाभावे त्रिलक्षणं गमकम् । अनुपपत्त्यन्तत्वावस्था
निश्चेत्तुमशक्यैव ।” [सिद्धिदि० पृ० ३४३-३४४]

पृ० ७६. पं० २७. 'तत्र मिथ्योक्त'—तुलना—“दृष्टाभामास्तु जातयः ।”

वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तमङ्गी ।" [राक्षवा० १।६] "द्रव्यपर्यायसामान्य-
विधानप्रतिषेधतः । सहस्रक्रमविवक्षायां सममङ्गी तदास्मानि ॥" [प्रमाणसं० पृ० १२२]
तत्त्वार्थसूत्रो० पृ० १२८ । प्रमेयप्लवको० पृ० ५ । प्रमाणनय० ४।१३-२१ । जैनतर्कना० पृ० १९ ।
नयोप० पृ० ९४ A. । स्याद्वादना० का० २३ । सप्तमङ्कित० पृ० २ ।

6 पृ० ६०, पं० १४. 'प्रयोगविरहे'—तुलना—लघी० टि० पृ० १५१ पं० २९ ।

पृ० ६१, पं० ४. 'संशयादिप्रसङ्गः'—पूर्वपक्षः—“अथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं
यत्तत्सद्विषयते । एषामेव न सत्त्वं स्यात् एतद्भावाधियोगतः ॥ यदा व्ययस्तदा सत्त्वं कथं
तस्य प्रतीयते । पूर्वं प्रतीते सत्त्वं स्यात्तदा तस्य व्ययः कथम् ॥ ध्रौव्येऽपि यदि नास्मिन् धीः
कथं सत्त्वं प्रतीयते । प्रतीतिरेष सर्वस्य तस्मात् सत्त्वं कुतोऽन्यथा ॥ तस्मान्न नित्यानित्यस्य
10 वस्तुनः संभवः कश्चित् । अनित्यं नित्यमथवास्तु एकान्तेन युक्तिमात्रं ॥" [प्रमाणवार्तिकाल०
लि० पृ० २३५] “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदित्येतदव्यययुक्तम्; ध्रौव्येण उत्पादव्यययोर्विरो-
धात्, एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात् । कथञ्चिदुत्पादव्ययौ कथञ्चिद् ध्रौव्यमिति चेत्; यथा उत्पाद-
व्ययौ न तथा ध्रौव्यम्, यथा च ध्रौव्यं न तयोत्पादव्ययौ इति नैकं वस्तु यथोक्तलक्षणं
स्यात् ॥” [हेतुवि० टी० लि० पृ० २१६] द्रष्टव्यम्—न्यायकृमु० पृ० ३६० टि० १, ३६१ टि० १ ।

15 तुलना—“न चास्य विरोधसङ्करानवस्थापिसङ्गदोषानुग्रहः ” [नयचक्रम्० लि० पृ०
५८ B.] अष्टमा०, अष्टसह० पृ० २०६ । प्रमाणसं० पृ० १०३ । तत्त्वार्थसूत्रो० पृ० ४३५ ।
प्रमेयक० पृ० १५८ A. । न्यायकृमु० पृ० ३७० । सप्तमि० टी० पृ० ४५१ । स्या० रत्ना० पृ०
७४१ । प्रमेयरत्ना० ४।१। प्रमाणनी० पृ० २८ । शास्त्रवा० टी० पृ० २६५ । सप्तमङ्कित० पृ० ८१ ।

पृ० ६२, पं० २. 'अप्राप्यकारिणः'—तुलना—“अस्वभावस्य अप्राप्यकारिणः प्रवि-
20 ष्यन्मात्रे त्रिकालागोचरमशेषं द्रव्यं कथञ्चिज्ज्ञानतो न कश्चिद्विरोधः ॥” [सिद्धिदि० पृ० १९४ B.]

पृ० ६३, पं० १. 'यदि किञ्चिद्विशेषेण'—तुलना—लघी० का० १९ । लघी०
टि० पृ० १९९ पं० ३४ ।

पृ० ६३, पं० ८. 'आद्ये परोक्ष'—तुलना—“आद्ये परोक्षम् । प्रत्यक्षमन्यत् ॥”
[तत्त्वार्थसू० १।११, १२]

25 पृ० ६३, पं० ११. 'केवलं लोक'—तुलना—“केवलं लोकयुद्धवैव बाह्यचिन्ता
प्रत्यन्यते ।” [प्रमाणना० ३।२१९]

पृ० ६३, पं० १६. 'प्रमाणास्य फलं'—तुलना—“उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादा-
नहानधीः । पूर्वा बाह्यज्ञाननाशः सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥” [आप्तनी० का० १०२] “प्रमाणास्य
फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् । केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥” [न्यायवा० सूत्रो०
80 २८] “उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम् ।” [सर्वार्थसि० १।१०] “प्रमाणास्य फलं साक्षात्सिद्धिः
स्वार्थविनिश्चयः ।” [सिद्धिदि० पृ० १२६ A] तत्त्वार्थसूत्रो० पृ० १२७ । परीक्षामु० ५।१, २ ।
प्रमाणनय० ६।१-५ । प्रमाणनी० १।१।३४-४० ।

पृ० ६३, पं० २१. 'नयचक्रतः'—तुलना—“आत्मज्ञानादिमेदानामानन्तर्यं नय-
चक्रतः ॥” [प्रमाणसं० पृ० १२५] “तद्विशेषाः प्रपञ्चेन मन्त्रित्वा नयचक्रतः ।” [तत्त्वार्थ-
85 सूत्रो० पृ० २७६] अष्टसह० पृ० २८८ । नयवि० पृ० २६४ । प्रमेयप्लवका० ३।७४ ।

इति न्यायविनिश्चयस्य टिप्पणानि ।

पृ० ८१. पं० २७. 'सिद्धं प्रवचनं'—तुलना—“कृतं श्रीवर्धमानस्य वर्धमानस्य शासनम् ॥” [सिद्धं हाणि० २१।१] प्रमाणसं० पृ० ११६।

पृ० ८२. पं० ५. 'पुरुषातिशयो'—पूर्वपक्षः—“पुरुषातिशयोपेक्षं यथार्थमपरे विदुः । इष्टोऽप्ययं [प्रत्येतुं शक्यः] सोऽतिशयो यदि ॥ अयमेवं नयेत्यन्यदोषा निर्दोषतापि वा । दुर्लभत्वात् प्रमाणां दुर्बोधेत्परे विदुः ॥” [प्रमाणबा० १।२२०—२१] 5

तुलना—“पुरुषातिशयोऽज्ञेयो विप्रलम्भी किमिष्यते ॥” [प्रमाणसं० पृ० ११६] “विप्रलम्भराङ्गानुबन्धात् इत्यधिकारिकारिकां विप्रलम्भो वचनं तस्याशाङ्का तस्या अनुबन्धात् कारणात् पुरुषातिशयः किमिष्यते ? नेष्टव्य इत्यर्थः” तदनुबन्धिकारणं दर्शयन्नाह—चेष्टते व्याप्रियते वेद्यादि यथाकृतम्, क इत्याह—वीतदोषे वीतरागाः, क इव दोषवर्जित । दूषणान्तरमाह—पुरुषातिशयः सन्नपि ज्ञातु यद्यशक्यः किमिष्यते ? [सिद्धिबि० टी० पृ० ३९३ B] 10

पृ० ८२. पं० १२. 'सिद्धहिंसा'—तुलना—“प्रसिद्धहिसान्तस्तेयामहपरिग्रहस्त्वपि पक्षगुणोत्कर्षमाशंसमान. यथार्थदर्शनादिगुणो नेति निःशङ्क नस्चेतः ॥” [प्रमाणसं० पृ० ११६]

पृ० ८२. पं० १५. 'हेयोपादेयतत्त्वस्य'—पूर्वपक्षः—“हेयोपादेयतत्त्वस्य सोपायस्य प्रसिद्धितः । प्रधानार्थोविसंभावनुमानम्परत्र वा ॥” [प्रमाणबा० १।२१९]

पृ० ८२. पं० २८. 'भावनापरिपाकतः'—पूर्वपक्षः—“तस्माद् भूतमभूत् वा यद् यदेवाभिमान्यते । भावनापरिनिष्पत्तौ तत्सुष्टाकरूपधीफलम् ॥” [प्रमाणबा० ३।२८५] “भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम् ॥” [व्याखि० पृ० २०] “किंच, ये ये विभाव्यन्ते ते ते भाव्य परिस्फुटम् । भावनापरिनिष्पत्तौ कामादिविषया इव ॥” “भूतार्थभावनाद्भूतः प्रमाणं तेन सम्मतम् ॥” [तत्त्वसं० पृ० ८९६] 15

तुलना—“चतुःसत्यभावनोपायं निर्वाणं सकलं कथम् मिथ्याज्ञानतः तत्त्वप्रतिपत्तिः । 20 कथमतत्त्वभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं तत्त्वज्ञानञ्च । मिथ्यैकान्ताविशेषे नैरास्त्येतरपक्षयोः न कश्चिद्विशेषः ॥” [सिद्धिबि० पृ० ३५४—५५] “यदि पुनः चिन्तामर्थमेव प्रज्ञानमनुशीलयतां विभ्रस-विभ्रैकनिर्मलमनःप्राप्तिः निर्वाणम्, तच्च कथम् अतत्त्वभावनातः, मिथ्याभावनायां तत्त्वज्ञानं कामशोकमयोन्मादादिवत् ॥” [सिद्धिबि० पृ० ३८७]

पृ० ८३. पं० ३. 'निरुपद्रवभूतस्य'—तुलना—“निरुपद्रवभूतार्थस्त्वभावस्य विपर्ययः । न बाधा यन्नवत्त्वेऽपि दुष्टेस्तत्त्वज्ञपाततः ॥” [प्रमाणबा० १।२२३, २।२१०] 25

पृ० ८३. पं० ६. 'यस्तावत् करुणा'—तुलना—रूपी० टि० पृ० १३१ पं० १९।

पृ० ८३. पं० १०. 'सन्तानः'—तुलना—रूपी० टि० पृ० १३१ पं० ३।

पृ० ८३. पं० २४. 'विश्वलोकाधिक'—पूर्वपक्षः—“सर्वदा चापि पुरुषाः प्रायेणानु- 30 तवादिनः । यथाश्रित्ये न विलम्बस्तथाऽतीतार्थक्रीडने ॥” [गी० श्लो० पृ० ८८] “ज्ञानवान् धुर्यते कश्चिदुक्तप्रतिपत्तये । अज्ञोपवेशकरणे विप्रलम्भनशङ्कितः ॥ तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञान-मस्य दिव्यताम् । कीटसंख्यापरिज्ञाने तस्य नाक्षोऽपि युज्यते ॥” [प्रमाणबा० २।३०, ३१]

पृ० ८४. पं० ६. 'सकलज्ञस्य'—तुलना—“सर्वादृष्टिश्च सन्दिग्धा स्वादृष्टिर्व्य- 35 मिषरिणी । चिन्त्यादिरन्मद्वर्षादेरदृष्टावपि सत्त्वतः ॥” [तत्त्वसं० पृ० ६५] प्रमाणसं० पृ० १०० । तत्त्वार्थश्लो० पृ० १३, १४ । “सर्वादृष्टेः सन्दिग्हा स्वादृष्टेर्व्यभिचारतः ॥” 85

मिश्रमन्ये चक्षते समानतन्त्राः । 'परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रुतमविज्ञवत्' इति वचनादिति तदयुक्तम्; "त्रिविधं भवति श्रौतं न त्वविसं प्रमाणमित्यर्थः । प्रत्यक्षे हि परोपदेशस्य अनर्थकत्वात् । "तन्मेदं श्रुतस्य तच्छ्रुतम् । किं तर्हि ? इत्याह--परोपदेशज्ञं श्रौतमिति । परोपदेशज्ञं श्रौतमिति शेषं अगुञ्जिताः । परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि त्रिधा श्रौतं न युक्तिमत् ।" [जैनतर्कवा० पृ० १३१]

- 5 पृ० ६७. पं० ७. 'हिताहितप्राप्ति'—सुलना—"हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।" [परीक्षा० १।२] प्रमाणनव० १।३ । "हिताहितार्थसम्प्राप्तित्यागयोर्धर्मविवन्धनम् तत्प्रमाणं" [जैनतर्कवा० पृ० १]

पृ० ६७. पं० १६. 'अध्वज्ञान'—"अध्वज्ञानमनेकान्तमसिद्धेरपराकृतेः ।" [सिद्धिचि० टी० पृ० ४७२ A.]

- 10 पृ० ६८. पं० २. 'विविधान्'—"तथा ज्ञानं देवस्य / वचनम् / विवादाशुविवादनस्य विकल्पनान्तरीयकत्वात् ।" [न्यायचि० वि० पृ० ८३ A.]

पृ० ६८. पं० १३. 'स्वार्थमात्राध्य'—सुलना—"अधिगमोऽपि व्यवसायात्मैव, सर्वसुखसौ सतोऽपि दर्शनस्य साधनान्तरीयकतया समिधानामेदान् सुषुप्तचैतन्यवत् । समिधानं हि इन्द्रियार्थसन्निकर्षः ।" [मण्डल०, मण्डलह० पृ० ७५, १२३]

- 15 पृ० ६८. पं० १४. 'तिमिराद्य'—सुलना—कवी० टि० पृ० १४० पं० २१ ।

पृ० ६८. पं० १७. 'परोक्षज्ञानार्थ'—सुलना—न्यायचि० टि० पृ० १५६ पं० १३ ।

- पृ० ६८. पं० २७. 'कालेनैतावता'—अस्य व्याख्यानं न्यायचिन्तनविषयविवरणे इत्यम्—"यथावताऽनादिरूपेण कालेन कथं न प्रलय गतः तदागमः । कीदृशोऽज्ञानः, अविद्यमानः तदर्थमिच्छते साक्षात्कारिपुरुषः प्रलयज्ञतोपपत्त्येव रागाद्युपहतचेतस्कृतया प्रज्ञावस्तवैकल्यादिना चार्वाकदर्शिनानुपदेशान्यथोपदेशादेरप्रतिवेदनादेव प्रविपुरुषसुपक्षीयमाश्रित्य सर्वत्रापि देशादिना कालेन निर्मूलोन्मूलनस्य सम्भवात् । दृश्यते हि इवान्तिन्तनानामपि नैपक्ष्यादिव्यवहाराणां बहुजनपरिगृहीतानामपि निर्मूलप्रलयः ।" [न्यायचि० वि० पृ० ५९२ A.]

पृ० ६९. पं० ३. 'सत्यस्वप्नवत्'—"तद्धि सत्यस्वप्नज्ञानम् इन्द्रियार्थसंज्ञं व्यवहितं कार्यमयैव इति प्रमाणसङ्ग्रहे निरूपितम् ।" [सिद्धिचि० टी० पृ० ४३० B.]

- 25 सुलना—"इहापि सत्यस्वप्नदर्शिनोऽतीवादिक् विदुस्त्येव । (पृ० १९१) सत्यस्वप्नदर्शनवत्-सत्यस्वप्नदर्शनं हि तत्कालानुयातनैव ग्राहकमीकृते ।" [प्रमाणवार्तिकाल टि० पृ० ४१०]

- 80 "तदयुक्तम्-यथाहि सत्यस्वप्नदर्शिनो ज्ञानं परमार्थतोऽविषयमपि प्रतिनियतविषयाकारं लिङ्गसंस्थानपेक्षज्ञातविशेषाद्युपदेशान्नुपदर्शितार्थप्रापकत्वेनाविर्वादि भवति तथा योगिज्ञानं मन्त्रापरमित्यायोग्यासत्त्वेन यथैव तदभूद्वति भविष्यति च अतीतं वर्तमानमनागतं वस्तु परेषु परिकल्पितं तथैवोपदर्शितविषयाकारप्रकारप्रमेदप्रपञ्चं बहिरिव परिस्रष्टुं स्फुटप्रतिभासं लिङ्गगम्यान्तपेक्षमविसर्गादितयोत्पन्नं प्रत्यक्षं प्रमाणमिष्यते । अस्मत्सर्वं भगवतः सर्वत्र साक्षाद्दर्शित्वाभ्युपगमात् यत्र प्रज्ञं न विज्ञात साक्षात्कृतं तदभावेन सर्वज्ञज्ञानमुच्यते । यतो भ्रान्तिनिवृत्तावप्याकारनिवृत्तेः प्रतिबन्धाभावेनासंभवः इति शब्दमकन्यायानुसारेणार्थानगाजुनपादप्रभृतयः ।" [अभिसम्पत्कङ्काराजो० पृ० १७७]

- 35 सत्यस्वप्नज्ञानद्वयानुसृतस्य समालोचनं निम्नप्रत्येकं दृश्यते—"ये तु पुनः सर्वमेव योगिचि-ज्ञानमनालम्बनं सत्यस्वप्नदर्शनवद्वस्तुसंवादितया प्रमाणमिति प्रतिपन्नाः; तावत्प्रत्यन्तवचनबोधं

त्समास्तुर्वतः तद्वेरावृत्तिनियमात् कृतस्यस्य न संभवति । सर्वगतत्वेऽपि विवर्चितैकराष्ट्रभृतिर्न स्यात् । न हि समानदेशानां समानाच्चविषयाणामेतन्न्याय्यम् । प्रत्येकं व्यञ्जकनियमे कलकलाभृतेरनुपपत्तेः । व्यञ्जकव्यक्त्यभावप्राप्तिपरिहारमन्तरेण कुतो व्यक्तः । नस्यागोपादानमृते कृतस्तिरोधानम् ? सत्यां च व्यञ्जकव्याप्त्वी न स्याद्व्यञ्जकस्य नित्यमाह्वितिः, नावश्यम्भाविनिवमः उच्चारणात् श्रुतेस्ततः । [तिदिनि० पृ० ५५४]

5

पृ० ८६, पं० २५. 'नित्यत्वम्'—पूर्वपक्षः—“नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात् । नित्याः शब्दो भवितुमर्हति । कुतः ? दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनमुच्चारणम् तत्परार्थम् । परमर्थं प्रत्याययितुम् । उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न बान्याभ्यानर्थं प्रत्याययितुं शक्नुयात् अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथाविनष्टः; ततो बहुरा उपलब्धपूर्वत्वादेवार्थाविगमः इति युक्तम् ।” [भावरभा० ११११८]

10

पृ० ८६, पं० ३०. 'स एवायमिति'—पूर्वपक्षः—“एवमन्येऽपि, अस्यमिजानन्ति स एवायमिति । अस्यमिजानानां वयमिवान्येऽपि नान्य इति वञ्चनुमर्हन्ति । अथ मलय-अन्यत्वे सति सादृश्येन व्यामूढाः 'सः' इति वक्ष्यन्ति; तत्र, नहि ते सदृश इति प्रतिव्यन्ति, किं तर्हि ? 'स एवायम्' इति ।” [भावरभा० १११२०]

पृ० ८८, पं० १४. 'सम्यग्ज्ञानाङ्कुशः'—तुलना—प्रमाणत्वं का० ९८ ।

15

पृ० ८८, पं० २१. 'अहं ममाश्रयो'—तुलना—प्रमाणत्वं का० ९९ । “जीवाजीवा-स्त्रयन्धसंवरनिर्जामोक्षात्तत्त्वम् ।” [तत्त्वार्थसू० १४] “न च सम्भावयत्यथा पयस्यसे । तं सद्-जीवा अजीवा पुष्यं पावो आसक्तो संवरो शिखरा बंशो मोक्षो ।” [स्थानागसू० ५१९९]

पृ० ८६, पं० ५. 'सात्मीयावादि'—तुलना—“सर्वेषां सविपक्षत्वाभिर्ज्ञासादिरा-यमिताः । सात्मीयावाच्यभ्यासाद् हीयेरज्ञासवा. कचित् ।” [प्रमाणभा० ११२२२]

20

पृ० ८६, पं० १२. 'यद्यप्यनात्मविज्ञान'—पूर्वपक्षः—“तस्मादनादिसन्तानितुल्य-जातीयबीजिकात् । चत्सामतूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं सुसुत्तवः । २५६ । तत्रैव तद्विद्वत्साम-त्वाकारानुबोधिनी । इति सातुचरां दृष्ट्यां सत्यदृष्टिः सुनाविता । २५१ ।” [प्रमाणभा० ११२५६, २५१] “अद्वितीयं शिवद्वारं कुट्टीनां भयङ्करम् । विनयेभ्यो हितायोक्तं नैरात्म्यं तेन तु स्फुटम् ।” [तत्त्वसू० पृ० ८६६]

25

पृ० ८६, पं० १७. 'मैत्र्यादि'—तुलना—“मैत्रीकर्मणामुचितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातद्विचित्रप्रसादनम् ।” [योगसू० ११६६] “मैत्रीप्रमोदकर्महृदय-साध्यस्थानि च सत्स्वरुपाधिकक्षिरयमानाभिनयेषु ।” [तत्त्वार्थसू० ७१११] “वत्सरो ब्रह्म-विहारः-मैत्री कल्याणं सुदुरीयेषां चेति ।” [धर्मसू० पृ० ४] “मैत्र्यद्वेषः कल्याणं च सुविश-सुमनस्कता । उपेक्षाऽश्लोकः ।” [अत्रिधर्मसू० ८३०]

30

पृ० ६०, पं० ३. 'सप्तमंगी'—तुलना—“सिध अस्थि शस्थि उहयं अज्यज्ज्वं पुषो य तत्तद्विषं । दन्वं सु सप्तमंगं आर्देमवसेण संभवति ।” [पञ्चास्तिकं गा० १४] प्रवचनसा० २१२१ । “अत्यंतरमूयहि य शिष्यहि य दोहि समर्थमर्हति । यदापिसेलार्थं दन्वमवचज्वयं पढइ ।” [समति० १३६-४०] “कथञ्चित्ते सदेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् । तयोमयमवाच्यञ्च नययोगाज सर्वथा ।” [नास्तमी० का० १४] “निर्विनिषेजोऽमिज्ञान्यस्त च त्रिकेषाणि द्विरा एक एव । त्रयो विकल्पस्तत्र सप्तधाम्यं स्यान्मज्जन्तेयाः सकलेऽर्थेदे ।” [युक्त्यनु० ब्रह्म० ४६] “अस्थि ति य शरीरं ति च हृन्नि अवचज्जमिदि पुषो दन्वं । पञ्चाप्यसु दु केणवि तदुभयमाविदुमप्यं वा ।” [विषेया० गा० २२३२] “प्रनवरावेकत्र

35

पृ० १०२. पं० २५. 'एकं चर्ल'—तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १६४ पं० १३।

पृ० १०३. पं० १. 'खलक्षणा'—अस्य व्याख्यानं न्यायनिष्पन्नविवरणे इत्यम्—“खलक्षणां असङ्कीर्णपदेन खलक्षणास्य विशेषात्मकत्वं समानपदेन च सामान्यात्मकत्वमुक्तम् अतः सामान्यविशेषात्मकत्वात् सर्वं वस्तु सविकल्पकमेव नाऽसहायस्वभावमत एवाह—सविकल्पकमिति (पृ० ३५२A) समर्थमिति यस्मात् स्वकार्यं समर्थं शक्तं खलक्षणां तस्मादसङ्कीर्णमिति। खलक्षणास्य स्वरूपमाह खगुणैरेकम् इति। स्वग्रहणेन परगुणैरेकत्वाभावमावेदयन् 'चोदितोदधि खादेति' इत्यादेरनवकाशत्वं दर्शयति। गुणशब्देन च तस्य सामान्यवाचित्वात् गुणपर्यथयोरुभयोरपि ग्रहणम्। अत एवाह—सहक्रमविवर्तिभिः इति ॥ [न्यायवि० वि० पृ० ३५४ B.]

पृ० १०३. पं० ४. 'संशयविरोध'—तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १७० पं० १।

10 पृ० १०३. पं० १५. 'विश्वेऽपि'—तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १५९ पं० ११।

पृ० १०३. पं० २१. 'कस्यचित्कैवल्य'—तुलना—“तस्य कैवल्यमेव अपरस्य कैवल्यमिति ॥ [हेतुवि० लि०] अष्टा० अष्टतह० पृ० ५३। “पूर्वस्य कैवल्यम् अपरस्य कैवल्यम् ॥ [सिद्धि० पृ० ३६२]

पृ० १०३. पं० २४. 'परापरविभागैक'—तुलना—“अथर्कविभागादिपरिणाम-

15 विशेषतः। तानेव पर्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः ॥ अयम् (अथर्व) ऊर्ध्वं च ये विभागा मूलशाखारूपा अवयवास्ते आद्यो येषां पार्श्वमध्यविभागानां तैः सह परिणामविरोधः कथञ्चिदभेदपरिणामः तत इति, अभेदपरिणामाद्वि शाखाभिरिह शाखिनः शाखासु वृक्ष इत्येव प्रत्ययः परिहर्यते “यदि च शाखासु वृक्ष इति प्रत्ययात् तत्र वृक्षस्य कार्यत्वेन वृत्तिः वृक्षे शाखा इत्यपि प्रत्ययात् तासामपि तत्र तथा वृत्तिः प्राप्नुयात्, एवं च न थावच्छाखा न तावद् वृक्षः न थावच्छ वृक्षो न थावच्छाखा इति परस्परअभावादुभयाभावः परस्थापत्तेः इति आवेदयन्नाह—तानेव पर्यन् प्रत्येति शाखा वृक्षेऽपि लौकिकः इति। तानेव प्रकृतानवयवान् अवयविनं च पर्यन् प्रत्येति प्रतिपद्यते शाखा आधेयभूता वृक्षे आचारभूते न केवलं तासु वृक्षम् अपि तु तत्रापि ताः प्रत्येतीत्यपिशब्दार्थः। क. प्रत्येति ? लौकिकः” ॥ [न्यायवि० वि० पृ० २२७ A]

25 पृ० १०३. पं० २६. 'प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्'—व्याख्या इत्थं द्रष्टव्या—“प्रमाणमवितथनिर्भासं ज्ञानम् आत्मसात्कुर्वन् प्रतीतिं यथार्थपरिच्छित्तमितलङ्घयेत् प्रत्याचक्षीत सौगतो ब्रह्मवादिष्वेतं तामतिलङ्घयेत्। वितथा मिथ्यासिमता ये ज्ञानानां सत्तानविरोधाः कस्मिन्वादिष्विषयाः तद्वज्जन्त्रादिविषयाश्च प्रवाहभेदास्तेषु न केवलं न प्रमाणमन्तरेण तदन्तिलङ्घनस्यापि तथाप्राप्तेः। न च तदात्मसात्करणं परस्योपपन्नम्” ॥ [न्यायवि० वि० पृ० १६७ B.]

80 तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १५८ पं० ३३।

पृ० १०३. पं० २८. 'चित्रं तदेक'—तुलना-न्यायवि० टि० पृ० १६० पं० २२।

व्याख्यानं त्वस्य न्यायनिष्पन्नविवरणे इत्यम्—“चित्रं नानारूपं तद् बाह्यं चित्रपतङ्गादि एकमभिन्नमित्येवं चेत् यदि मन्यते जैन इदमनन्तरोक्तं तत्तद्विज्ञादतिशयेन चित्रं चित्रतरं चिन्मयनीयतरम्। तथाहि—यदि नानारूपं नैकं विरोधात् इत्यस्यदेव एकत्वम्, तद्भावे च नानारूपं तस्यापि परमाणुरूपस्याबुद्धिगोचरत्वान् इत्यस्येव तादृशो वहिरर्थ इति भवत्येव तद्वादिनामुपहास इति भावः। परस्य तत्र प्रत्युपहासमाह—चित्रं शून्यमिदं सर्वं वेत्ति चित्र-

प्रमाणसङ्ग्रहस्य

॥ टिप्पणानि ॥



पृ० ६७, पं० १. 'श्रीमत्परम'—कारिकेयं निम्नशिलालेखेषु वर्तते—चन्द्रगिरिपर्व-
तस्य ३६, ४२, ४३, ४४, ४५, ४८, ५१, ५२, ५३, ५५, ५६, ६८ । विन्ध्यगिरिपर्वतस्य
८१, ८२, ८३, ९०, ९६, ९८, १०५, १११, ११३, १२४, १३०, १३७, १३८, १४१, १४४,
२२६, ३६२, ४८६, ४८९, ४९४, ४९५, ४९६, ५०० । [जैनशिलालेखसं०]

तुलना—“जीवाग्निरस्तनिःशेषसर्वथैकान्तशासनम् । सदा श्रीवर्द्धमानस्य विधानन्दस्य ६
शासनम् ॥” [पत्रपरी० पृ० १३]

पृ० ६७, पं० ३. 'प्रत्यक्षं'—अस्या व्याख्यानं तत्त्वार्थलोकवातिके इत्यम्—
“..... अकलङ्कैरभ्यधावि यः ॥१७८॥ प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा श्रुतमविष्णु (प्लु) तम् ।
परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति सङ्ग्रहः ॥ १७९ ॥ “प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधा” इति मुवायो-
नापि मुख्यमतीन्द्रियं पूर्णं केवलमपूर्णेभवधिज्ञानं मनःपर्यवज्ञानं चेति निवेदितमेव, तस्यास्य-
मात्मानमाश्रित्य वर्तमानत्वात् । व्यवहारतः पुनः इन्द्रियप्रत्यक्षमनिन्द्रियप्रत्यक्षमिति वैशद्या-
सङ्गात् ततो न सूत्रव्याहतिः । अतं प्रत्यभिज्ञादि च परोक्षम् इत्येतदपि न सूत्रविरुद्धम्
‘आद्ये परोक्षम्’ इत्यनेन तस्य परोक्षत्वप्रतिपादनात् । अवग्रहेद्वाधायधारस्थानं स्मृतेऽथ परोक्षत्व-
वचनात् सद्विरोध इति चेन्न, प्रत्यभिज्ञादीत्यत्र दृष्टिद्वयेन सर्वसङ्ग्रहात् । कथम् ? प्रत्यभि-
ज्ञाया आदिः पूर्वं प्रत्यभिज्ञादि इति स्मृतिपर्यन्तस्य ज्ञानस्य सङ्ग्रहात् प्राधान्येन अवग्रहादेरपि
परोक्षत्ववचनात्, प्रत्यभिज्ञा आदिर्यस्य इति ह्यस्या पुनः अभिनिबोधपर्यन्तसङ्गृहीतेन का-
चित् परोक्षव्यक्तिरसङ्गृहीता स्यात् । तत एव प्रत्यभिज्ञादि इति युक्तम् व्यवहारतः, मुख्यतः
स्वेष्टस्य परोक्षव्यक्तिसमूहस्य प्रत्यायनात्, अन्यथा ‘स्मरणाद् परोक्षं तु प्रमाणे इति सङ्ग्रहः’
इत्येवं स्पष्टमभिधानं स्यात्, ततः शब्दार्थाश्रयणाम् कश्चिद्बोधोऽप्योपलभ्यते ।” [तत्त्वार्थलो०
पृ० १८५]

20

तुलना—“प्रमाणसङ्ग्रहादौ ‘प्रमाणे इति सङ्ग्रहः’ इत्यभिधाय” [सिद्धिचि० टी०
पृ० ४८.] “तदुक्तम्—प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधाभिते ..” [मण्डसङ्ग० पृ० २८१] “प्रत्यक्षं
विशदं ज्ञानं त्रिधा इति शास्त्रान्तरे प्रतिपादनात् ।” [न्यायवि० वि० पृ० ५३.] “प्रत्यक्षं
विशदं ज्ञानं त्रिवैन्द्रियमनैन्द्रियम् । योगजनं चेति ..” [जैनतर्कना० पृ० ९३]

पृ० ६७, पं० ६. 'श्रुतमविष्णु'—अकलङ्केन श्रुतं प्रत्यक्षाजुमानागमनिमित्त-
कतया त्रिधा विभक्तम् । जैनतर्कवार्तिककृता तु लिङ्ग-शब्दसमुद्भूतस्य द्विधा परोक्षं स्वीकृत्य
अकलङ्कमत्तं निरस्तम् । तथाहि—“परोक्षं द्विविधं ग्राह्यलिङ्गशब्दसमुद्भूतम् । लौकिकप्रत्यभिज्ञादि
भिन्नमन्ये प्रचक्षते ॥—तन्वन्यदपि प्रत्यभिज्ञादिकं परोक्षं मन्यन्ते, तदेव लौकिकप्रत्यभिज्ञादि-

25

स्वतन्त्रं यथा भवति तथाऽवभासनात् । किम् ? तद्गुणः तस्य देहस्य गुणः, तदाश्रयान्नेति सन्तः प्रचक्षते कथयन्ति । नहि नस्मिन्नप्रत्यक्षेऽपि प्रत्यक्षस्य तदा (इ) गुणत्वं रूपादेराकाश-गुणत्वप्रसङ्गात्...” [न्यायवि० वि० पृ० ४५७ B]

- पृ० १०७. पं० १३. ‘सत्यं तमाहुः’—अस्य व्याख्या इत्थम्—“सत्यमवितथम्
5 आत्मन एव विचारविषयतया प्रस्तुतत्वात्, आहुः आवेदयन्ति । के ? आचार्य (योः) विचार-
ज्ञानप्रवर्तकाः ‘‘कीदृशं तत् इत्याह—योऽवलोकते परयति । कया ? विद्यया यथावस्थितवरतुरुपाव-
लोकनशक्त्या ‘‘कमवलोकते ? यथार्थं यो येन स्वभावेन स्थितोऽर्थः स यथार्थः तमिति ‘‘
पुनरपि सत्स्वरूपमाह—विभ्रमैश्च मिथ्याकारग्रहणशक्तिविरोधैश्च, कशब्दः पूर्वसमुच्चयार्थः
अयथार्थ (यं) मिथ्याकार (रं) योऽवलोकते ‘ कः पुनरसौ यो विद्यया यथार्थं विभ्रमैश्च
10 अयथार्थमवलोकते इत्याह—एवः प्रत्यात्मवेदनीयः ‘‘कीदृशः पुनरेवोऽपि इत्याह—प्रभुः इति,
प्रभुत्वं पुनस्तस्य यथार्थाद्यवलोकने विषयाकारस्य व्यतिरिक्तविज्ञानस्य च अनपेक्षणात् ‘‘”
[न्यायवि० वि० पृ० १५० B]

- पृ० १०७. पं० १४. ‘तुलोन्नाम’—अस्य व्याख्या इत्थम्—“तुलाया उन्नामश्च
कर्षणमनं रसरच तावधी (वादी) येषाम् अर्वाग्भागसाम्नादीनां तेषां नहि स्फुटम्, किम् नामश्च
15 अर्धोर्गमनं रूपं च आदित्येषां परमाणुविशेषणादीनां त एव हि (हे) तत्रो येषां तेषां भावः
तत्त्वम् । कया युक्त्या तत्तेषां न तुल्यकालतया [सम] समयतया इति ? नहि समसमयत्वे
युक्तो हेतुफलभावः परस्परमनुपयोगात् सव्येतरनारीकुचचूषुकवदनभ्युपगमात् । नचैवमहेतुः
अन्यमिचारात्, नहि नामादेः उन्नामादिव्यमिचारः निर्व्यमिचाराभा एव ततः तत्त्वविपत्तेरप-
क्षम्भात्...” [न्यायवि० वि० पृ० ५०९ A.]

- 20 पृ० १०७. पं० १७. ‘अन्वयोऽन्य’—अस्य व्याख्यानमित्थम्—“अन्वयोऽनुगमः
खण्डाविषु गौरिति तन्तुषु अर्धं पट इति रुचकादौ तदेवेदं सुवर्णमिति रूपः, स अन्वयस्य कर्कादेः
भृगादेश्च व्यबच्छेद एव नापरः । तथा सर्वस्मात् सजातीयात् विजातीयाच्च व्यतिरिच्यते
मिच्यते इति व्यतिरेकः, स एव खलक्षणात् पूर्वोक्तम्, तत् तस्मात् अन्वयात् खलक्षणाच्च सर्वा
निरवरोधा व्यवस्था स्वामितवस्तुव्यवस्थितिः इति एषं नृत्येत् नृत्यं कुर्यात् काक इव काकः
25 सौगतः तद्व्यवस्थात्मनि नृत्यक्रियायाम् उपायात्मनः पिच्छभारस्य अभावात्, मयूर इव
मयूरो जैन (जैनः) तस्य सङ्कावस्य निवेदनात् स इव तद्वदिति ‘‘” [न्यायवि० वि० पृ० ३९१ A.]

इति चतुर्थः प्रस्तावः ।



- पृ० १०७. पं० २१. ‘निर्व्यापारो’—तुलना व्याख्या च—“सत्ता सम्प्रतिषद्भैव
परिणामे क्रियास्थितेः । निर्व्यापारो हि भावः स्थानित्यत्वे वा निरन्वये ॥—एवकारो भिन्नप्रक्रमः
30 परिणाम इत्यत्र दर्शनात्, ततः सत्त्वा (सत्ता) सत्त्वं सम्यक् प्रतिबद्धं, क ? परिणाम एव न क्षण-
मह्नादौ, ततः तत्रैव सा हेतुः इत्यर्थः । एतदेव कुतः ? क्रियास्थितेः परिणाम एव क्रियायाः कार्य-
करणस्य स्थितेः अवस्थानादिति, तदपि कस्मात् ? निर्व्यापारो व्यापारान्निष्क्रान्तो हि यस्माद्
भाक् चेतनादिः स्याद् भवेत्, कस्मिन् सति ? निरन्वये क्षणमह्ने, केव ? नित्यत्वे वा नित्यत्व
इव, कश्चिद्व्यवस्था इवावर्त्तनात् निरन्वय इव वा नित्यत्वे वा इति ॥” [न्यायवि० वि० पृ० ५१६ B.]
35 पृ० १०८. पं० ३. ‘इष्टविघातकृत्’—“इष्टस्य शब्देनानुपात्तस्य विघात करोति
विपर्ययसाधनात् इति इष्टविघातकृत् ।” [न्यायवि० टी० पृ० १०३]

दूरीकृतवाक्यारमेव ।” [तत्त्वसं० पृ० ५० १३२] “सत्यस्वप्नद्वयं तु यदि वर्तमानस्य ...”
[विधिवि० पृ० १५९]

पृ० ६६. पं० ४. ‘एकत्र निर्णये’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १५५ पं० १७ ।

पृ० ६६. पं० ६. ‘ईक्षयिकादेः’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६८ पं० ३ ।

पृ० ६६. पं० ११. ‘सूक्ष्मं’—अस्य व्याख्यानं न्यायविनिश्चयविवरणे इत्यम्— 5
‘सूक्ष्मं स्पष्टं प्रत्यक्षम् इत्येतत् समं सदृशं त्रिष्वपि प्रत्यक्षेषु । कस्तर्हि इन्द्रियप्रत्यक्षान्
अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य विशेष इति चेत्, एतावान् विशेषः अशेषगोचरं निःशेषद्रव्यपर्यायपरि-
च्छेदरूपमतीन्द्रियप्रत्यक्षम् । क्रमेण तद्गोचरमपीतरवदपि प्रत्यक्षमिति चेदत्राह—अक्रमम् इति ।
इन्द्रियायत्येव कथमितरवत् तदध्यक्रम तद्गोचरमिति चेदत्राह—करणातीतं करणानि इन्द्रियाणि
अतीतमतिक्रान्तं तन्निरपेक्षत्वात् । तस्यैव समर्थनमकलङ्कम् इति, अविद्यमानज्ञानावरणादिकल्म- 10
समित्यर्थः । ‘तत्केषां प्रत्यक्षम् इत्याह—महीयसाम् महतामिति ।” [न्यायवि० वि० पृ० १९९ A.]
तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६२ पं० २५।

इति प्रथमः प्रस्तावः ।



पृ० ६६. पं० १५. ‘प्रमाणमर्थ’—तुलना—“प्रमाणमविनंदात् मिथ्या तद्विप-
र्यात् । गृहीतग्रहणाशो चेन्न प्रयोजनभेदतः ॥” [सिद्धिवि० पृ० १४६ A.] 15

पृ० ६६. पं० २१. ‘सदृशपरिणामः’—तुलना—“सदृशपरिणामस्तिर्वक् सख-
ह्यण्डादिषु गोत्ववन् ।” [परीक्षामु० ४४] प्रमाणनय० ५.४ ।

पृ० १००. पं० २६. ‘एकमनेकत्र’—तुलना—रुची० टि० पृ० १४५ पं० २८ ।

पृ० १००. पं० ३०. ‘इति तर्क’—अस्य व्याख्यानं न्यायविनिश्चयविवरणे इत्यम्—
“इति एषं तर्कमेव एवकारस्यात्र सन्वन्धात् नापरं तस्य प्रतिवन्धाविषयत्वात्पेक्षितम्, किं 20
कैङ्किरूपं अनुमानं विज्ञादागतत्वात्, कथमपेक्षेत नियमेन अवयवभ्यावेन, तदनपेक्षेत्येव तदनु-
सृप्तेः ॥” [न्यायवि० वि० पृ० ५०४ B]

पृ० १०१. पं० ७. ‘विज्ञानगुणदोषाभ्याम्’—“तदुक्तम्—विज्ञानगुणदोषाभ्यां ”
[अचसह० पृ० ७४] “विवक्षामन्तरेणापि वामृत्तिर्जातु बीजते । बाञ्छन्तो वा न वक्तारः
शाखाणां मन्दबुद्धयः ॥” [न्यायवि० पृ० ७७] “न च दोषजातिस्तद्वैतुयंतस्ता बाणी नातिवर्तेत 25
तरमकृषांपकर्षांतुविधानाभावात् बुद्ध्यादिवत् . ॥” [अचसह० पृ० ७३]

तुलना—“वचनस्य विज्ञानमेव कारणम् असति तस्मिन्निच्छायासपि तदभावात् . ”
[न्यायवि० वि० पृ० ५२० A]

इति द्वितीयः प्रस्तावः ।



पृ० १०२. पं० १. ‘साध्यं शक्य’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६२ पं० ३२ । 30

पृ० १०२. पं० २. ‘आन्तेः पुरुष’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६३ पं० ७ ।

पृ० १०२. पं० ६. ‘साधनं’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६४ पं० ७।

पृ० १११. पं० १५. 'वादः'—तुलना—“समर्थवचनं जल्पं वाधं चतुरङ्गं विदुः। पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना ॥” [सिद्धिनि० पृ० २५४ A.] तत्पार्यवलो० पृ० २८०। प्रमेयरत्नमा० ६/४७। न्यायवि० टि० पृ० १६६ पं० ३६।

पृ० ११२. पं० ४. 'अपेक्षितपर'—तुलना—“अपेक्षितपरव्यापारो हि भावः
5 स्वभावनिष्पत्तौ कृतक इति ।” [न्यायवि० पृ० ६७]

पृ० ११२. पं० ८. 'सति समर्थे'—तुलना—“नहि समर्थेऽस्मिन् सति स्वयमनु-
त्पित्तोः पश्चाद्भवतः तत्कार्यत्वं समनन्तरत्वं वा नित्यवत् ।” [अष्टा०, अष्टसह० पृ० १८२]

पृ० ११२. पं० ११. 'तदयं भावः'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६१ पं० १४।

पृ० ११२. पं० २८. 'योगक्षेम'—“योगः अप्राप्तविषयस्य परिच्छेदलक्षणा प्राप्तिः,
10 क्षेमः तदर्थक्रियास्तुष्टानलक्षणं परिपालनम् ।” [हेतुवि० टी० लि० पृ० ५५]

पृ० ११३. पं० २. 'त्रिलक्षणा'—“अदि पुनः भावः स्यास्तु तत्पित्तुर्वा न भवेत्
न कदाचिदपि तिष्ठेदुत्पद्येत वा खपुष्पवन् । न हि तन्मन्त्रस्त्वमेव साधयत्यन्वयप्राप्त्यविशेषात् ।
तस्मिन् स्वरसत एव उत्तरीभवन्तः यथायोगं परस्परोपकारप्रतिशवाधानमात्मसात्कुर्वन्ति ।”
[सिद्धिनि० पृ० १७२]

15 पृ० ११३. पं० ४. 'तदयमुत्पाद'—तुलना—“स्थितिरेव उत्पद्यते विनाश एव
तिष्ठति उत्पत्तिरेव नश्यति ।” [अष्टा०, अष्टसह० पृ० ११२] नयचक्रम्० लि० पृ० २९२ A.

पृ० ११३. पं० ६. 'प्रकृतशेष'—व्याख्या—“प्रकृतः विधिसुखेन निषेधसुखेन
वा साधयितव्यतया प्रकान्तो यः अरोधः समग्रः साध्यसाधनरूपः तत्कार्यः, न सौगतवत्
कल्पितसम्भावः, तस्य प्रकाशः सध्यचेतसि समर्पणम् तत्र पटुवादिनः सकारात् शो विपरीतः
20 तत्प्रकाशपादविकलः स निगृह्यते पराजयं प्राप्नोति विमुखायः विसदृशं दूषणमभिधानो-
द्भवाणो वा लूणीभासीनो वा विपरीत एव निगृह्यते इति ।” [न्यायवि० वि० पृ० ५२७ B.]

पृ० ११३. पं० २३. 'तत्र मिथ्योत्तरं'—व्याख्या—“तत्र मिथ्योत्तरं जातिः
यथाज्ञेकान्तविधिषाम् । दध्युद्गादेरमेदत्वप्रसङ्गदेकचोदनम् ॥ प्रमाणोपपत्ते साध्ये भवे यस्मिन्
मिथ्योत्तरं भूतदोषस्य उद्भावयितुमशक्यत्वेन असददूषणोद्भावनं सा जातिरिति । तत्तेषाम्
25 त्याह—यथा अनेकान्तविधिषाम् इति । यथा इत्युदाहरणप्रदर्शने अनेकान्तविधिषः सौगतादयः
तेषाम् इति । कीदृशं तदित्याह—तद्यु (दध्यु) द्गादेरमेदत्वप्रसङ्गदेकचोदनम् इति ‘...’ ।
[न्यायवि० वि० पृ० ५२६ B.]

तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६५ पं० ३४।

पृ० ११४. पं० २१. 'असिद्धः'—व्याख्या—“स्वतन्त्रयौकात्तस्य साधने सिद्धौ
30 अङ्गीक्रियमाणायाम् सर्वो हेतुः सिद्धसेनस्य भगवतः असिद्धः । कथमिति चेदुच्यते—बहिरिब
इति—अथातो रूपात् चित्रमेकं ज्ञानमिष्यते तत्राह—विरुद्धो देवनन्दिनः हेतुरेकान्त-
साधने, क्रमेणैव क्रमेणापि चित्रैकविरोधात्—अपरस्त्वाह—न भूया प्रतिभासाद्वैतवादिना
परमार्थतः कचिद् हेतुरिष्यते यस्तु इष्यते स व्यवहारेण 'प्रमाण्यं देयवहारेण' इत्यभिधानात्
इति च प्रत्याह—हेत्वा समन्तमद्रस्य हेतुः एकान्तसाधने इति पक्षवत् विपक्षेऽपि वर्तते इति
35 द्वेधा अनेकान्तिकः इति यावत् ।” [सिद्धिनि० टी० पृ० ३९३ A.]

तमं सत इति । चित्रमिति—नानारूपं बाह्यं मयूरादि । कीदृशमिदं प्रत्यक्षवेद्यं सर्वं निरवरोधं वेत्ति जानाति, कीदृशं शून्यम् नोलुपमिदम् इत्यत्रापि सन्वन्धनीयम्, इदं परस्य ध्वननं ततः चित्रतरातिशयेन चित्रं चित्रतमम् अनुपायस्यैव तदभाववेद्यस्य प्रतिपादनात् । १७ [न्यायवि० वि० पृ० २०५ B.]

इति तृतीयः प्रस्ताव ।

5



पृ० १०४. पं० २. 'अन्यथाऽसंभवो'—गुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६४ पं० १९।

पृ० १०४. पं० ५. 'उदेष्यति शकटं'—गुलना—रूपी० टि० पृ० १३९ पं० २०।

पृ० १०४. पं० ५. 'कालादिधर्मिकल्पनायाम्'—गुलना—“यदि पुनराकारां कालो वा धर्मो तस्य उद्देश्यच्छकटवत्त्वं माप्य कृतिकोदयसाधन पक्षधर्म एवेति मतम्, तदा धरित्रीधर्मिणि महोदध्याधाराभिर्मत्त्वं साध्यं महानसधूमवत्त्वं साधनं पक्षधर्मोऽस्तु, तथा च 10 महालक्ष्मणो महोदधौ अग्निं गमयेदिति न कश्चिदपक्षधर्मो हेतुः स्यात् ।” [प्रमाणपरी० पृ० ७१] तत्पार्यरूपो० पृ० २०१। जैनतर्कमा० पृ० १२ पं० १३। “कृतिकोदयपूरादेः कालादि-परिकल्पनात् । यदि स्यात्पक्षधर्मत्वं बाधुपत्वं न किञ्चनौ (किं ध्वनौ) ।” [जैनतर्कमा० पृ० १६०]

पृ० १०४. पं० १२. 'सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि'—गुलना—“अविरुद्धोपलब्धिः विधौ योदा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरमेवान् ।” [परीक्षामु० ३।५४-७२] प्रमाणप० पृ० 15 ७३। प्रमाणप० ३।६४-७८। प्रमाणमी० नापाटि० पृ० ८३ पं० २३।

पृ० १०४. पं० २४. 'निरुपाख्यत्वम्'—गुलना—“सर्वसामर्थ्योपाख्याविरुद्ध-लक्षणं हि निरुपाख्यमिति, उपाख्या भुतिः उपाख्यायतेऽनया इति कृत्वा ।” [वादन्याय पृ० ८]

पृ० १०५. पं० १. 'असद्व्यवहाराय'—गुलना—“प्रतिपक्षसिद्धिरपि यथोक्त्या एवानुपलब्धेः सा च प्रयोगमेवादेकादशप्रकारा—स्वभावानुपलब्धिः, ज्ञानानुपलब्धिः, व्याप- 20 कानुपलब्धिः, स्वभावविरुद्धोपलब्धिः, विरुद्धकार्योपलब्धिः, विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः, कार्यविरुद्धोपलब्धिः, व्यापकविरुद्धोपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, कारणविरुद्धोपलब्धिः, कारणविरुद्ध-कार्योपलब्धिः ।” [न्यायवि० पृ० ४२-५४] परीक्षामु० ३।७३-८०। प्रमाणप० ३।९०-९८।

पृ० १०५. पं० १६. 'सद्वृत्तिप्रतिपेक्षाय'—गुलना—न्यायवि० पृ० ४२-५४। परीक्षामु० ३।६६-७२। प्रमाणप० ३।७९-८८।

25

पृ० १०६. पं० १६. 'अविप्रतिसार'—“पश्चात्तापोऽनुतापश्च विप्रतीसार इत्यपि” [अमरकोशः] “तत्र विदूषणसमुदाचारोऽङ्कुरालं कर्माध्यचारिति, तत्रै तत्रैव च विप्रतिसार-वहुलो भवति ।” [शिक्षामु० पृ० १६०] न विप्रतिसारः अविप्रतिसारः द्वापरहित इत्यर्थः ।

पृ० १०७. पं० ४. 'स्वरुचि'—गुलना—“इति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्” [अष्टाध्या०, अष्टाध्या० पृ० १०२]

30

पृ० १०७. पं० ११. 'अप्रत्यक्षेऽपि'—अस्य व्याख्या न्यायविद्वज्जयविरचने इत्यम्—“अप्रत्यक्षेऽपि—ज्ञानं नेति सन्तः प्रवृत्तये ॥—बहलसम्पटलपरिपिहितलोचनदर्शनायामप्रत्य-क्षेऽपि विस्पष्टप्रतिमासाविषयेऽपि न केवलं विपुलविलसदालोऽपरिक्लितदेशदशायां प्रत्यक्षेऽपि इत्यपिशब्दः । कस्मिन् ? देहे शरीरेऽस्मिन्नात्मीये प्रतीकमाने प्रत्यक्ष स्पष्टावभासां ज्ञानम्, कुत एतत् 35

- पृ० १२२. पं० ६. 'अहं ममाश्रयो'—न्याख्या—“समीहते संसारनिवृत्तिं प्रतीयेत, कः ? प्रेक्षाकारी विचारकरणीशीलः । कथं समीहते ? सादरं निश्चितनिश्चयप्रकारं च अहम् इत्यादिना दर्शयति । प्रत्येकमत्र इतिशब्दस्य सम्बन्धः, ममशब्दस्य च आश्रवादिभिः, अहमिति, ममाश्रव इति, मम बन्ध इति, मम संवर इति, मम कर्मणा निर्जरा इति मम तेषां क्षय इति च, तत्र आत्मानम् अहमिति निर्दिशति अहमप्रत्ययवेद्यत्वात् । तस्यासत्कारं कस्य संसारो मोक्षो वा तदुपाये प्रवर्तते ” । [न्यायवि० वि० पृ० ५७९ अ.]

इति सप्तमं प्रस्तावः ।



- पृ० १२२. पं० १६. 'द्रव्यपर्याय'—न्याख्या—“द्रव्यमन्वयिरूपम्, पर्याया व्यावृत्तिधर्मं (मां) यः, सामान्य सदृशपरिणामः, विशेषो विसदृशः, तेषां च विभागः तेन यो स्यात् कथञ्चित् विवक्षितधर्मस्य विधिप्रतिषेधौ भावाभावौ ताभ्यां सप्तभङ्गी सप्तानां भङ्गानां समाहारः तद्वचसि प्रवर्तते इति ” । [न्यायवि० वि० पृ० ५८७ अ.]

तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६९ पं० ३१।

- पृ० १२५. पं० ४. 'स्वरूपस्य'—तुलना—“स्वरूपस्य स्वतो गतेः ।” [प्रमाणवा० २।४] “न खलु स्वसंवेदनप्रत्यक्षं प्रमाणाप्रमाणविभागमुपदर्शयति सर्वज्ञानेषु स्वसंवेदनस्य १५ भावात् ।” [प्रमाणवार्त्तिकक० लि० पृ० ५५]

पृ० १२५. पं० २७. 'नयचक्रतः'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १७० पं० ३३।

पृ० १२६. पं० ८. 'नैगमः'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४५ पं० १०।

पृ० १२६. पं० ९. 'सर्वमेकम्'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४४ पं० २८।

पृ० १२६. पं० ११. 'व्यवहार'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४६ पं० ११।

- २० पृ० १२६. पं० १३. 'अनुसूत्रो'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४६ पं० २२।

पृ० १२६. पं० १५. 'शब्दो'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४६ पं० ३५।

पृ० १२६. पं० १६. 'अमिरूढः'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४७ पं० ७।

पृ० १२६. पं० १६. 'इत्यम्भूतः'—तुलना—लघी० टि० पृ० १४७ पं० १८।

इति ऋद्धमं प्रस्तावः ।



- २६ पृ० १२७. पं० २. 'ज्ञानं प्रमाण'—तुलना—लघी० का० ५२। लघी० टि० पृ० १४८ पं० ६।

पृ० १२७. पं० २२. 'प्रामाण्यं'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६६ पं० ३१।

इति प्रमाणसङ्ग्रहस्य टिप्पणानि ।



पृ० १०८. पं० १५. 'गण्डूपद'—तुलना—“अनेकान्तत्वं विरोधशङ्क्या परिह-
रतस्ते त्र्ययकान्तोपलम्भावलम्बनम् गण्डूपदमयादजगरमुखप्रवेशमनुसरति ।” [तिद्धिवि०
पृ० ५३७ B]

पृ० १०८. पं० १७. 'दृष्टाद् गरिष्ठ'—तुलना—“नहि दृष्टाज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टम्”
[अष्टक० अष्टसह० पृ० ८०] “नहि दृष्टाद्गरिष्ठं प्रमाणमस्ति ।” [नयचक्र० लि० पृ० १८ B.] 5

पृ० १०८. पं० २१. 'अदृश्यानुपममाद'—तुलना—कवी० टि० पृ० १३९ पं० २४।

पृ० १०८. पं० २८. 'संहतानाम्'—पूर्वपक्षः—“सङ्घातपरार्थत्वात्—यतः सङ्घातश्च
परार्थः तस्माद्वेतोः, इह लोके ये सङ्घातास्ते परार्था दृष्टाः पर्यङ्कुरयशस्यादयः । एवं गात्राणां
महदावीनां सङ्घातः समुदायः परार्थ एव । पर्यङ्कुरयादयः काष्ठसङ्घाताः, गृहादयः काष्ठे छि-
काविसङ्घाताः । न हि ते रथगृहपर्यङ्कादयः किमपि स्वार्थं साधयन्ति न वा परस्परार्थाः, किन्तु 10
अस्त्यमी वेद्यवृत्तादिः योऽस्मिन् पयङ्के शेते रथेन गच्छति गृहे निवसतीति । एवममी महदा-
वयश्चक्षुरादयो वा न स्वार्थो न च परस्परार्थाः किन्तु परार्थाः । यश्चासौ परः स चात्मा ।”
[मातृका० भाठर० पृ० २९]

पृ० १०६. पं० २५. 'सहोपलम्भ'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १५९ पं० २०।

पृ० ११०. पं० २. 'नास्ति सर्वज्ञः'—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६७ पं० ३३। 15

पृ० ११०. पं० ६. 'सिद्धेऽकिञ्चित्करो'—तुलना—“सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधितं च
साध्यं हेतुरकिञ्चित्करः ।” [परीक्षामु० ६।३५]

पृ० ११०. पं० ११. 'विरुद्धाव्यभिचारिणः'—विरुद्धाव्यभिचारिणो लक्षणात्—
“विरुद्धाव्यभिचारी यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्, नित्यः शब्दः आषण्णत्वात्
शब्दवत्त्ववत् इति उभयोः संशयहेतुत्वाद् द्वावप्यसौ एकाऽनेकान्तिकः समुद्दितावेव ।” 20
[न्यायप्रब० पृ० ५] “स्वलक्षणप्रयुक्तयोः हेत्वोः एकत्र धर्मिणि विरोधेनोपनिषाते विरुद्धा-
व्यभिचारीति ।” [हेतुवि० लि०]

पृ० १११. पं० ५. 'विरुद्धाव्यभिचारी'—वद्वतोऽप्यम्—प्रमाणवि० पृ० ६१ ।

पृ० १११. पं० १२. 'अन्तर्व्याप्ताव'—तुलना—“यथाच अन्तर्व्याप्तावसिद्ध्यां
वहिव्याप्तेरकिञ्चित्करत्वं तथा सिद्ध्यायामपि इति यद्वक्ष्यति प्रमाणसङ्ग्रहे—भविष्यति आत्मा 25
सत्त्वात् ” [सिद्धिवि० टी० पृ० २३९ B] “अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धौ वहिरुदाहृतिः ।
व्यथा स्यात्तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः ॥” [न्यायावता० क्लो० २०] “तत्सिद्धयसिद्धयोः
वहिव्याप्तेरसाधनात् ।” [सिद्धिवि० पृ० ३०८ A.] “अन्तर्व्याप्तावसिद्ध्याया वहिव्याप्तिरन्तर्मा-
धनम् ।” [सिद्धिवि० पृ० २८१ A.] अन्तर्व्याप्ताया हेतोः साध्यप्रस्थापने शक्तावशाक्तौ च
वहिव्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम् । पक्षीकृत एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः. अन्यत्र तु 30
वहिव्याप्तिः यथा अनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेः अभिमानश्च देशो धूमयत्त्वान्,
य एवं स एवं यथा पाकस्थानम् ।” [प्रमाणतय० ३।३५, ३६] धर्मसं० वृ० पृ० ८२।
जैनतर्कशा० पृ० १२ ।

इति पञ्चमः प्रस्तावः ।



पृ० ८६. पं० १. 'म्लेच्छादिव्यवहार'—तुलना—“म्लेच्छव्यवहारा अपि केचित्
मातृविवाहादयो सदनोत्सवाद्यध्यानादयः, नास्तिक्यवचांसि च अपूर्वपरलोकाद्यपवादादिनि ।
[प्रमाणवा० स्ववृ० १।२४७]

- पृ० ६१. पं० ४. 'संशयादिप्रसंगः'—तुलना—“विरोधस्तावदेकान्ताद्वक्तुमत्र न
युज्यते” [गी० श्लो० पृ० ५६०] “यद्यप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति, तदभिधीयते अनिरु-
पितप्रमाणप्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम् । एकस्यैकत्वमस्तीति प्रमाणादेव गम्यते । नानात्वं तस्य
तत्पूर्वं कस्माद्भेदोऽपि नेष्यते ॥ यत् प्रमाणैः परिच्छिन्नमविरुद्धं हि तत् तथा । वस्तुजातं
गवाश्वादि भिन्नाभिन्न प्रतीयते ॥ न ह्यभिन्नं भिन्नमेव वा क्वचित् केनचित् दर्शयितुं शक्यते ।
सत्ताज्ञेयत्वद्रव्यत्वादिसामान्यात्मना सर्वमभिन्नं व्यक्तात्मना तु परस्परवैलक्षण्याद्विभक्तम् ।
तथाहि प्रतीयते तदुभयं विरोधः कोऽयमुच्यते । विरोधे चाविरोधे च प्रमाण कारणं मतम् ॥
एकरूपं प्रतीतत्वात् द्विरूपं तत्तत्तेष्वप्युच्यते । एकरूपं भवेदेकमिति नेष्वभ्यापितम् ॥” अत्र
प्रागल्भ्यात् कश्चिद्वाह—यथा संशयज्ञानं स्थाणुवां पुरुषो वेत्यप्रमाणं तथा भेदाभेदज्ञानमिति,
तदसत्, परस्परोपमर्देन न कदाचित् सह स्थितिः । प्रमेयानिश्चयाच्च संशयस्याप्रमाणात् ॥
अत्र पुनः कारण पूर्वसिद्धं मृत्युवर्णादिलक्षणं ततः कार्य पश्चाज्जायमानं तदाभितमेव
जायते..... अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेति स्थितम् । संप्रहस्योक्तः—कार्यरूपेण नानात्वभेदः
कारणात्मना । हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा-॥” [आत्मरथा० पृ० १६-१७]
“...तस्मात् प्रमाणयत्नेन भिन्नाभिन्नत्वमेव युक्तम् । ननु विरुद्धौ भेदाभेदौ कथमेकत्र
स्थाताम् ? न विरोधः, महदर्शनात् । यदि हि 'इदं रजतम् नेदं रजतम्' इतिवत् परस्परोप-
मर्देन भेदाभेदौ प्रतीयेयाताम् ततो विरुद्धयेयाताम्, न तु तयोः परस्परोपमर्देन प्रतीतिः । इयं
गौरिति बुद्धिद्वयम् अपर्यायेण प्रतिभासमानमेकं वस्तु द्वयात्मकं कैवल्यापायति—सामानाधि-
करण्यं हि अभेदमापादयति अपर्यायत्वं च भेदम्, अतः प्रतीतिवत्ताद्विरोधः । अपेक्षा-
भेदाच्च, ...एवं धर्मिणो द्रव्यस्य रसादिधर्मान्तररूपेण रूपादिभ्यो भेदः द्रव्यरूपेण चाभेदः...”
[शास्त्रदी० पृ० ३९३-९५]

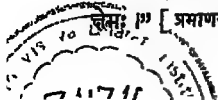
- पृ० १०४. पं० ५. 'कालादिधर्मि'—पूर्वपक्षः—“तथा न चन्द्रोदयात् समुद्र-
बृद्धयनुमानं चन्द्रोदयात् (पूर्वं पश्चादपि) तदनुमानप्रसङ्गात् । चन्द्रोदयकाल एव तदनुमानं
तदैव व्याप्तेर्गृहीतत्वादिति चेत्, यद्येवं तत्कालसम्बन्धित्वमेव साध्यसाधनयोः । तदा च स
एव कालो धर्मा तत्रैव च साध्यानुमानं चन्द्रोदयश्च तत्सम्बन्धीति कथमपक्षधर्मत्वम् ॥”
[प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।३]

- पृ० १०५. पं० १३. 'अन्योपलम्भो'—तुलना—“यथाह-अन्यहेतुसाकल्ये तद-
व्यभिचाराच्चोपलम्भः सत्ता । तदभावाऽनुपलब्धिरसत्ता, अन्योपलब्धिश्चानुपलब्धिरिति ॥”
[प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १।५]

पृ० १०८. पं० २१. 'अदृश्यानुपलम्भात्'—पूर्वपक्षः—“अदृश्यानुपलम्भादभा-
वासिद्धौ घटादेर्नैरास्त्यासिद्धेः प्राणादेर्निवृत्तिः ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० १।१९]

- पृ० १११. पं० ८. 'स विरुद्धो'—तुलना—“असिद्धत्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवो-
पपद्यते । विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनेकान्तिकः स तु ॥” [न्यायावता० श्लो० २३]

- पृ० ११२. पं० २८. 'योगक्षेम'—“अलब्धधर्मानुवृत्तिर्योगः । लब्धधर्मानुवृत्तिः
क्षेमः ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० १।२४]



उद्धृतोऽयम्—“हेतुरेकान्तसाधने” [न्यायवि० वि० पृ० ५०२ A.]

तुलना—“असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो मल्लघादिनः । हेहा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने ।” [जैनतर्कवा० पृ० १४२] स्या० रत्ना० पृ० १०३२ ।

पृ० ११५. पं० २३. ‘जाड्य’—वौद्धाचार्यैः अह्निकजाड्याद्यव्योपशब्दाः प्रतिवा-
दिनः प्रयुक्ताः । अन्यकारः तत्तत्सिद्धान्तासङ्गतिप्रदर्शनेन वौद्धाचार्या एव तच्छब्दयोग्या इति 5
प्रदर्शयति । जाड्याग्निशब्दप्रयोगस्थलानि—“व्यस्तप्रज्ञानां पञ्च जिह्वानि जाड्ये” [प्रमाणवा०
१।३४२] “तदेतज्जाड्यवर्णितम्” [प्रमाणवा० ४।३५] “एतेनैव वदह्नीकाः किञ्चिदश्लील-
माकुलम् । प्रलपन्ति ।” [प्रमाणवा० १।१८२] हेतुवि० पृ० १२९ । वादन्यायटी० पृ० २ ।
“एतत्सार्थपशोः कोऽन्यः सत्तज्जो वक्तुमीदृते ।” [प्रमाणवा० २।१६५] “शृङ्गे गौरित्यलौ-
किकम् ।” [प्रमाणवा० ३।१५०, ४३७] “एषा लोकोत्तरा स्थितिः” [प्रमाणवा० ४।५५] 10
“धिग्ग्यापकं तमः” [प्रमाणवा० ३।२३९] वादन्यायटी० पृ० ५१ । “तमोविजृम्भणम्”
[प्रमाणवार्तिककाले लि० पृ० ३४६] “अयेद् वाच्येन चन्धकीम्” [प्रमाणवा० ३।३३४]
इति षष्ठः प्रस्ताव ।



पृ० ११६. पं० ६. ‘सिद्धम्’—अ्याख्या तुलना च—“सकलं सर्वथैकान्तप्रवादा-
वीतगोचरम् । सिद्धं प्रवचनं सिद्धपरमात्मानुशासनम् ॥ सिद्धं प्रमाणमित्यर्थः सिद्धयसि 15
निर्ययविषयतां गच्छति अनेन अर्थ इति सिद्धमिति हेत्वन्तरमाह—सिद्धपरमात्मानुशासनम्
इति । सिद्धो निश्चितः परमात्मा सकलवस्तुयाथातन्त्रदर्शी पुरुषविशेषोऽनुशासनः काले देशे
च कश्चिदुत्पन्नस्य अतु पश्चात् शासनः शास्ता यस्य तत्तथोक्तम् यत एव प्रवचनं ततः
सिद्धमिति ।” [न्यायवि० वि० पृ० ५३४ A.]

पृ० ११६. पं० १८. ‘पुरुषातिशयो’—तुलना—न्यायवि० टि० पृ० १६७ पं० ३। 20

पृ० ११८. पं० १६. ‘ओत्रं हि’—पूर्वपक्षः—“अप्राप्तान्यक्षिप्तमनःओत्राणि ।”
[अभिवर्नं को० १।४३]

तुलना—राजवा० पृ० ४८ । तत्त्वार्थस्तो० पृ० २३५ । न्यायकुमु० पृ० ८३ । सम्प्रति०
टी० पृ० ५४५ । स्या० रत्ना० पृ० ३३४ ।

पृ० ११८. पं० २८. ‘करणसन्निपातोप’—तुलना—“तदेतेषां पुद्गलानां करण- 25
सन्निपातोपनिपाते आद्यणुस्त्वान्नः शब्दः पूर्वापरकोट्योरसम्प्रयोजनान्तरिण्यको घटादिवत्”
[अष्टादश०, अष्टसह० पृ० १०७]

पृ० ११८. पं० २०. ‘हीनस्थान’—तुलना—“मिथ्याज्ञानतदुद्भूततर्पसञ्ज्ञेत-
नावशात् । हीनस्थानमतिर्जन्म” ॥” [प्रमाणवा० २।२६०] आप्तप० पृ० १ ।

पृ० १२२. पं० ३. ‘सम्यग्ज्ञानाद्बुद्धः’—अ्याख्या—“शब्द इति सर्वोऽपि पौरुषेयः 30
शब्दः पुरुषार्थस्य निःश्रेयसः तत्कारणस्य अमिधायकोपि नु सत्यो विप्रतिसारविकलश्च न
सर्वोऽप्यसौ तद्विकलचये वा अपि नु सम्यग्ज्ञानाद्बुद्धः सम्यग्ज्ञानं तत्प्रणेतुः पुरुषस्य तदर्थविषयं
निरुपसर्वं ज्ञानं तदेव अद्भुतो नियामकः यस्य स एव च अयमेव त्याद्यादामोक्षलाब्धनः वचन-
प्रबन्धः तापरः तत्प्रणेतृणां तज्ज्ञानामावस्य निवेदनात् ।” [न्यायवि० वि० पृ० ५७८ A.] 85

टिप्पणपरिशिष्टम्

पृ० २. पं० ८. 'तत्र सांख्यवहारिकम्'—उद्धृतमिदम्—“अकलङ्कोऽप्याह-
द्विविधं प्रत्यक्षज्ञानं सांख्यवहारिकं मुख्यञ्च । तत्र सांख्यवहारिकमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् ।
मुख्यमतीन्द्रियज्ञानमिति ॥” [नन्दि० मलय० पृ० ७४]

पृ० ५. पं० ८. 'नहि प्रत्यक्षम्'—तुलना—“यदाह—नहीदमियतो व्यापारान्
कर्तुं समर्थमिति ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १४१]

पृ० ६. पं० १. 'सदृशापरापरोत्पत्ति'—पूर्वपक्षः—“स्वहेतोरेव तथोत्पत्तेः
क्षयास्त्यतिघर्षतां तत्त्वभावं पर्यत्रापि भन्दबुद्धिः सत्तोपलम्बेन सर्वदा तथाभावस्य शङ्कया
सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्बो वा न व्यवस्यति ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० १३४]

पृ० ६. पं० ३. 'प्रातिसंविदितोत्पत्ति'—पूर्वपक्षः—“यदाह—न चेमाः कल्पना
अप्रतिसंविदिता एव उदयन्ते व्ययन्ते चेति । नापि तत्प्रतिपत्तौ सिद्धान्तुसरणेन तद्वाकार- 10
समारोपसंशयः शक्यते कल्पयितुम् ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १५०]

पृ० १६. पं० ११. 'आलोकोऽपि'—पूर्वपक्षः—“यथा इन्द्रियालोकमनस्काराः
आत्मेन्द्रियमनस्कारा वा रूपविज्ञानमेकं जनयन्ति ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० १७५]

पृ० १६. पं० २४. 'मलविद्ध'—उद्धृतमिदम्—नन्दि० मलय० पृ० ९६।

पृ० २२. पं० १३. 'वक्त्रभिप्रेत'—पूर्वपक्षः—“अपि च वस्तुनान्तरीयकतानावात् 15
तेभ्यो नार्थसिद्धिः, ते हि वक्त्रमिप्रायसूचकाः ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० १२१५]

पृ० २६. पं० १५. 'द्रव्यपर्याय'—तुलना—उत्पादादिभिः पृ० ७२, १३२।

पृ० ३६. पं० २०. 'अद्वयं'—पूर्वपक्षः—“अद्वयानां द्वयप्रतिभासादिति । [प्रमाण-
वा० स्ववृ० ११००]

पृ० ३७. पं० १. 'तत्र शौद्धोदने'—तुलना—“तस्यैव तावदीदृशमवितस्थूलं प्रज्ञा- 20
स्फूर्तिरिति कथं वृत्तं जातमिति कृत्वा सह विस्मयेन अनुकम्पया वर्तते इति सविस्मयानु-
कम्पं नोऽस्माकं चेत् । सुतवतोऽप्येवमविद्याविहसितमिति सविस्मयं गाढेन अविद्याबन्धेन
सत्त्वाः पीडयन्त इति सानुकम्पम् । तदत्र अपरेऽपि इदानीं तन्मवानुसारिणः कुमारिलप्रभृतयः
परीक्षकमन्त्या एवमेतदनुवदन्तीति निर्देयं निष्कृपमाक्रान्तं मुच्यते जगद् येन तमसा तत्तथोक्तं
विख्यापकं तमः ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० १२४०]

पृ० ४५. पं० ७. 'मेदज्ञानात्'—तुलना—उत्पादादिभिः पृ० ११९।

पृ० ७४. १. 'अन्यथानुपपन्नत्वं'—कारिकेयं प्रमाणवा० स्ववृत्तिटीकायाम् (१३)
हेतुलक्षणपूर्वपक्षे 'तदुक्तम्' इति कृत्वा समुद्धृता ।

पृ० ७६. पं० ३०. 'दध्युष्टादे'—पूर्वपक्षः—“सर्वस्योभयरूपत्वम्—उभयरूपप्रमाणमे-
कत्वोपलक्ष्यार्थम् तस्मिन् सति तद्विशेषस्य 'उष्ट्र उष्ट्र एव न दधि, दधि दध्येव नोष्ट्रः' इत्येवं 30
लक्षणस्य निराकृतेः, 'दधि खाद. इति चोदितः पुरुषः किमुष्ट्रं खाति नामिधावति ?
उष्ट्रोऽपि दध्यभिजातं द्रव्यत्वात् अव्यतिरेकात् स्याद् दधि, नापि स एवेति । उष्ट्र एवोष्ट्र
इत्येकान्तवाद्, येनान्योपि दध्यादिकः (तः) स्यादुष्ट्रः । तथा दध्यपि स्यादुष्ट्रः उष्ट्रमिमेन
द्रव्यत्वेन दध्नासादात्प्रेनामिसम्बन्धात् । नापि वदेवेति, दध्येव दधि, येनान्यदपि उष्ट्रादिकं
स्याद्वधि । एतेन सर्वस्योभयरूपत्वं व्याख्यातम् ॥” [प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ११८३]

प्रतिभासभिदैकार्ये	१५	वाञ्छिताश्च क्वचिन्नेति	२२
प्रतिसिद्धितोत्पत्ति-	९	विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र	२२
प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा	७	विरचय्यार्थवाक्प्रत्यया-	२५
प्रत्यक्षाम कथञ्चित्स्यात्	८	विवक्षा नैवमोऽप्यन्त-	२३
प्रत्यक्षेषु न लक्ष्येरन्	९	वीक्ष्याणुपारिमाण्य-	६
प्रत्यक्षा बहिरन्तरश्च	११	व्यपेक्षात समक्षेऽर्थे	७
प्रत्यक्षा विशद ज्ञान	१	व्यवसायात्मक ज्ञान	२०
प्रत्येक वा भजन्तीह	२०	व्यवहारानुकूल्यात्	२४
प्रमाणनयनिकोपानभि-	१८	व्यवहारविस्वादास्तदा-	९
प्रमाण श्रुतमर्थेषु	९	व्यवहारविस्वादा नय	१४
प्रवचनपदान्यभ्यस्य	२६	व्याप्ति साध्येन हेतो	१७
प्राद्वानामयोजनाच्छेष	४	शुद्ध इव्यमभिप्रेति	११
प्राप्ताप्य व्यवहारादि	१४	श्रुतमेवा नया सप्त	२२
प्राय श्रुतेर्विस्वादात्	९	श्रुतादर्थमनेकान्तम-	२५
बहिरर्थास्ति विज्ञप्ति-	१४	श्च आदिष्य वदेतेति	५
बह्वाययप्रहाद्यष्ट्यत्वा-	३	पट्टकारकी प्रकल्प्येत	१६
बह्वावास्तवाभास	१३	सदमेदात् समस्तैव्य-	२४
अविध्यप्रतिपक्षेत	५	सदसत्त्वार्थनिर्गति	११
भव्य पञ्च गुक्तु	२६	सत्येतरव्यवस्था का	९
मेवाना नासदात्मको-	११	सन्तानेषु निरन्वयक्षणिक-	११
मेवानेवात्मके क्षेत्रे	१०	सन्निवेशेनिग्रयायाना	१९
मेद प्राधान्यतोऽन्वि-	२४	सर्वजाय निरस्ताबाधकधिये	१७
मलविद्धमणिव्यक्ति-	१९	सर्वत्र वेदनास्वाप्त	९
मिष्येतरात्मक दुष्यादुष्य-	४	सर्वैकत्वविशेषी	२४
मिष्यैकान्ते विधेयो वा	१४	समग्र मन्वेदेकमभि-	१३
यथैक भिन्नवेद्यानि	१२	सञ्चयादिभिदुत्पाद	१८
यत्तयैवाविसवादि	८	सहृताक्षेपचिन्ताया	८
युज्येत क्षणिकेऽर्थे	१२	स्याद्वाच सकलादेशो	२१
यै तेष्वेकानपेक्षाभ्या	१०	स्वतोऽर्था सन्तु सत्तावत्	१३
लक्षण क्षणिकैकान्ते	१२	स्वसविद्विषयाकार-	६
लिगात् साध्याविनाभावा-	५	स्वसवेद्य विकल्पना	८
लिभिधीरशुमान	५	स्वहेतुजनितोऽप्यर्थ	२०
वचनभिप्रेतमात्रस्य	२२	स्वेच्छया तामलिकम्प	२२
वर्णा पदानि वाक्यानि	२२		

§ २. लघीयसूत्रगतानि अवतरणानि.

अवतरणम्	पृ०	अवतरणम्	पृ०
इन्द्रियमनसी कारण विज्ञानस्य-	१९	नहि बुद्धेरकारण विषय -	१५
गुणाना परम रूप न बुद्धि-	१४	नावनुकृतान्वगव्यतिरेक-	१९
तत्प्राप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्त-	५	वक्तुरभिप्रेत तु वाच सूचयन्ति-	१०
नहि तत्त्वज्ञानमित्येव-	२	वक्तृभिप्रेतमात्रस्य सूचक वचन न्विति	२२



अन्य एवेति किञ्चे-	६६	अलमर्थेन चेन्नैवमति-	४२
अन्यथा कल्पयत्लोक-	६३	अल्पभूय प्रदेसादी-	६९
अन्यथा तदनिर्देश्य-	६७	अल्पमेदाग्रहान्मान-	४४
अन्यथात्वं न चेत्तस्य	६६	अवस्थादेशकालाना-	७६
अन्यथात्वं यदीप्येत	६६	अवस्थान्तर्विशेषोऽपि	७३
अन्यथाऽर्थात्मन	४८	अवश्य बहिरन्तर्वा	७०
अन्यथा नियमाभाव-	७६	अवश्य सहकारीति	४७
अन्यथा नियमायोगात्	६३	अवान्तरात्मभेदानामान-	६८
अन्यथानुपपन्नत्वनियम	७१	अविकल्पकमभूनात्	५०
अन्यथानुपपन्नत्वमन किञ्च	७४	अविज्ञाततथाभाव-	३५
अन्यथानुपपन्नत्वमसिद्ध-	३१	अविनाभावसम्बन्ध	७४
अन्यथानुपपन्नत्वरहिता	७९	अविप्रकृष्टदेशादिर-	४०
अन्यथानुपपन्नत्वरहिता	७६	अविरोधेन कान्बुने-	७८
अन्यथानुपपन्नत्व	७४	अविरोधेऽपि नित्यस्य	८५
अन्यथा नोऽप्रदेशादी-	६८	अविसर्वादनियमाद-	५०
अन्यथा सर्वसावानाम-	८०	अशक्तेरणुवत्	७३
अन्यथासम्भवाभाव-	७९	असञ्चारोऽनवस्थानम-	३२
अन्यथाऽसम्भवेऽजाने	७४	असतो ज्ञानहेतुत्वे	३३
अन्यथा स्वात्मनि	६९	असत्त्वेद् बहिरर्थात्मा	३९
अन्यथाविरोधमात्	४०	असाधनागवचनमदोषो-	८०
अन्यथाऽन्यो विनाश	६५	असिद्धधर्मिमत्त्वे	५३
अन्यनपि स्वय प्राहु-	३७	असिद्धञ्चाक्षुषत्वादि	७८
अन्योन्यमभयानो चेत्	३९	असिद्धिसिद्धेरप्यर्थ	३१
अन्योन्यात्मपरावृत्त-	४७	असिद्धि प्रतिबन्धस्येत्यपरे	७७
अन्वर्थमन्यथामास-	४५	असिद्धिरितरेपाञ्च	३२
अन्यव्यतिरेकाभ्या	६९	असिद्धो व्यवहारोऽप्य	३२
अन्ययोऽन्यव्यवच्छेदो	४६	अस्ति प्रधानमित्यत्र	५९
अपर प्राहु तत्रापि	४३	अहमस्मीति वाक्या-	९०
अपि चाण्डालगोपाल-	३६	अहेतुतामसवित्त-	३१
अपीक्षेयवृत्तान्तो	९२	अह ममाश्रयो बन्ध	८८
अपृथग्वेदान्तयमाद-	७१	आकृतिभ्रमवद् यद्दद्	७२
अप्रत्यक्ष सुपुप्ता-	५९	आगम पीक्षेय	८४
अप्रत्यक्ष स्वमवेद्यम-	३२	आत्मनाऽजकल्पेण	३०
अप्रत्यक्षेऽपि देहे	६२	आत्मादिव्यतिरेकेण	६०
अप्रमत्ता विवक्षेयम्	७७	आत्मा योऽन्य प्रवक्ता-	९१
अप्रमाणप्रमेयत्वम-	३८	आत्मीयेषु प्रमोदादि-	८९
अप्रमेय प्रमेय चेत्	६०	आलो परोक्षमपर	६३
अप्रवृत्त फलाभावात्	६९	आनुमानिकभोगस्याप्य-	३१
अप्रसिद्ध पृथक् सिद्ध	४९	आन्तरा भोगजन्मानो	३१
अप्राप्यकारिणस्तरमात्	९१	आप्तवाद स एवाय	९१
अवाह्यमावनाजन्य	४३	आयातमन्यथाऽद्वैत	४०
असम्बन्धित्यसमाव्यो	७६	आयुर्वेदादि यद्यपि	८५
अभावस्याप्यभावोपि	६६	आरादपि यथा चक्षु-	३५
अभिन्नदेशवा गनाम-	३६	आरेकासिद्धते	८४
अभिन्नप्रतिभासेन	४६	आलोक्षयान्तर क्रियात्	४४
अभिज्ञो भिन्नजातीयै	८४	आवृत्तैरावृत्त भार्य-	६७
अभिज्ञापतदज्ञानाम-	३०	आसादितविशेषाणाप-	७३
अभेदज्ञानत सिद्धा	४५	आस्ता तावदलाभादिरय-	८१
अयमर्थक्रियाहेतुर-	७१	आहुरर्थबलायातम-	४२
अयमेव नवेत्येवमवि-	३८	इतरत्र विरोध क	३९

§ १. लघीयस्त्रयस्य कारिकाधीनामकाराद्यनुक्रमः.

कारिकार्थम्
अथर्षीस्मृतिसंज्ञाभि-
मसबुद्धिरतीतार्थ
असंशब्दार्थविज्ञान-
असार्थयोगे सत्ता-
अर्थकिं न युज्येत
अवृत्त्यपरचित्तादे-
अनाप्रवास न कुर्वीरन्
अनुमानाद्यतिरेकेण
अनुपपन्नयोगेव
अनद्य बहिरन्तश्चा-
अन्तर्भावान् युज्यन्ते
अन्यथा न विषाद
अन्योन्यगुणभूतक-
अन्यवर्षांतरकाम्या
अप्रयुक्तोपि सर्वत्र
अभिरुद्धस्तु पर्याय-
अयमर्थ इति ज्ञान
अचरहो विरोपाकांक्षी-
अविकल्पधिया लिय
असहात्मनु नैषा
अस्पष्ट शब्दाविज्ञान
आप्तोपगोह्येवावाञ्छ
इदमन्य भवद्वारमास-
उपमान प्रसिद्धार्थ-
उपयोगी श्रुतस्य द्वौ
एकस्यानेकसामग्री-
एक उवा स्वनिर्भाभि-
नञ्जुमनस्य पर्याय
ऋषादिमहावीर्य-
कर्मविदात्मनि जगि-
कल्पन्त्वभावो हेतु
कार्यकारणयोश्चापि
कार्यातिविरुद्धा चेत्
कार्यं दृष्ट प्रजातीया-
कारणे कार्यभावचेत्
कालकारकलिताना
वागविलक्षण व्यक्षेपा-
दुष्टपादिन न दुष्टपादि-
जनानामभ्या भवाना
गुणप्रधानभावेन
गृह्य निर्णयमेव
कन्यारोष्यनया ह्येते

पृ० कारिकार्थम् पृ०
१ चन्द्रादे अत्रचन्द्रादि- ५
१५ चित्त मत्तदात्मक ४
१६ चेतनाद्युत्तमूहत्वात् १४
२ जीवन्वानगुणस्थान- २५
४ जीवाजीवप्रभेदा यद- ११
४ ज्ञानमात्र मयि सज्ञा ४
९ ज्ञान प्रमाणमात्रमादे- १८
२ तथा ज्ञान म्बहेत्तु २०
२५ तथैव भिन्नकालार्थान् १२
६ तदाकारविचारदे- ६
२१ तद्वद्व्यपयोगात्मा- ३
१८ तपोनिर्जीर्णकर्माज्ज २५
१३ तमो निरोधि बीजन्ते १९
१८ नमस्तस्य परोक्ष च २१
२२ तन्मात्रा न केवल- ७
१५ तद्वैधर्म्यात् प्रमाण ७
१८ तद्वैधर्म्ये न बुद्धे- २
२ नय मन्त्रनया मन्त्र- २४
५ दुर्गो ब्रह्मगट २४
१३ दुष्टादुर्गविभागेन ११
१६ द्रव्यपर्यायमन्त्रान्ते २०
९ द्रव्यपर्यायमात्रान्- १६
७ द्रव्याणि जीवादीन्यान्मा २५
७ द्रव्य स्वलक्षण मयेन ११
२१ धर्मसिद्धिरेभ्योऽम् १
१६ धारणा स्मृतिहेतु- ६
११ धीविकल्पाविकल्पात्मा ६
११ न मज्जन्त न मज्जन् २०
१ नगन्तानिदानी- २५
१ नगो ज्ञानगुणप्रसो १८
६ नानुमानादमिदमन्त्रान् ५
१९ नानदुर्ग विगृह्येन १
१० नाम्ना वाच्यमात्राना २०
१० निश्चयव्यवहारी तु २०
१० निन्दन तत्त्वान्नोऽपि २०
१० निश्चयान्मा न्न ६
१६ नगमः नान्त्वोन्मी १३
१९ परीत नानुमानं ह्यमन्त्र- १
१ दग्धेन मयिज्जान १
२३ पक्षान्तिनिमित्तमन्त्र- १०
२० पक्षान्तिनिमित्तमन्त्र ३
२४ प्रसिद्ध मन्त्रादी १८

ज्योतिर्जानादिवत्सर्वं
तत सत्तेति साध्यन्ते
तत सर्वा व्यवस्येति
तत ममाव्यते शब्द
तत ससारिण सर्वे
ततस्तत्त्वव्यवस्थान
ततस्तत्त्व गत केन
सपसवच प्रभावेण
तयोरनुपलभेषु
तत्कार्योत्कर्षपर्यन्त-
तज्जातीयमत प्राहु-
तज्ज्ञानपूर्वक तर्क
तत्तन्निमित्तक शब्द
ततस्त्वभावतो ज्ञान
तन्न कारणमित्येव
तत्प्रतीत्यसमुत्पादा-
तत्प्रत्यक्षपरोक्षाक्ष-
तत्प्रत्यक्ष परोक्षोऽर्थे
तत्र तद्व्यमक तेन
तत्र दिग्भागभेदेन
तत्र दोष कृष्णो वा
तत्र नाशादिशब्दादय-
तत्र भावा समा केचित्
तत्र मिथ्योत्तर जाति
तत्र रूपादिरन्यथ
तत्र शीदोदनैरेव
तत्र सिद्धमसिद्ध वा
तत्राद्यापि जना सक्ता
तत्रान्यत्रापि वाऽसिद्ध
तत्रापि तुल्यजातीय-
तत्राप्यनर्थसवित्ता
तत्राणकितफलाभावी
तत्रैकत्वप्रसगाच्चेत्
तत्रैकत्व प्रसज्येत
तत्रैकमन्तरेणापि
तत्रैकमिसिन्धाय
तत्रैक कल्पयन् वार्य
तत्रैव ग्रहणात् किंवा
तत्त्वज्ञानप्रभावेण
तत्त्वज्ञानमुदेतीति
तत्त्वज्ञानाद्यनुत्पादहेतु-
तत्त्वतोऽनुपकारेऽपि
तत्त्वार्थदर्शनज्ञान-
तत्त्वताव्यवहाराणा
तत्त्वमानासमानेषु
तत्त्वारतरभूतानि
तत्त्वस्कारान्वयेष-
तथाऽक्षार्थमनस्कार-
तथा गोचरनिर्भासं
तथा चेत्स्वपराल्मानौ

११	तथा जनकजन्येषु	६५
५९	तथा ज्ञान तथाकार-	४८
४६	तथा तत्प्रतिपक्षेऽपि	५८
५८	तथार्थे सत्यसम्भूतु	६६
८४	तथा न क्षणिकादीना	८६
५०	तथा निराश्रयीभाव	८३
३७	तथानेकोऽपि तद्वर्ग-	५८
८८	तथान्यगुणदोषेषु	८२
७६	तथापि सुगतो बन्धो	८०
७८	तथा प्रतीतिमुल्लङ्घ्य	४७
५६	तथा प्रमाणत सिद्ध	५०
८४	तथा भूतानिषेधेऽपि	६०
५९	तथाय क्षणभगो न	४६
८४	तथा रागादयो वृष्टा	६४
६२	तथा वस्तुवलादेव श्रेया-	८०
६५	तथा सत्त्वमतत्त्व वा	३७
४०	तथा सर्वत्र किन्नेति	३६
६९	तथा साक्षात्कृतालोप-	९१
५९	तथाहि दर्शन न स्यात्	५७
४१	तथाहेतुसमुद्भूत	४०
८०	तथेष्टत्वाददीषोऽय-	५३
६५	तथैव पुद्बत्वादेर-	७८
५०	तथैव व्यवसाय स्या-	३०
७९	तथैवात्मानमात्माऽय-	३४
४४	तदकिञ्चित्करत्वं न	५७
३७	तदतद्वस्तुभेदेन	९०
७०	तदतद्व्यागवृत्तेष्व	९०
३७	तदर्थवर्त्तनाभावात्	५८
५९	तदर्थदक्षिणोऽभावात्	८९
४३	तदर्थवेदन न स्यात्	६३
३२	तदर्थोऽय प्रयाससर्वत्प-	८२
५४	तदनेकार्थसंक्षेप-	६७
५५	तदनेकान्तात्पक	६०
६१	तदभावेऽपि तद्वात्स्या-	५३
५६	तदन्यत्र समानात्मा-	५९
५६	तदभावे हि तदभावा-	६४
५५	तदसत्त्वमतत्त्व वा	३७
३६	तदात्पोत्कर्षणार्थेव	८१
८८	तदादावभिलाषेण	६४
८२	तदाभासो वितण्डादि-	८१
८२	तदाहारादिसामान्य-	६४
५५	तदेव नस्तु साकारमकार-	४६
८९	तदेव सकलाकार तत्त्व-	४७
५४	तद्वद्ग्रह प्रतिषेधोऽय	६६
५८	तद्वृष्ट्यामिरत्येवा	६२
६२	तदि जन्मान्तराभावा	६३
६४	तदभावा परिणाम स्यात्	४६
५२	तदभ्रान्तेराविपत्येन	३४
४३	तद्रूप भेदभारोप्ये	६०
३९	तद्व्यवचोदितेऽव्यक्ते	५५

३. न्यायविनिश्चयस्य कारिकाधीनामकाराद्यनुक्रमः.

कारिकाध्वं	५०	कारिकाध्वं	५०
अकिञ्चित्कारकान् सर्वान्	७९	अर्थज्ञानस्मृताध्वं-	३४
अक्रम करणीत	५२	अर्थज्ञानेऽस्ततोऽयुक्त	३०
अक्षज्ञानानुब स्पष्ट	५०	अर्थभावावबोधेऽपि	७५
अक्षज्ञानेऽपि तत्तुल्य	५८	अर्थस्यानेकरूपस्य	७०
अक्षमात् पुरुषत्वादे	७८	अर्थानारविवेको न	४६
अक्षादीना विकारोऽप्य	६३	अर्थेऽपि प्रसंगत्वे-	४१
अक्षवेदस्यद्वयस्य	५४	अदृष्टदोषासकामान-	८३
अग्नि स्वपरकाम्या	६९	अदृष्टदोषासकामान्यनानि	९१
अद्रह क्षणभगोपि	७१	अदृष्टिकल्पनाया	५७
अज्ञानरूपहेतुस्तव-	४०	अदृष्टेरर्थस्यस्य	३३
अणव क्षणिकात्मान	७२	अद्रवद् भवति द्रोषसि	४५
अणूना श्रुतयोग्यत्वा-	७९	अद्रव्य द्वयनिर्मास-	३६
अत एव विरुद्धत्वात्क	६२	अद्रव्य द्वयनिर्मासमात्र-	३९
अतत्काराविद्यात्वा	३५	अद्रव्य परचित्ताधिपति-	३९
अतत्फलपरावृत्ताया-	७२	अथ ऊर्ध्वविभागादि-	४४
अतत्पर्यपरावृत्तम-	३३	अथ्यसमाप्तमि ज्ञान-	३१
अतवारम्भतया बुद्धे	४८	अथ्यसमाप्तमचित्तवै-	५१
अतद्धेतुफलापोहिनि-	४९	अथ्यसमित्त सिद्ध	४९
अतद्धेतुफलापोहि	३०	अथ्यसाधिविरोध	५१
अतद्धेतुफलापोहि	५६	अनर्थाकारसकैषु	३४
अतद्वच बहिरर्णना	५३	अनर्थानेकमन्तानान-	३७
अतद्वचार्थबलायातम-	४२	अनर्थ. परमात्मानमत	८४
अतादात्म्यस्वभावे	६८	अनन्यसाधने सिद्धि	४३
अतिप्रसंगतस्तत्वात्	५६	अनन्यसाधिविरोधोक्ते	८०
अतीतस्यानान्वयिको	३३	अनप्राप्तिं विद्वत्ताया-	४१
अतीतानागतदीना	५३	अनस पावकोऽग्नित्वात्	३९
अतीत्याद्यर्थराधेस्त-	४४	अनवस्थामती चेदे	६०
अतन्तमसवात्मान	३५	अनादिनिबन् सत्त्वम-	६०
अत्यन्तामेवमेवो न	४८	अनादिवासना न	८२
अत्यक्षेयं द्रुमेऽन्य-	४३	अनादिसप्रदायवचेदायु-	८६
अत्यन्तान्नसमुत्पन्न-	४३	अनाधिपत्यसूत्रं	४१
अत्र दृष्टविपर्यस्तम-	४८	अनुमानमती हेतुव्य-	९२
अत्र भिद्यविकल्पीयै	४३	अनुमानमल कि तदेव	५५
अत्राक्षेपस-धार्थानाम-	३३	अनुमान तु हेतो	३५
अत्रान्वयापि तत्तुल्य-	६१	अनुमेयत्वतोऽननादि-	८५
अत्रापीत्येयस्य जातु	८८	अनेकअर्थमेकयानेक-	४८
अत्रैवोभयपक्षोक्त-	८०	अनेकलक्षणाध्वस्य	९०
अथ न व्यवहारोऽप्य	६९	अन्त धारीरवृत्तेचेद-	३६
अथ नाय परिच्छेदो	३२	अन्तरेणापि तादृश्य	३३
अथैवमसरूप किम-	३३	अन्तरेणैवमक्षानुभूतं	५०
अथैव सर्वविषयमस्तु	५१	अन्तरेणैव मन्त्रव्य-	७५

नित्यस्येच्छा प्रधानादि-
 नित्य सर्वगत मत्त्व
 नित्य सर्वगतो ज्ञ सन्
 नियमेन न गृह्णाति
 निरन्वयविनाशे
 निराकारेतरस्यैतत्
 निरुपद्रवभूतस्य
 निर्वाणमाह वेदोऽयं
 निर्विकल्प विकल्पेन
 निर्व्यापारो हि भाव
 नि श्रेयस पर वेति
 निह्नासातिशयाभावात्
 निह्नासातिशयो येषा
 नेक्षते न बिरोधोऽपि
 नैकान्तक्षायिकाणां
 नैरन्तर्यं निराना
 नैषा विकल्पना
 नो चेत्सिद्धोऽणुमात्र
 नो चेद्विभ्रमहेतुस्य
 नोपाश्रयो न तद्वन्त
 नीयानादिषु विभू-
 न्यायेन विजिगीषुणाम्
 पदार्थज्ञानभागात्
 परदु क्षपरिज्ञानात्
 परमाणुरतोऽन्यो वा
 परमार्थविताराय
 परमार्थकतान्त्र-
 परस्परवममतास्य
 परस्याप्यबिरोधव्ये-
 परापरविवेकैक-
 परिणामविशेषा हि
 परिणामस्वभाव
 परितुष्यति नामैक
 परीक्षाक्षमवाक्यार्थ-
 परीक्षाक्षमवाक्यार्थ-
 परीक्षाज्ञानविषय
 परीक्षोऽन्यविनाभाव-
 पर्वतादिविभागेषु
 पञ्चादनुपलम्भेऽपि
 पारम्पर्येण साक्षाच्च
 पारम्पर्येण साक्षाद्वा
 पीतदोषाश्रवाकारो
 पुरुषानिगयो ज्ञातु
 पूर्वपक्षमविज्ञाय
 प्रकाशनियमो हेतो
 प्रकीर्णं अत्यभिज्ञादी
 प्रकृताशेषतत्त्वार्थ-
 प्रज्ञाप्रकर्षपर्यन्त-
 प्रज्ञा येषु पटीयस्य
 प्रतिमण विवेका न

८९	प्रतिज्ञातोऽन्यथाभाव	३०
५०	प्रतिपक्षस्त्विह भाव	८९
५२	प्रतिभासभिदाया	५४
७४	प्रतिभासभिदा घत्ते	४८
७०	प्रतिभासभिदैक्य	५७
३२	प्रतिव्युद्धस्तु तेनैव	७४
८३	प्रतिसंश्रवैलाया	३६
८३	प्रतीतिप्रतिपक्षेण	४२
४७	प्रत्यक्षप्रतिसवेव	४५
७६	प्रत्यक्षभजसा स्पष्ट-	९२
९३	प्रत्यक्षलक्षण ज्ञान	४०
६२	प्रत्यक्षलक्षण प्राहु	२९
८९	प्रत्यक्षागमयोऽरिष्ट	८३
५७	प्रत्यक्षागमयोऽरिष्ट	९१
९३	प्रत्यक्षाणां परोक्षा-	७२
६८	प्रत्यक्षानुपलभ्य	७५
३९	प्रत्यक्षानुपलभ्या	७४
४१	प्रत्यक्षाभाप्रसङ्गवत्	५४
५७	प्रत्यक्षेऽर्थपरिच्छेदो	३२
५५	प्रत्यक्षेऽर्थेऽन्यथा-	२९
४९	प्रत्यक्षेऽर्थे प्रमाणेन	७४
८१	प्रत्यक्षेऽपि समानान्य-	७१
३०	प्रत्यक्ष करणस्यार्थ-	३२
७८	प्रत्यक्ष कल्पनापीड	४९
७०	प्रत्यक्ष तद्गुणज्ञान	६३
४१	प्रत्यक्ष न तु साकार	४५
३०	प्रत्यक्ष परमात्मानमपि	५२
६९	प्रत्यक्ष बहिरन्तश्च	४७
६५	प्रत्यक्ष मानस चाह	७०
७०	प्रत्यक्ष यदि बाध्येत	६७
८८	प्रत्यक्ष श्रुतविज्ञान-	९३
७०	प्रत्यक्षोक्तव्यवच्छेदप्र-	८१
३८	प्रत्यभिज्ञादिना सिद्धचेत्	५५
९१	प्रत्यभिज्ञा द्विधा	५९
८३	प्रत्यभिज्ञाऽप्रमाण	८७
३१	प्रत्यभिज्ञाविज्ञेयात्	४७
८२	प्रत्यक्ष परमात्मान-	७२
३८	प्रत्यक्षेति न प्रमाहेतु	७४
४७	प्रत्यक्ष पुनरस्यैव	८३
६३	प्रदेशादिव्यवायेऽपि	३५
४३	प्रपेदे सर्वथा सर्ववस्तु-	५३
८८	प्रपञ्चोऽनुपलब्धेर्ना-	७५
८२	प्रभव परित्येयोऽस्य	८५
८०	प्रभु साक्षात्कृतानेप-	८४
३३	प्रमाणपूर्विका नान्या	५९
९२	प्रमाणमर्थमन्वयात्	६९
८०	प्रमाणमविसर्वादात्	९१
७८	प्रमाणमात्मसात्कर्तुं	३६
७७	प्रमाणसाधनोपाय	७४
४८	प्रमाणस्य फल तत्त्व-	९३

इति सर्वमपेक्षेत
इति न कण्ठमत्यन्तं
इदमेवमिति ज्ञानं
इदं विज्ञानमन्यद्वा
इन्द्रजालादियु आन्ति-
इन्द्रियादियु नक्तव्य-
उष्ट तत्त्वमपेक्षातो
इष्ट सत्त हित
इष्टमिष्टि परेषा वा
उत्तरोत्तरदेहस्य पूर्व-
उत्पादविगमघोष्य-
उपमान प्रमिद्धाय-
उपलब्धेय हेतुत्वा-
उपलब्ध्यनुपलब्धिम्या
उपादानस्य बुद्धमत्वाद्यु-
लभ्यावितव्यमोक्षी
एकता भावमात्राज्येत्
एकत्र निर्णयेऽनन्तकार्य-
एकत्र बहुभेदाना
एकाकाराविवेकेन
एकान्तकमनेकान्त
एकान्ते वैसद्यादृष्टे-
एकेन चरितार्थत्वात्
एक बल बलैर्नान्यै
एतत्समानमन्यत्र
एतदत्र घटादीना
एतेन पूर्ववद्गीतमयोग्या-
एतेन प्रत्यभिज्ञाना-
एतेन भिन्नाविज्ञान-
एतेन भेदिना भेदसम्-
एतेन येषि भन्वेरप्रत्यक्ष
एतेन विरक्तसत्ताया
एतेनातीन्द्रिये भावकार्य-
एव अस्तेवलज्ञानम-
एव हि सुगतादिभ्यो
अवग्रहविवेकत्वा-
अवग्रहोपदि तादात्म्य-
अवग्रहानुमादृष्टे
कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु
कथन्तु समो वसता
कथन्तातिलकात्सुल-
कथमेवार्थ आकाशानिवृ-
कथेना विगमे कस्मा-
कथेनामपि कर्तास्य
कथेनामपि मत्कृत्य
कर्मादौ प्रवृत्ताना
कथ्या स्वपरसन्तान-
कथ्यायामवग्रहानु-
कथ्या नदसदत्त्वेन
कथ सति सदाकारे

७४ कावदित्वाकारण
८२ काये तन्मात्र ने नस्य
९२ कायकारणयोर्विद्वि-
६८ कावोभावपनेनाम्नि
३६ कारणस्याक्ष ने नेपा
६७ कारणभाववाच्य-
९३ कारण नाशमयात
७७ कावपक्षपक्षेन-
५३ कान्तेनावज्ञानान्न
६२ कुतश्चिन् मदसद्भाव-
४६ कनापि विप्रलम्भात्
९२ केवल प्रतिपत्ता
७६ केवल मोक्षद्वय-
९१ को दोषो येन नित्यत्व
८५ कोमपान विज्ञेय
९० कृतक क्षणिका न
६१ क्रमेणाद्युपहं युक्त
३० क्रमेणोच्चारणमात्रेण
५९ नमोन्मत्तो महत्त्वात्
७३ नीगरीरविज्ञातीये
५० गत्या मुद्गरमप्येव
५७ गर्भे रसविशेषाया
४२ गुणपर्यययोगेकम्
६७ गुणपर्ययवद्भव्य
४२ गुणवद्भव्यमूलाद-
६३ गुणाना गुणमन्वयो
७६ गौरवाधिक्यनत्वार्य-
३५ ग्रहादिगमय सर्वा
६१ ग्राह्यग्राह्यवद्भ्रान्ति
५५ ग्राह्यमेवा न गमिति
३२ विषयमेकमिति चेद्विद
३३ विषय इत्यमिदं सर्वं
५४ चोदितो दधि सदेति
८५ चोदितो मन्दलिगाम्या
९२ चोष महनि नीमादी
७३ जानितद्वयोत्पदि-
४८ जानित्तरागा नवादा-
७८ जानित्तरागा नवादा-
४४ जानित्तरागा नवादा-
३७ जानित्तरागा नवादा-
८४ जानित्तरागा नवादा-
६० जानित्तरागा नवादा-
८८ जानित्तरागा नवादा-
८९ जानित्तरागा नवादा-
८७ जानित्तरागा नवादा-
६३ जानित्तरागा नवादा-
४२ जानित्तरागा नवादा-
३८ जानित्तरागा नवादा-

६०
६३
६७
६२
४३
८८
६३
७३
८६
५४
४१
९०
९३
८६
८८
५९
६४
३२
६४
४५
६४
४५
६१
४४
८५
४०
३४
६२
८७
८०
५५
६८
९०
६३
५३
३८
५९
७३
६७
९३
५७
५२
३७
३८
३८

रागद्वेषो विहायैव	८८	विषयेन्द्रियविज्ञान-	३१
रूपादिदर्शनाभावात्	६४	दीक्षते किं तमेवाय	३९
रूपादीनि निरन्त्यान्यन्	६८	वेदनादिवदिष्ट चेत्	५१
लक्षण तु न कर्तव्य	५१	वेदस्वापांस्वेयस्य	८५
लक्षण सममेतावान्	५२	वगादिम्बरधारया	८६
लिंगसाधनयोस्तुल्या	७५	वृत्तावपि न तस्येद	६७
लोकतो वानुगतव्या	७१	व्ययन व्यक्त सदा व्यक्त	५०
वचन भावनादीना	८१	व्यवस्थावरणविच्छेदे	८६
वागर्थदृष्टिभागेषु	५८	व्यवच्छेदस्वभावेषु	५९
वाचामपौरुषेयीणा	८९	व्यवच्छेदाविसर्वाद-	७५
वाचो विरुद्धकार्यस्य	७७	व्यवसायात्मसर्वाद्य-	५२
वाच प्रमाणपूर्वाया	८७	व्यवहारविलोपो वा	३५
वाञ्छन्तो वान वक्तार	७७	व्यवहारविनिर्माणो	४१
वादी पराजितोऽयुक्तो	८०	व्यवहारो ज्ञेयज्ञानि-	३७
वागनामेवाद् भेदोऽय	४३	व्यवहारानां विवक्षात	९०
विकल्पानां विरोधाच्च	६३	व्याधिभूतदृष्टादीना	५४
विकल्पैस्तरवैति	३८	व्याप्यव्यापकभावोऽय-	७४
विकल्पोऽर्थक्रियाकार-	३८	व्यामोहजलाकार-	७२
विचित्र ग्रहण ग्रथत	३०	व्यावृत्ति पश्यत कस्मात्	५७
विच्छिन्नप्रतिभासिन्यो	४३	व्यक्तावनिगयावान	७०
विच्छेदे हि चतु सत्य-	५१	व्यक्तिभेदे तथा सिद्धि	६०
विच्छेदो वरमुच्छेदात्	८३	सव्यभागा स्वहेतुस्य	८८
विज्ञातिवितथाकारा	४०	सव्यार्थयोर्विकल्पेन	८७
विज्ञानप्रतिभासेऽर्थ-	४८	सव्यदेशफलमवस्य	४७
विज्ञानमजसा स्पष्ट	८४	सव्यदेशयोगविच्छेदे	७५
विज्ञानव्यक्तिसक्त्याद्या-	४४	सव्येऽपि साधयेत्केन	७०
वितयज्ञानसन्तान-	३६	सव्योत्पत्तिविनाशास्तत्सा-	७९
वितयेतरविज्ञाने	७३	सरीरग्रहण येन तदगुण-	६१
वितयोऽवितयश्चापि	५८	संयुक्तो मक्षणार्थो वृत्ताद्य-	५१
विपर्ययोऽपि किन्नेष्ट	३९	सास्वज्ञान तयैव स्थात्	८५
विप्लुताक्षमनस्कार-	३६	सास्वैव दुरवगाह्यतत्त्व	९१
विप्लुताक्षा यथा बुद्धि	३६	सास्वैव निर्बतित	८२
विभ्रवाणो भ्रवाणो वा	८०	सास्व सन्लक्षण-	९२
विभ्रमे विभ्रमेतेषां	३७	सास्व शक्यपरीक्षयेऽपि	८१
विमुखज्ञानसर्वेवो	३२	शिर पाण्यादिमन्त्राद्या	७७
विरुद्धधर्माव्याप्त-	४८	शेषवदेतुरत्योऽपि	७६
विरुद्धधर्माव्याप्त-	४६	श्रीवादिभूति प्रत्यक्ष	५२
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धव्यति-	४१	स एवाय समकचेति	५८
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा-	६६	सकलग्रहसामर्थ्यात्	७३
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धै-	७९	सकलज्ञस्य नास्तित्वे	८४
विरोधात् कचिदेकस्य	५२	सकलाग्रहभात्तया	८८
विरोधादन्वयाभावात्	७६	सकल सर्वैकान्त-	८१
विरोधानुपलभेन	६८	सन्ज्ञानपरिणामात्म-	८८
विलक्षणार्थविज्ञाने	४८	सति आन्तरदोषकचेत्	३८
विवक्षानिरपेक्षास्ते	७७	सत्तायोगाद्विना सन्ति	५०
विवक्षानन्तरेणापि	७७	सत्ता सप्रतिबद्धैव	७६
विशेषकल्पनायां स्याद्	६५	सत्त्वमर्थक्रियाऽप्ये वा	७६
विषयलोकाविकक्षाने	८३	सत्त्वमर्थस्य परीक्षा	६९
विषयभोऽयमुपन्यास	३५	सत्त्वमर्थस्य परीक्षा	६९
विषयज्ञानतज्ज्ञान-	३४	सत्यप्यन्वयविज्ञाने	७४

तद्विभक्तिं स्वभावोऽयं	४९	न च तेऽर्जविदोऽर्जो-	७२
तद्विरम्य विरम्येतत्	८६	न च दुष्टेर्विशेषो य	५७
तद्विकेन भावाच्चेत्	६५	न च नाम्नि स बाकार	४९
तद्वधनस्ति ततो नान्यत्	३४	न चानन्तरमन्येव	६५
तद्वधातिव्यतिरेकाभ्यां	५५	न चेद्विशेषाकारो	५६
तन्मात्रभावो दृष्टान्ते	४३	न चेत्स परिवर्तते	६६
तत्त्वक्षणप्रपञ्चश्च	७६	न चेत्स परिवर्तते भाव एव	७०
तस्माद् दृष्टस्य भावस्य	४९	न चैकमेकरागादौ	४१
तस्मादनुमितेरर्थविषय-	५४	न जात न भवत्येव	४२
तस्माद् भावविनाशोऽयं	६६	न ज्ञायते न जानाति	४२
तस्मादभेद इत्यत्र सय-	५७	न तयो परिणामोऽस्ति	६२
तस्मादनेकरूपस्य	६०	न तं तदागमात् सिद्धयेत्	८५
तस्माद्विरासवोभाव	८९	न विमो नान्यवत्येते	३१
तन्मात्रैकान्ततो भ्रान्ति	४२	न निरोधो निरोधे वा	८९
तस्माद्वस्तुबलादेव	७४	न भवेत् परिणामित्वा-	६४
तस्मात्समागसन्तान-	६६	न भेदेन न सामान्ये	५८
तस्मात्ससारवर्चस्य	६४	न भेदोऽभेदरूपत्वात्	५४
तस्य वस्तुषु भावादि-	४९	नम श्रीवर्द्धमानाय	२९
तस्यावृष्ट्युपादान-	४७	न युक्त निग्रहस्थान	८०
तस्यापि देहानुस-	६२	न वर्षपदवाक्यात्स्या	८७
सावाप्त्यनियमो हेतु-	४५	न विकल्मानपाकुर्था-	४२
सावाप्त्य नैन वार्यते	६१	न विमो न सामान्य	४९
सावाप्त्य तु कथञ्चित्	७५	न सर्वयोग्यता साम्नी	८७
सादात्म्यात् अल्पभिज्ञान	७३	न स्वतो नापि परत	३६
सादात्म्येन पृथग्भावे	६७	न स्वप्नेक्षणिकादीना	८४
साधुषोऽभावविज्ञाने	८६	न स्वसवेदनासुत्य	३४
साधुषो वाचक शब्द	८७	नष्टो वा नान्यबाभूत	६६
सागैव पश्यन् प्रत्येति	४४	न हि केषादिनिभासो	४३
साभादिस्तिकादीना	४४	न हि जातु विपश्चान	३९
सात्वादिस्तिकादीना	८६	न हि शब्दार्थसम्बन्धो	८७
सावता यदि किञ्चित्	३८	न हि सत्त्वं सतत्त्वं वा	३७
सावत्परत्र शब्दोऽयं	३१	नात्यक्ष यदि जानाति	९१
सावत्भिरेव पूर्वस	४४	नानाकारपसामर्थ्या-	६८
तीक्ष्ण शीघ्रोदने क्षण	४२	नानाकारैकविज्ञान	६७
शुलितद्वयसयोगे	४४	नानात्मविभ्रमादेव	६१
शुलोत्तामरसादीना	७५	नानात्वं स्यात्तथा सत्य	५४
शुल्यश्च गुणपक्षेण	६३	नानात्वं क्रमशो नृते-	६०
तेपायेव सुखादीना	४०	नानैकत्र नचैकत्र	५६
दध्युष्टादेरभेदत्व-	७९	नानैकपरिणामोऽयं	६७
दर्शनादर्शने स्यात्ता	८३	नानैकवचना शब्दा	५९
दीपयेत् किन् सन्तान	६७	नानैकान्तप्रहृष्टस्ता-	४७
दूरदूरतरादिसर्वैक	४०	नामत्पादित्वहेतुत्वं	७५
देशकालान्तरव्यप्ति-	५४	नान्यथाप्युपपन्न-	७४
दृष्ट्यादृश्यात्मनो बद्धि-	७१	नान्यथा विपद्या-	३१
द्वयपयापिसामान्यविशे-	४८	नावश्य चक्षुरादी-	६४
द्वयपयापिसामान्य-	२९	नाप्रमृतेऽभिलाषोऽस्ति	६३
धर्मिधर्मस्य मन्देहे	९०	नाशस्यैकार्थरूपस्य	७२
ध्वनयस्तत्समर्थाना-	७७	नाशेष्वणी न तेऽत्रा-	४४
न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति	८८	निर्णयेऽनिर्णयान्मोहो	७३
	६४	नित्यस्यापि सत	८९

साधनात्साध्यविज्ञान-
साधनं प्रकृताभावेऽनुप-
साधम्यादिसमत्वेन
साध्यसाधनभावो न
माध्यसाधनमकल्प
साध्याभास विरुद्धादि-
माध्यं सति विरोधोऽर्थ
साध्यं शक्यमभिप्रेत
सामग्रीविहितज्ञान-
सामान्यं च विरोधाच्च
सामान्यं चेवपोहिना
सामान्यमंदरूपार्थ-
सामान्यमन्यथासिद्ध
सारूप्यंऽपि समन्वेति
सास्नादीना
सिद्धमर्थक्रियासत्त्वं
निष्ठमेकमेकात्म-
निष्ठहिंसानृतस्तोय-
सिद्धं तन्किमतो ज्ञेय
सिद्धं प्रवचनं निष्ठपर-
सिद्धं श्रुतेन्द्रियातीतं
मुक्तं आदिसचित्ते-
मुक्तादिविषय.
सुगतोऽपि सुगो जात
सुनिश्चितमनेकान्तम-
मूकमस्यूलतरा भावा
सूक्ष्मान्तरितद्वाराया.
सूचयन्ति हि कर्माणि
सूत्रेष्वेव तयोस्तती
संक्षेपेण वचचित्
सख्याविषयभावेऽपि
समाती हेतुरेतेषा
सम्भवत्यपि माभाषा
समावितान्यरूपाणा-
सयोगसमवायादि-
सवादासमवायाव-

५२ सवेदनं न तेभ्योऽपि
६६ सगयादिप्रसंग
७० नसंयात् सर्वभावानां
७९ संसर्गो नास्ति विच्छेदात्
४१ समरेत् परिणामात्
५३ नसारिणा नु जीवाना
६९ स्कन्धस्तु सप्रदेशोऽपि
५३ स्कन्धो भवानु रोवेन
६८ त्थूलस्यष्टविकल्पा-
७४ स्पर्शोऽपि चाक्षुषत्वान्न
५६ स्यादममवनादात्म्य-
७१ स्याद्वाद श्रवणज्ञान-
३३ स्याद्विधिप्रतिपेक्षाम्या
३३ स्वचित्तमाश्रयत्वितार-
७५ स्वनं नामर्थ्यविकल्प-
७० स्वनं मिद्रेयोमान्न
७० स्वतन्त्रत्वे नु शब्दाना
८२ स्वतत्त्वत्वं कृतस्त्वव-
३१ स्वतो हि परिणामोऽपि
८१ भवितुं यथा तला
८६ स्वभावकारणसिद्धे-
३१ स्वभावव्यवसायेषु
८३ स्वभावातिशयाधानं
८० स्वलक्षणममकीर्णं
४७ स्वस्वभावस्थितौ
७३ म्यानन्मदृष्टेर्मूलात्
८५ स्वापमूर्च्छासवम्भोपि
८९ हिताहिताग्निनिर्मुक्ति-
९० हेतुत्वेन परस्तेषा
५८ हेतुरेव यथा सन्ति
६८ हेतुत्वान्पक्षभोऽपि
९२ हेत्वात्मनो पर हेतु
६८ हेत्वाभासा विरुद्धात्स्या.
७२ हेयोपादेयतत्त्वस्य
४८ हेयोपादेयतत्त्वार्थ-

३२
९१
५४
५४
६०
३८
६७
६८
७२
६८
४७
९३
९०
३३
८७
४१
८६
३७
७८
६२
७७
७२
७०
४५
६६
६२
५१
२९
७६
५३
७५
६९
७६
८२
८९

कारिकावर्णनाभिकाराधनुक्रमः

प्रमाण सनवासाव- प्रमाहेतुनामास- प्रमितेऽयमप्रमेयत्वात् प्रमितोऽयं प्रमाणावा प्रयोगविष्टे जातु प्रलयत प्रतिक्षिप्ता प्रवन्तेति विपनात्म- प्रवाह एक किनेष्ट प्रवृत्तेभ्यन्धेवतत् प्रवृत्तेभ्यन्धेवहाराणा प्रसन्न रूपमेदाच्चेत् प्रसन्न किमवहेति. प्रसज्येताम्यथा तद्वत् प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थ- प्रस्पृष्ट विपरीत वा प्रामाण्यविसवादात् प्रामाण्य कथमभावी प्रामाण्य नागृहीतेऽर्थे प्रामाण्य यदि शास्त्र- प्रापञ्चोऽन्यथकच्छेदे प्रापञ्चो योगिविज्ञान- प्रापञ्चकस्य साहचर्य प्रोक्षित भजन्येति फलाभावादशक्तैव यभूवेति वय सावबुद्ध बलीयस्त्वबलीयस्त्वात् बहुभेव श्रुत क्षामात् बाधकादिषु स्पष्टाभात् बाकानां द्विक्तामिगावि- बुद्ध बुद्ध प्रवन्तेति बुद्धिपूर्व्याया तत्त्व बुद्धे पुत्रपतन्त्रत्वे बाधनादभ्युपैतिस्य बाधनापादनात् बुद्धे बाधनात्तरसापेक्षावि- बाधोऽभावश्च वृत्तीना भासते केवल नो वेत् मिन्नमन्तर्बहि सर्व भूतानामेव केनाच्छिन्त भेदभावात् प्रतीयते भेदवद्विगम कृत्वा भेदसाधर्म्यमारोप्य भेदना बहुभेदना भेदाभेदव्यवस्थेन भेदाभेदत्वमनोऽर्थस्य भेदाभेदो प्रकल्प्यते भेदना अत्यभिज्ञेति भेदेऽपि वस्तुस्वरूपान् भेदो वा सम्यक्त किं ज्ञानो पुत्रपतन्त्रत्वे	७५ ७४ ६२ ९२ ९० ३३ ८२ ४० ६९ ६५ ६१ ६२ ३२ २९ ३५ ५४ ८३ ४६ ८१ ३५ ५१ ६८ ५१ ५८ ३७ ६२ ७४ ३९ २९ ४२ ४३ ६४ ५३ ७८ ७२ ६४ ४० ४५ ६० ४५ ५९ ६८ ४६ ४५ ७१ ४८ ६१ ४० ५३	यथिप्रान्तेरपि ज्ञानो मर्लरिव यथिविद्ध भार्गवस्तद्विषयश्चेति मान वस्तुवलादेव मिथ्यत्वात् कुतस्तत्र मिथ्याज्ञानमनात्मन मिथ्यात्वात् योगताना मिथ्याप्रत्ययमर्थोभ्यो मिथ्याभयानकमस्त मिथ्याविकल्पकल्पित- मिथ्याविकल्पविज्ञान- मिथ्याकान्तप्रवादेभ्यो मिथ्योत्तराणामानन्त्यात् मोक्षज्ञानात् प्रवर्तते यतस्तत्त्व पृथक्त्व यत्तावत् कृष्णावत्वात् यथा कार्य स्वभावो वा यथा लक्षणस्येऽभूना यथा चैतन्यमन्यथ- यथाऽभ्यन्तकन्येय- यथार्थमयथाश्च वा यथा निश्चयन तस्य यथा भूताविशेषेऽपि यथा ब्रह्मसर्वज्ञकार्य- यथा सत्य सतत्त्व वा सर्ववस्तुमाकारम- यदा यत्र यथा वस्तु यदि किंचद्विशेष- यदि कैचित् प्रवक्तारो यदि सर्वविद्यो नित्यो यदि कोपपरावृत्ते यदि स्वभावाद् भावीभ्य यदेततोऽप्येवम तवि- यद्यप्यनात्मविज्ञान- यत्न निश्चीयते रूप यत्तावत् कृष्णावत्वा- यन्मिन्नसति यज्ज्ञात यस्यापि क्षणिक ज्ञान वा वृष्टा शोऽभ्ययो भावतत्त्वयते रूप यावदात्मनि तत्त्वेष्टा- यावन्तीतिवचनेति युक्तायुक्तपरीक्षणम- युगपद् मिन्नलयेन यत् साक्षात्कृतास्तेन योग्यथा समवी यो हेतोरप्ययोज्यते रणावत् सनादीन- रणादिषाणां स्पष्टा	६८ ८४ ८८ ८८ ३७ ८९ ८९ ९३ ४७ ३८ ३१ ८२ ९१ ८० ८८ ३७ ८३ ७५ ६२ ६५ ६४ ६० ७८ ३४ ३५ ९२ ९० ८७ ४५ ६० २९ ८९ ५६ ८९ ७३ ४८ ७६ ७७ ३१ ५१ ९४ ६२ ८५ ८० ७९ ८९ ७७
---	--	---	--

प्रकृताद्योपतत्त्वार्य-	११३	शून्यसंवृत्तिविज्ञान-	११५
प्रक्रमार्थविशेषेण	१२५	श्रीमत्परमेश्वर	९७
प्रक्रियाव्यतिरेकेण	१११	सत्प्रवृत्तिमित्तानि	१०४
प्रतिज्ञासाधन	११५	सत्यं तमाह्वयिद्वासी	१०७
प्रत्यक्षनिर्णयान्नत	१०१	सदर्थनियत ज्ञान	९८
प्रत्यक्षस्यापि सामग्री-	१०६	सद्वृत्तिप्रतिषेधाय	१०५
प्रत्यक्ष तद्गुणो ज्ञान	१०७	सदर्थद्वयवहाराय	१०५
प्रत्यक्ष निष्कल योप	११५	स प्रत्यस्तमिताद्येष-	१२६
प्रत्यक्ष विगद ज्ञान	९७	समर्थवचन वाद	१११
प्रत्यभिज्ञा तत	१०१	समर्थं स्वगुणैरेक	१०३
प्रत्यभिज्ञा फल	९९	समानपरिणामार्थे	११७
प्रमाणनयनिक्षेपा-	१२६	सम्प्रेक्षे नितरा	१२६
प्रमाणमर्थसम्बन्धा-	९९	सम्बल्य सर्वभावाना	१२२
प्रमाणमात्मसात्कुर्वन्	१०३	सम्बन्धयोगत स्थान-	११९
प्रमाण क्वचिदेकस्य	१०१	सम्बन्धान्तरतो नास्ति	१२४
प्रमेयत्व निरक्षाना	१०२	सम्बन्धान्तरात्कुल सत्य	१२२
प्रामाण्यप्रसिद्धार्थ-	९७	स विरुद्धोऽप्यथाभाव-	१११
प्रामाण्य यदि शास्त्र-	१२७	सर्वयान्योन्य-	११०
प्रैत्यभावात्पयो मान-	११५	सर्वथा भावात् सन्वेहे	१०९
सतिश्रुतादी	१२६	सर्वथा विप्रमे-तस्य	१०६
यथार्थमयथार्थं वा	१०७	सर्वमेक सतोऽमेदा-	१२६
यथा विप्रमविच्छेदा-	१०६	सर्वस्वाश्रयसम्बन्धे	१०२
यथदृश्यमसंज्ञान	११५	सहकर्मविवक्षाया	१२२
लक्षण सममेतावान्	९९	सहोपलभनियमो-	१०९
वाञ्छन्तो वा न वस्तार	१०१	सहोपलभनियम	१०९
विज्ञानगुणदोषाभ्या	१०१	साधन उत्पत्तिविज्ञान-	११९
विज्ञानस्यैकरूपत्वे	१०३	साधन प्रकृताभावे	१०२
वित्तविज्ञानसन्तान-	१०३	साध्याभास यथा	१०२
विद्वत्त्वान्जुवाणो वा	११३	साध्यो परतिरस्कार-	११६
विरुद्धाव्यभिचारी स्यात्	१११	साध्यं शक्यमभिप्रेत-	१०२
विरुद्धाव्यभिचारी स्यात्	१११	सिद्धोक्तिविरुद्धो	११०
विरुद्धोक्तिश्चिरत्करो	१११	सिद्ध प्रवचन	११६
विवर्त सर्वैकान्ते	१००	सुखादिविषय	१२२
विव्व सर्वगत सत्त्व	१०२	सचयापोहसन्तान-	११५
व्यभिचारादनिर्णीत	९७	सचयप्रत्ययस्तर्क	१००
व्यभिचारी विपक्षोऽपि	१११	सक्षयाहेत्वभावे-	११०
व्याप्यव्यापकयोरेव	१०५	स्पष्टं सन्निहिता-	९७
शब्दो लिङ्गादिभेद-	१२६	स्यादलक्ष परापेक्ष-	११३
शब्द शब्दान्तर	१२४	स्वनिश्चयफलापेत	९८
शब्द स्वयम्भू	११५	स्वभावपरमावाम्या	११५
शास्त्रार्थज्ञानसवाद	९८	स्वलक्षणमसकीर्ण	१०३
शास्त्र सत्य तपो दान	११५		

५. प्रमाणसंग्रहगतानि अवतरणानि.

क्षीणावरण समविगतलक्षणोऽपि सन्	५०	नाप्रत्यक्ष प्रमाण न परलोकादिक	५०
विविधविशेषि अन्यथोपदेशयेत्	११६	अमेयमनुमानमनागम च	११५
नाप्रत्यक्षमनुमानव्यतिरिक्त मानम्	१०१		

अतदेतुफलव्यावृत्त	१२०. १६.
अतदेतुफलपोह	३०. ८, ४९. १, ५६. ४.
अतदेतुफलपोहनिर्णय	१०८. १२.
अतादात्म्यस्वभाव	६८. २२; १०७. ९.
अताद्रूप्य	१५. २४.
अतिकरणप्रत्ययात्म्य	९८. २५.
अतिप्रसंग	५६. २९; १०४. ५; ११२. २८.
अतिमहापाप	२९. ९.
अतियुक्तिमत्	३८. १८.
अतिरूढानुवाद	४२. २५.
अतिरेकव्यतिकरसकरप्रसंग	११९. ४.
अतिरेकिन्	८८. ९.
अतिलौकिक	८४. ५.
अतिवृत्ति	७३. ३.
अतिशय	९४. १; १०२. २९; १०५. ७.
अतिशयाधान	७०. १९.
अतिसूक्ष्मेक्षिका	१४. २३.
अतीत	१५. २१, २३. २४.
अतीतकार्यकारणता	११९. ६.
अतीतसमवत्	२०. ८.
अतीतविषय	९८. ६.
अतीतार्थ	५. १८.
अतीतानागतादि	५३. २५.
अतीन्द्रिय	१९. ९, २१. ८, ५४. ४; ११५. ३०, ११६. १०.
अतीन्द्रियज्ञान	२८.
अतीन्द्रियप्रत्यक्ष	२१. ८, ९७. ६.
अतीन्द्रियमत्	९९. ९.
अतीन्द्रियार्थदर्शिन	२. १३.
अतीत्य	४४. १२.
अत्यक्ष	४२. २३; ११. १७.
अत्यन्तभावानुपलब्धि	१०५. २६.
अत्यन्ताभेदभेदी	४८. २०.
अत्यन्तभेदोक्ति	२३. २१.
अत्यादरादाधिन्	९४. ६.
अत्यासन्न	४३. १८.
अर्थ	३. २३.
अर्थ १८. १२, २०. १६; २२. १, ९०. १४, ११४. २६, १२१. २३, १२३. २४, १२५. ३.	
अर्थकृत्	१००. २५.
अर्थक्रिया १. ९, ४. ३, ५, ६, १२. ३, ५, ७६. २८, ११०. १३; १२३. २५.	
अर्थक्रियाकारविषयत्व	३८. २२.
अर्थक्रियाकारित्व	११०. १८.
अर्थक्रियाधी	३. ११.
अर्थक्रियाज्योग	४८. २२.
अर्थक्रियाविरोध	१०७. ८.
अर्थक्रियाऽऽत्त्व	७०. ४.
अर्थक्रियासमर्थ	४. ५; १४. २२.
अर्थक्रियासम्भवाधन	१२. १५.

अर्थक्रियाहेतु	७१. १.
अर्थग्रहण	२. २४.
अर्थग्रहणशक्ति	२. २७.
अर्थज्ञातिधर्म	१०६. २७.
अर्थज्ञान २०. १८; ३०. २३; १०९. २५.	
अर्थज्ञाननिवृत्तिलक्षण	११०. ११.
अर्थज्ञानविवक्षाप्रत्ययवायुदीरणकरण-	
व्यापाराविशेष	१२४. १६.
अर्थज्ञानविवेकप्रतिभास	११२. २९.
अर्थज्ञानस्मृति	३४. २५.
अर्थतत्त्व	१०. ४.
अर्थदर्शनादिगुणयोगवियोग	११७. २८.
अर्थनय	२४. २३; १२३. २०.
अर्थपर्याय	१२३. २८.
अर्थपरिग्रह	१८. ९; १२७. ३, २०.
अर्थपरिच्छेद	३२. २२.
अर्थप्रतिबिम्ब	३२. २७.
अर्थप्रवृत्तिनिमित्तप्रवेशादिसहचारिन्	१२०. २९.
अर्थबल	८५. ९.
अर्थबलायात	४२. ३, १०.
अर्थभेदकृत् १५. ७; २४. २५, २६; २५. ७.	
अर्थमात्रावबोध	७५. २.
अर्थमात्रोपयोग	१०८. ८.
अर्थवाक्यप्रत्ययात्मभेद	२५. २१.
अर्थविद्	७२. २; १२५. ६.
अर्थविवेकाप्रतिभासन	४८. १३.
अर्थविषयत्वनिराकृति	५४. १६.
अर्थव्यभिचारित्व	२२. १६.
अर्थराशि	४४. १२.
अर्थरूप	३३. २०.
अर्थसम्बन्ध	६१. ११, १२६. २०.
अर्थसात्त्विक्यमत्	२०. ९.
अर्थसिद्धि	३. २४; १०८. ४.
अर्थसवाद	१९. १४.
अर्थसवादन	८१. १२; १२७. २२.
अर्थस्मृति	३४. २५.
अर्थकारविकल्पवी	२. १९.
अर्थकारविवेक	४६. २; ४८. १८.
अर्थातिशयवैधुर्य	९९. १८.
अर्थात्मन्	४८. ११.
अर्थात्मसमाख्याकारदम्बर	३४. ५.
अर्थाधिगम	१२५. ५.
अर्थानुकारिन्	९७. ९.
अर्थान्तर	४४. ६, २४; १२४. १५.
अर्थान्तरत्वोक्ति	१३. ११.
अर्थान्तरप्रसूति	११३. २.
अर्थान्तररूपवित्	११८. १८.
अर्थान्तरसम्बन्धवैकल्प	११९. १७.
अर्थापत्ति	७. २६.
अर्थपरिचयानुमानोपमानादीनि	२१. ११.

१४. प्रमाणसंग्रहस्य कारिकाधर्मानामकाराद्यनुक्रमः.

अकम करणातीत	१९	क्षणस्थानमस्तकार्य-	११५
अकम स च भेदा-	१२६	गुणयोगविशोभाभ्याम्	१२२
असंज्ञानमनेकान्त-	९७	चित्र सून्यमिद सर्व	१०३
अचेत कक्ष्यात्थन्त-	१२२	जात्यन्तरोपलम्भेन	१०८
अज्ञात सहायासिद्ध-	१११	जीवात् त्रैलोक्यमनायस्व	९७
अतत्कार्यव्यवच्छेदे-	१०८	ज्ञस्य विभ्रममस्तेये	१०६
अदृष्टदोषसका-	१२२	ज्ञान प्रमाणमात्मादे-	१२७
अव्यक्तास्मापरीक्ष-	१०६	तत सर्वं व्यवस्थेति	१०७
अध्यक्ष सर्वविज्ञान	१२१	तत्र चित्र भवेदेक-	१०३
अनुमानसमासाय-	१०१	तत्र मिथ्योत्तर जाति-	११२
अन्त ज्योति स्वत-	१२१	तत्रैकमर्थकद दृष्टे-	१००
अन्तरा स्वत. सिद्ध-	९९	प्रत्यक्षजातिचर्मा	१०६
अन्तर्ध्यानावसिद्धाया	१११	तथा सद्ब्यवहारस्य	१०५
अन्यथामिषित सत्य	१०७	तथाहि सर्वहेतुना	१११
अन्यथायोगत	१०६	तदभावे प्रमाणात्	९८
अन्यथासम्यक्ज्ञान	१०१	तद्व भाव स्वभावेषु	११२
अन्यथासमया-	१११	तदाभासो मिषयसि-	१००
अन्यथासमवासाच-	१००	तान्येव पश्यन्	१०३
अन्यथासमर्था	१०४	द्व्यपयमिषोर्भेद-	१२६
अन्योन्यनिरपेक्षाणा-	१२६	तुलोभावरसादीना-	१०७
अन्योन्यव्यवच्छेदो	१०७	द्व्यपयमिसामान्य-	१२२
अपेक्ष सन्नैकान्त	१०६	द्व्यपयमिसामान्य-	१२६
अप्रत्यक्षोपि वेहे	१०७	द्व्यपयमिसामान्य-	९९
असाधस्यापेक्षत्व	११३	द्वेषा समन्तमद्वय	११४
अभिप्रेक्षस्तु पयमि-	१२६	न कश्चिच्चेतनो ज्ञाता	११६
अभिनाभाससम्बन्धे	१०६	नयद्वयविभागेन	१२६
असिद्ध सिद्धसेनस्य	११४	नयो ज्ञातुरभिप्राय	१२७
अहेतुरन्यहे-	१२२	नहि तै सर्वथा	१११
अह मयाजबो	१२२	नाभावस्य प्रमेयत्व	१०३
आत्मज्ञानादिभेदा-	१२५	नामरूपादिहेतुत्व	१०७
आत्मनो दोषसम्बन्ध-	११९	मित्य सान्दार्थसम्बन्ध	१२४
आत्माविभेदमाश्रित्य	१२६	मित्यमेकमनेकत्र	१००
आत्मैव मतिमान्	१०१	निरुध कर्मसंयोगा-	१००
आवृत्तरावृत्त भागे	१०२	निर्गुणारो हि भाव	१०७
इति तर्कमपेक्षेत	१००	नैव सप्तधा क्षास्ति	१२६
उत्पादविगमप्रोध्य	११२	पदादिसत्त्वे साधुत्व-	११६
एकत्र येयेजन्य-	९९	पर्यायाद् व्यतिरेका-	१२६
एकान्ताश्रये	११०	परापरविभागेक-	१०३
एक धल जलैतान्य	१०२	परोक्षपरतन्माया	१२५
कर्मभाविमि सत्त्वस्य	१२२	परोक्षोऽन्यविनाभाव-	१०१
कल्पना चार्पणसम्बन्ध-	१२६	परोक्ष प्रत्यभिज्ञादि	९७
कार्यकारणसन्तान-	१२६	परज्योतिरनाकार	११८
कालेनैवावताज्जाप्य	९८	परज्योतिरनाभास	९९
कूटस्थस्य सत	१२२	पुरुषातिशयोक्त्यो	११६
रूपा स्वपरसन्तान-	१२२	प्रकृत्यापिमिषात्तिप्रि	११६

अनिर्माक्ष	८९. २९.
अनियतस्तिग्धरूप	१२१. १४
अनियम	९८. ११.
अनिश्चितपरापर	४७. ६.
अनिश्चितविषयव्यावृत्ति	१०८. ४.
अनुकम्पापर	२९. १२.
अनुक्रमग्रहणनियमानुपपत्ति	११८. २२.
अनुद्धतविकल्प	१००. २.
अनन्मत्त	४. ४.
अनुपकार	५५. १०, ११७. २५.
अनुपयोग	१०७. २४, १२७. १५
अनुपलब्धि	१०५. २, १७. ११०. ३.
अनुपलम्भ	२. १३, ७५. १४, २०, ७६. २, १०२. १३, १०५. ३०.
अनुपलम्भ	१०५. ३१
अनुपाख्य	११२. ७.
अनुपादानानुत्पत्ति	११८. २८
अनुपाधिका	३१. ३०.
अनुपाय	५५. ३
अनुभयवत्	१२५. २९.
अनुभवग्रामाण्य	२. १६.
अनुभवात्मन्	५१. १०, १२५. २३.
अनुभा	५. २०, ६. १८, १७. ९
अनुमान	३. ८, १६. ४, ७, ५५. २६, ५८. ३, ७५. १०, ९२. २४, ९३. ५, १००. ६, १०, १०१. १९, १०७. १०
अनुमान	५. १५, ५२. २१.
अनुमानपरम्परा	१०६. ४, ९
अनुमानविजृम्भित	८५. २
अनुमानव्यतिरिक्त	५. ११, १०१. २४.
अनुमानसमासार्थ	१०१. १९.
अनुमानसमीक्षित	८४. १.
अनुमानादि	५. २
अनुमानाद्यतिरेक	२. ६.
अनुमानान्तर	५. १०
अनुमिति	५४. १६
अनुमेयत्व	८५. २०.
अनुयोग	२५. २३, २६. ५
अनेककारणपूर्वकत्व	१०८. ३१
अनेकत्व	२३. ७, १०३. २१.
अनेकत्र कादाचित्कवर्तन	१३. २४
अनेकत्रैकम्	४८. २७
अनेकप्रकारत	१९. २४, २५
अनेकभेदप्रत्येय	५. ३६.
अनेकरूप	३०. १८.
अनेकलक्षणार्थ	९१. ३
अनेकसामग्रीसन्निपात	१६. २
अनेकात्मक	४९. २७, १०३. १६
अनेकात्मपरिणाम	८८. १७.
अनेकात्मपरिणामव्यवस्थित	७०. ११.

अनेकात्मग्रन्थसन	४२. १०.
अनेकात्मसाधन	५७. २३.
अनेकार्थक्रियाकारिन्	४. १०.
अनेकान्त	३. २४, २१. १९, २५. १८, ४७. ६, ५०. १०, ९७. १६
अनेकान्तनय	४. २०
अनेकान्तनिराकरण	२२. ४.
अनेकान्तनिराकृति	२५. १४
अनेकान्तमाक	१७. १३.
अनेकान्तविधि	७९. १३, २९, ८९. २९, ११३. २३.
अनेकान्तविषय	२१. २५
अनेकान्तसिद्धि	३. १८, ६. १५, १६. २३, १०७. १, ११४. २५.
अनेकान्तात्मक	२५. १२, १०२. ११, ११२. २४, ११३. २४.
अनेकान्तात्मकार्यकथन	२१. १६
अनेकान्तात्मास्य	४. १८.
अनेकान्तिक	१०८. ४, २६, १०९. २, ११४. ९
अनस	६. १७, ४५. २९
अन्त करणसंक्षिपि	१२०. ९
अन्त क्षारीरवृत्ति	३६. ६.
अन्तरित	१०६. २६.
अन्तरण	९९. १, १०७. ४
अन्तरगवहिरवप्रत्यनीकत्वभावप्रतिक्षेप- विकल	११४. २७.
अन्तर्ज्योतिर्मय	१२०. १, १२१. २६
अन्तर्बहि	३. २४, ४. १७, ४५. १६
अन्तर्भाव	२१. ५, ७६. १, १०५. २७
अन्तस्तत्त्व	१४. २३
अन्तर्स्थाति	१०६. ५, १०९. १६, १११. १२
अन्तर्स्थयोगियम	१०७. ३
अन्ताद्यो	११२. ३१.
अन्वपरम्परा	८५. ३०, ९८. २६, १०९. १०.
अन्वगुणबोध	८२. ४.
अन्वचेतस्	३२. १६
अन्वय विस्तरेणोक्त	२२. १६
अन्वयैक्यम्	१६. १२.
अन्वयवैक्यम्	२१. ११
अन्वयवैक्यवारात्	२. ४, १२७. ५.
अन्वयान्त	६६. ११, १४
अन्वयावधानं	४९. १५
अन्वयानिर्णीत	१०८. २३, २७
अन्वयानिश्चित	१०७. २१, १०८. १८.
अन्वयानुपपत्ति	६. ४, ३८. २१, ५३. २९
अन्वयानुपपत्तिमान्	५३. २१.
अन्वयानुपपत्तिवितर्क	५. १६
अन्वयानुपपन्नत्व	७. ८, ३१. ६, ७४. १, २. १४.
अन्वयानुपपन्नत्वनिमय	७१. १०
अन्वयानुपपन्नत्वरहित	७६. १०
अन्वयानुपपन्नत्वरहितविलक्षण	७९. २४.

§ ६. लघीयस्त्रय-न्यायविनिश्चय-प्रमाणसंग्रहान्तर्गतानां लाक्षणिकानां दार्शनिकानां च नाम्नां सूचिः ।

अकलक १७. १५, २६. १६, ५२. ११, ९१. १२.	अग्नि ६९. २१: ७९. १३, ८५. २०.
अकलकर्मगलकल १४. ९.	अग्निजन्मैव धूम १०. १४.
अकलकरत्ननिषयन्याय ८१. २१.	अग्निरत्र धूमात् १०. ११.
अकस्माद्ग्राहिन् १२५ १४	अग्निस्त्वभानाविरोध १०. १४.
अकार्यकारण ११२ ६.	अचल १३. २६; १०२. २८; ११२. २३.
अकारण ४७ २९, १०७. ३, १२४ २६	अचलात्मक ६५. १९, १०७. २१, १०८ १८, २४,
अकारणविशेषोपपन्नवत् ११९. १३.	२८, ३०, १०९ १, ११४ २२
अकिञ्चित्कर १ १५, ३२. २२, २३, ११० ६,	अचिन्ता ९८. ७.
२२, ३०, १११ ४, ११३ २७.	अचित्तन १२ १६, ११९ ६; ११०. १०.
अकिञ्चित्करविस्तर ६६ २३, ७९. ३	अचैतन्य ५७ २५.
अकिञ्चित्करारेकाभिपयानपराक्रम १२५. १३	अनगरमुखकुहरपरिपतन १०८. १५.
अकिञ्चित्करारेकाभिपयानानिवृत्ति ९७ १२.	अनघ १३३ १०.
अकिञ्चित्कारक ७९. २५	अजनकजन्य ६५. १०.
अकृतकत्वासिद्धि १०५. २८.	अजन्यजनककर्तृसहभावनियम १०५ १४.
अकृपाक्षु ४१ १७.	अजीव ११ ७.
अक्रम १५ २, २४ १८; ५२ ११; ९९ ८, १२,	अज्ञ ३९. ८; ७२ १.
१००. १७; १०२. १७; १०५. ४; ११२. ६,	अज्ञस्वभावान्तरम् १४. १२.
११८. १९; १२६ १३.	अज्ञात ११०. ९, १०, १११. १०.
अक्षगोचर ४३ १८	अज्ञाताकिञ्चित्कराभिमान ११३. २०.
अक्षगोचरपैतृत् ५०. १५	अज्ञानरूपहेतु ४०. २३.
अक्षज्ञान ५८. ३; १७. १६	अज्ञानस्वभाव ११९ १९.
अक्षज्ञानानुब ५०. २२.	अज्ञानादि १२०. २.
अक्षयिक १२ ५.	अज्ञेय ११६. १७.
अक्षयिककारण १२ २७	अज्जनादिवत् १२०. ४.
अक्षयी ९. ७.	अणु ४३. १८, ४४. १७, ६८. १४, ७१. १५, ७२.
अक्षयुद्धि १५ १८, ५१ ८	९, ७३ ३८, ७९. २०, १०२. १३.
अक्षयय ७८. १३	अणुमान ४१. २४.
अक्षय ४३. २५.	अणुपरिमाणव्यस्यनवाद्यवीक्षण ६. १०.
अक्षयिगयी ९ २०.	अतत्कार्यव्यवच्छेद १०८. ८.
अक्षय्यार्थविज्ञान १६ ३	अतत्कार्यव्यावृत्ति १०७. ६
अक्षयधात ६३ २२.	अतत्कारणव्यावृत्ति ११७ १२.
अक्षय्यमनस्कारस्त्वस्यस्त्ववर्धन ५२ ४.	अतत्कारादि ३५ १०.
अक्षय्ययोग २ १९.	अतत्त्व ३७. २०, २५, २७.
अक्षयि ५४. २, ६३. १०, ८३. २५, ९९. १.	अतत्परिच्छेदव्यतिरेकनियम ११०. १.
अक्षानपेक्षण ११. २६.	अतत्फलपरावृत्ताकाररस्मृतिहेतु ७२. ११.
अक्षानुवृत् ५०. ३०.	अतदर्थनिवृत्ति ३३. ११.
अक्षिणी विस्फाल्य १११. २४.	अतदर्थपरावृत्त ३३. ९.
अक्षिरजगत् ३१. २९.	अतदारम्भतया ४८ १८.
अक्षयनिवचय ७ १२.	अतद्रूप १०. १.
अगोचर ३६ १.	अतद्वृत्ति ५२ २.
अगृहीत ४६. १९.	अतद्व्यावृत्तितुल्यरूप १२४. ५.

१. परिशिष्टेऽस्मिन् लाक्षणिका शब्दा स्थूलाक्षरेण निदिष्टा । स्थूलाक्का पृष्ठसंख्याद्योतका सूक्ष्माक्काञ्च पङ्क्तिसंख्याद्योतका ज्ञेया ।

अभिन्विपयत्व	३ २०.
अभिप्रायमात्र	२२ २०.
अभिप्रायविमवाद	९ २.
अभिप्रेतमात्रमूचित्व	२२ २२.
अभिप्रेतव्यभिचारित्व	२२. १६.
अभिरूढ	१५. ९; १२६ १६
अभिलापतदक्ष	३०. १०.
अभिलापवत्	३०. २३.
अभिलापविवेक	३० १०.
अभिलापसंसर्गयोग्यता	२० २८.
अभिप्रेत	५३. २; १०२ १, ३
अभिलापानपेक्ष	१२५. १९
अभिलापानभिलाप	१२३. ६
अभिलापिन्	५०. १८.
अभिलापिनी	१२५. ३१.
अभिलाप्याभिलाप्यबहुवत्त्व	१२२. २०.
अभिलाप	६३. २८; ६४. ४.
अभिध्वनि	१०३ १०; ११८. २५.
अभिव्यक्त्यनभिष्यप्ती	१०२. २२.
अभिन्वाय	५६. ७४.
अभिसन्धि	२५ १८. २७.
अभूत	१५. १; ३४. ९, १०
अभूत भवति भविष्यति	१५ ९; २४ २५.
अभूतात्मा	१०४. २२
अभेद	४. ९; १५. ४, ५४. २३; ५५. १३; ५७. २७; १२४. २२.
अभेदज्ञान	४५. ८
अभेदप्रत्यक्षीकस्वभावविभिन्नप्रतिषेधप्रतिबद्ध	१०६ १८.
अभेदरूप	५४ २३.
अभेदलक्षण	६. ७.
अभेदविरोध	१५. ३, २४. ९
अभेदव्यवस्थिति	७६ २१.
अभेदावयव	११ २.
अभेदज्ञानपरिग्रह	१२३. ८
अभ्यासातिशयनिवर्त	१२४. ११.
अभ्यासाविरोध	३५ २६
अभ्युपेताव्यवस्थिति	८१. ८
अभ्रान्त	५०. १४
अभ्रान्तमव्यभिचारीति	९. २१.
अमान	८३. २८.
अमूढचेतस्	९१ ४.
अमूर्त	२० १०, ११, २३. २२.
अमूर्तत्वामक्यातप्रदेगत्वभूकत्व	२१. १७.
अमूर्तमेदप्रमग	२३ १४
अययार्थ	३४. १६; १०७ १४.
अययार्थता	३५. १७.
अययार्थत्वावभासविच्छेद	१०६. २३.
अययपत्रतिभासायोग	९९. १०.
अयोगिन्	५७. २५
अयोग्यता	१२४. १५.

अरक्त	१०२. २८.
अलम्बात्मन्	२० १९.
अलम्बादि	८१. ५
अलौकिक	२४ १६; ११५. २९
अलौकिकप्रतिमान	२२ १९
अलम्बनाह	९९ ५.
अल्पभूय प्रदेशीकस्त्वमेवोपलक्षण	६९ ३.
अल्पमैदाग्रह	४४. १७.
अल्पमहत्त्वाविज्ञान	७ २५
अवगृहीतविशेषाकाक्षण	२ २५.
अवग्रह	२. २०, २१, २८.
अवग्रहमात्र	१०६ ८.
अवग्रहव्यापार	१०० ८
अवग्रहादि	३ १४; ११६ ५; १२५. १२
अवग्रहेहावायवारणात्मक	२१. ९
अवधारणामात्र	२२ ३; १२५ १३
अवबुद्धेद्वयोध	२६. १९
अवयवगव्यविन्	१३. १४.
अवयविन्	१२. २९, १४. ११, २३. २५
अवरत	२५. २१
अवस्तु	५३. १९, १०२. १४
अवस्तुनिर्भास	८ १४
अवस्थादेशकाल	७६ २१.
अवस्थादेशकालसंस्कार	२३. १३
अवस्थान्तर	११२. १४.
अवस्थान्ताविशेष	७३ २०.
अवान्यता	१०८. १७; १२३. २६.
अवाञ्छिता	२२. १०
अवान्तरजाति	१३. २२
अवान्तरात्ममेव	६८ ९.
अवाय	२. २०, २६
अवगिदशन	८४. १०.
अवगिभागदाधिन्	१९. १९
अविकल्पसामर्थीजन्यम्	१२५. २५.
अविकल्प	६. २८, ४९ १.
अविकल्पक	८. २०, ४२ ३, ५०. १४, ८२ ३०.
अविकल्पधी	५ ६
अविकल्पप्रत्यक्षाप्रत्यक्षौकान्त	९८. १६.
अविकारिणी	६२. २८.
अविकारिन्	३२ २९, १२१. १०.
अविच्छेद	१०. ४.
अविकल्पितसकलवैशेषादिनाश	९४. २.
अविच्छेदात्मन्	७०. ४, १०५. १७
अविच्छेदितत्वम्	१०७ २४.
अविच्छिन्	११३. १९.
अविचारकत्व	५. ९.
अविचारितगोचर	३८ १२.
अविजातीय	४४. २१.
अविज्ञाततयाभाव	३५. २६.
अवित्त	२१. ८; ५८. २५ ११६. १५.

अर्थानिरसमाप्ति	८०. २१.
अर्थाप्यनाप्ति	२२ २०.
अर्थाभावविकल्प	१०३ २०.
अर्थाभिधानप्रत्ययात्मक	१४ १९.
अर्थाभिधानप्रत्ययात्मकव्याख्यानकूल्य	२४. १२.
अर्थाश्रय	१२७. १९.
अर्थाप्यत्युदेश	१३. २४.
अर्थाप्यकार	४३. ६
अर्थाप्यलम्बाद्यवधायसामर्थ्य	९७. १२.
अद्वय	५४. २, १०८. १८, ११९ ५.
अद्वयपरचित्तादि	६ ३
अद्वयात्मक	६ ६
अद्वयानुपलब्धि	६. ५
अद्वयानुपलम्ब	१०८ २१.
अद्वयानुपलम्बान्	८३. १७, १२२. १०.
अद्वयतर	११२ २९.
अद्वयदोषघाता	९१ २०; १२२ ५
अद्वयप्रतिकल्पना	६२. ७, १२० ९
अद्वयप्रतिबन्धायाभिधान	९. २३
अद्वयस्वभावकार्य	९. १५.
अद्वयिकल्पना	५७. २५.
अद्वयोद्भावना	८०. २०.
अद्वय	३६ २०, ३८. ७, २८.
अद्वय	४० ३१
अद्वयविभागादिपरिणामविशेष	४४ १.
अद्वय	२१ १६
अद्वयराशिज्ञान	७ २५.
अद्वय	१११ २५.
अद्वयतायाविसर्वादि	१७. ९
अद्वय	२०. २५, ११९ १२
अद्वयानन्द	१२१ ४.
अद्वय	३१. १३, ४३. २३, ५१ २३, १०६ ४
अद्वयता	६०. ९
अद्वयल्लिखत	४९. २७
अद्वयसादिविरोध	५१ ११.
अद्वयवसाय	५४. ९.
अद्वयवसायिनी	१९ ६
अद्वय	४२ ३, ८४. ३१.
अद्वयविद्वन्विन्	१११ २०.
अद्वयकारक	३४. ३.
अद्वयनिकसन्तान	३७ ११.
अद्वयतायाविग्रह	९९. १८.
अद्वयवसाय	१००. ३.
अद्वयवसायादिनिमित्त	९९. १९.
अद्वयकृतान्यव्यतिरेक	१९ २७
अद्वयज्ञान	२०१ २३; ११५. १८.
अद्वयकार्यकारणतेक्षण	३०. ७, ९९ ४.
अद्वयवसाय	२१. २१.
अद्वयवत्	४८ २३.
अद्वयवैचनियम	११५. १२.

अद्वयसाधन	४३. ३०.
अद्वय	८०. ३०; १०४. १५, १०८. ५; १०९. १६
अद्वयसाधिदोषोक्ति	८०. ११.
अद्वयसाधि	४१. १६.
अद्वयसाधि	१००. १८.
अद्वयसाधितानाधन	४०. २८.
अद्वयसाधित	३३. २८; ११८. १९.
अद्वय	७९. ११.
अद्वयवृत्त	७४. १०.
अद्वयवृत्त	५७. १.
अद्वयवृत्त	९९ ६, १११. १४.
अद्वयवृत्तव्याप्योद्भवमुदयवृत्त	११९. २९
अद्वयवृत्तव्याप्योद्भवमुदयवृत्त	१०७. ९.
अद्वयवृत्त	७. १; ३३. ७; ६०. २९, १००. ६,
अद्वयवृत्त	१०, २०, २४, २७, १०१ २४; १०२ २०; १०४. ८,
अद्वयवृत्त	१०६ ९; १०८. ११, १३; ११३ १४, २९; ११५. २३;
अद्वयवृत्त	११९. ३; १२०. ९, २९, १२१. ३; १२५. ६, ३०.
अद्वयवृत्तकरप्रमग	११७ ७
अद्वयवृत्ति	६ २०; ४३. १९, ९२. २४.
अद्वयवृत्त	१०५. १९.
अद्वयकार	११८. ७.
अद्वयकारनिरीक्षण	४८. १०.
अद्वयगतनिर्णय	२० १.
अद्वयगतपरिणामविशेष	२६ ३.
अद्वयगतविषय	२५ ४.
अद्वयगतविषयनिर्णय	१५. १८.
अद्वयगत	११५. १८.
अद्वयगत	८९ १८
अद्वयगतपरिणय तय	१२०. १७.
अद्वयगतज्ञानभाषानामभव	८९. १०.
अद्वय	२५ २६; ८५. १०; ८७. ६; ११७ २;
अद्वय	१२३. ३१.
अद्वयनिधन	११. २७, ४०. १०; १०९ २०.
अद्वयनिधननिमित्त	१२०. १.
अद्वयनिधानता	८२ ३०
अद्वयनिधनप्रदाय	८६ ४.
अद्वयनिधनप्रदाय	१०४ ९.
अद्वयनिधनप्रदाय	११९. १८
अद्वयनिधन	९९. ६.
अद्वयनिधन	४१ ६.
अद्वयनिधन	८३ ६, ९८. २०.
अद्वयनिधन	९९ ८
अद्वयनिधन	१०२. २८.
अद्वयनिधन	९ १०, २४; ११६ १०
अद्वयनिधनविशेषमुक्तविधानामभव	११८ १७.
अद्वयनिधन	७३ ११, १२०. २४
अद्वयनिधन	२०. २५
अद्वयनिधन	६. २३. १०४. ३. १०५ २८; ११०.
अद्वयनिधन	१८; ११६. २०.
अद्वयनिधन	२१ २; ९७. ५.

आकुल	१४. २४, ३३ १३; ५२ २७.
आकृतिभ्रम	७२ १
आक्षेपसमाधि	३३ १३
आगम २२. १४, २६. २२; ८४ ५. ८५ ६. ८६	४. ९३ ५. १२२ १.
आगमार्थ	११६ १०
आगमाहितसस्कार	७ १७
आचार्य	३४ १५.
आञ्जसम्	५ ७; ९३. ९
आतिलक	४४. १६
आत्मकर्मफल	६३. १२.
आत्मघात	११६ २१
आत्मज्ञ	११९ २८.
आत्मज्ञानाविरोध	१२५ २७
आत्मन् १३ १३, २३. २४, २५ २३, २६ १०;	
३१. २३. ५२ २६. ५९ २९. ८३. १५.	
८४ ३१. ८९. २६. ९१. १६. ९८ २१.	
१०१ १५. १०४ १६. १०६. २२. २४.	
१११. १८. ११८ ३१; ११९ ६. २३.	
	२८; १२१. ११
आत्मनियत	१२७ ७.
आत्मनिर्मासिमेद	११ ७
आत्मप्रतिबन्ध	१०३. ४.
आत्मविडम्बन	३१. ९
आत्मभावसिद्धि	१०४. १२
आत्ममनःछिन्नमार्थ	१९. ८
आत्मनिकल्पक	४६. २०
आत्मवित्	५१ २३
आत्मव्यवस्थित	७४. ८.
आत्मसमर्पण	३३. २४.
आत्मसमात्मन्	४०. १.
आत्मसहभाविन्	९९. ६.
आत्मशुद्धतपणाविप्रवृत्तिनिवृत्ति	११९ १३.
आत्मसंविता	३१ २६.
आत्मात्मीयप्रज्ञाप्रकर्षप्रतिपक्ष	११९. ३०.
आत्मार्य	१८ २१
आत्मार्यग्राहक	२० २३
आत्मार्यविषय	२१ ८
आत्मादि १०४. ३, १२६. ११; १२७. २.	
आत्मादिप्रविभाग	१२६ २१
आत्मगद्विधितरेक	६०. ९
आत्माणि	७१. १६.
आत्मीय	८९ २०, १२० १
आत्मेतरसम्बन्धविद्योकारणत्वमुद्धि	११९ ११
आत्मोत्कर्षार्थ	११५ २०
आत्मसंस्कृतान्तरमेद	१६ ११
आदित्य	५. २४, २५. २
आक्षेपदोष	२३. ९.
आर्द्रकाप्यादि	१२७. १०.
आधिपत्य	३४. ६.

आनन्त्य	२५. ५; १२१. १६. १२५. २७.
आनन्त्य	७६ २५
आनुमानिक	३१ १३
आनुमानिकमोम	३१ २०
आन्तर	३१ १६
आप्तवाद	९१. ९
आप्तागमपदार्थप्रमाणप्रवृत्तिफललिंगचारित्र	११७ २०.
आप्तेतरव्यवस्था	९. ३
आप्तोक्ति	९ २८
आवालयसिद्ध	३२ ७
आभञ्ज	९४. ९
आभिनिवोधिक	४ २३, ९ ७, ११७ १८
आयुर्वेदादि	८५ २४, ८६. ४.
आरम्भकावयवान्योन्यावाप्ति	१२१ १३.
आरेकासिद्धते	८४ १०.
आलोको १९ ११, १८, २०. २, १२०. ३.	
आवरणविमम	९९ ७.
आवरणविच्छेद	२०. १, ९१. २९; ११८. २५
आवरणविच्छेदपेक्षा	१६ २०
आविर्भाव	८८ १२.
आविर्भूतानाविर्भूतस्वरूप	९३. १२
आवृत १९. १५, ६७. २. ७३. १४. १०३. ९६. २८	
आगुगुह	८६. २४.
आशसमानक	४१ १६.
आश्रयविरहिन्	१०३. २१.
आश्रयभ्रमिभाव	१८२. २२.
आश्रयासिद्ध	११६. २३.
आश्रय	८८. २१; १२२. ६.
आश्रयाविरोध	४८. ७.
आसादितविशेष	७३ ३.
आसूक्ष्म	४४. ११
आहाराभाव	१०५. ११.
आहितनामक	२६ २
आहोपुषिका	११५. २१.
इच्छा	८९. २८.
इच्छादिसमवाय	११९ ५
इत्यन्धूल	१५. ८, १२६. १६.
इदमल्प गह्वरप्राप्तश्च प्राय	७ २३
इन्द्र १५ १०, १६ २०, २४ २६, २५. २०	
इन्द्रजालादि	३६. २८.
इन्द्रियगोचर	७२. १४
इन्द्रियभेदस्	५१. ३.
इन्द्रियज्ञान	९. २१, ९९. १६.
इन्द्रियनिर्मित	२९. १९.
इन्द्रियप्रत्यक्ष	९७. ५.
इन्द्रियमनसी कारण	१९ १
इन्द्रियमनोगततिमिराद्यभावा	१९. १
इन्द्रियार्थ	२९. ५
इन्द्रियार्थज्ञान	२१. ६.
इन्द्रियादि	६७. १८.

अन्यथाभाव	३० ३०, १२०. १६	अपरिचिन्तान	१२१. २८.
अन्यथाभास	४५ २९	अपर प्रत्यक्ष	१३. ९
अन्यथापीय	१०६ १३	अप्यव्यादिवापय	२२ १३.
अन्यथारोपव्यवच्छेदप्रसिद्धि	९२ २३	अपुनर्विचिन्तय	७१ २०.
अन्यथाव्यस्तमवित्	१०९ २०	अपेक्ष	७५. २१
अन्यथागमयमभव	७५ १३	अपेक्षा २३. ८, ७० १९, ९३ २२, ११०. १३.	
अन्यथासिद्ध	३३ १९	अपेक्षानपेक्षा	१०. २८.
अन्यथासमय	७४ ८, १०१ ३, १०४ ३, १३	अपेक्षितपदगुणित्यन्त	११३. १३
अन्यथानभवाभावभेद	७९ १	अपेक्षितपरव्यापार	११२ ८.
अन्यथामयवार्मिद्धि	१०० ६, १११ ३	अपेक्षाङ्कस्वप्ना	४४. २५.
अन्यथासमय	८७ ७	अपेक्षित	४७ २९
अन्यथागतिविषय	३१ २०	अपेक्षित	२५ १३
अन्यवेद्यविरोध	४० ३०	अपेक्षित	३३ १०
अन्यव्यपेक्षा	४५ २२	अपेक्षित	५६ ३.
अन्यव्यवच्छेद	३५. २५, ४६ १३, १०६ २१, १०७ १७	अपीयय	८५ २३, ८८ १५, ११७ ७
अन्यहेत्वर्थपरिनिष्ठितचेतस्व	१२२ ८	अपीययवृत्तान्त	९२ १५
अन्यसवित्	२१ ८	अपीयय	८८ १०
अन्यव्यपेक्षा	१२ १०	अप्रतिपक्ष	३६. १६
अन्योन्यपुणभूतकमेवाभेदावधारण	१३. १०	अप्रतिपक्षक	४३ १५.
अन्योन्यापेक्ष	१२६ ४	अप्रतिपक्षान	१०४. २९
अन्योन्याविनिर्गतिपेक्षस्तथागुण	१२५ २९	अप्रत्यक्ष	१५ २७; ३२. २, २९; ५९ २८, ६३. ४; १०१. २४, १०७. ११, ११५. १८.
अन्योन्याविधिकोपक्रमलक्षण	१०५. ३०	अप्रत्यक्ष	४८. १५.
अन्योन्याव्यपेक्षा	१०४. ९	अप्रत्यक्ष	७७. २७
अन्योन्यासम्बन्ध	११०. २७	अप्रत्यक्ष	७४ ४.
अन्योन्यासमय	३९ ३, ६२ १५	अप्रत्यक्ष	३०. ११; १२६. ४
अन्योन्यासमय	१०९ २४, २५	अप्रत्यक्ष	६९ २४, २५, १०३. १९, ११५. ९.
अन्योन्यासमय	४. १३	अप्रत्यक्ष	२२. १.
अन्योन्यासमय	११ २८.	अप्रत्यक्ष	६९ ९.
अन्योन्यासमय	१०३ ५	अप्रत्यक्ष	४९. ५; ५३. ५; १०२ १. ३.
अन्योन्यासमय	४५ २९	अप्रत्यक्ष	९७. ९.
अन्योन्यासमय	७६ २२	अप्रत्यक्ष	२६. ४.
अन्योन्यासमय	४६ १३, ७० २, १०४. १२; १०७ १७, १२३. १७, १२४ १३, १२६ १२.	अप्रत्यक्ष	९२ २, ११८ १६.
अन्योन्यासमय	७४ २२	अप्रत्यक्ष	११५. १०.
अन्योन्यासमय	१८ २४, २६, १९ ५५, ६९ २२, १२० ६.	अप्रत्यक्ष	६२ ३०.
अन्योन्यासमय	१२३ २१	अप्रत्यक्ष	४३ १५.
अन्योन्यासमय	१०४. २७.	अप्रत्यक्ष	८०. १८; ११३. ७
अन्योन्यासमय	१०८ ३१.	अप्रत्यक्ष	१०३ १५; ११३. ११.
अन्योन्यासमय	७६ १४	अप्रत्यक्ष	१०५ १७
अन्योन्यासमय	२३ ४, ५, ९८ १८, १२४ २४.	अप्रत्यक्ष	१०५. ८
अन्योन्यासमय	७५ २०	अप्रत्यक्ष	१२४. ३०.
अन्योन्यासमय	९७ १६	अप्रत्यक्ष	१०८ २१.
अन्योन्यासमय	३७ १.	अप्रत्यक्ष	१०७ २५
अन्योन्यासमय	९८ ६.	अप्रत्यक्ष	१६ २३; १०५. २०.
अन्योन्यासमय	९१. १६.	अप्रत्यक्ष	४८ २३.
अन्योन्यासमय	५०. ११.	अप्रत्यक्ष	५. २; ९८. २५.
अन्योन्यासमय	१०३. १५; १०४. २१, २५; १२०. ६.	अप्रत्यक्ष	४६. २६; ८५. २१.
अन्योन्यासमय	१०३. १५; १०४. २१.	अप्रत्यक्ष	३६ १.
अन्योन्यासमय		अप्रत्यक्ष	४६ २६.

एकलक्षणानुपलक्षण	१०४. १५.
एकवस्तुभावसम्बन्धविवेक	१२४. ३
एकविषया	२३ २६
एकस्यूलनिर्मासविरोध	११ २८
एकाकारविवेक	७३ ४
एकात्मकत्वप्रतिषेध	११३ २५
एकार्थकारित्व	६७ १७.
एकार्थनियम	१२४. ९
एकार्थत्व	७२. २०
एकार्थविषयतोपपत्ति	८ २२
एकार्थोपनिबद्धदृष्टि	१०९. २६.
एकानेक	४५. ६, ५० १०; ११४ २.
एकानेकस्वभावनियम	९९. २६
एकान्त ४. २, १८, १६ १७, २१ २१, २५ १३,	
	४२. ९, ५७. ८, १२६. ७
एकान्तसाधिक	९६ १.
एकान्तवाचिन्	१७ १४
एकान्तविषय	२१ २६
एकान्तानु रोगिणी	७३. ८
एकान्तानेकान्तविच्छेदपरिच्छेद	१०६ १७
एकान्ताश्रय	११० २९
एकान्वयानुग	२२. २५
एकान्वयात्मक	२३. २
एकाध्यामाज्ञानधम	१०३. १२.
एकैकप्रतिपत्ति	७३ ४
एकभूत	१५. ११, २४. २७
एकोपलम्भनियम	१०९ ३०.
एकोपाधिप्रतिपत्ति	१०८ १०
एतस्मात्पूर्वपक्षिचममुत्तर दक्षिण	७. १८.
अजसा २९ १४; ४० २९; ४९ ९; ८४ १३; ९२. १७.	
अश ४४. २४; ४८. २३.	
अशयहृदिवेक	७३ ९
अशो ४४ २४; ६७ २१.	
अशुपातानुमादृष्टि	४४. १८.
अ ज व र स म य	९३ २४
कर्तृकर्मस्वभाववत्	२० १९
कर्तृत्वायोग	१५. १२, २४ २७
कर्तृफलकर्मसु	१८ २२.
कर्ता २३. २२; ६०. ३.	
कर्तृस्मरणाय	१०९. ७
कर्त्रादि २२ ५	
कथञ्चित्प्राणिक	१२. ५
कथञ्चित्प्राणिक	८४. १७
कथञ्चित्प्राणिक	७. २.
कर्त्तृचिदमेद २ २६, ११४. ३१.	
कथञ्चित्प्राणिक १०६ २४.	
क पि ला दि १२० १७.	
कर्म ६० ३, ८४ २३, २७, ८०, २२, २४, ८९, २, १००.	
१६, २३; ११९. २६; १२२ ७; १२७. ११.	

कर्मसंयोगसमापेक्षिणी	१९ २१
कर्मनिर्मुक्ति	२३ ७
कर्मपटलाच्छा	७८ १८
कर्मफलसम्बन्ध	११९ ६
कर्मावरणचित्रात्मन्	१२१ ४.
कर्मविद्यात्मवित्ति	१९ २५
कर्मविलेप	८९. ६
करणवस्थानुविधान	१०१ ५
करणाकरणविरोध	११० २०.
करणातीत	५२. ११, ९९. १२.
करणमज्ञिपातोपनीतश्रावणत्वभाव	११८ २७
करणमनसी	१९ २६.
करणादिनत्	१८ २१
कल्या १ ८; ८२ २१, १२० १४; १२२. ९	
कल्याणत्व	८४. ८, ८९. २२
करोति क्रियते	१५ ९, २४ २५
कलसादि	३५. १०.
कलिल	२९ १०.
कल्पना ९ १, ४२ २८, ६३ १४, १२६. २०.	
कल्पनागौरव	१०८ ८
कल्पनागौरवपरिहार	११० १७.
कल्पनापोष	४१. २५.
कष्ट १२०. २७.	
काक ४६. १४; १०७. १८	
काचावुपहृतेन्द्रिय	२०. २
कादाचित्कलवाय	१०६ १५.
का पि ली य प्र मे य	९३. २४.
काय ६०. १५, ६३ ७, १०४. २७.	
कायविक्रान्तवत्	११६. १०.
कायादिप्रवृत्तमेतत्	१२७ ११.
कायापाय ६२. १०.	
कार्य ५ १७, २१, १२ ८, २७, ४३. २५, १०५.	
	४, १२४. २६,
कार्यकारण ६. २०, १२ ९, ११९ ६, १२. १२;	
१०४ २९, १०८. २९, ३१, ११२ २३, ११५.	
	१, ११९ १८.
कार्यकारणता	७३ २६.
कार्यकारणत्वनिधम	१५. २०.
कार्यकारणभाव १२ ७; १२४ १५	
कार्यकारणलक्षण	१२ ४
कार्यकारणसन्तानसमुदायविकल्प	१२६ १४
कार्यकालमप्राप्य	२०. ८
कार्यकालानन्तरिक	१२ २८
कार्यमेव १२ २६	
कार्यविक्रान्तवत्	१०५ १९
कार्यविक्रान्तवत्	१२४. २५.
कार्यव्यतिरेकोपलक्षण	१२ १९
कार्यव्यतिरेकोपलक्षिता	६. २१
कार्यव्यभिचार १०९ ९	
कार्यसत्तानिवर्तक	६२. २२

अवितथप्रत्ययात्मकत्व	१०३. २२	असत्त्वासितत्व	३७. २८
अवितथ्यात्मकत्व	१४ ६	असत्त्वान् ११. ११, १३, १३ २०, ३५. १९	
अविति	३१ १९.	अनदुपलम्भ	१०३. २०
अविद्यमानवितथ	२० १३	अनदुपलम्भ	१०५ १
अविद्यमान	१०२. २८.	असन्निकृष्ट	१८ १
अविद्याभाव १०१ १६, १०६ ५, १०८ १३, ११० ३१		असन्निकृष्टेन्द्रियावयव	१८ १०
अविद्याभावनिवचय	७५. १०.	असमाननमन्वित	४७ २
अविद्याभावसम्बद्ध	७४ २३, ८२. ८	असमिन्विद्यपाविषय	१२३. २५
अविद्याभाविन्	१२३. २४	असम्पन्न	१०४ ११.
अविद्याभा	६५ ७	असम्बन्धानवस्था	११०. २२.
अविप्रकृष्टदेयावि	४०. २८.	अनकृप	३३. ११, ३४ २९
अविप्रनिपत्ति	४२. २२	अनहानुपपन्न	१०९ ३
अविप्रतिहार	१०६ १६, ११५. ४	असाङ्ग	९९. २६
अविप्लव	१२ १३	असाधनाङ्गवचन	८० २०.
अविरोध	८३. १८	असाधारण	२१. १३, १०९ १५, १८
अविरोधविरोध	३२. ७	असाधारणत्व	११७ १३
अविद्याभावानुत्पन्न	६ १४	असाधारणनिर्मासविरोहिन्	१०६ २३.
अविद्याभावविज्ञान	४. १६	असाधारणकान्त	८ १९
अविद्यवत्	१०५. १०	असाध्यसाधन	१४ २४
अविद्य	८ २०	असिद्ध ३१ ६, ७८. ३०, १०९. २१, ११० १०;	
अविद्यबाध	१४ २१		१११ ८.
अविद्यबाध १ १५, १६ ३, ५४. ५, ९१ १०, ९८. १५		असिद्धविविधार्थकान्तिकत्व	५३. २१
अविद्यबाधवियम	५०. १५	असिद्धविद्यार्थकान्तिकत्व	१०९. ६.
अविद्यबाधक ५. २५; ७. २६, ८ १०, १४, २० २५.		असिद्धनिधि	३१. २९
अविद्यबाधस्मृति	५ १	असिद्धि	३१. २६, ७७ ५, ९७ १६.
अविद्यविद्	३७. ११	अनकीर्ण	४५ २४, १०३ १.
अवृत्ति	१०६. १०.	अनकर्म	९८ ६
अवृत्त	२. ७	अनक्यातप्रदेश	३३ २२.
अव्यतिरेक	१००. १८.	अनक्येय	१२१ ४.
अव्यय	११२. २३.	अनकार	३२ ७.
अव्ययधान	२१. ८	अनव्यवसायत्वपरिणामप्रतिष्ठित	४७. १.
अव्यपार	७० २४.	अननुपपन्न	६६ २७.
अव्युत्पन्नसन्निवृत्तिपर्यन्तार्थप्रतीति	९७. ११.	अनवित्	३२. २७
अव्युत्पत्तिविषयविपर्ययविशिष्ट	१०२. ३.	अनवेष्ययकिञ्चित्करयनुपायमनुपेय	२१. १.
अव्यक्त	५५. २१.	अननुपपन्न	४३. १८
अव्यक्त	५८. २२; ७३. ८.	अननुपपन्नानैकप्रत्ययविपर्यय	२३. ५; ९८ १९.
अव्यक्तफलाभाव	५४ २०.	अन्य	३७. ११.
अव्यक्तजन्मन्	१० १३.	अन्यत्	१६ ४
अव्युक्त	१४ ३.	अन्यथात्मा	१०४ १९, २६.
अव्युत्पन्नानुपपन्न	१०३. १८.	अन्युत्पन्न	६३. २८.
अव्युत्पन्नोत्पन्न	५२. १०, ९९ ११.	अन्युत्पन्नीतिवाक्यवि	९०. १८.
अव्युत्पन्नमस्तलविशेषिणी	३३. १४.	अन्युत्पन्न ३१ २०. ४१. ७; ११०. ९, २६; १२२. ४.	
अव्युत्पन्न	५२ १७	अन्युत्पन्न	१८. २७
अव्युत्पन्नविशेषिणी	१२४. ४.	अन्युत्पन्नमव्यवस्थिति	८२. १९.
अव्युत्पन्नप्रतिपत्ति	११८. २२	अन्युत्पन्नमव्यवस्थिति	११५. २९.
अव्युत्पन्नसिद्ध	४८ ८.	अन्युत्पन्नमव्यवस्थिति	३७ ८; १२५. १५.
अव्युत्पन्न ३३. २५; ३५. ३; ३९. १६, ४५. ११, १०५ ६, १२३. ३.		अन्युत्पन्नमव्यवस्थिति	४९ २०.
अव्युत्पन्न	३७. २४, २७.	अन्युत्पन्नमव्यवस्थिति	३४. २०.
अव्युत्पन्न	११५. २७.	अन्युत्पन्नमव्यवस्थिति	२१. १६.
		अन्युत्पन्नमव्यवस्थिति	२४. ८

क्षणिक	१२ ६, १५; ७६. १४, १०८ ५,	गुणसम्बन्धविवेक	१२०. ६.
	११३ १२	गुणादिविनाश	२६ १०.
क्षगिकज्ञान	३ १७, ४८ ७	गुणानां परमस्थ	१४ ९
क्षणिकत्वविजृम्भितमात्रनासन्तानान्तरविवेक	१०३ १४	गुणानां वृत्त चल्	१३ २५
क्षणिकपरिमण्डलादि	६ १४	गुणान्तर	१०४ १०; १११ ११.
क्षणिकस्वलक्षण	१२ २५	गुणी	१२ २९, ६१ १२, १२४ २३.
क्षणिकाज्ञानज्ञेय	१५ २०	गुणीभूत	२३. २३
क्षणिकात्मन्	७२. ९	गुणोत्कर्ष	१०९ १८
क्षणिकादि	८६ ११	गुणपदपरम्परायथावदधिगत	२६. २१.
क्षणिकैकान्त	१२ ३	गृहीतग्रहण	६, ५८ १८, ७५ ५,
क्षय	८८. २१, १२२ ६	गृहीताभिमुख्य	२६. ३
क्षयदर्शन	११२. ३१, १२० २३	गृहप्रदीप	६२. २६.
क्षयोपशमविशेषोपापेक्षा	१२७ १४	गोचरनिर्भास	४३ १३
क्षीयावरण	११६ २५	गोलादि	१३. २३
क्षीराद्य	४४ २१	गोपुराष्टालिकादि	४३ ११; ६२ २३.
क्षपुष्पवत्	२. ११, ११४ १	गौरवाधिक्यतत्कर्मभेद	४४ १०.
क्षरविपाणवत्	२४ ४	गौरव गवय इति	७. १०
क्षलस्नेह	१२१. १८	ग्रहण	१ २१ ५ २४; २०. १४
गण्यपदभय	१०८ १५	ग्रहादिगति	८५. १५, १२४. १८.
गतिस्थितिकरणविभास	११८ २.	ग्रामघानकमेतग्रामक	७. १९
गन्धादि	६१. ६	ग्राह्यग्राहक	३३. २५, ४०. १३; ११०. १४
गिरिष्ठ	१०८. १७, ११४. १२, १२१ २५.	ग्राह्यग्राहकभावसिद्धि	२० १९.
गरीयसी	४२. २८.	ग्राह्यग्राहकविष्णु (निवृत्ति)	१०९. २८
गर्भ	६४ ३	ग्राह्यभेद	३४. २०.
गर्भाण्डमूर्छितादिवत्	१२७. ९.	घट	२५. ३, ४४ २१.
गवयर्षादिन्	७ १०, ११	घटादि	१८. १३; ६३. ५
गवयोऽप्यनिति	७ १०	चक्रक	४८. १४, १२६. २.
गवादिवत्	१०४ २.	चक्षुरादि	१४. १३; ७८. १५; १०७ ६; १०८ ९.
गवादिनिकल्पोपजनन	१२४ १.	चक्षुरादिकान्	१७ १८; १०२. १२; १०९. २१
गुण	१२. २९, ४५ ५; ४९. २२, ६० २५, ६१. ६,	चक्षुरादिशी	३०. १५.
	१२; १८ २०; १०३ १०.	चक्षुरादिवत्	९३ १५
गुणकर्मसामान्यविशेष	२३ ९	चक्षुर्ज्ञानप्रतिपक्षक	१९ १७
गुणगुणिन्	१३. १४; २३. २५. २६; १२४ २२	चक्षुः	३५. ५; ११८ १६.
गुणगुणिविनाश	२३ १०	चक्षुर्वा (निक्षेप)	२५. २९
गुणगुण्यादि	१३ २५	चक्षुर्विषय (मतिज्ञान)	२ २८
गुणदोष	८२. ८; ८३ २९; ९१. २३; १०१. ७,	चक्षुर्विषय (मत्त)	८८ १८.
	९, १११. १, १२७ १६	चक्षुः सत्त्वभावनादि	५१. २७.
गुणदोषवतो	८८. २५.	चक्षुरस्य वी	७४. ७
गुणद्वेषिन्	२९ १०.	चक्षुर्वा (अर्थनय)	२४. २३
गुणपक्ष	६३. ७.	चन्द्र	५ २०, २१
गुणपर्यय	४५. ४, १२१. १८.	चन्द्रः प्रकाशगतिनियमवत्	१२४. ८.
गुणपर्ययवद्ब्रह्म	१४. २०; २४. १०; ४४. २५,	चन्द्रादि	८. १०; ९८. १५, ११५. ३.
	११४ ३०; ११८. २०	चन्द्रादिवस्तुनिर्भास	८. १४
गुणप्रधानभाव	२३. २०, २६.	चन्द्रादिवस्तुपरिभास	७५. २९.
गुणप्रवृत्त	१४. ७	चन्द्रादिवत्	५०. ८
गुणभाव	६६. ८.	चन्द्रादिवत्	४२. २२.
गुणयोगनिवृत्ति	८३. २१	चन्द्रादिवत्	१४. ७; ६७. १; १०२ २५; १०८ २३,
गुणयोगवियोग	१२५. १३	चन्द्रादिवत्	२७, ३०; १०९ १, २.
गुणवत्	४५. ५	चन्द्रादिवत्	६८ २५; १०९ २३.
गुणसम्बन्ध	६१. ६.	चन्द्रादिवत्	७८. ३०; १०४. ६; १०९. २१.

इन्द्रियाम्यस्य	२९ २०.
इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वं	२८. १२
इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्ष	२ ८
इयतो व्यापारान्	५. ९
इष्ट १०८ १७, ११४. १२, १२१ २५.	
इष्टतत्त्व	९३. २२.
इष्टविधातुकृत्	१०८. ३, ११४ ११
इष्टसाधन	५३ २२
इष्टसिद्धि	५३. २३.
ईशानिकादि	९२ ११, ९९ ९.
ईश्वरज्ञानसंग्रह	५२ ८
ईहा	२ २०, २५
ईहाधारणा	३. १
ईहितविशेषनिर्णय	२. २६
उक्तविधातुकृत्	११९. ४.
उच्छेद	८३. ३.
उत्तरपरिणाम	२ २५
उत्तरोत्तरेष्ट	६२ १६
उत्पाद्य	११३ ४.
उत्पादविगमक्रियाणाव	१०३. १२.
उत्पादविगमब्रह्मव्यपयमितसंग्रह	४६ २३
उत्पादविगमब्रह्मव्यलक्षण	१४. २०, २४ १०; ११२ १५; १२१ २४
उत्पादविगमब्रह्मविरह	१२५. २८
उत्पादव्ययब्रह्मव्युक्त	४ १७, १०. २५; ४५ ११; ११२ १८.
उत्पादव्ययब्रह्मव्यादि	४५. ५
उत्तरोदयाविशेष	११२. १९.
उत्पत्तिसंहार	११२. १७
उदय	१११. १०
उदयस्थितिसंहारलक्षण	१०३. ३; ११२. १०.
उदयस्थितिसंहारविरह	११५. १२.
उन्मार्ग	८२. २४
उन्मीलनादि	६४. १३.
उपकारक	२०. १३
उपकाराप्रकारसकल्पहेतु	१२०. १८
उपकार्योपकारकसंनिधान	१२०. २७
उपचार	६१. ९, २०; ७०. ७, ९८. १२
उपन्यासिसम	१११. २३.
उपमान	७ ६, १५; ९२. २७.
उपयोग	११९. ८
उपयोगवान्	५९ २९.
उपरम	४३. २५.
उपलसितसुखादिविज्ञानस्वलक्षणलक्षणसंज्ञादिविशेषानुपलक्षण	१०६. ३
उपलब्धि	७६. १, १०४ १९; १०५. ३०.
उपलब्ध्यनुपलब्धी	९१. २४.
उपलम्भात्प्रकरव	११०. ४.
उपलम्भानुपलम्भयोग्य	१०९ २८.
उपहृतन	९३. २६.

उपादान	४७. २३, २६, ८६ २७
उपादानप्रकल्पित	१०५ ७.
उपादानादि	१९. २१
उपाधि ५५. १०, १३, १४, २१; १०८. ९.	
उपालम्भ	९० १९
उपेक्षण	९३. १८
उपेय	२४. ८.
उभय	९० ६.
उभयत्र व्याभिचार	२२. १९
उभयदोषप्रसन	११३ २८; ११४. ३; १२५ २९
उभयपक्षोक्तदोषारेकानवस्थिति	८०. ९.
उभयपरिणाम	११८ २२.
उभयव्यवसाय	९८ १४
उभयात्मक	४९ ९
उभयानुभवविकल्प	११० १६, ११२. २.
उभयाभाव	११४ ५.
उभयोक्तवत्	९०. १९
उभयोपयोगलक्षण	९८. २१.
उभयोपलब्धि	१४ ६.
उष्ट	८० ७
उपयोग	२ २३
उपयोग	२१ १४
उपाधिप्रतिषेध	१०४. १४
उपाय	१८ ८; २५. २०. १२७. २, १३
ऊर्ध्वताविवन्	११४. १.
ऊहादि	१०१. २२.
ऊजुमून	१४ २८, १२६ १३.
ऊजुसूत्रमय	२४ १५
ऊ ष भा दि म हा बी र	१ ४
एकारणप्रत्ययनीकनियम	१२१. ५.
एकज्ञान	४५ २७
एकताभरव	११७ १९.
एकननिर्णय	३०. ५, ९९ ४.
एकमानैक	४८ २७.
एकत्व	२३. ३, ६; ११२ २७.
एकत्वनिवर्तन	५८ २५.
एकत्वानेकत्व	१२४. २३.
एकदेशेन वृत्त	१३ १६, १००. २७
एकवर्ति	२३. २०
एकप्रत्ययवर्गव्यवस्था	११२. २७.
एकमनेकव वृत्तमान	१३ १५; १००. १५.
एकमनेकरूप	१५. २; २४ १८
एकमनेकाकार	११. १६
एकयोगक्षेम	११४. २१; ११८ ३०.
एकरागादि	४१. २७.
एकरूप	६१. १०; ८६. ३०.
एकलक्षण	६९ २७
एकलक्षणविद्विष्ट	७७. २, १२.
एकलक्षणसिद्धि	५. १७
एकलक्षणहानि	७६. १५

ज्ञानज्ञेयसम्बन्धवत्	१२४. १३	तत्त्वज्ञानावगुत्यादहेतु	८२. २४.
ज्ञानदर्शनवीर्यसुख	२१. १७	तत्त्वदर्शिन	३८. १४.
ज्ञानदर्शनो, गोलक्षण	११९. ३०.	तत्त्वनिर्णय	२ २.
ज्ञानपरमाणुसंय	११. २८.	तत्त्वनिर्णयादानहानधी	९३ १७
ज्ञानपरिणामव्यतिरेकिन्	९९. २.	तत्त्वपरिच्छेद	१०७. ४.
ज्ञानप्रामाण्य	२०. १३	तत्त्वपरिच्छेदव्यामोहविच्छेद	११६ १३.
ज्ञानविरोधित्व	१९. १९.	तत्त्वप्रतिपत्तिव्यापारव्याहारप्रतीति	१०३ १५
ज्ञानगन्धव्यवहारसाधन	१०५. २.	तत्त्वमिथ्याप्रतिपत्ति	११७ २८
ज्ञानसमाधाय	१४. १२. १४	तत्त्वविनिश्चय	८२ २८.
ज्ञानस्वभावपरिणामिन्	१०४. १९.	तत्त्वव्यतिक्रम	१०९ २२.
ज्ञानहेतुत्व	३२. १५.	तत्त्वव्यवस्थान	५०. १९.
ज्ञानाकार	४९. १०; ५८. १६.	तत्त्वार्थदर्शनज्ञानचारित्र	८९ १९.
ज्ञानात्मकत्व	३. १	तत्त्वार्थनिर्णय	९८ ९, १२.
ज्ञानादि	२३. ११	तत्त्वामिगम	१२७. १८.
ज्ञानाभिधानानुप्रवृत्ति	११७ १०.	तत्त्वानुसारिन्	४७ ३०.
ज्ञानावरणसंक्षय	७८. १०.	तत्त्वान्यत्त्वविवेक	१०५ २३.
ज्ञानावरणादिव्यवस्था	२६. ११	तत्त्वहेतुफलतापन्	१. ७
ज्ञानावृत्तिविवेक	८४. १४.	तत्त्वप्रमाणिकत्व	८९. १०.
ज्ञानाद्य	४६. १.	तत्त्वप्रमाणिकत्वनिर्हारातिशय-	
ज्ञानेच्छाकरणवित	११० १७.	जातीयाभ्यासविचरिणी	११९. ३३
ज्ञानोदयसमय	२६. १२	तत्त्वप्रमाणिकत्वनिरोध	१०१. १०.
ज्ञेय	१०. २३, ९१. १९.	तत्त्वप्रतिपादकस्वाभाव्य	२५. ६
ज्योति	७८. १२	तत्त्वप्रतिष्ठापकत्व	१३. ८
ज्योतिर्ज्ञानादि	९२. ५.	तत्त्वप्रतीत्यसमुत्पाद	६५. २६.
तर्क	१०० ५, ७	तत्त्वप्रत्यक्षारोक्षाक्षय	४०. १.
तर्क ५. २; १७. ८; ६९. २८; ७४. २६, १००.	३०; १०१. १४.	तत्त्वप्रत्ययसाध्य	१३ २३
तर्कपरिनिश्चित	७४ २२	तत्त्वप्रवृत्तिनिवृत्ति	५८. २८.
तर्क्य	१११. २४.	तत्त्वसत्ताव्यवहार	५४. ५
तर्क्य	८४ १	तत्त्वसमागमज्ञान	५८. २८
तर्कागम	८१. १९	तत्त्वसमन्वयस्मृति	६४. १२.
तच्छायाप्रतिपत्ति	११७. ३०.	तत्त्वसमारोपविप्रतिषेध	१०७. ५.
तज्जन्म	२०. ६	तत्त्वसाध्यसाधनसंस्थिति	७९. २१.
तज्जन्मसाख्याध्यवसाय	९७ १३	तत्त्वसाररभूत	६२ १०.
तज्जातीय	५६. २६	तत्त्वस्कारान्वयेक्षत्व	३४. ५.
तज्ज्ञानपूर्वक	८४ १	तत्त्वव्यवहारसिद्धि	७ १
तज्ज्ञानव्यवहार	६९ १६	तत्त्वभावविवेक	६८ २०.
तत्करणस्वभावभेद	१२. २७	तत्त्वकल्पानवाप्ति	२४ २
तत्कारणकस्वभाव	१२. २६, २८, ११०. २३.	तत्त्वलक्षणभेद	९. २
तत्कारणता	१८. १३, १९. ११.	तथाकार	४८ १०
तत्कार्यव्यतिरेक	५४ २.	तथाविधमात्राव	२६ ११
तत्कार्योत्कर्षपर्यन्तभाव	७८. ५	तथानिनिवेश	५४. १०
तत्कृतार्थकदेश	१७. ८.	तथापरिणत	१४. १३
तत्तद्द्रव्यान्तरकारकत्व	१२३ २९	तथापरिणाम	६३. ७; १०३. ४, ६; १०४ २९, ११२. २४; ११४. २८.
तत्त्व ४. १५; १५. २; २४ १८; ३७ १५, १९. २०, ३८ १८, ४०. १०; ४८. ११; ५२. १५; ६५. ११, ७४ १३, ८५ २३; ८६. १७, ९३ ७		तथाप्रतिभासविक्रियाविरोध	११४. ३०.
तत्त्वज्ञान २ १; ८२. २७, ११९ १०, १२६ २२; १२७ १२		तथाभावसकरव्यतिकरव्यतिरेक	२३. ५, ९८ १९
तत्त्वज्ञानप्रभाव	८८ २३.	तथाभावाभावानियमनिश्चय	१०० ८.
		तथैवास्मरण	८. २०
		तथोपयोगलक्षण	२६. ३
		तदकारण	१८. ११, १२०

कार्यहेतु	६ २०, १०, १५, ७५ १३	कृतक	११२. ४.
कार्यादि	१०४. १६	कृतक	७६. १५; १११. १८
कार्यानुपलब्धि	१०५. ४.	कृतकत्व	६. २३; १०४. १४; १०५. २५, २८;
कार्यानुपलम्भ	१०५. २९.	१०८. ६, ११०. ७, ९; ११२. १६, ११३. १८.	
कार्याभावगति	६२. १३	कृतकानित्यादिवत्	१२४. ३०.
कार्योत्पत्ति	१२. १४	कृतस्य करणयोग	८. १३.
कारक	२५ ७	कृताकृतनियम	१११. २५.
कारक	१५. ९; २२ ५	कृतिकादि	९. २२.
कारककल्पना	१५. ११, २४, १२४ ३१.	कृतिकोदय	५. २३; १०४. ५.
कारकसापेक्षकम्यहस्या	१०८ २; १२२. १९	कृतिकोदयदर्शन	२५. २
कारकसापेक्षकम्यहस्याविशेष	१२३. १३.	कृपा	१२२. ८.
कारकमेदमेदिन्	१२४. २४.	कृपाकृ	१२०. १७.
कारकमेदानुविधायित्व	१२४ २६.	केशलज्ञान	८५. १.
कारकलक्षण	१६. १५	केश्यादिनिर्भास	४३. ३.
कारण	१२ ८	केश्यादिविवेकवत्	९८ १७.
कारण १२ १६, १८ १०; २५; ६२. २२, ६३		केश्य	१०३. ११.
२२, १००. १६, १२३. ३१, १२५. २; १२७. २३		कोशपात्र	६४. ७.
कारणकार्यभाव	१८ २१	कोटस्थप्रसंग	१०५. १९; १०८. ४.
कारणगुणबोधसाकल्यवैकल्य	११६ ९.	कोनस्तुत	१८ २५.
कारणपरस्परभावप्रसंग	१२०. २५	कोमारादिबत्	९९ २५.
कारणमेदि	१०. ८	क्रम	३. १५; ८८. १; ११०. १९.
कारणमसिपरिच्छिन्नसार्य	२३ २.	क्रममेद	३. १९.
कारणविक्रदोपलब्धि	१०५ २०	क्रमयुक्त	४५. १७.
कारणशक्ति	६. २; १२. २०	क्रमयोगपञ्चविधता	१२३. ५.
कारणसत्ता	१२. १४, १६	क्रमयोगपञ्चासमय	१०८. २७.
कारणसामर्थ्य	१२ २८	क्रमवर्ति	३. १७
कारणानुपलब्धि	१०५ ५.	क्रमवृत्ति ३. १५; १०४. २९, ११२. ३०; ११८.	
कारणसमवासेपक्षिपक्ष	७५ २७.		१७. २०.
काल	१६. १४, २१. १७, २५ ६; ८५ ६;	क्रमस्थिति	४५. ३.
	१८. २७, १६४. २३	क्रमाक्रम	४. ४
कालकारकलिङ्ग	१५ ७, २४ ५	क्रमोत्पत्ति	५१ १०.
कालवेद्यादिमेदिन्	८७	क्रियाकारक	१३. १५, १६. २२; ५३. २५
कालवेद्यान्तरव्यापित्व	१०४ ३६	क्रियानिमित्तकभ्युत्पत्ति	२५. ९
कालमय	१५ १	क्रियानिवृत्ति	११३. १९.
कालादि	१२३. १०.	क्रियामेद	२५. ८, १०
कालादिभौतिककल्पना	१०४ ५	क्रियानिष्ठद्वय	२५. ७
कालादिमेद	१६ २३; १७. २	क्रियाश्रय	१५ ८, ११. २४ २७; १११. १५,
कालादिलक्षण	१६ १२		१७, १२६. १६.
कालादिव्यवर्तितात्मपर्यायसमुपग्रह	१०७ १८	क्रियास्थिति	७६ १७.
कालाद्यनपेक्षिन्	११२ ३.	क्रोधादि	२३. १०.
कालान्तर	५. ८	क्रोधविकर्षोपादानयोग्यता	११९. २३.
कालापकर्षपर्यन्तविवर्तितक्षया	७३. ७	नव नि वसंत	१३. १७
काष्ठन्यम्	१० १३	क्षण	७१. १५; ७६ २८, ८०. ३१.
कुडधादिक	१०. १६	क्षणसमकाल	१०५. २.
कुडधादितोहित	१९ १६	क्षणपरिणय	१८. १७.
कुडधादि	४५ १९; ११२ ११.	क्षणमय	३ ७; १२. ९; ४६. १; ७१ २९.
कुलक	१०१ ३.	क्षणमयमग्नसम	१२. ९
कुलालादिषटादिबत्	१८ १८	क्षणमग्निसिद्धि	८. ७
कुशल	२२. २	क्षणमग्नित्व	७१. २३.
कूटस्थ	१२२. १०	क्षणस्थान	११५. २७.

तनुकरणभुवनादि	१०८. ३३.	त्रय (शब्दनय)	२४. २४.
तन्तु	२५ ३	त्रयेण किम्	७४ १, २, १०४. ३
तन्तुल	२५. ४	त्रसत्त्वावरादिगुणप्रकप्रप्रकर्ष	१२७ ८
तन्तुलपाकदिवत्	१०६. ६.	त्रिकालगोचरसर्वजीवादिपदार्थनिरूपण	२५. २६.
तन्नामप्रतिपत्ति	७. ११	त्रिकालगोचरानन्तपयार्थी	११७ २६
तन्नामविकल्पविकलता	१२५. २०	त्रिकालगोचरानेकव्यप्यायविषय	२२ २८.
तन्निर्हासातिशयानुविधान	१०१. ९.	त्रिकालविषय	८६ ८
तपस्	२६. ९; ८८. २३, २४, २४ २; ११५ २९.	त्रिपुरदहनादिवत्	११६. २१.
तपोनिर्जीर्णकर्म	२५. २५	त्रिभुवनगुह	९४ ४
तपोवन	४८ ५	त्रिलक्षण	१०३. २, १२०. २३.
तमस्	१९ १५, १७, १८, २०, २९. १०; ३७ ३	त्रिलक्षणयोग	१०९ १३.
तमसोर्नेर्घृष्ण	१०८. २२.	त्रुटति	४५. ३
तमोविज्ञानाभावप्रसंग	१९. १७	त्रैलोक्य	५०. ४, ८२. ३०, ९०. २२
तमोविज्ञानाभावहेतुत्व	१९. १८	त्रैलोक्यनाथ	९७ २
तल्लक्षणप्रसंग	७६ ८.	वधि खाद	८० ७
तस्यैतिसम्बन्ध	१६ ६	वध्मुष्टादेरभेदत्वप्रसगादेकबोधन	७९. ३०.
तादात्म्य ३ १९, २३ २५, ४८ २३; ६१. ७, ६७ २४;		दर्शन	९८ १३
७३ १९; ७५. २६; १०५. १२; १०७ १६;		दर्शनापादादिभत्	१०५. ९
११३. २८; ११४. २९, ३१; १२५. ५		दर्शनविषयसामान्यविशेषात्मन्	११७ २६.
तादात्म्यतदुत्पत्ती	५ १६; १० १०	दर्शनादर्थनियम	१०९ ९
तादात्म्यनियम	४५ १४.	दर्शनादर्शन	६७. २९.
तादात्म्यपरिणाम	११२ २३.	दर्शनादर्शनास्त्विति	६८. ४.
तादात्म्यविषयाभाव	२३ १८	दर्शनादर्शनाध्यास	८३. ३०
तादात्म्यागतिक्रम	११२. १७	दान	११५ २९.
तादात्म्यासिद्धि	१०५. ७	दाहार्त	८१. २०.
तादृशवचनादिगुणोपपत्ति	१०९ १५	दाहादिसाहस	१०५ ९.
तामस	११६ १.	दिग्भागभेद	४१. २२.
तामसजनक	२०. १	दिग्भिभाग	९, १५, ११८. १७
ताद्वय	२० ६, ३३. २९, ६८ ३०	दीपरकिमवत्	११८ १
ताम्रादिरक्तिकादि	४४. १५.	दीपादिद्रव्यवत्	११८ २८.
ताल्पादि	१३२ २९	दुःखित	७८ २२, २३
ताल्पादिब्यापाराहितसस्कार	११८ १४	दुर्नय	१० २४, १७ ३.
ताल्पादिसमिधान	८६ २४; ११८ २५.	दुर्नय १४ १७, २२, १५ ४, २४ २, १३. २०,	
तिमिरादि	१६ २१; १२०. ३.	दुरन्त्य	३८ ४, १०२. २३
तिमिराद्यभाव	१८ २८.	दुरवगाह्यार्थतत्त्व	९२. ४
तिमिराद्यग्रह	९८. १४.	दुस्तर दौस्थ्यम्	१२० ३०.
तिमिराद्युपप्लवज्ञान	८. १०.	दुःस्तरतरादि	५४ १२, १२५ ३२
तिमिराद्युभ्रमणनीयानसकोभादिहेतुत्व	१८. २७	दूराक्षार्थज्ञान	१५ २६.
तिर्यक्	७. १२.	दूरासन्नकार्यकारणभावप्रतिविधि	११७ २४
तिरोभाव	११८ २३,	दूरासन्नाक्षबुद्धि	१५. १९.
तिरोभावासम्भव	११९ २५.	दूरासन्नादिकरणगुणवैगुण्यतारतम्यादिभेद	११५ २
तीक्ष्णशुभ	४२. १९	दूरासन्नादिविशेषस्थपक्षैकविवयोपलम्भ	१०६ ३०.
तीर्थकरवचनसंग्रहप्रस्तावमूलव्याकारिन्	२३. १६	दूरासन्नकार्यप्रत्यक्षा	१५. २५
तुलान्त	७५ २६.	दूषक	९८ २
तुलितद्रव्यसंयोग	४४ ६	दुष्टतरमवदुःख	२६ ८.
तुलोन्नामरसादि	७५. २६, १०७. १५	दृश्यात्मन्	६ १२.
तुल्यकालता	७५. २४, १०७. १५	दृश्यादुःख	११. २५, १२०. २४
तुल्यजातीयसंयोगसमवायिन्	४३. २२.	दृश्यादुःखभेदेतरात्मक	४ १४
तुलोपलादिस्पर्शवैवस्वरूप	१२१ ६१.	दृश्यादुःखान्यकत्व	१३. २७.
तिमिरादिक	८. ८, ५२. १.	दृश्यादुःखात्मन्	४८. २१

चाण्डालगोपालवाललोलविलोचन	३६. २९.
चारित्र्य	११९. १०.
चित्रारण्य	६०. १५
चित्त	४ १५
चित्तमात्र	३८. २७.
चित्र	४२ ५, ६, ६८ ६, १०३ २८, २९.
चित्रतम	४२. ६, १०३. २९.
चित्रतर	४२. ६, १०३. २८.
चित्रनिर्भासित्	४. १६
चित्रसाधित्	१४. २८
चित्राकारमेक	२४. १८
चित्राभिसक्ति	१०. ७
चिन्ता	४. २३; ५. २; ९ ७; १७ ७
चिन्तामयबुद्धि	१२७ २०.
चेतन	७३. १५, ८४. २१, १०६. २८, ११६ १, ११९ ५, १७
चेतनागुप्तमूह	१४ २९
चेतनाधिकल्प	१२३. १२.
चेतनानिबृत्ति	१२० ९
चेतनेतरविकल्प	११५. ९
चेतनेतरसमवायिविवेक	१२०. १२.
चेतनोपतापहेतु	११९ २६
चेष्टासम्बन्ध	३० २३,
चेतस्	५१. १, ८१. १३, ८३. ८, ८९. २२, १२७. २३.
चेतन्य	१३ २६; १४. ८, ६२ २, ३, १००. ८, १०१. १०; १११ २७, १२७ ५
चेतन्यपरिणामिन्	१०९. ५
चेतन्यपरितापवत्	१२१ ९.
चेतन्यप्रतिबिम्बिन्	८४. २६.
चेतन्यस्वभाव	१४. २०, २४. १०, ९९ ५
चेतन्योपयोग	१०४. ७
चोच	६८. १२
चपल	८३ २५.
छायादि	५ १७
छायात्	८५ १६.
छान्दमूक	११४. १५.
छद्म	२६ १०, ३६ ११.
छद्मधी	५२. १७.
छद्मवृत्ति	९०. २४
जन	३७ ३, ६७ २१.
जनकजन्य	६५. ११; १०४ २२.
जनमरणादि	१२०. ३१.
जन्मान्तर	६३. २९.
जय	११३. २२
जयपराजयसमय	११४ १६.
जयभावा	११३. २१.
जलचक्र	५ २०, २१
जल्य	११३. २२
जलपाक	११४. १९.
जलपानारम्भ	११४. १७.

जाडचहेतु	११५ २३.
जातभावा	६३. ३१.
जाति	७९ २७, ११३. २३.
जाति	५३. ८.
जातितद्वत्	१३. १५; २३ २५
जातिवद्वत्प्राप्तिवादा	९०. २६.
जातिद्वयगुणक्रियालक्षणनिमित्तानपेक्षसत्ताकर्म	२६. १.
जातिभेद	१२१. १६.
जातिभूकलोहितपीतवत्	३७. ९.
जातिलक्षणसवृत्ति	१०७. ८.
जातिस्मर	६३. २५, १०७ १२.
जातिस्मरसमाध	१०४ १०.
जात्यन्तर	५५. १६, १०८ ५, ७; १२२. २५, १२३. ६, १२६. १.
जात्यन्तराधिगम	१०३. ५.
जिगीषतो	८१ ३, १११. १६
जिन	२६. १७
जिनपतिविहिताद्योपसत्त्वप्रकाश	९७. २५.
जिनशासन	९७. २
जिनेश्वरपदप्राप्तिलक्षणस्वार्थसंपत्ति	२६. २४
जीव	११ ६; १४. २०; २१. १६, १७, २०, २१, २४; २३. ७, २२, २४ १०, ५९ २९, ७३. १५, ८४. २१.
जीवच्छरीर	१०४. ७.
जीवच्छरीरवर्ग	६२. १.
जीवस्वार्थविययविशेषप्रत्यक्ष	२६. ६
जीवभाव	२१ २३
जीवराशि	१२० २३.
जीवस्य	२१. २२
जीनस्थानगुणस्थानमार्गनास्थान	२६ ६, ८
जीवस्थानगुणस्थानमार्गनास्थानतत्त्वचित्	२५. २४
जीवस्वतत्त्वमिच्छया	२३. २३
जीवस्वरूपमिच्छया	१३. १३
जीवाजीवप्रभेद	११. ५
जीवाजीवादि	११ ८
जीवादिद्वय	२५. २३, ९९ २६.
जीवाद्यर्थव्यपामय	२४. २३
जीनेश्वरशासन	९४. ९
जे मि नि	२१. ११
ज्ञ	१४ १३; २१. २०, ५२. ७, ९१. २९, १०६. २४.
ज्ञत्वप्रसंग	१४. १३
ज्ञत्वविरोध	९९ २.
ज्ञाता	२३. २२, ५२. ८, १६, ११६ १
ज्ञातुरभिप्राय	१० २६; १८ ९, १२७. २.
ज्ञातुरभिप्रायात्मकनयवत्	२५. ११.
ज्ञान	८ ११, १८ ८, १०; २०. २३, २६, ३१ १३, ३२. १३, ४८ १०, ६२. ५, ८४ १८, १८ ८, ११; १०७ १२, १२५ ३, १२७ २, ४, ५, ६
ज्ञानज्ञान	३२. १३.
ज्ञानज्ञानकृता	३२. १४.

ध्वनिभाग	८८. १.
ध्वनिविशेषाहितसंस्कारश्रुतिपरिणामी	११८. १९.
मपुंसक	१६. १९
नय १०. २४, २६; १७ ३; १८. ९; २१. १५; २०. २५; २२ २४, २८; २४. १९; २५ २६; १२७ ३	
नय १४. १७, २२; १५. ३; २५ १३, १५, ३४. ३, ३८ २७, १३. २२; १२४. २८; १२७. १७.	
न य च क	९३. २२; १२५. २७.
नयद्वयविभाग	१२६ १७
नयप्रवेश	१७ २६
नयलक्षण	१२६ २०.
नयानुगतनिकोप	२५. २०
नस्वरस्थानु	१११. २०.
नष्ट	६७. १; १०२ २५.
नानाकारणसामर्थ्य	६८ १०.
नानाकारकविज्ञान	६७ २३.
नानास्वाभिन्नम	६१. १२
नानात्व	१५. ३; २४. २५; ६१ १६.
नानार्थवाक्य	१२४. ९.
नानार्थसाध्य	१४. १.
नानार्थज्ञान	११२. १०.
नानादिदेशभावि	१२. २५
नामाभ	५४ १३.
नामासामग्रीसन्निपात	१७ १
नानैकपरिणाम	६७. १२.
नानैकवचन	५२. १२.
नानैकव्यवस्था	११२. १०.
नानैकसन्तानात्मन्	२३ ५; ९८ १८
नानैकस्वभावनियम	११२ २६
नानैकान्तप्रहृष्टस्त	४७. १८
नाल (निकोप)	२६ ९
नामरूपादिहेतुत्व	७५. २५; १०७ १६.
नामस्थापनाद्व्यभाव	२५ २४
नाद्य	७२ २०; ११२ १६, १५ ११३. ५.
नाशसमकालकार्यकल्पना	१०५ ५.
नाशादिशब्द	६४ १३
निसिप्तपदार्थ	२६. ५
निकोप	२६ ४
निग्रह	८१. ५.
निग्रहस्थान	८० २१; ११४. १७
निर्जरा	८८. २१; १. २ ६
निर्जीणकर्मन्	२६ ९; ८८. २४
निर्णय २० २४, ७३. ११; १०६ २; १०८. १२, १३; ११५. २४, १२०. २४, १२५ १२.	
निर्णयात्मकज्ञान	२१ १; ९८ २३.
निर्णयायत्त	२०. २६
निर्णीति	१२५ १८.
नित्य १४ ८, ५०. ३, १२. ७; ६४ ३०, ८३ १७, ८५ ३०, ८७. ३; ८९ २८; १००. १५, १७; १०५ २८; १०७ २२, २४; १०८ १; १०९. १७; ११० १२;	

नित्यक्षणिकपक्ष	१११ १७, १२४ ७.
नित्यत्ववत्	४ ३
नित्यस्वभावान्तरप्रतिबन्धी	९; ७६. १८, ८६. २५
नित्यानित्य	११८. २९
निदर्शनाद्यभाव	१०६. ८
निर्देशादि	१२७. १३
निपात	२५. २२; २६ ५
निमित्त	११४. १४.
निमित्तनैमित्तिकभाव	१६ २६; १००. १५, १७
निमित्तान्तरकल्पना	१२३ २३.
निमित्तान्तर	१०० २४.
निमित्तान्तरानपेक्ष	१०६ २८.
नियतवृत्ति	२५. २९.
नियतवृत्ति	५६. १९.
नियतवृत्ति	९८. २०.
नियम	४०. १७.
नियमहेतु	१०५. १५.
नियमाभाव	७६. २५.
नियमायोग	६३. ११.
निरर्थक	८५ २६.
निरन्वय ४०. १७; ६५. ११, ७६ १८; १०७ २२; १११. २६.	
निरन्वयक्षणिकचित्त	१० ६
निरन्वयविनाश	७०. ५, १०५ २६.
निरपेक्ष	१५. ३; २४. २०
निरपेक्षत्व	२५ १४
निरभिप्रायवृत्ति	१२० २२
निरवयव	१००. २७.
निरस्तबाधकवी	१७ १२
निराकारेतर	३२. १०
निराभास	९९. १०
निरामय	१२२. २४.
निरारेक	९ १५
निरालम्ब	११० २
निराश्रय	८७ ६.
निराश्रयीभाव	८३ १४; ८९ २५.
निरुद्धवस्तु	८३. १३
निरुपारब्ध	१०४ २४, ११०. १; ११३ २९, ११९ ९, १२१. ६, २५, १२४ २४
निरुपाधिकप्रवृत्ति	११८. १२.
निरोध	८९ १३.
निरोधि	११६ १५
निरुक्ता	६९ २४, १०२. ८
निरस्त ४९ १६, ५० ३; ६८ १७, १००. १६; १०२ १०; १०४ ११; ११८ १८; १२१ २	
निरस्तत्त्वानुमिति	६ १९
निरक्षपरमाथ	१२० १३.
निर्वाण	८३ २२.
निर्विकल्प	४७ ३०.
निर्विकल्पज्ञान	३. १०

तदस्तकारणसम्ब	११० १२.	तदभौमता	२६. ११
तदस्तकार्यविच्छेद	१०७ ४	तदभ्युपगमोपायमात्र	२४. ३.
तदकिञ्चित्करत्वं	५७ २६	तदवयवविकल्पननिवृत्ति	१००. २८
तदस्तत्परिणामित्व	२३. ३. ११४ १६	तदवयवान्तरवर्धनादर्शनविरोध	१०२ १८
तदस्तत्प्रवृत्तिसकर	१२३ १४	तदव्यतिरेककान्त	१६. १६
तदतदुभयवर्ग	१०२ ६	तदसाध्यव्यवसायनम्	८१. १६.
तदतदुभयानुभयविकल्प	१२६ २.	तदहेतुत्वप्रसंग	४०. २३
तदस्तत्प्राप्तिविच्छेद	१०८ १५.	तदाकार	६८. १.
तदस्तत्प्रधान	१२५ ८	तदाकारविकारादि	६. ४
तदस्तत्प्रत्यय	९० ६.	तदाकृति (नैगमाभास)	२३ २१
तदस्तत्प्रवृत्ति	९० ८.	तदागम	८५. ३.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१००. ३.	तदात्मोक्तिकर्मण	११. १.
तदस्तत्प्रवृत्त्य	११२. २४.	तदाभास	९ ८, १०; १०० १.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	२३ २४	तदाभास (धनहाभास)	१३. ५; २४. ३.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१६ १५	तदाभास (अन्तर्गताभास)	२४. १६
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	११६ १२.	तदाभास (वायाभास)	८१. ८.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१० ९	तदाभास (बुद्धान्ताभास)	८० २८.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	९८ ३०	तदाभासविरोध	१०५ ३
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	५८. १३.	तदाहारादिसामान्यस्मृतिसिद्धिप्रयोग	६४. ८८.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	८६. १.	तदुत्पत्ति	२० १५, २२
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	३३. ९.	तदुत्पत्तिसारूप्य	१५ २७
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	३३. १२.	तदुत्पत्तिसारूप्यादिलक्षणव्यभिचार	१६. ५
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१०९. ११.	तदुत्पत्तिसारूप्यगहन	८१. १५.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	९८. ६	तदुत्पत्तिसारूप्यविशेष	३ २.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१०. १०.	तदुत्पत्तिसारूप्य	४७. १२.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	९८. २८	तदुत्पत्तिसारूप्यार्थज्ञान	१७ ३
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	११. १४	तदुत्पत्तिसारूप्य	१६. १९
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१३. ३७	तदुत्पत्तिसारूप्य	१५ २१.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१०. १३	तदुत्पत्तिसारूप्यविशेष	१०१. ११.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१२४. ५	तदुत्पत्तिसारूप्यविशेष	५८. ३०.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	२५ २७	तदुत्पत्तिसारूप्य	२६. ११.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१०३. २३.	तदुत्पत्तिसारूप्य	४६. ५; ११०. १२; १२५. २८.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	७५. ३.	तदुत्पत्तिसारूप्यविशेष	११२. २८.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१५. २१	तदुत्पत्तिसारूप्य	२०. ९, २६
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	६७. ५	तदुत्पत्तिसारूप्य	१५ २४
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	२५. १५	तदुत्पत्तिसारूप्य	१२७. ७.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	६४. ३०.	तदुत्पत्तिसारूप्य	५२ २८.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	६७. २०.	तदुत्पत्तिसारूप्य	६३. १६.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	६०. ३०.	तदुत्पत्तिसारूप्य	१०५ १६.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	६. ६	तदुत्पत्तिसारूप्य	९. ३.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१५. ५; २४. २१	तदुत्पत्तिसारूप्य	४४. १२.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१०७. १०.	तदुत्पत्तिसारूप्य	१०४. १५.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१४. २१; १७. ३	तदुत्पत्तिसारूप्य	६८ १२.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	५४. २४.	तदुत्पत्तिसारूप्य	१२२. २८.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१५. १३, १५. १	तदुत्पत्तिसारूप्य	४८. २७.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	२. १०. ११	तदुत्पत्तिसारूप्य	१०४. २८.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	४०. २४.	तदुत्पत्तिसारूप्य	७. ७
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	२०. ९. २६.	तदुत्पत्तिसारूप्य	५६. ७.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१२४. २८.	तदुत्पत्तिसारूप्य	२०. ६.
तदस्तत्प्रवृत्तिव्यवसायानियमप्रत्यय	१६. २३.	तदुत्पत्तिसारूप्य	५५. ८.

परवञ्चोत्पत्ति	११९. २१.
परसत्त्व	६९. १७.
परसत्त्वसत्त्व	३७. २७.
परस्परज्ञान	१०९. २६.
परस्परपरिग्रहपरिणामविधि	१२६. ६.
परस्परपरिग्रहपरिणामविनाभावित्व	१८. १९.
परस्परपरिणामविनस्तोहितविचयपयवि	११२. १३.
परस्परपरिणामस्त्विति	१२१. २८.
परस्परपरिणामाहितविशेषपरिग्रह	११२. २०.
परस्परपरिहारास्त्विति	११४. १.
परस्परपरिहारास्त्वितिलक्षण	१२०. ११.
परस्परविशिष्टप्रतिषेधपरमावा	१२६. ५.
परस्परविवर्तयन्त्रिविकार	१२०. २७.
परस्परविवर्तयन्त्रिविधात	११४. २४.
परस्परविच्छेदयिन्	१०२. १३.
परस्परव्यपेक्षाक्षणा	७. २५.
परस्परानात्मक	४. १.
परस्परविवेक	६५. २३; ११४. २७.
पराजित	८०. २३.
परार्थसंपत्ति	२६. २५.
परापरकर्मप्रबन्ध	११९. २१.
परापरपर्यायावाप्तिपरिहारास्त्वितिलक्षण	१२१. २३.
परापरमात्रनियममेवामात्र	१२१. १०.
परापरविभागपरिणामविशेष	१०३. २४.
परापरविवेकैकस्वभावपरिनिष्ठित	७०. १५.
परापरस्वभावानुगमपरावृत्तिप्रसंग	१२२. १९.
परापेक्ष	४३. ७; १२५. २४.
परामर्शनियम	१०७. ७.
परिकल्पितपराधीन्य	१२३. १७.
परिच्छेद	३२. २३, २४.
परिच्छेदात्मक	२०. १७.
परिच्छेद	१६. ११, २१; २०. १६.
परिच्छेदपरिच्छेदकभाव	२०. १८.
परिणाम	४६. ५; ५३. २; ७६. १७; ७८. २३, १०० २३; १०५. ८, १८; १०९. २१; १२०. ३२.
परिणामकल्पविट्पिच्छायागत	८१. २०.
परिणामपाटवातिशय	१२५. १५.
परिणामप्रसाधन	७६. २९.
परिणामविनाश	७९. ८.
परिणामविशेष	२. २६; ६०. १४; ८८. ८.
परिणामस्वभाव	७०. २९.
परिणामात्	६०. ५.
परिणामादि	७०. १; १२१. ३१.
परिणामाभाव	१०५. २५.
परिणामित्व	६५. २.
परिणामिन्	२३. २२; ४८. २७; १००. १६; १०८. २४, २८, ३१; ११२. ९; १२०. २५; १२३. ४.
परिणामिसहकारिकारण	१०५. १२.
परिमण्डलादि	६. १३.
परिस्पष्ट	५२. २७; ९८. ६; ९९. ६. ९; १२५. १७.

परीक्षा	१०६. २, १४.
परीक्षाक्षम	१४. २४.
परीक्षाक्षमवाक्यार्थपरिनिष्ठितवैतत्त्व	२७, ९१. १९.
परीक्षाफल	१०५. २०.
परीक्षित	१६. १२.
परीक्षितानुमर्षजन	१०. १८.
परीक्षा १. १३; २१. ४, १४; १७. ४; १२७. ७.	
परीक्षा ८. १; ३१. ३; ४७. ४; ६९. १५; ८२. ८.	
१७७; ९८. १७; १०१. १६; १०३. २३; १०६. २२.	
परीक्षानानविषयपरिच्छेद	३१. ३.
परीक्षानानार्थपरिच्छेद	९८. १७.
परीक्षता	२. ४.
परीक्षपरतन्त्र	१२५. १०.
परीक्षात्मन्	७२. २७.
परीक्षार्थगति	६९. २७.
परीक्षार्थप्रतिपत्ति	१०. ११, १६.
परीच्छेद-	८३. ११; ८९. २३.
पर्य्योति	९९. ८; ११८. ७.
पर्य्यादिविभाग	३८. १७.
पञ्चलक्षण	११५. २७.
पाचकपाठकाविवत्	२५. १०.
णटवोपपत्ति	१२५. २२.
पाथिवादिविशेष	१२१. १८.
पापीयान्	१२०. ५.
पारतन्त्र्यानुपपत्ति	१२५. २.
पारमार्थिक	२५. १२; १०८. ३.
पारम्पर्य	४१. ६; ४३. ७, ६३. १७; ७४. ३१.
पारम्यनिवृत्तमात्र	१०८. २८.
पावक	५. ८; ७९. १३.
पिण्ड	४१. २४.
पितापुत्रवत्	११२. २६.
पीतवोपाध्याकार	८८. २८.
पीताचारान्नानोत्पत्ति	२०. ३.
पुत्र	११२. ९.
पुद्गल	२१. १६; २३. ११; १२१. ४, १८.
पुद्गलस्वभावानतिरेक	१२१. २९.
पुद्गलात्मक	२. २२.
पुमान्	१०. ७, १६. १८.
पुनर	१५. १०; १६. २०; २४. २६.
पुरुष	१३. २६; २३. ७.
पुरुषतत्त्व	२६. ७.
पुरुषतन्त्रत्व	६४. ३०.
पुरुषत्वादि	७८. ९, १२.
पुरुषधर्म	५३. १५; १०२. २. ६.
पुरुषपरिणामस्वभाव	१२०. ३१.
पुरुषातिशय	३. १३; ८२. ५; ८५. ९; ११६. १७.
पुरुषार्थ	७७. २५.
पुरुषार्थसिद्धि	१२०. ७.
पुरुषार्थनिवायक	८८. १४; १२२. ३.
पुरुषार्थनिवृत्ति	१०. १.

पट ४९. २२; १०८. ९, १७, ११४. १३; १२१. २५.	
पटविपर्यस्त	४८. ४
पटसजातीयमन्वन्माध्यवसायनान्तरीयक	९९. १७.
पटसजानीयामिकापम्पुति	९८. १३
पटसमानार्थ	११७. २४.
पटमामान्याभिनिबोध	१०१. १५.
पटहानि	६२. ७.
पट्या	२३. २२.
पट्यार्थस्वप्नवत्	१५. २५.
पट्यान्व	८०. २८.
पट्यान्त	४३. ६, ८० ३०, १०६. १०.
पट्यापस्वभावाविधान	११२. ३१
पटि	१७ ७, ५७. २१.
पटिपथ	१४. ९.
पटिपथप्राप्त	१४. १०.
पटिपथवर्धित	१२२. १३
पटिमामान्याविबोध	५९. १७.
पटिपुपथ	९ २४
पटिपुपथविषयार्थप्रवचनसमयात्तर	११६. २८.
वेवसा	११५ २९
वेवसतो वेवसता	१५ २०, २४. २६.
वे व न विव न्	११४. २१.
वेवनाग्रिय	१२० १४
वेवकाक	५०. ६.
वेवकालस्वभावनियम	१२. १७;
वेवकालस्वभावानियम १००. १९; १०८. २; ११५. ६.	
वेवकालाविनेयान्निवापिन्	१२३. १.
वेवकालान्तरव्याप्तस्वभाव	७०. २३.
वेवविनेयवत्	५५. २६.
वेवान्तर	५ ८.
वेवान्तरप्राप्ति	११९ २०.
वेह	६२. ४, १०७ ११.
वेहानुपसृष्टिप्रसंग	६२. १५.
वेहान्तरपरिग्रह	६४. २४.
वोपजावि	१०१ १२.
वोपत्रय	५३ १२.
वोपप्रभाव	११९ २७.
वोपवती	७७ २९.
वोपसम्बन्ध	११९. २८.
वोपससय	८९ ५.
वोपसस्तेपविकल्पहेतु	१२०. ३.
वोपावरणकारण	१०१ १०
वोपावरणक्षयोपशमाविशयवदा ६८. २९; ११७. २६.	
वोपावरणपरिष्कार्य	१०१ २.
वोपावरणपरिष्कार्यमात्र	११६ ११
वोपावरणक्षयोपशमोदयवृत्ति	१२७ ८.
ववति व्रोव्यति भट्टवत्	११. १; ४५. ६
वव्य ११. १, १३ १; २२. २५, २३. २, ४४ २९;	
वव्य (निक्षेप)	४५ ५; ११४ ३०.

वव्य	१०९. २२; ११८. २९.
वव्यगुणकर्तृ	१३. २१, १२३. ३
वव्यगुणकर्तृसामान्यविशेषनियम	१२१. १२.
वव्यगुणसमवाय	११७ ११.
वव्यपर्याय	२२. २७, १२५. २८, १२६ ७
वव्यपर्यायिनयद्वयप्रविभाग	१२५. १.
वव्यपर्यायिपरमाणु	१०९. ४.
वव्यपर्यायाधिक	२३. २, १६.
वव्यपर्यायिमूल	२२. २५.
वव्यपर्यायिसामान्यविधानप्रतिषेध	१२२. १६.
वव्यपर्यायिसामान्यविशेषप्रविकल्प	१२६. १७.
वव्यपर्यायिसामान्यविशेषप्रविभाग	९०. २.
वव्यपर्यायिसामान्यविशेषविषय	११८. ३.
वव्यपर्यायिसामान्यविशेषात्पर्यायनिष्ठ	१६. १३
वव्यपर्यायिसामान्यविशेषात्पर्यायनिवेदन	२९. १५.
वव्यपर्यायात्मक	४ १७, १० २५.
वव्यपर्यायात्मन्	२. २१; ३. २३, ४ १.
वव्यभावेन्द्रिय	२ २२
वव्यव्यवस्थापन	४. २०.
वव्यसामान्यमहारविषय	९९ २३.
वव्याधिक	१० २६, ११ १
वव्यादिकार्य	५२ ६.
वव्येन्द्रिय	२. २२
वव्य शक्तिस्तदुभय वा	१६ १५.
वृम	४३. २३.
वृमग्रह	४५ ४.
वृमनिर्गत	३६. २०, ३९. २४.
वृमालोक	४०. ११.
वृचन्नादिनत्	१२४ २२
वृत्तादिसंख्याज्ञान	७. २६
वृत्तैव (प्रमाण)	२४. ४.
वृत्तिवैधानदीपवृत्तादिक	९. १४.
वृत्तिपान्तरादि	९. १२
वृत् एव प्रमाणे	८ २; ९७. ७
वर्म	२१. १९, १७; २३. २०; ७६ ४.
वर्मसीर्यकर	१ ३
वर्मनैरात्म्य	११४ ९
वर्मनि	११९ १९.
वर्मन्तर	७६ ४.
वर्मन्तराविषया	२१ २१
वर्मिधर्म	२३ २६; १०६. ६.
वर्मिधर्मसन्देह	७७ ४
वारणा	२ २८; ३. १, ५. १
विमनाहमज्ञ	८२. १६.
वी	३१. २२, ३२ २, ६२. २९.
वृमवर्धनि	११०. ८.
व्यान्व	६९ १०
वृत्त्यापरिणामिन्	१२२. २७
व्रीव्य	६६. १४.
व्यनि	८८ ९.

प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्त	१७. ६.
प्रत्यक्षान्वयिनी	१९. १५.
प्रत्यक्षाम	८. ८. २०
प्रत्यक्षामाप्रसंग	५४. १०.
प्रत्यक्षी	५१. २४.
प्रत्यक्षैतरगोचर	४६. १५. १०७. ९.
प्रत्यक्षानवबोध	३५. २५.
प्रत्यक्षनियत	१२४. १७.
प्रत्यक्षीकव्यवच्छेदप्रकार	८१. २.
प्रत्यक्षिज्ञा ५९. १६, ७३. १९, २७, ८७. ४, ६९.	२०; १०१. १४.
प्रत्यक्षिज्ञावि ५५ ७, ६२. १८, ९७. ४, ७१. १०७. ७.	
प्रत्यक्षिज्ञान ४७. १२; ६५. २७; ११०. २४.	११८. २४, १२९. २२.
प्रत्यक्षिज्ञानाद्यतीतानुमिति	३५. २४.
प्रत्यक्ष	५२. ३०
प्रत्यक्षभेदिन्	११५. १.
प्रत्यक्षकर	१०२. २०.
प्रत्यक्षवर्ग ५ २, १९ २१, २६; १०८ २५, १२१ १.	८२. १३.
प्रत्यक्षमिताशेषबोध	१२६. १०.
प्रत्यक्षमिताशेषब्रह्मपर्यायभेद	५४. ५.
प्रत्याख्यात	३. १७
प्रत्यासत्ति	६८ ११.
प्रत्यासत्तिनिबन्धन	१२७. १५.
प्रत्यासत्तिविप्रकर्षतारतम्य	१२०. २८.
प्रत्यासत्तिविप्रकर्षविकल्पप्रत्यस्तमय	११८ १६.
प्रत्यासन्नग्रहणप्रसंग	८. २१.
प्रत्यासन्नैतरपर्यप्रत्यक्ष	१८. १३; १२० २३; १२३. २९.
प्रतीप	१०२. १९.
प्रवेशवत्	३५. २१.
प्रदेशादिव्यावाय	१४ २८; ५९ २०.
प्रधान	१०३. ९; १०८ ३१.
प्रधानपुरुष	१००. १२.
प्रधानपुरुषकालपरमाणुस्वभावप्रवाद	१०९. १.
प्रधानादि	८९. २८
प्रधानादियोग	७१ २०
प्रपञ्च	८५. १०, ८७. १०.
प्रबन्ध	३. २१; ७४ १०; ८५. १०; १०४ २२
प्रभव	१२०. २८.
प्रभवनिवय	१२१. १३.
प्रभवग्रन्थ	११०. १५
प्रभवविरोध	११२. ८.
प्रभवसमर्था सती	१२०. १६.
प्रभवसाधुत्वप्रत्यासत्ति	११४. २८
प्रभवसाधुत्वसहचरप्रत्यासत्तिविप्रकर्ष	१०४. ११.
प्रभवस्मृतिप्रत्यक्षिज्ञाविधिषात	१०८. १९
प्रभवामावविरोधप्रसिद्धि	३४. १६, ८४ ३०; १०७. १४
प्रभु	५२. १७.
प्रभत्त	३८. ३.
प्रभा	

प्रमाण	१७. ३; १८. ८, १०; २५. २६
प्रमाण १ १३, १५, ३. ८, ११; ८. ९; १६ ४;	
१७. १०; २१. १९; ३६. १६; ५८. ११,	
६९. ११, ७५. ३; ८३. २२; ९१. १०;	
९२. १८, ९७. ४, ११९ १५, ३०; ९९ १५, २१;	
१००. ७; १०१. २०, २२; १०३ २६; १०५. १९;	
११५. ९, १८; ११६. ७; १२७. २, ४, ५	
प्रमाणतदाभास	१०. २६
प्रमाथता	२. ३
प्रमाणनय	२२. ४
प्रमाणनयनिरूप	१८. ६; १२६ २१
प्रमाणनयनिरूपानुयोग	२६. ७
प्रमाणनयप्रवेश	१७. १७
प्रमाणप्रमेयभेद	१२५ १.
प्रमाणप्रमेयव्यवहारनिवृत्ति	१२५. ३०.
प्रमाणप्रमेयस्वरूप	२२. २१
प्रमाणप्रमेयकान्तमेवपरिहार	१२६. ६.
प्रमाणप्रवेश	३. २०
प्रमाणफल	३. १५, १३ १७.
प्रमाणफलव्यवस्था	३ ७
प्रमाणसाधनोपाय	७४. १८.
प्रमाणसामग्रीविशेष	१२५ ७.
प्रमासख्या	५. २५
प्रमाणान्तर ३ ९. ५ ७; १५. २७, ३३. २०;	
९३ २, १९. १५, १०९. १४; ११८. ३;	
प्रमाणान्तरगोचर	७२. २७, ७४. १८.
प्रमाणान्तरप्रवर्तन	९८ ३०.
प्रमाणान्तरयुक्ति	८. १२; १०८. ९.
प्रमाणान्तरसम्प्रवासभव	११६. ८.
प्रमाणान्तरानुभवनिर्णय	१२१. ३१; १२५. ७.
प्रमाणान्तरापेक्षण	१०५. २०.
प्रमाणान्तरावाधन	१४ २१.
प्रमापाम	९८ १०, १४.
प्रमाणैतरता	७३ २३.
प्रमाणैतरभेदनिष्ठता	१२३. १४
प्रमाणैतरव्यवस्था	८ ११.
प्रमातृ	१०३. २२
प्रमासत्त्वसतत्त्व	३७. २४
प्रमासत्त्वसतत्त्व	३७. २३.
प्रमाहेतु	७४. ४.
प्रमाहेतुप्रवामाशयभेद	७४. ५.
प्रमित	३२ २८; ९३. ३.
प्रमेय ४. १, १९; १०. २५; ६९. ११, २४; १०२.	
१०. १२, ८५ १०३. १९, २१; ११५. १०.	
प्रमेयप्रमता	१०३. २२; १२७. १७.
प्रमीदादि	८९. २०.
प्रत्यक्षभेद	११८ २३.
प्रत्यक्षानन्वयीयक	१०५. २९.
प्रयास	८६. २०.

निर्घषय	१५. २०.
निवृत्ति	८९. ६; ११२. २२.
निवृत्तिप्रतिबन्धयो.	१०५. १०.
निष्पापार ७६	१८; १०७. २२; १०८. १; ११०.
	१६; ११५ १८; १२३. १२.
निश्चय ६	२८; ३९ २०; ७२ १९; ७५. ३.
निश्चयन	५६ १०.
निश्चयनय	२३. ७; ११
निश्चयपथमि	२३. १०
निश्चयव्यवहार	२२. २७
निश्चयसमारोपविधात	१०८. १५.
निश्चयात्मक	२३. २६
निश्चयात्पन्	६ २७
निश्चयान्तरपरिकल्पना	७ १
निश्चितसन्निवन्धमिचारिन्	१०९. १२.
निष्कल	९७. १५; १०२. २३; ११५. ३०;
	११५. २६; १२४. ३१.
निष्कारण	१२. १७
निष्किय	१३. २३
निष्पन्न	११३ १.
निष्पन्थ	१४. ३; १००. २६.
निष्पत्त्यनीकत्व	११४. २.
निष्पत्त्य	११९. १२, २५; १२०. ५.
निष्पत्तिविधय	६२. २५; ८९. १०.
निष्पत्तिविधयामात्र	६२. २९.
निष्ठुक	१००. २०.
नीलाभि	६८ १२.
नृ	८८ २४.
नैगल	१३. ११, १२; १४ ७; २३. २१.
नैपम	२३. १८; २६; १२६. ८.
नैगमादि	१२६. १७.
नैगमादिप्रमेय	२२. २४
नैगमाभास	१३. ११, १४, २३. २४
नैरस्त्य	६८ १७; १२३. १९.
नैरस्त्यविधिविक	१२३. १८.
नैरस्त्यनिवृत्तिन्	४२ २.
नैरात्म्यसिद्धि	१०८. २१.
नैकिकव्यव	९४. २.
नीमालादि	४९. १८.
न्यसेय	१६ १२, २१. २३
न्याय	२९. ११; ८१. ६; १०८. १९, २४.
न्यायकमुवचन	१०. १८
न्यायकमुवचनप्रोदय	३. २०; ४. १९; ८. ३.
न्यायभाषे	६३. २६.
न्यास	१८ ८; २५. २९; १२७ २.
न्यूनाधिकतया	३५ २०.
पक्षधर्म	१०९. १३.
पक्षविपक्ष	११०. ३१.
पट	२५. ३
पटीयस्	५०. १४.

पटीयसी	७७. २४.
पद	२२. १०; २६. १६; ९८. १४.
पदवाक्यान्तर	१२४. २१.
पदविभाग	१२४. २.
पदसाम्यव्याप	३०. १४.
पदार्थज्ञानभाग	३०. १४
पदवि	१४. २८; १५. ८; २३. ८; २५. ७;
	१२४. २९; १२६. १२; १६.
पर्यायमेद	१५. १०; १६. २१; २४. २६.
पर्यायामिक	१०. २६.
पर्यायानुक्रमस्थिति	११८. ७.
परचितविद्	१०९. २६
परचित्तामिपतिप्रत्यय	३९. ७.
परचित्ताभाव	६. ५.
परताः ६.	२७; ३६. २२; १०८. १३; ११०. १५.
परस्तिरस्कार	११३. २२.
परवासान्धर्य	१०४. २५.
परवर्ण	६९. १७.
परदुःख	८२. २२; १२०. १४.
परदुःखपरिमाण	७८. २२.
परमित्यमोपलब्धि	११४. १४.
परमिर्वाण	१२०. १२.
परमि.मैयस्	९३. १८.
परपरिकल्पितब्रह्मलक्षण	४. १९
परपरिकल्पितप्रमाणात्मनिविनिर्वाकरण	२१. ११.
परपरिकल्पितानुमानादिलक्षण	८. ३.
परप्रत्यायनोपाय	१११. २०.
परप्रतिद्वप्रमाण	११५. १७
परमाणपरिच्छेदामात्र	१९. १९
परमप्रकर्ष	२६. २३.
परमाणय	२१. १९
परमाणु ४१.	२२; ४४. २४; ४८. १७; ७०. १६;
	७१. २०; १०५ ३.
परमाणुक्रमनिमेषलक्षणपर्यायसमात्र	११८. १४.
परमाणुमात्रप्रचय	१००. २३.
परमायत	३. १६; ४७. १४.
परमार्थविषय	१५ २९
परमार्थवेदसकलव्याप्तास्पद	९४. ७.
परमार्थव्यावहारिकार्थ	२५. २८
परमार्थशब्दप्राप्पुपायकृत्	२५. ७
परमार्थसत्	४. ५; ६. ६, १३.
परमार्थविस्तार	४१. १५.
परमार्थसिद्धेविन्	४. १६.
परमार्थकतामत्व	१०६. २०.
परमार्थकतामत्वपरिणामाविधातिन्	३०. २६.
परमार्थकत्व	४. १०
परमार्थकताविधि	३. ७.
परमैक्य	२५. ९
परकृप	११५. ८; १५.
परलोकाधिक	११५. ८.

बुद्धि	४. २, १९ ६, ७; ५६ ३, ६४. ३०, १००
	१५, १०३ १२; ११९ ६, १२० ५, १२५ २६
बुद्धिकाययो	६२ १२.
बुद्धिगोचर	४१ २४
बुद्धिनिर्मासक्षणमङ्ग	४८. २१
बुद्धिपूर्व	४३ १२.
बुद्धिप्रकर्ष	७८ २६
बुद्धिविस्तार	७८ ९.
बुद्धेरकारण विषय	१५ १३, २५. १
ब्रह्मा	२६. १६
ब्रह्म वा व	१३. ५, ८, २४. २, ३.
ब्राह्मणत्वादिवत्	१२४ २७
ब्रीहि	२५ ४
भ ग व द क ल क	२२ २०.
भ ट्टा क ल क वे व	१७ १८
भट्टाकलकविरचित	३ २०, ४ १९, ८ ३, १० १८
भट्टाकलकशशाकानुस्मृतप्रवचनप्रवेश	२६ २६
भयादि	४३ १३
भरणी	१०० ५
भष	६२. १६, १८
भवद्भूतिसिद्धि	६०. २०
भविष्यसप्तमत्	२० ९
भविष्यत्प्राप्ता	१०४ २४
भविष्यविषय	५ २५
भव्य	२६ १४
भव्याम्बुवह्न्यानु	२९ ४
भाव ७० २६, ९८ १२, १०३ १९; ११२ ११	
भावकार्यकारणतागति	५४ ४.
भावधर्म	५३ १९
भावधर्मपरिसमाप्ति	११०. १७.
भावन	५३ १९
भावना	९७ १७; ९८ ७, ११२ १२
भावनापाठव	७८ २६
भावनिर्लेष	२६ ३
भावलक्षण	१०४. २४
भावलक्षणवैधुयं	११५ १३
भावविनाश	६६ ५
भाववर्जित	३५ ५, ८८. ८
भावसाम्य	६१ १८
भावसिद्धि	१०९ २९
भावान्तरसमारोप	७२ ५
भावान्तरसंभेदभव	६६ १७
भावान्तरस्मरण	१२१ १.
भावान्तराविशेषिन्	१०७ २५
भावाभावात्मन्	६९ २१
भावाभावव्यवहार	२ १५
भाविताकारणोचर	७२ ५
भावेन्द्रिय	२ २३
भावैकत्वावाधन	११ १२
भिन्नकारार्थ	१२. २४.

भिन्नजातीय	८४. २१.
भिन्नवेकार्थ	१२ २३
भिन्नप्रतिभास	१५ २६, ४६ २४.
भिन्नविज्ञानग्रहणाविक्रया	६१ २६
भिन्नाकारप्रसंग	५७ १८
भिन्नार्थता	१६ २१
भिन्नाभिन्न	५५ १५.
भूत	६० १४; ६२ ८, १२१ १७, २७
भूतभविष्यद्वर्तमानप्रभेद	१६ १४
भूतदोषोद्भावन्	११४ २८
भूतविशेष	६० १९, २०
भूधरादि	४३ १२
भेद	१५ २; ४० १६, ४६ ११, ५४ २३, ५५ १०, ५८ २१, ६० २५; ६१ १६, ३२; १०९ ३, ४, ५, १२४ २१; १२५ १७, १२६ ७, १३, १८
भेदान्तरात्मक	११० २५.
भेदभिन्नसिद्धिवेक	१०५. ३
भेदज्ञान	४५ ७
भेदपर्यययोग	३६ २२.
भेदप्रतिषेध	१३ ८
भेदप्रतिषेध	९८ ५; १०५ ५
भेदरूप	५४. २३
भेदलक्षण	११० १५, २५
भेदवादिन्	२३ १५
भेदवेदन	२५ २०
भेदसाधन	९८. ४.
भेदसामर्थ्य	६८. ११
भेदसमृति	५५ २८.
भेदसहार	११४ ३.
भेदाज्ञान	११ १८
भेदानुपलक्षण	१४ २९
भेदानन्द	४४ ३०; ४६. २०; १०८ १६.
भेदाभेदव्यवस्था	४० ४
भेदाभेदव्यवस्थिति	७१ ४, ८० ६.
भेदाभेदसाधन	९८ ५.
भेदाभेदसिद्धि	१०३. ३
भेदाभेदात्मक	४. ११; १० २३.
भेदाभेदात्मन्	७१ ४.
भेदाभेदाभिसन्धि	१० २३.
भेदाभेदैकान्त	३ २४.
भेदाश्रय	१४ ५.
भेदिन्	५८. २८; ७३. २७; १०४. २०.
भेदैकान्तासिद्धि	१०८. २९.
भेदोपन्यास	२५. २८.
भोक्ता	२३ २२
भोक्तृत्वविरोध	११९ २
भोगजन्यन्	३१. १६.
भोग्यविरह	२६ ११
भ्रातृवत्	९८ ११.
भ्रान्त	३८. ९; ११५. २६.

यस्मिन् सत्येव यद्भावा	१२. ८
भावज्ज्ञेयव्यापिज्ञानरहितसकलपुरुष-	
परिपत्परिज्ञान	२. १०.
युक्तायुक्तपरीक्षणक्रमधी	१४ ६.
युगपत्क्रमभावि	४५. १६, ११८ ३०.
युगपद्भावविन्	१०५. १३; ११९. २४.
युगपद्भिन्नदेशोपलब्ध	११८. २४
युगपद्भिन्नरूप	८७. ४.
योगिना गति	४०. ३०.
योगिविज्ञान	५१ २९
योग्यतापेक्षानादिसङ्केत	२१. २२.
योग्यतालक्षण	२. २४; ११९. २२
योग्यपक्ष	११०. २३.
रक्त	६७. २, १०२. २६, २८
रथ्यापुरुष	२. १२.
रसविशेष	६४ ३.
रसवीर्यविपाकादि	१२४ १८
रसादि	४४ ३०.
रागादि	६४. १५; ८९ १.
रागादिप्रतिपक्ष	११६. १६
रागादिसंबन्धताभावसाधनसामर्थ्यवैधुर्य	१०४. १७.
रागादिसाधन	७७. २.
रागद्वेष	८८ २५
राजकुलवत्	११४. १७
रिक्ता बाधोयुक्ति	१६ १७.
रूप	६८ २५
रूपज्ञान	११८ १.
रूपदर्शन	२०. १.
रूपभेद	६१. १४.
रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्व	२३. १२.
रूपादि	४४. ७, ६८. २७.
रूपादिदर्शनाभाव	६४ १२.
रूपादिकणक्षयादिस्फुटप्रतिभास	३. १२.
रूपादिमत्त्व	२३. १३.
रूपादिविवर्त	१०९ २२.
रूपादिनिषेधाभाव	१०५ ८.
रूपेतर	१०४. ३०.
लक्षण	१२. ३, ५१ २०; ५२. १०, ६७ १०, ९९ ११.
लक्षणतया	४ ४.
लक्षणविज्ञान	१०५. १९.
लक्षणसंख्याविषयफलोपेतप्रमाणनयनिषे-	
पस्वरूपप्ररूपक	२६ २२.
लवि	२. २३
लब्ध्युपयोग	२. २२.
लताचूतादि	१०. १२.
लाभपूजाख्यातिहेतु	११५. २०.
लिंग	२५. ७.
लिंग	५. ६ १०, १४; ७. ८; १०४. १०.
लिंगप्रतिपत्ति	५ १२.
लिंगभेद	१५. १०.

लिंगलिङ्गिन्	५४. २०.
लिङ्गव्यवस्था	१६ १९.
लिङ्गसावृतयोः	७५. ५.
लिङ्गादिभेद	१२३. १५
लिङ्गि	५. १०
लिङ्गिधी	५ १५.
लिङ्गिलक्षण	१०६. ६.
लिङ्गादिवत्	१२३. २२.
लैंगिक	७४. २६, १००. ३०.
लोक	२२ १९; ६३. २४; १०४. २६; १२३. १.
लोकचक्षुष	४०. ४.
लोकवृद्ध्या	६३. १२.
लोकविसवादेशाश्रयमनिकायादि	१०५. १९.
लोकव्यवस्थिति	५५. ७.
लोकव्यवहार	१४. १२; ८७. १८.
लोकानुरोध	५२. १५.
लोकालोककलावलोकनवलप्रस	२६. १७.
लोकालोककलावलोकनवलप्रमाणोद्भूति	१५. ८
लोकोत्तर	२१ ८; ४३. ३०.
लौकिक	६ ३; १०३. २५.
वक्ता	७७. १५, २२; १०१. ८.
वक्तुराक्षल	५३ २३, ५७ १०.
वक्तुरभिप्रेत	१०. ४.
वक्तुत्व	१०९ १३.
वक्त्रभिप्राय	९ १४, २४, २२ १४.
वक्त्रभिप्रायानुविधायिनी	१०. ९.
वक्त्रभिप्रेतमात्र	२२ १३
वचन	२२. १३; ८१ ३; १०४. २६
वचनपुरुषत्वानुपलब्धि	१०४. १६.
वचनसंबन्धकार्यकारणमूल	७८. ७
वचनहेतु	७७ २४
वचनादि	७६. ३१; १०१ २.
वर्ण	२२, १०.
वर्णपदवाक्य	२२ १४; ८७ ९.
वर्णपदवाक्यव्युत्पादकसात्व	२५. ११.
वर्णपदवाक्याख्या	८८ २
वर्णपदवाक्यानुपूर्वी	१०१. ११; ११५. २०;
	१२४. ३; १२५ ११.
वर्णपदवाक्यानुपूर्वीसहारातिशय	११८ १३.
वर्णपदसात्व	१२४. २१.
वर्णव्यतिरेकवत्	१२५. २८.
वर्णसंस्थानादिमत्	९७ १८.
वर्णानुपूर्वीभेद	१२६. २
वर्णवियवानुस्मरणविकल्प	१२५ ११.
'वर्तते' इति	१००. २७.
वर्तनालक्षण	१६ १४, २५. ६.
वस्तु	५४. १२.
वस्तुतत्त्व	४. १७; १०. २५, १६. ७; ८० २३
वस्तुवर्म	७६. २८.
वस्तुवर्णनातलवर्णान्तर	२. ३.

प्रयोगविरह	१० १४	फलवान्	२६. ४.
प्रयोजक	२२. २.	फलवेदक	६० ३.
प्रयोजन	८९ १४	फलहेतुव्यपेक्ष	६५. ४.
प्रयोजनसामर्थ्यसम्बन्धिनियमव्यतिरेक	१२३. ४.	फलात्तत्त्वं	६६. २, ११; ७० २६
प्रत्यय	८६. ६, ९८. २७, ११३. १.	फलाभाव	५८ २२, ६९ ९; १२४. १२.
प्रवक्तु	४२. १४, ९०. २१; ६१. १६.	फलीभाव	६६ ५.
प्रवचन	२६ १८; ८१. २७; ९८. २५; ११६. ६, १५	फलोदय	७६ ७४.
प्रवचनेतरवससवृत्ति	११७. १९.	वदरादिवत्	७७. २३.
प्रवाह	४०. २४	वज्र	११९ २०.
प्रवृत्ति	१५ २७, ९९. १८.	वज्र	८८. २०; १२२ ६.
प्रवृद्धाभिविद्यात्मकसम्यग्दर्शन	२६. ८.	वलीयम्	६२. ३०; १०७. ४.
प्रसिद्धश्रवणसावृक्षप्रत्यासत्तिविप्रकर्ष	११२ २६.	बहिर्गत	६६ २७
प्रसिद्धज्ञानसायणीप्रभवतया	११६ ८	बहिर्गण्य	२४. १७.
प्रसिद्धहिंसानुतस्तेयान्नक्षपारिग्रहस्वविषयानुक्तव्य		बहिर्य	१४. १८; ३०. १८, ५३. २६.
	११६ २६	बहिर्यप्रतिपत्तिहेतुनेपलब्धि	१६. ६.
प्रसिद्धार्थसाधर्म्य	७. ६, १०.	बहिर्यप्रतिपत्तिमात्रसूच्यवचसा	२४. १२.
प्रसिद्धाशेषतत्त्वार्थप्रतिबुद्धकभूति	२९. ३.	बहिर्यार्थविनिश्चय	९ २८.
प्रसिद्धि	२२. ११.	बहिर्यव्यतिथि	३९ १६.
प्रसूते त्वान् पर्वायान्	१६. १८.	बहिर्यविलम्बन	१०६. २२.
प्रस्तावानुपयोगिन्	५१ २०	बहिर्यार्थविज्ञाद	१० ९.
प्रस्तुतार्थव्याकरण	२६. ४.	बहिर्यस्त	३ २३, ६ १८, २६, ११. १८;
प्रस्तुतानुपयोगप्रलाप	११४. १९.		४७ ४, ६२ २५, ७० १०, १६, ७३. ११,
प्रस्तुताप्रसिद्धि	२२ ६.		२०, १०५ ३; ११५. ११
प्रस्तुत	३५ २०.	बहिर्यस्युक्तप्रतिभासविज्ञानकतानुवृत्ति	११२. २९.
प्राकृतप्रज्ञाविज्ञाहृषार्थदिग्मूढ	११६ २२.	बहिर्य	११९. १२; १२० ३.
प्राकृतलक्षण	११६. ३	बहिर्यसाकल्प	१०७. ३.
प्रायनस्यवसाय	११ ८.	बहिर् परमाणु	१५. १.
प्रागभावप्रत्यक्षाभाव	१५. २१.	बहिर्धर्मादनेन	१०६ ६.
प्रागल्भ्य	१३ २५.	बहिर्भासिभावप्रवाद	५२. १४.
प्राग्विज्ञानोत्पत्ति	१९ १०	बहुबहुविधाप्रामित्तानुक्तध्रुवेतरविकल्प	२६. ११; ५९. २, ९६. ३.
प्राक् नामयोजन	४. २४.	बहुसंय	११७ २२.
प्राणादि	१२१. ३०.	बहुवित्तम्य	३७. २
प्राणादिपरिणामविशेष	१२७. १०.	बहुव्यवहारपटनत्वारिणत्	३ ५.
प्राणादिमत्त्व	१०४ ७, १०८ १८, २१.	बाधक	२. १४.
प्रातिपदिकार्थ	२२ ६.	बाधकाभावेतर	२. १५.
प्रादुर्भावात्पयी	४५. ७.	बाधकासिद्धि	३९ २०.
प्रादेशिकप्रत्यक्ष	२१. ६.	बाधा	८३. ६.
प्राधान्य	२४. १५	बाधारहित	२०. १४.
प्राधान्य १ १४; २. २; ३. १०, १२; १४. १.		बाधारहितत्ववन्तिज्ञानान्तातीन्द्रियमुक्त	२६. १४.
४, १८ १०, २०. २४; ४६ १९; ५२ २८,		बाल	२९ ९.
५४. ९, ८१ १२, ८३. २५, २९, ८७. १४;		बालवृद्धवत्	१०४. २३
९१. २३; ९७. ६; ९९ २०; १२७ २२.		बालादिवत्	१२१. १; १२७ ६.
	८८ २२; १२२. ७.	बालिगगीत	१९. ७७.
प्रेसाकारी	१०५. ९.	बालार्थ	१०३. १६.
प्रेसापूर्वकारिन्	१७ १५	बालतरपदा	१०९. २९.
प्रेसावान्	११५. २८.	बालम्बित	७६. १०.
प्रेत्यभावात्पय	५१. ११.	बीजपादवत्	११९. २३.
प्रेक्षित	२३; ९९ २०, २१	वध	२६. १९; ३७ १९; ८२. १५ १२७. ७४
फल ३. ६, १२, ५. १; ५२. १६; ९८ ९, २१		दृढ	१. ७; ४२. १४
	८९. ६.		

विपरीतग्रहणम्	८८. २८.
विपरीतप्रतिपत्तिसद्भाव	२० ३
विप्रकर्ष	५४ ७
विप्रकृष्ट	८४. १३; १०८. २४, ११६. १५
विप्रकृष्टार्थविक्षाविशेषसम्बन्धमिद्वि	१२४ १६
विप्रकृष्टार्थान्तरवत्	१२ ७
विप्रतिपत्ति ५१. १९; ५३ ८; १०१ २३, १०२. ७	
विप्रतिपत्तिवर्णन	९८ २८.
विप्रतिभास	११५ २; १२४ २२
विप्रलम्ब	४१. १७
विप्रलम्बनशक्तिन्	८३. २४; ११६. २६
विप्रलम्बिन्	११६. १७
विप्रलम्बनभव	९८. १६; १०३. १६
विप्लुत	९८. ७
विप्लुताक्ष	४१ ५.
विप्लुताक्षमनस्कारविषय	३६ २
विप्लुताक्षा बुद्धि	३६ १०.
विबुधाण	८०. १८, ११३. ७
विभ्रम ३४. १५; ३७. ६; १०३. १६; १०६ २५, २८; १०७ १, ११; १०९. २७; ११७ २३, १२०. १४, ३१; १२२. २०; १२५ १४	
विभ्रमकल्पना १०४. २१, ११२ २७, ११७. ३१	
विभ्रमविच्छेद	१०६ २६
विभ्रमविवेकान्तरीयक	१११ २
विभ्रमविवेकविकल	१२५ ११.
विभ्रमबान्धुप्रतिपत्तिविप्रतिपेक्ष	१०० २९
विभ्रमसिद्धि	१०३. १६.
विभ्रमसंश्लेष	१०६ २४
विभ्रमहेतु	५७ १४
विभ्रमेतरेविवेक	१२३ १४
विभ्रमोपलम्भ	१०६ १७
विभ्रान्त	४९ १८
विमत्सर	४९ २८
विमर्श	१०० ३.
विमुक्त	२५ २५
विमुखज्ञा	३२. ६
विरतविग्रहसम्बन्ध	११९ १५
विरुद्ध ४६. २८; ६२. १८, ७६ २९; ७७ ११; १००. ११; १०७ २१, १०८ १८ २४, ३०, १०९. १, ११० २७, २९; १११ ४, ५, ८; ११४ १४, २१, २८, १२१ ३१	
विरुद्धकार्य	७७ ७
विरुद्धवर्माभ्यास ४६ २८, ४८ १४, ११० १४; ११२ १०, २८	
विरुद्धपरिणामिन्	४७ २२
विरुद्धव्याप्तिसिद्धि	७७ ८
विरुद्धहेत्वाभास	१०७ २३
विरुद्धावि	५३. ५, १११ २
विरुद्धाव्यभिचारिन् ११० ११, १११ ५, १११, १२७. १७	
विरुद्धासिद्धसन्दिग्ध	६६ २३; ७९ ३

विरुद्धासिद्धसन्दिग्धव्यतिरेकानन्वय	४१. १०.
विरोध ३९ २६; ५२. २२; ५७. २८; ६९ २८, ७० २२, ७२ २४, ७६ १४; १०३. २४; ११३ २६	
विरोधपरिहार	१०३ १७.
विरोधानुपलम्भ	६८ १
विरोधिप्रत्ययविहितविशेषलक्षण	११२ २२
विलक्षणार्थविक्षान	४८ ९
विवक्षा २३ २१, २६, ७७ २१, २७, ९० २९; १०१ ४, १२; १२४ १९.	
विवक्षानिरपेक्ष	७७ २५.
विवक्षायव्यतिरिक्तवस्तु १५ १२, २४ २८, २५ ५	
विवक्षायव्यतिरेक	१६ ७
विवक्षाऽव्यभिचार	५८ ६
विवर्त	१०० ११.
विवर्तकवित्तिविरहिन्	१२० २६
विवाद	१८ १८, १००. १२
विवादवृत्ति	१०६ २
विविधचर्याभ्यासविकरपविषयताविरोध	१२३. १
विविधानुविधान	९८ २
विवेककल्पनाविवेक	११२ ३०
विवेचक	१०६ ९.
विवृद्धाभिनिवेशन	२५ २३
विमद	१ १२, ९७ ३, ५
विमदनिर्मासिन्	२ ४
विमदायविमसिन	८ १६
विमदेतरविकल्प	८ ३१
विशेष ४५ २२, ४८ १७; ४९. ५, ५४ २४; ९९ ११	
विशेषणविशेष्यमी	५९ ७
विशेषणविशेष्यमाक	३० १९
विशेषप्रत्यस्तमय	१०२ २०
विशेषप्रतिश्रासन	२ ६
विशेषाकाङ्क्षा	२ २०
विशेषाकार	५६ १७
विशेषाधान	११०. ८
विशेषाविशेष्यपोह	११७ ९
विश्लेष	५४ २७
विश्व	१०२ १६; ११२ ६
विश्वरूप	६७ ७
विश्वलोकाधिकज्ञान	८३ २४.
विष	३९ ८; ७२. १
विषज्ञान	३९ १५
विषम	५० १०
विषमोध्यमुपन्यास	१८ ११, ३५ ७
विषय	२ २१
विषयज्ञानवत्	११७ १४.
विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेष	३४ १९
विषयहृद्विषय	१०३ २३
विषयभेदैकान्त	८ २१
विषयनिषमिसिपातानन्तर २ २१, १००. ९	
विषयसन्निधानाहितविशेषविज्ञानवत्	११२ २१.

भ्रान्तज्ञान	११. २०
भ्रान्ति	११. २१, १५ २६; ३४ ६, १२; ३६ २८, ३८ ४, ६, ३९ २१; ४०. १३, ४२ ९, ५३. १५, ५४ ९, १०२ २, ६
भ्रान्तिकारण	५७. ११; ९७ १४; १०१ ३.
मणि	३८ ४; ८४. २३
मणिभ्रान्ति	३८ ४.
मय्यादिसामग्रीप्रभव	१०. १३
मति	४ २३; २२ २८.
मसिज्ञान	२. २८
मतिपूर्वक	७४ ३०
मतिमैव	२२ २८
मतिमान्	१०१. १५
मतिलक्षणग्रह	६३ १२
मतिविकल्प	१२५ १९
मतिविभ्रम	१००. १
मतिश्रुत	९८ २०; १०६ २०; ११७. १५; ११८ ४; १२२. २१; १२६ १८.
मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवकानि	१२७. ४
मयजानादि	१२७ ५
मदिराविषत्	११९ १९.
मवत्	५१ २
मनोमति	२३ १.
मन्त्रादि	११९ १९
मन्द	७३. ९
मन्वबुद्धि	२२ १८, ७७. २२; १०१. ८
मयूरवत्	४६ १४; १०७. १८.
मलसय	७८ २६
मलविद्धमणिव्यमित	१९. २४
महात्पन्	२६ २१
म हा बी र	१८. ५
महीयत्	५२ ११; ९९ १२.
मार्ग	८८. १८.
मार्गप्रतिपत्तिनिशिष्येतरवस्तुस्वभाव	१२७ १४.
माश	६८ ४
मात्रानुरोध	६८ १८
मानामैव	१०२ २८
मानस	५० २३, ९८. १०, १६, १७, १२० १७.
मानान्तरसिद्धि	१०९ १०.
मानामास	९८ २२, २३
माया	१४. १०.
मिथ्याकारैलक्षण	४८. ११
मिथ्याज्ञान	८९. १७, २९
मिथ्यात्व	९३ २४.
मिथ्यार्थप्रतिभासिन्	५८. १५.
मिथ्यार्थसमग्रह	१२६ ९
मिथ्यादुष्टि	११५. ५.
मिथ्याप्रत्ययवर्ध	४७. १४
मिथ्याभयानकप्रस्त	४८ ५.
मिथ्याविकल्पक	३१. ९; ११७. २२

मिथ्याविकल्पविज्ञानभावनापरिपाक	८२. २७.
मिथ्याविकल्पात्मक	१. ८.
मिथ्याविकल्पोष	४३. १५.
मिथ्याव्यवहार	४. ६.
मिथ्याव्यवहारभेद	४ १०
मिथ्येतरात्मक	४ १४.
मिथ्यैकान्त	१४. ३, १४४ २३.
मिथ्यैकान्तकलकित	८१. १९.
मिथ्यैकान्तपरिग्रह	११०. २६.
मिथ्यैकान्तप्रलापिन्	११६ २२.
मिथ्यैकान्तप्रवाद	९१. ६.
मिथ्यैकान्ताविशेष	१४. ६.
मिथ्योत्तर	७९ २७, ८० १४; ११३. २३.
मिथ्योह	१०१. ५.
मुक्तताविशेष	११५ २
मुख्य (प्रत्यक्ष)	२ ८.
मुख्य	२०. २४, २६, २१ १; ७५ ३.
मुख्यसव्यवहार	१ १२.
मुनि	८८ २६.
मुनुत्	२० ३.
मुमुक्षुजनमोक्षमार्गोपदेशद्वारेण	२६ २४
मुञ्छतामि	४०. २०; १०७ ३.
मूर्त	२० १०, ११९. २२.
मूर्तत्व	३३ १३.
मूर्तप्रतिबिम्बमूत्	२०. ११.
मूर्तमुखादिप्रतिबिम्बवारिन्	२० १०.
मूर्तिभर्मात्राव	२०. १०.
मूर्तिमत्	१२७. ११.
मूलनय	२७ २
मृग	४८ ५, ८०. ४, ५.
मृगिण्ड	२७ ३.
मेवकाविवत्	५९ २; १०३ ६; ११४. ७
मैथ्यादिप्रतिरोध	८९. १७
मोक्ष	८३ १४, ८९ २५, ११९ १२
मोक्षज्ञान	८८ २६.
मोह	३५ १७, ३९. १९; ७३. ११
मोहादिमूर्तानुपवेद्य	११९. १९.
मोहादिसम्बन्धान्वयव्यतिरेकानुविधायिन्	१२०. २.
म्लेच्छादिव्यवहार	४६ १
यत्न	८५. २६
यथागम	१८. ६
यथार्थ	३४ १६; १०७ १६.
यथार्थदर्शन	९८ १५
यथार्थदर्शनादिगुणवैगुण्य	११७. १९
यथार्थदर्शनादिसाकान्यवैकल्पप्रतिदन्ध	११६ ३०.
यथार्थनिर्णयसाधन	२. १.
यथाभिप्रायवतजल्पव्यवसायसूक्ष्मप्रादिका	१२४ ११.
यथावस्तुबलागम	५३. १५
यदुच्छ्रया	६४. ४.
यमलकयत्	९९ २५

व्यावृत्तिमात्रक	५७. ६; १०९ २८.
व्यावृत्तिस्वभाव	१२३. १९
व्यावृत्त्यनुगमात्मक	१२१ १९
व्योमादिवत्	१२१ २९.
व्योमादिविशेषसम्बन्धवत्	१२४. १७
शकट	५ २३; १०४. ५.
शकटादिज्ञान	९. २२.
शकटोदय	२५ २.
शक्ति	१६ १५, १७, ४९ ५; ७०. १९.
शक्तिप्रतिभासादिभेद	१२३. १९.
शक्तिभेद	६०. १८.
शक्तिमत्	१६ १५, १७.
शक्तिविचित्रता	११९. ९
शक्तिसंकर	१०३ ७, ९
शक्य	५३. २, १०२ १, ३
शक्यपरीक्षण	१७ १४, ८१ १८.
शक्य	१५ १०, १६ २०, २४ २६
शब्दकारणानामाभाव	११४ ६
शब्द (नय)	१५ ७, ११, २४ २५, १२६ १५
शब्द	३१. २२, ५६ २६, ५८ ४, २८; ५९ ८, १२, ७० २; ७९. १६, १७; ८६ २०, २४; ८७ २८, ९८ २८, १०४. ६; १०७ २४; १०९. १७, २१; ११५. ३०, १२४. २०, १२५ १९.
शब्दशब्दाध्यात्म्य	८७ ७
शब्दज्ञान	१५ १२, १६ ४, २४. २८, २५ ५
शब्दधारा	११८ १४.
शब्दनय	२४ २४
शब्दानुशित्वसंख्य	७९ ११
शब्दपर्याय	१०९ २२; १२३ २६, २७; १२४ १
शब्दपरिणाम	१०४ १३
शब्दप्रतिपत्ति	१५ २८
शब्दबुद्धि	६९. २२; १२२ २६
शब्दभाग	८८ ४
शब्दमात्र	८३ १५; ८९. २६
शब्दयोजन	५ ३
शब्दलिङ्ग	५५. २२
शब्दविनाशादि	११०. ७
शब्दवृत्ति	५६ २१, ११७ १
शब्दव्यवहारबाहुल्याभाव	२२ २१.
शब्दार्थ	१५ २८; १२४ १५
शब्दार्थग्रहण	१२२. २२
शब्दार्थज्ञान	१५ ३०
शब्दार्थतत्त्वज्ञ	९० १५
शब्दार्थदृष्टि	५८ १०.
शब्दार्थप्रत्यय	१६ १९
शब्दार्थविकल्प	८७ १९
शब्दार्थसंकेत	११७ १६
शब्दार्थसम्बन्ध	८७. २७; ११७ ४; १२४ ७.
शब्दादि	४७ २२, १०८. ३०; १२१. ५, १२७. ४

शब्दादिपरिणाम	७९. १७.
शब्दाद्ययोगविच्छेद	७५. ९.
शब्दानित्यत्वसाधन	७८ ३०.
शब्दानुयोजन	४ ४४
शब्दान्तर	१२४ २०.
शब्दोत्पत्तिविनाश	७९. २१.
शरण	१७ १५.
शरीरग्रहण	६१. ३.
शरीरस्थितिहेतुत्व	१०१. १०, १०५ १२
शरीरादिक	२६. ११; १०१. ९; १०४. ३; १२१. २८.
शरीरादिपरिणामोपयोगसाधन	११९. १
शरीरावयवभेद	१२४. १८.
शरीरावयवसंस्पृष्टि	११८. १४.
शस्त्रविषाण	१०९ २९.
शङ्कुलीभक्षणादि	५१. २.
शास्त्र १४ ११, ४३ २९, ४४. ३, १०६. २५.	
शास्त्र	९४. ४.
शास्त्र	९३ २५.
शास्त्रेयादिभेदानन्वय	१२४. ५.
शास्त्रेयादिवत्	१२४. १.
शास्त्र	११७ १८.
शास्त्रवत्	९४. ७; १११. १५, १७.
शासन	९७. २; ११६. ७.
शास्त्र	७७. २२; ८०. १५; ८१. १८; ८२ ९; ८६. १५; ९२. ४; १४; १०१. ८; ११५ २९; ११६. २९; ११७. २; १२२. १३.
शास्त्रकार	८२. ९; ११६. २९.
शास्त्रगम्य	८१. १२; १२७. २९.
शास्त्रज्ञान	८५. २८.
शास्त्रप्रवर्तन	८६ १३
शास्त्रलिङ्ग	१०९ ८.
शास्त्रवस्तुत्वभाव	२२. १८
शास्त्रार्थज्ञानसंवाध	९८ २४
शास्त्रार्थसंग्रह	९७ ८,
शास्त्रानुमानवत्	१०२ २६.
शिरःपाण्यादिमत्त्वाभा	७७ ८
शिलाफलक	३६ ७; ७३ २७.
शिक्षापा	१० ११, १२.
शुक्त्वादि	९८. १५.
शुद्ध	१४ ३; ४२ १४.
शुद्धद्वय	११. १०.
शुद्धाशुद्धव्यपयगिपरिग्रहविभाग	१२३ १९.
सूत्र्य	२ १०, १४ १८; ४२. ६; १०६ २९.
सूत्र्यताप्रतिपत्ति	१०३. १८.
सूत्र्यसंवृत्तिविज्ञानकथानिष्कलदशन	११५. २२.
सूत्र	१४. ११.
शेषपरान्वृत्ति	४५. २७.
शेषप्रकाश	१४. २६.
शेषवद्देशु	७६ ५
शेषविज्ञान	१. १३.

वस्तुभेद	१२६ १५.
वस्तुभाषोपग्रह	१०७. १
वस्तुविकल्प	११५. ९
वस्तुसिद्धि	८७. १४.
वस्तुस्वभावभेदक	२५. ८.
वस्तुनुरोधि	५४ १३
वाक् १०. ४ ७, ७७ ७; ८७. १४, ८८. १२.	
वाक्य	२२. १०.
वागर्थज्ञान	१६ ६, ७
वागर्थदृष्टिभाग	५८ १८.
वागर्थव्याभिचारिकान्त	१०. १.
वागदोष	११४. १९
वागवृत्ति	२२ १७, ७७. २१, १०१. ७.
वागवृत्तेरादिक	७८. ८.
वाचक	२२. १४, १७; २५. २८, ८७. २८.
वागवृत्ति ८१ ९, ९० ६, १०१ ४, ११५ ७.	
वाच्यवाचककक्षणसम्बन्ध	१६ ८.
वाच्यवाचकव्यावृत्ति	१२४. ५.
वाच ८१, ३, १११ १५, १७	
वाच	१०९. २, ९
वादी	८०. २३.
वासनानियम	११९ २४
वासनाभेद	४३ ५.
विकल्पसंज्ञा	२१ १५.
विकल्प ७ २४, ३१ १७; ३८ १८, २२; ४२. २, ४७. ३०, ६३ २३, ७४. ११; ११२ १२	
विकल्पना	३९ १२
विकल्पनाम्नरीयक	१८ ३
विकल्पलक्षण	११३. ३
विकल्पसह्यार	१८ ७.
विकल्पविकल्पपात्ता	६ २६.
विकल्पोत्पत्त्यभाव	२०. २८.
विकार ६३ १०; ८८. २; १२१ ११.	
विकारिन्	११९ ६
विकृति	६२ २८
विक्रिया	४. ९
विक्रियाविरोध	१०८ ५
विषय	८४ २७
विग्रहव्यापिन्	१०४ १७, ११९ ३
विग्रहव्याप्तिविरोध	१०४. ११.
विचार ७५ २१; १०५ २२; १०६ ७.	
विचित्र	१०५ १२.
विचित्रग्रहण	३०. १९.
विचित्रता	७२ २३.
विचित्राभिसन्धि	११६. २६; ११८ १०
विचित्रावयवात्मक	१०२ २७
विच्छिन्नप्रतिभासिनी	४३ ८
विच्छेद	५१ २७, ८३ ६.
विजातीय	१० ८
विजातीयव्यवच्छेदनिवन्धन	१२४ २९

विजिगीषु	८१. ६.
विज्ञप्ति	४०. ६.
विज्ञप्तिमात्र १४. १८, २३, ५२ १४; १०० २८; ११० १.	
विज्ञान १५ १४, २५ १; ८४ १३; १०३. ११.	
विज्ञानगुणदोष	१०१. ७.
विज्ञानप्रतिभास	४८ १३.
विज्ञानविक्रिया	६३. १७.
विज्ञानविशेषानुपपत्ति	९८. २९.
विज्ञानव्यक्तिसंश्लेषाद्या	४४. ३०.
विज्ञानसन्तानभेदवाद	११०. २.
विज्ञानसंशय	९८. ६.
विज्ञानानसतत्व	६ १३.
विज्ञानाद्य	४६. २.
विज्ञानोत्पत्ति	१९. ९.
विज्ञेय	१०३ १०.
वितण्डात्म्यतिरस्कार	११५ ४
वितण्डादि	८१. ८.
वितथ २५ ११; ५८ २५.	
वितथज्ञानसन्तानविशेष	३६ १७; १०३ २७.
वितथनिर्भासाविशेष	१०३. १४.
वितथप्रतिभास	३७ १५, १६.
वितथप्रतिभासिनी	३६. १०.
वितथाकारा	४०. ६.
वितथार्थत्व	५०. १८.
वितथैतरविज्ञान	७३. २३
वित्तिसत्ता	३३. ३.
विद् १८. २४; ८३. ६; १०९. २४, २५.	
विदूषक	८०. २.
विद्या ३४ १५; १०७ १३.	
विद्युदादि	८७. ३.
विहता	४६. १६
विहसू	११ ६; १०७. १३.
विधानप्रतिषेध ५२ २२; ७५ १७, १०१. २०.	
विधि	२२ ५.
विधिनियेधान्वादानिदेगादिवाक्य	२२ ५.
विधिप्रतिषेध १६ २३; १०. ३.	
विनम्बरविकल्पविषय	१२०. ३०.
विनाश	६५. १६.
विनाशानुपलक्षण	६५ २.
विनिपातित	३३. १७
विनियततदतत्प्राप्तामसतत्त्व- विनर्त्तश्चविकार	९९. २४.
विनिश्चय	२ २०
विपक्ष ४ ६; ८९. ५; १११. ९.	
विपक्षानुविधायन	१०८ १०.
विपर्यय ३० ८; ८३. ३.	
विपर्यस्त	८०. २४
विपर्यय ३९ २१, १०० १, ४; १११. १; ११६ २१.	
विपर्ययानिवृत्ति	११०. ९.
विपरीत ३५. २०, ८० १८, ११३ ७	

सत्यज्ञान	१८ २८
सत्यतप प्रभावरहित	११६. २३
सत्यपदविद्या	२४ २४
सत्यस्वप्नवत्	९९ ३
सत्याकारावबोध	५८ १९.
सत्यार्थप्रत्ययान्वित	५८ ४
सत्यानुतव्यवस्था	२२ २०
सत्यानुतव्यवस्थान्यथानुपपत्ति	२२ १५
सत्यानुतार्थताऽभेद	५८ ६; ११७. १८
सत्यालोकप्रतीत	४१ २८
सत्येतरव्यवस्था	९ २९
सत्येतरस्वरूप	१४ ५
सत्यप्रयोगजत्व	७७. ११
सर्वार्थनियत	९८. ९, ११
सर्वार्थान्तराणि	१३ २१
सर्वदेकात्	१०६. १२.
सर्वभेद	२४ १
सर्वविशेष	११ १२, २४ ३
सर्वमज्ञानसम्बद्ध	६९ १९
सर्वमज्ञानसमावृत्तिसमावृत्तिविवेक	३०. ३
सर्वसत्त्व	३५ ७, ४२ ८, १०९ २९, ११० १५; ११२. २२
सर्वसत्त्वप्रमाणप्रमर्शकान्तात्मन्	१०२ ७
सर्वसत्त्वप्रतिपत्त्यागेतरविकल्पविशेष	१२३ १४
सर्वसत्त्वार्थनिर्भास	११ २४
सर्वसर्वनभिकापतद्योगविकल्पविधान	१२३. ५
सर्वसत्त्वात्मक	४ १५, १६
सर्वसर्वकान्त	१०२. ५
सर्वसर्वभावविरोधप्रभव -	५४. ८
सर्वसर्वभावात्मन्	२६ २
सर्वसर्वविवेकिन्	१२३. २५
सर्वसर्वव्यवहार	१०५ २३.
सर्वसर्वव्यवहारज्ञान	९१ २७.
सर्वसर्वप्रतिपत्तिविषय	१०५ १६.
सर्वसर्वव्यवहारलक्षण	१०३ २३
सर्वसत्त्व	६२ २४
सर्वसत्त्व	११ १८, १३. ४, ७, १९
सर्वसत्त्व (अनुयोग)	२६. ५
सर्वसत्त्व	८७ १०
सर्वसत्त्वपरिणाम	२३ ३, ९९ २५
सर्वसत्त्व	५५ ६
सर्वसत्त्वपरिवर्तन	१२३. २७
सर्वसत्त्वपरिहेतु	७३ १९
सर्वसत्त्वपरिपरोत्पत्तिविप्रलम्भ	११० २४
सर्वसत्त्वसर्वसत्त्व	५६. १९
सर्वसत्त्व	११ १३
सन्तान	१ ६, ४० २९, ८३ १, १५, ८९ २३, २६; ११२ २६; ११९ ८.
सन्तानसमुदायाविशब्दभावाविशेष	४७ ९
सन्तानान्तर	४०. २९, ५१ १; ९८ ४; १२२ २२.

सन्तानान्तरगत	२३ ९
सन्तानान्तरसम्भूति	३८. २१.
सन्तानापेक्षा	२५ २६
सन्दिग्ध	७६. ३१; १०९. ६
सन्दिग्धादिपरिग्रह	१२७. १९
सन्दिग्ध	२ १५, ८६. १७; ११८. १
सन्दिग्धलक्षणाभाव	३९ १९
सन्दिग्धविच्छिन्ति	८१. १५.
सन्निकर्ष	१९. ९, ८६ १७; १०९ १२, २०; ११० ५, २९, ३१; ११४. १३; १२५ ७.
सन्निकर्षादि	१. ४१, १९ ७
सन्निधानापेक्षिन्	११२ १२.
सन्निधानाभेद	९८. १३.
सन्निवेश	८७. १९.
सन्निवेशविशेष	६७ ११.
सन्निवेशादि	४३. ११; ४९ १२, १०८. २३, २७, ३०
सन्निधि	१९. ५.
सन्निधि	१५. १
सन्निहितविषयवग्रहसमीक्षायाधारणा-	
समानानुस्मरणसङ्कलनपरामर्शभाव	१२५ १९
सन्निहितालम्ब	९७ १७
सप्त	१०९ १३.
सर्पवत्	४५. १९, ११२. ११.
सन्निहितविषयवलोत्पत्ति	५. ९
सन्मान	१३ १७.
सन्मानवर्धन	२ २४
नपदि	२५ २६
सप्त (नय)	१७ १०, २२. २४
सप्तमणी	९० ३, १२२ १७.
सप्तमेश	६७ २१
सप्तमेशप्रवेश	६७ २९
सभागनिबन्धन	६५. २७.
सभागविभागवत्	७१. ५, ९९ २५
सभागसन्तानकल्पना	६६ १
सम	५० १०, ५८ २४; ८९ २३
समक्रियाविशेष	१२४ २८
समक्षवत्	१६ ६.
समक्षविकल्पानुस्मरणपरामर्श-	
सम्बन्धामिनिबोध	१००. ७
समक्षसत्तातीयसम्बन्धानुस्मरण-	
चिन्ताप्रकर्ष	१२५. २२.
समक्षसक्ति	७२. ६.
समक्षेतरसम्बन्ध	३० ४
समक्षकरणादि	४२. १५
समर्थ	४५ २५, १०३. २, ११२ ७.
समर्थवचन	१११ १५
समर्थवृत्ति	१७ ६
समन्तर ५१ १, ६५ १३; १०५. ६; ११८ २३	
समन्तरसाधारण	११७. २४
समन्तरैतरेविनाश	१५. २१.

विषयसाधनत्व	४. ७
विषयाकार	४. ७; ११० १.
विषयानुविधायिन्	९७ ११
विषयालोकव्यवहारविलोप	३१ १४
विषयिन्	२ २२
विषयेन्द्रियविज्ञानमनस्कारादिलक्षण	३१. २५
विसद्व्यपारिणाम	२३ ९; १०४ २३.
विसवाद	५ १७, १०५. १९
विसवादक	८ १०; ८१ १८
विसवादकान्त	१५ २७
विस्तराविति	८०. १४.
विस्व	८१. २१.
वी र मि न	१७ १५
वृक्ष ७ १०, १०. ११, १४ १२, ४३. २९,	
४४ ३, १०३ २६; १२७. १०	
वृक्षदधिन्	७ १०
वृक्षादि	५ १७, १०३ १४
वृक्षमसादवृक्षदोषप्रसर	११९ २९
वृक्षसमत्व	८३ ३०; ९१. २४
वृत्तिवाक्यार्थ	९० २१
वृत्तिविकल्पविरोध	१२२ २५
वैद	८३. २२, ८५ २३
वेदनाधिबन्	५१ १७
वेद्यता	११५ ११
वैद्यवेदकनिर्मात	१२४ ३१
वैद्यवेदकाकार	३ ७
वैद्यवेदकाकारभेद	६ १३
वैद्यवेदकाकारकज्ञान	११४ ९.
वैकल्य	२१ २१, १०३. २१.
वैतण्डिक	११५ ४
वैयधिकरण्य	११४ २.
वैलक्षण्यविशेष्यत्व	५८ २६
वैसाद्य	२ ७
वैरवरूप	१०३. ६, १०४ १४, १२४ २६
वस	१२०. २२.
वसादित्वधारा	८६ २३.
व्यक्त	३१ ९; ५० ४; १०२ १६
व्यक्ति ३२ ६; ३३ २५; ३५ ३; ५० ३; १०२	
१६; १०३. ८; ११८ १९	
व्यक्तधारणविच्छेदसत्कारादिविरोध	८६. २१.
व्यक्तधर्मविशेषान्वय	११८ २७.
व्यञ्जकव्यापार	११८ २७
व्यतिरेक	२३ ८, ९
व्यतिरेक ४६. १३; ४८. १४, ७७. ४, १००	
२०, १०७ १७, १०८ ९, १२६ १३.	
व्यतिरेकचिन्ता	१०१. ४.
व्यतिरेकपुन्यत्व	२२. २६
व्यतिरेकाप्रतिष्ठि	७६ १४.
व्यतिरेकतत्त्वान्त	१६ २१.
व्यतिरेकान्त	१६ १६.

व्यपदेशनिवर्तमान	१००. १९.
व्यपेक्षा	७. २४, ८. १६; १२७. ६.
व्यभिचार १ २६, १७ १०; ९९. १; १०६ १६;	
११४. १५.	
व्यभिचारिन् ११० ३१, १११. ९; ११४. २८;	
व्यवच्छेदत्वभाव	५९. ७.
व्यवच्छेदावित्तवादव्यवहृत्युपपत्ति	७५ ६.
व्यवसाय	३० १५.
व्यवसायकृत्	३९. १९.
व्यवसायफल	२०. २६
व्यवसायसादृश्यमिनिबोधनियम	१००. २.
व्यवसायात्मक	२०. २३, २१ ८
व्यवसायात्म्यसवाद्यव्यपदेश्य	५२ ५.
व्यवसायाभावप्रसंग	२०. २०
व्यवहार १४ १, ३७ ९; ७६ २२, ११७. २.	
व्यवहारनम	२३. ८, १२६ ११.
व्यवहारपर्याय	२३ १०.
व्यवहारप्रसाधक	४३ ३.
व्यवहारविरोधित्व	२४ ३१.
व्यवहारविलोप	३५. १३.
व्यवहारादिधी	४३. ८.
व्यवहारादिनिर्मात	४१. ५.
व्यवहारानुसूत	१४. ६
व्यवहारार्थक	१४. १९.
व्यवहारविनिर्मात	९ ८, २४ ८, १०.
व्यवहाराविसर्वादी	१४. १७
व्यवहितोत्पत्ति	१५. २४
व्यस्त	१४ ३.
व्याकुलान्	५२. १७
व्याख्यात	९०. २९
व्याख्याविप्रतिपत्ति	११७ ३.
व्याधिभूतग्रहादि	५४. ७, १०८ १०.
व्यापक	१०५. ७.
व्यापकसाधिनी	१०५ २८.
व्यापकानुपपत्ति १०५ २५, २७; १०९ १४	
व्यापारभेद	१२३ ३१
व्यापारव्याहारविशेषानाम	१०५ १०.
व्यापारमर्याद	१०८. १.
व्यापिन्	११८ २६
व्याप्ति ५ ११, १७ ७; १०६ ७, १४, १०९ १६, १८	
व्याप्तिविशेष	१०४. १७
व्याप्य	१०६. ७
व्याप्यविनिर्वाचनी	१०५. २५
व्याप्यव्यापक	७४. १९, १०५. २२.
व्याप्यमिदं	१०५. २८.
व्यामोहविच्छेद	१९ १९; १०७ २
व्यामोहव्यवसायवेदन	७२. २३.
व्यावहारिक	७५. १३, १९.
व्यावहारिकप्रत्यक्षविशेषविभाग	२५. १२.
व्यावृत्ति	५७. १; ९९ ५.

सर्वथैकान्तव्यतिक्रम	१२७. २०
सर्वदेशकालादिसम्बन्धसातत्य	११३. १४.
सर्वन्यायाभासप्रतिपादस्यातिसूत्र्येय	१२६. ३.
सर्वप्रकाशसामर्थ्य	७८ १०.
सर्वभाव	५४. २८; ६५. २३, ८०. ३१.
सर्वमेवप्रभेद	५०. ७.
सर्वमेदैक्य	१३. ४
सर्वमिथ्यैकान्तासीति	११६. ७
सर्वमिथ्यैकान्तादीतादिभाष्यज्ञान	१८. २५
सर्वमेक	११. १२, १२६ ९.
सर्वबोध्यता	८७. २३.
सर्ववस्तुनिबन्धन	८४. २.
सर्ववस्तुसंस्था	५३. १६.
सर्ववित्	९९ ९.
सर्वविषय	५१. ६
सर्वव्यवस्था	४६. १४
सर्वव्यवहारसकर	११४४.
सर्वसन्तानविच्छेद	७६ २४.
सर्वस्वाध्यायसम्बन्ध	१०२ १९.
सर्वहिताभिधा	७८. ५
सर्वहेयोभाष्यपरिज्ञान	११६. १४.
सर्वार्थगोचर	७८ १.
सर्वार्थबलोकन	९२. २६
सर्वान्यसदृश	७९. १६
सर्वैकत्वप्रसंग	४७. ११.
सर्वैकत्वप्रसंगाविशेष	४०. ३
सर्वैकवेदन	३३. ३.
सर्वोपलभनिवृत्ति	११० ३.
सहकारिकारणवैकल्य	११०. २०.
सहकारिकारणापेक्षा	१०२. २२; १०३. ८.
सहकारित्व	४७. २७, १०३ ७.
सहकारिवैकल्यादि	११०. २३.
सह क्रमभाविन्	११. २७.
सहक्रमविवक्षा	१२२. १७.
सहक्रम विवर्तित्वा	११. २४; ४५. २५; १०३. १.
सहक्रमवृत्ति	४४. २९.
सहक्रमसयोगव्यभिचर	९९. ५.
सहक्रमसयोगभाविन्	१००. ८
सहक्रमसयोगलक्षण	१०१ २१
सहक्रमसयोगवैकल्यविरोधितेनतर- प्रभेदेकपरिणाम	१००. १२
सह क्रमेण वा	१२ ५.
सहचरकाष्ठानुपलब्धि	१०५ ९.
सहचरकार्योपलब्धि	१०४ २६.
सहचरकारणानुपलब्धि	१०५ ११.
सहचरकारणोपलब्धि	१०४ २८.
सहचार	१०७ १६
सहचारिन्	१०४ २७.
सह तद्भागवृत्ति	९० ११.
सहदर्शन	१०९ ४

सहवृष्टधर्म	७४. २५
सहप्रतिभासवत्	३ १६.
सहभावनियम	१०४. ९.
सहभावावपत्ति	१२ ९.
सहव्याप्ति	११९ ८.
सहसिद्धि	१०० २१.
सहेतु	४३. ७
सहोत्पत्ति	१०९ ६.
सहोत्पत्तिविकल्प	५१. १०.
सहोपलभनियम	४१. १५ १०९ ३, ६, २४, २५
साकल्य	५. १०, ९ २४; २१ २०, ७२. २४; ७४. २३; ९१. ५१ १०६ १४, १०८. २०; १०९ १८, १२७. १९.
साकार	२९ १४, ४५. १७, १०७ १.
साध	४४ ७.
साक्षात्करण	४. २
साक्षात्कृतसमयसमाद	११६ ७
साक्षात्कृतशेषप्रपञ्चमूलनय	८४ ३०
साक्षात्कृतशेषसात्त्वार्थ	९१. २६
साक्षात्कृतदुत्पत्ति	१५ २४.
साक्षिन्	११७. ३.
साक्षिसमक्ष	१११. १६.
सात्त्विक	१०४. ६.
सात्मीभाव	८९. ५.
सादृश्य	५७ ४; ६५ २७; ८६ ३०.
सादृश्यविनिबन्धना	५९. १६.
सावकन्तम	२. २; ९९ १६; १०४. २७.
सावकवाक्यक्रमयागमाद्य	२. १४
साधन	६६. २०; १०२. ९.
साधन	२५ २६, ५२ २१; ५९. २४; ६९. १५, ७०. ७, १०१ १, २१; १०४ १५; १११. १५.
साधनद्रूपपतनाभासवाक्य	२२. ६
साधनद्रूपणवचन	१११. १५.
साधनद्रूपणसामर्थ्यापरिज्ञान	११३. २०
साधनसम्बन्धप्रतिपत्ति	१११. २१
साधनान्तर	७. २४; १०१. २४; ११४. ११.
साधनाभास	११० ९.
साधनाविषयत्व	५३ ५.
साधनासाधनागल्यवस्था	१०. ३.
साधनागल्यवचनोपलभच्छल	१११. १९
साधनार्थाविसमञ्जाति	८०. १५.
सामुत्कृष्टानुभाषिक्यक्रमस्थिति	११६. २.
साधारण	२१ १९.
साधारणसाधारण	२१. १८
साध्य	५३ २, १०२. १, ३, ४
साध्य	१७ ७; ६९. २८; १०२. ३; ११०. ९.
	३०, १११. १, ११३. २२,
साध्यधर्मकल्पना	१०४. ४
साध्यधर्मी	५९. २४.
साध्यपरिग्रह	१०१. १४.

सौ द्रो द नि	३७. १; ४२ १९.
संज्ञादि	२०. २.
सामु	४९. ४.
श्रवणग्रहणयोग्यताव्यावृत्ति	१२३. २७
श्रवणज्ञानहेतुत्व	९३. १५
श्रावणत्वादि	१०४. १३; १०९. १७.
श्रीमत्परमगभीरत्वाद्वादाभोधलाक्षण	९७ १.
श्री व द्द मा न	२९ ४.
श्रुत	४. २४, ९. १२, २१. १४; २५. १८, २६; ७४. ३१; ९२. १७, ९७. ३, ६;
श्रुतज्ञान	५ ३; ९. १४, १०. १६; २४ ११; ९३ ५.
श्रुतज्ञानतदामासम्बन्धस्था	९ १०.
श्रुतपाठक	१०१ १६
श्रुतमेव	२२. २४
श्रुतयोग्यत्वातिथयादानहानि	७९ २०.
श्रुतविकल्प	११८ ३.
श्रुतविज्ञानहेतु	९३ १९
श्रुतापित	२५ २१.
श्रुति	९ १९, १० ९, १४ २१; ११६. २१, ११८. २, १२५. १७
श्रुतिकल्पनामुद्रादि	९ २५
श्रुतिस्त्रियासीत	८६. ८
श्रुत्यत्	९३. २७
श्रुत्यतिथयप्राप्ति	११८ १०
श्रुत्य	११८ १६.
श्रुत्यगोचर	८८ ५.
श्रुत्यादिवृत्तिप्रत्यक्ष	५२ १.
श्रुत्यविधेय	६८ १४
श्रुत्य	५ २४, २५ ३.
पदकारणी	१६ १७, २७, १७. १.
पदज्ञ	४१. २२.
स एवाय	५८ २४, ८६. ३०.
सकर्मक	२३ ८
सकल मात्सा	१०४. २८
सकलकलाकलापमया	१२६. ५.
सकलकलाकलापसमावलेपजात्यन्तर- प्रतिपत्तिमान्तरियक	११३. २७.
सकलग्रह	६०. २९, ७७. ११; १०८ ७
सकलग्रहान्तरियक	१०८ १०
सकलग्रहसामर्थ्य	७३. १५.
सकलज्ञ	८४. ९
सकलज्ञानावरणपरिसम	९९. १०.
सकलतत्त्वप्रतिपत्तिपत्र	१२३. १५.
सकलनिरूपकस्वविकल्पितेतरस्वभावनियम	१२५. ९
सकलप्रकार्य	२३ ७
सकलपरिणामिन्	१२१. ३.
सकलप्रमाणप्रमेयेयसावत्स्वत्वाभिधामि	२१ १०
सकलवादिचञ्चलकालित्	१७ १८
सकलवित्	१७ १४
सकलविषय	९४. ३.

सकलसम्बन्धेदनिर्णयनिर्णयविप्रसंग	१७. १४.
सकलसम्बन्धहारनियामक	२१ १.
सकलसन्निधेय	१०३. ८
सकलसंभृतमानावर्णयविगमितनिश्चिन्नेय- विजृम्भितकैवल्यज्ञानाधिगमफल	१२७. ११.
सकलसंभक्तिविरहिन्	१०४. २४, ११३ १.
सकलाकार	४७ २०.
सकलप्रमाणविषयज्ञानाविरोध	८१. १४, १२७ २४.
सकलप्रह	६८. ९; ८८ ५.
सकलप्रज्ञागरीरवत्	५०. ७
सकलानन्	११०. २०.
सकलदेह	२१ १५, १६, १९.
सकलविषयबोपलमानमय	१०२ १४
सकलप्रतिभासमेव	९८. ३.
सकलप्रवृत्तविश्रम	८६. २४.
सकलज्ञानादेवोपलम्भ	११८. २६.
सकल	३७ ३.
सकल	१५ २; २४ १८
सकलराचर	५०. ४.
सकलनीयपरिणामाभिधामि	८८ १
सकलानपरिणामात्मकत्वमन्त्रनिपत्ति	८८. २७
सकल	३७ २३, २८
सकल	११२. १५.
सकल	१० २५, १४ २०, २२, २४. १०३८. ६, ४५. ११. ४६ २४, ४९ २८५० ७; ५२ ५; ८२ १८; ९८ ११, १०२ ९; १११. १५, १८१ १०. १, ९ सकल १३ १९५०. ५; ५३ ८, २६, ५९ १३. ७६ १७; १०२ २५, १८; ११३. २०; १२६ ५, ९.
सकलानुपग	५३ २५.
सकलानन्द	२३ १६.
सकलयोग	५०. ५.
सकलालोक	२ १९
सकलानिर्विकल	१०४ १८.
सकलसमवाय	१३ २२
सकल ३७ २४, २८५०. ३; ७०. १; ७६ २८; १०२ १६; १०४. २२; १०७ २१, २४; १०८ १८, २४, २७, ३०; १०९. १-११०. ७; ११३ २४. ११४. २०	
सकलप्रवृत्तत्ववन्नृत्तादि	२. ११.
सकलप्रमेयत्वानुसृत्युत्पत्तिवर्त्मकगुणित्वादि	२१ १८
सकलप्रवृत्तमन्	१३ ८६.
सकलार्थ	१ ८.
सकलविपरिणाम	७९. १६.
सकलविभागात्म्यगुणमन्त्र	१२०. ८.
सकलप्रत्यक्ष	६९. २३.
सकलप्रत्यक्षकृत्त्वान्तर	१०८. २०.
सकलप्रत्यक्षहेतु	१०२ १८.
सकलप्रमेयत्व	६९. ३.
सकलवृत्तिनिमित्त	१०४. १८.
सकल ३४. १५, ५२. २०; ५४. १३; ७०. ३०; ७२. २९; ७८. १९; ८५. ९, ८८ १८; १०७. १३; १२०. ३.	

सख्यासंख्येय	१२४. २१.
संग्रह	११. १०, १३. ४, ७, २४. १, ३.
संग्रहव्यवहारजुसुधार्यनयसम्य	१२३. ७
संग्रहादि	२३. २६.
सपात	९२. ९.
सचयापोहस्तान	११५. २३.
सचितालम्बन	९८. २
सज्ञा	४. २३, ५ १, २; ६०. १८.
सज्ञाकर्म	२६. १.
सज्ञान	१७ १०.
सज्ञान्तरविकल्प	१२०. १८.
सज्ञासंज्ञिसंप्रतिपत्तिसाधन	७ २०
सज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्ति	७. ९
संज्ञिप्रतिपादन	७ ७.
समयप्रत्यय	१००. ५.
सयोग	१०४ २८, २२.
सयोगकारण	१००. २३.
सयोगसमवायतवनुदय	१२५. २४.
सयोगसमवायादिसम्बन्ध	४८. २६
सवर	८८. २१; १२२. ६.
सरण	८८ २३
सवादवृक्ष. २४, ९८. २९, ११५. ३, १०; १२५. १४.	
सवादनिरपेक्ष	१२५ ३
सवादसाध्यमेव	१००. ८
सवासाधनभावाभावा	८४. ६
सवित्	४२. १, १२०. ६, १२१ ६
सवित्ति	४ ७, ३४ २०, ५४. २८
सवित्परमाणु	१५ २, २४. १७
सवित्त्वभाव	१०३ १३
सविवात्सम्	३८ १३, ९८. ४.
सवेव	३२ ६.
सवेदन	३२. ३; १०३. १३.
समुत्ति	३ ८, ९, ११५. १६.
समुत्तिवाद	११५. २१.
सम्यवहारानुपयोगिन्	१ १५.
सम्यवहारभावा	३ ११
समय १००. २; १०८. २४, २८, ३१; ११० ३०, ११४ १.	
समयविपर्ययसकारण	१. १५.
समयविपर्ययसिस्त्वप्नज्ञानादि	२४ ९
समयविरोधवैयधिकरण्योभयदोषप्रसंगानवस्थासकारा- भावकल्पना	१०३ ४
समयादिज्ञान १८. २७, २० २, ११५. १२, १९	
समयादिप्रसंग	९१ ४
समयादिविदुत्पाद	१८ २५
समयासिद्धव्यतिरेकानन्वयादि	१११. १०.
समयैकाग्रता	६ ५.
समयैकान्तवादिन्	८२ ४
समीति	२. १४
समलेष	६७. १७, १०४. ३१; ११३ २९
समर्ग	५४. २७, २८.

ससार ६२. १३; ८३. १४; ८९. २५; ११९. ५, ८.	
ससारपरिनिर्वृत्ति	१२२. १३.
ससारमुखिभाक्	६०. १७.
ससारवैचित्र्य	६४. २१.
ससारिन्	२३ १०; ७८. १४, ८४ १७
सस्कार	३ १, ११८. २६, ११९. २०
सस्कारपाटव	८९ ८.
सस्कारसंस्थिति	६३ २४.
संस्कृतेन्द्रियवत्	१०३. ३.
संस्थानात्मक	८ १८, १०८. २५.
संस्थानादिमान्	१२१. २०.
सहता	१०८ २८.
सहारमृन्नीलादि	११४. ६.
सहृताविकल्पावस्था	१२३ १२.
सहृताद्येयचिन्ता	८. १७
साकर्म्य	६७ ११.
सान्त्व	४९. १३.
साध्यवहारिक	२. ८.
स्कन्ध २३ ६, ६७ २१; ६८ १, १४, १८, १२१. ३०.	
स्कन्धपरमाणुपर्यायमेव	२३ १३
स्तिमितान्तरात्मना	८. १८
स्त्री	१६ ८.
स्थानप्रसवतदुभयासाधसामान्यलक्षण	२५ ७
स्थायित्वस्या गर्भः	१६ १८
स्थवीयाद्य	१५ १
स्थानु	११४ १४
स्थानप्रस्थान	११९. १६.
स्थानसकरव्यतिकरव्यतिरेक	१२ २५
स्थापना	२६ २
स्थापनादिवत्	११७ २७, ११८ ६.
स्थापनाभुति	११८ ८
स्थिति	४५ ८, ११३ ५.
स्थितिस्वभावाकान्त	१०५ १८.
स्थित्युत्पत्तिविपत्ति	१००. १७
स्थूल ४४ ६, ९८. १; १०५. ३; १२३ १८.	
स्थूलज्ज्यादिक	१२१ २५
स्थूलप्रमाणानवधारण	४४ १६
स्थूलस्पष्टविकल्प	७२. १४.
स्थूलात्मकमेकम्	८ १९
स्निग्धरूपाताभाव	११९ २२
स्नेहादि	१२० १९
स्पर्श	६८ २५; ११५ १; १२१ २०
स्पर्शसंग्रह	६८. २५.
स्पर्शादिविरोध	१०४ २६.
स्पष्ट २१ ६; २९. १४, ५० २२; ८४. १३;	
	९२ १७; ९७ १७, ११६ १५.
स्पष्टनिर्गम	१२२ १२.
स्पष्टाकारविवेक	१२५ १०.
स्पष्टास	३९ २०
स्पष्टावगृह	११८ १.

स म न्त भ द्र	११४ २१	सम्प्रीतिपरिधादिभेद	४० ११.
समवृद्धि	८८. २६.	सम्प्लवप्रसव	१२१. ५; १२३. १३.
समभाव	५७ २७.	सम्प्लवस्थानपरिणामविरोध	१२१ २५.
समाविहार	९८ ३०.	सम्बन्ध	५५ २५; ७५. ८५ ८०. २७; ११९. २२.
समय १. ९, ५६. २५, ५८. ११, २२; ८७	२५, १२३. २०, १२४. १२.	सम्बन्धव्यग्रह	५५ ६.
समयस्थिति	११०. १९	सम्बन्धनियम	८७ २५.
समयस्मरणाभाव	११९ ९	सम्बन्धनियमाभाव	१६. ७.
समयानपेक्षय	११७. २	सम्बन्धप्रतिपत्	७. १५.
समयाविग्रहसम्भव	८४. ६	सम्बन्धान्तर	१२४. १४
समरागादिदोष	४१ २७	सम्बन्धाभिज्ञान	१२४. ११.
समयग्रह	९९ ६	सम्बन्धासिद्धि	१६ १६, १०२ १४, ११३. १५; ११९ २
समवाय १४ ११, १३, १४, ४३ २५, ५२. ७; १२१ १२		सम्बन्धोपकाराद्यनवस्थादोष	१२२. २५
समवायसाकल्यवैकल्य	११७ १८	सम्भावितोद्बुत्सदृष्टि	११६. २४.
समवायान्तराभाव	१४ १५	सम्भोह	१०८ ५; १११. ६.
समवायविशेष १०० २१; १२१. १२.		सम्भोहविच्छिन्नसि	१११ २१; १२४ ९, १२७ २५.
समवायिन् २१. ९, १००. १५, ११४ ३१.		सम्भक्तविविध्यात्वे	२५ १५.
समविकल्पजनकत्व	१०७ ७	सम्भक्तान्त	२१. २५.
समव्यपदेश	१२४ १०	सम्भक्तान्त	२१ १२; १७. ९
समस्त	१४ ३	सम्भक्तान्ताङ्कुल	८८ १५; १२२. ९.
समस्तैक्यसग्रह	२४ १	समिकल्पक	२४ ९; ३९ १०; ४५. २५; ४६ २४, ९७ १८; ९८ १०, १६; १०३ १; १०७. ९.
समानपरिणाम २३ ६. ७, ५६ ३; ५६ १३; ११७ १		समिकल्पलक्षण	४६. ५.
समानपरिणामरहित	१०७ ९	समिकल्पाव्यासाद्यन	४५ ३.
समानपरिणामात्मकत्वसकृत्हेतु	७२ १६	समिकल्पावभासन	८ १७.
समानपरिणामात्मकसम्बन्धप्रतिपत्ति	५४. १९.	समिकल्पाविनाभावान्	३० ४.
समानपरिणामिन् ४९ ६; ५६ २४, ७२. २६		सर्वकर्मविनिर्मुक्त	२६. ९
समानवर्णनाम	१२४ २.	सर्वगत	१३. २३, ५० ३; ५२ ७; १०२ १६; ११८. २५.
समानवाचि	१०३. ६.	सर्वभित्त	१०९. ५.
समानाकारकल्पना	५१. ५.	सर्वज्ञ १७ १२; ७७. १५; ११ २७; १०९ ७, ११३ १०. ३.	
समानाकारगून्त्व	५९. ६.	सर्वज्ञप्रतिपेक्ष	७६ ३१.
समानात्मन्	४७ २.	सर्वज्ञवाचिनी	७७ ७
समानार्थपरानुक्त	४८. १	सर्वज्ञसंस्थिति	८५ २०.
समानाधारसामान्यविशेषणविशेष्यधी	७१ १४	सर्वज्ञादि	९२. १४.
समानान्वनिर्णय	२३. ४ ९८. १८	सर्वज्ञादिविशेषाभाव	२ १३.
समानेतरपरिणामातिशय	३९ १०, ८८ ४	सर्वतोमास	९९. ८
समानोक्त्यहेतु	३९ १०, ८८ ४	सर्वान सङ्गत्य चिन्ता	८. १८.
समारोपव्यवच्छेद ३. ९, १०; ८ १२, ३९ १०.		सर्वधानुपलभ	४९. ३.
समित	६५ १३	सर्वधात्समुपात्तय	८६ ११.
समितकर्मयोगिन्	४४. १५	सर्वधावरणात्तय	७८ १८.
समीक्षक	१०६ १२	सर्वधाऽवकतव्यत्वकल्पना	१२५. ३०.
समीक्षाकारिन्	१०६. १६	सर्वधावकतव्यत्वत्	१२५. ३०.
समीक्षाविरोध	१०५ २१.	सर्वधाऽविकल्पक	९. ५.
समीहित	१२५ १२	सर्वधाऽसकमव्यवस्था	११ २३
समुदाय ११०. २६; १११ ३.		सर्वधैर्यव्यवस्थिणी	२४. १६
समुदायसमुदायिनियोग	१२३. ३	सर्वधैर्यकान्त	२२. ३, ११०. ११.
समुपलक्षितविशेषसंख्यान	१२५ १८.	सर्वधैर्यकान्तत्याग	२१ २३
सम्प्रत्यस्तमितशेषनियम	७१ २४.	सर्वधैर्यकान्तप्रवादातीत्योचर	८१. २६
सम्प्रदाय १२४ १८.		सर्वधैर्यकान्तविवेक	६६ २८
सम्प्रदायाविच्छेद ९८ ३१; १२४. २८		सर्वधैर्यकान्तविदलेपतत्त्वमार्गव्यवस्थिन	९०. २८
सम्प्रदायविधात	९३ ७.		

साम्यविक्षा	५२. २३.
साम्यसम	१११. २३.
साम्यसाधन ७. ६; ७९ ११; ९२. ३७; १०६ १४; १११. २५, ११३. १; ११९. १४.	
साम्यसाधनधर्म.	८०. २७
साम्यसाधनमिथ्यासकत्वाभिनिवेश	१२०. ४.
साम्यसाधनसम्बन्धासिद्धि	११३ २८
साम्यसाधनसकल्प	४२. १४.
साम्यसाधनमयि	६६ २८; ११४. १४.
साम्यार्थसंभवाभावनियमनिरूपणकलक्षण	१०२. ११.
साम्यार्थसंभवाभावनियमासिद्धि	११०. ११.
साम्यार्थविकल्प	८० २८
साम्याभाससमवयनियमनिरूपणकलक्षण	१०७ २३.
साम्याभास	५३ ५; १०२ २, ५.
साम्यविज्ञानाभा	१०१ २१.
साम्यविज्ञानाभाभिनिबोधकलक्षण	५. १४.
सान्द्रप्रतिभास	३४. ६.
सापेक्ष	१५. २, २४ १९.
सापेक्षता	२५. १५.
सावधीयुग्मदोष	८५. २८.
सावधीप्रतिभासविशेष	१०६. २०.
सावधीभेद	१२. २६, १०६. २०; ११४ १.
साम्यविशेषोपपत्ति	९७. ८; १२४ १३.
साम्यविहितज्ञानवर्धिताकारमेव	६८ २९.
सादृश्य	६३. १९; ४८. २२, ४९. ५, ५०. ६; ५४. २४; ५६ ३; ५८. २१, ७९. ८; ९९. २५; १०२ १९, २०, १०७ ७.
सामान्यवृत्त्य	३३. ६; ५५. १.
सामान्यमेवकार्यसाधन	७१. ८.
सामान्यलक्षण	४. १, ११ १९, ५६ २८.
सामान्यविशेषपरिणामधी	६३. ५.
सामान्यविशेषसमवायव्यपेक्ष	१२०. ९.
सामान्यविशेषात्मन्	९९. १०; १०२. ४; १०३. १०; ११२. १८.
सामान्यविशेषात्मविषय	९७ १८.
सामान्यविशेषार्थसाधन	११० २८
सामान्यसन्निवेशिन्	११७. ९.
सामान्यानुसृति	१०१. १३.
साम्यविकार्यसाहित्य	२३. १.
साल्प	१३ ६; ९७. १२, ११५. २६; ११८ ६.
साल्पव्यभिचारभावा	११७ १४.
सावयवविरोध	१००. २३.
साल्नादि	७५ २९.
साहस	५०. १९; ८३ २२.
सितासनपुरस्सर	११६ २२.
सिद्ध ८१ २७, ८६ ८; ११०. ६; १११. ९, ११६. ६.	
सिद्धपरमात्मानुशासन	८१ २७; ११६. ६.
सिद्धसाधनीयपरतन्त्र	१२० १५.
सिद्धसाध्याय	१११. २.
सिद्धसेन	११४. २१.

सिद्धादिसामान्यस्तेमानुशासनप्रवृत्ति	८२. ६२.
सिद्धान्तविषयमह	४०. ६.
सिद्धान्तिकाकिञ्चित्करविस्तार	१११. २.
सिद्धि	८६. २.
सुख	२५. २५.
सुखज्ञानादिक	३३. ३६.
सुखदुःखादि	३. १५; ३३. ३३.
सुखदुःखादिविज्ञानोपयोग	१२१. ६९.
सुखदुःखादिवेदन	२६. २०.
सुखदुःखादिसिद्धि	३१ १९.
सुखदुःखादितेज	८५. १५.
सुखादि	२ ९, २१. १४, २३. २३, ४०. ६५, ६६. २; ८३. १८; ९८. १९, १०४. २०; १०९. १; ११२. १२, १२१. ७, १२२. ६; १२५. ८.
सुखादिसिद्धिविषय	१२३. ७.
मुक्तदिव्यरूपनिरूपण	२३. २४.
सु ग त	८० ४, ५.
सु ग ता दि	२२. १३.
सु ग तै त र	६. २.
सु ग ल	१४. १०.
सुनिश्चितसमवयवावकाशमात्र	२. ९; २१. ३४.
सुप्तप्रवृत्ति	४८ २२.
सुप्तप्रवृत्तिविशेषप्रत्यय	३०६. २९.
सुप्तप्रवृत्ति	१०१. ५.
सुवर्णपाषाणादिवन्	११६. १८.
सुवृत्तवत्	९८. २३.
सुवृत्तादि	२३. ७, ५९. २८; १०४. ७.
सूक्ष्म	२३. २२; ८३. २७.
सूक्ष्मकठिनादिविशेष	१२३. १४.
सूक्ष्मस्पर्शकलाकलाप	११३. ३०.
सूक्ष्मस्पर्शकला	७३. २२; ७३. २२.
सूक्ष्मस्पर्शकलास्थानादिवेदमूर्तिवत्	१२३ ५.
सूक्ष्मानेकत्वभाव	८. १९.
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थ	८५. १९.
सूत्र	४५. ५; ९० २२.
सूत्रावच्छेदसोर्गहण	२५ ३.
सोपाय	८२ १५.
सी ग त	९३. २४.
सकर	११३ २८.
सकलान्तरवत्	९८. १.
सकलपावविनाश	६४. १५.
सकल १५ २८, ३०, ५६ २१; ५८. १६, १९, २९; ८६. २३; ८७ १५, २३, २८, ११७. १; १२४. ७.	
सकलवर्तमान	१२७. ५.
सकलस्वरूपनियमाभावा	१२३. २४.
सरवा	६१. ६, ११; ११५. १.
सत्त्वाकारकारकलिय	१२४ २०.
मत्त्वादिप्रतिपत्तिसाधन	७. २०.
मत्त्वाविसमभाव	६८ २०.
सत्त्वालक्षणगोचरार्थकयत्न	८१. १३; १२७. २३.

तत्त्वसं० प० तत्त्वसंग्रहपञ्चिका (गा० सीरिज बन्दीदा) १३२, १३३, १३६, १५९-१६१, १६३, १७३.

तत्त्वार्थभा० टी० } तत्त्वार्थविषयभाष्यटीका सिद्ध-
तत्त्वार्थसिद्ध० } सेनीया (आगमोदय समिति
सूत्रतः) १४३-१४७, १५०

तत्त्वार्थसारः (प्रथमगुच्छक काशी)

१३४, १३५, १४३, १४५-१४७

तत्त्वार्थसूत्रम् (जैनग्रन्थालाकर बवई)

१३२-१३५, १३८, १४२, १५२-१५४, १६१, १६९, १७०

तत्त्वार्थवल्लो० तत्त्वार्थवल्लोकवार्तिकम् (निर्णयसागर

बवई) १३२-१३५, १३७-१४१, १४४-१४९, १५१-१५३, १५५-१५७, १६२-१६४, १६६, १६७, १७०, १७१, १७५ १७८, १७९

तत्त्वार्थहरि० तत्त्वार्थभाष्यहरिमयीवाचुतिः (आत्मानन्दसभा भावनगर) १४३-१४७.

तत्त्वार्थवि० भा० तत्त्वार्थविषयभाष्यम् (आर्हतप्रभाकर कार्यालय पुना) १३४, १३५, १४०, १४२-१४७, १५२, १५३

तत्त्वोपप्लव० तत्त्वोपप्लवसिंह लिखितः (प० सुखलालसत्कः B. H. U. काशी) १४६, १६२.

विशिकामा० विशिका विश्वविभाष्यसिद्धिः (By सिल्वनलेवी. पेरिस) १५६.

धर्मसं० धर्मसंग्रह. (आर्यन सीरिज ऑक्सफोर्ड यूनि०) १६२

धर्मसंग्र० धर्मसंग्रहणी (आगमोदय समिति सूत्रतः) १६३, १६४, १६९

धर्मसं० ब० धर्मसंग्रहणीवृत्ति (आगमोदय समिति सूत्रतः) १७७.

धवलाटी० सत्प्रक० धवलाटीका सत्प्रकल्पना लिखिता (प० हीराचालसत्का अमरावती) १३४, १३५, १४३-१४८, १५२, १५३.

नयचक्रम् (भाणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बवई) १४३-१४७

नयचक्रम्० नयचक्रवृत्ति. लिखिता (२३० जैनमन्दिर रामघाट काशी) १३३, १४३, १४४, १४६, १४७, १४९, १५३, १६२, १७०, १७७, १७८

नयप्रदीप. (जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर) १४३, १५१, १५२

नयरहस्यम् (जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर) १४३.

नयवि० नयविवरणम् (प्रथमगुच्छक काशी) १४३, १४४, १४६, १४७, १५२, १५५, १७०.

नयोप० नयोपदेशः (जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर) १७०.

नन्दिसू० नन्दिसूत्रम् (आगमोदय समिति सूत्रतः) १३२. नन्दि० मलय० नन्दिसूत्रमलयगिरिटीका (आगमोदय समिति सूत्रतः) १८१.

न्यायकुमु० न्यायकुमुदचन्द्र. (भाणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बवई) १३८, १६०, १६३, १७०, १७९.

न्यायकुमु० टि० न्यायकुमुदचन्द्रटिप्पणम् (भाणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बवई) १६६, १७०.

न्यायकुमु० लि० न्यायकुमुदचन्द्रः लिखितः (स्याद्वाद-विद्यालय काशी) १३८, १४१.

न्यायकुमु० न्यायकुमुदाञ्जलि. (चौखम्बा सीरिज काशी) १३४, १४०

न्यायदी० न्यायदीपिका (जैनसाहित्यप्रसारक कार्यालय बवई) १३२, १३४, १३५, १५५, १६२, १६४, १६८

न्यायप्र० } न्यायप्रवेश. (गा० सीरिज बन्दीदा)
न्यायप्रवे० } १६१, १६३, १६५, १६६, १७७.

न्यायवि० न्यायविष्णुः (चौखम्बा सीरिज काशी) १३६-१३९, १४१, १५५, १६१-१६३, १६५-१६८, १७५, १७८.

न्याय वि० टी० न्यायविष्णुटीका (चौखम्बा सीरिज काशी.) १३७, १४८, १६८, १७६.

न्यायवि० टी० टि० न्यायविष्णुटीकाटिप्पणी (विन्डो-यिका बुडिका रशिया) १३५

न्यायभा० न्यायभाष्यम् (गुजराती प्रेस बवई) १६३.

न्यायमुल्लस्यः (तत्त्वसंग्रहपञ्चिकायांमुद्रित) १६१, १६६

न्यायन० न्यायमञ्जरी (विजयानगरम् सीरिज काशी) १३७, १५४, १६२, १६३.

न्यायवा० न्यायवार्तिकम् (चौखम्बा सीरिज काशी) १६२, १६३

न्यायवा० ता० टी० न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (चौखम्बा सीरिज काशी) १३४, १३७, १३९, १६२.

न्यायवि० न्यायविनिश्चयः (सिन्धी जैन सीरिज कलकत्ता) १३२-१३४, १५५-१६०.

न्यायवि० वि० न्यायविनिश्चयविवरणं लिखितम् (स्याद्वाद विद्यालय काशी) १३२-१३४, १३८, १४८, १४९, १६४, १७१-१७६, १७७-१८०.

न्यायसू० न्यायसूत्रम् (चौखम्बा सीरिज काशी) १३९, १४१, १६२, १६५, १६६,

न्यायवि० टि० न्यायविनिश्चयटिप्पणम् (एतत्पुस्तकस्थम्) १७२-१७५, १७७-१८०

न्यायावता० न्यायावतारः (श्वेताम्बर काफ्फेस बवई) १३७, १६२, १६३, १६५, १६६, १७०, १७७.

सम्पादयमासिन्	७२. ९, ७३. २२.
स्फटिकाद्युपहितार्थप्रतिबिम्बोपलम्भ	११८ २
स्फुट	२१. ८७६. ८; ९९ ६, १०२. १६
स्मरण	१७. ९, १०४. २२
स्मरणपूर्वक	९७ ७
स्मृति	५. १, १५१. ७; १५ १८, २३, २४९९ १५; १०९
	९, १२५ १३.
स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्तामिनिबोधात्मिका	२३. १
स्मृतिप्रत्यभिज्ञानगदि	१५ २९
स्मृतिबीज	१२५. १८
स्मृत्यिकल्प	१०१. २२
स्मृत्यवधान	९९ १६
स्मृतिसंज्ञाचिन्तामिनिबोधात्मक	२१ ७
स्मृतिहेतु	२. २८, ३ १
स्याच्छब्द	२१ २६
स्याज्जीव एव	२१ २५
स्यात्कार	२२. १, ३
स्यात्सर्वप्रमाण	२१ २३
स्यात्सर्वेष जीव	२१. २६
स्याद्वाच	२१ १५, १६, २२ ६
स्याद्वाच १६. २४, १७. १२; २०. २४, २६; २१	४; १६ १५, २७
स्याद्वादनयसाक्षित	२१. १४.
स्याद्वाचिन्	१ ३
स्याद्वाचैकानुसप्तक	१८ ५
स्वाधुष	१०३ ३
स्वाधुषपथि	११ ८, २३ ६; ४५ २५
स्वाधुषाभाव	६ ६
स्वाधुषाभावसाक्षितारसोपानयोपय	३३ १४.
स्वतन्त्र	६२. ४; ८६ २०; १०७ ११; १२२ ३
स्वत	६. २७; १३. १९; ३६ २२, ३७ १५, ७८. २३; ९२. ५; १०३ १४, ११०.
	१५, १२५. ४
स्वतः प्रमाण	९८. २८, ११६ १०
स्वतः प्रामाण्यविप्रतिषेध	१०९ १०
स्वतः सर्व	१३ २२, १२३ ३
स्वतः सामर्थ्यविरुद्धे	८७ १५
स्वतः सिद्ध	९९. १; १२१ २६
स्वतः सिद्धि	४१. २८, १०० १९
स्वनिर्गममेव	१२. २९
स्वनिर्गममेवात्मकज्ञान	१३ ६
स्वनिर्गमसिद्धान्त	११ ६
स्वनिश्चयफलापेक्ष	९८ २२
स्वपक्ष	४. ५
स्वपक्षविपक्ष	१४. २
स्वपर्यय	११ ६, ४५ ६
स्वपर्ययमेवात्मकज्ञान	१३ ८.
स्वपरज्ञानसन्तानोच्छेदकारण	८२. २१.
स्वपरपक्षसाधनदूषयव्यवस्था	११५ १६.
स्वपरप्रतिवेदिन्	१२६ १९.

स्वपरप्रत्यय	११७. ३१
स्वपरमेदव्यवहारपरिग्रह	१२३. १५
स्वपररूप	६९. २१.
स्वपरविज्ञानादव्यसनीयेन	१४ २५
स्वपरसन्तानभावना	१२०. १८
स्वपरसन्तानस्थानसहकारण	१२२ ८.
स्वपरस्वभावानुगमव्यावृत्तिवत्	१२२ १८.
स्वपररात्मन्	३९ २७.
स्वपरिणामविकल	१०४. २५.
स्वप्नादि	११० १४, ११४ १०, ११६ १६.
स्वप्नान्तरवत्	१४. ७
स्वप्नेक्षणिकादि	८४. १४.
स्वप्नगीतागमस्यापन	१०. १९
स्वप्नवेद्य	४७ ४, ७८ ६
स्वप्नप्रत्ययकायव्यवहारानुमेय	११६. १६.
स्वप्नप्रमाणविनिवृत्ति	११० ३
स्वप्नाव ५ १७, २१, २० २०, ६०	२८, ११२ २१
स्वप्नावकार्यमेव	१७ २
स्वप्नावकार्योपलब्धि	१०४ २१
स्वप्नावकारणसिद्धि	७७ ११.
स्वप्नावकारणोपलब्धि	१०४ २३.
स्वप्नावनिरात्म्य	१४ २४
स्वप्नावपरभाव	११५. ७.
स्वप्नावपरिहारविरोध	१०५ १८.
स्वप्नावप्रतिबन्ध	१०६. १४.
स्वप्नावप्रतिबन्धपरिच्छेद	११७ १८.
स्वप्नावप्रमाणोपलब्धिसर्वप्रतिपादन	२१ २२.
स्वप्नावमेव ३ १४, २४ २०, ९८ १२, ११०	२१, १२३. ४.
स्वप्नावमेवानुपलब्धि	११७ १०
स्वप्नावमेवाभावकल्पना	६ १५
स्वप्नावलाभ	१८. २०.
स्वप्नावनिप्रकर्ष	६ २०.
स्वप्नावविच्छेदकार्यानुपलब्धि	१०५. २९
स्वप्नावविच्छेदव्यापककारणोपलम्भा-	
नुपलम्भप्रयोगमेव	१०६. १
स्वप्नावविच्छेदव्याप्तोपलब्धि	१०५ २७.
स्वप्नावविच्छेदोपलब्धि	१०५. १७, ३१.
स्वप्नावव्यवसाय	७२ १९.
स्वप्नावसहचरकारणकार्यमेवपरिग्रह	१०५ २८.
स्वप्नावसहचरानुपलब्धि	१०५. ८
स्वप्नावहानि	१०२. १८, ११० २३.
स्वप्नावहेतु	६ १९
स्वप्नावान्तराध्याय	७०. २२.
स्वप्नावान्तरिचन	६८ १७.
स्वप्नावानुपलब्धि	१०५ १२.
स्वप्नावान्तर	१०५. १५; ११३. १९
स्वप्नावान्तरग्रहणाय	१२३. ५
स्वप्नावान्तरपरिणामात्मक	१०४. २४.
स्वप्नावान्तरनिवेक	१०२ १२.

योगभा० } योगभाष्यम् (चौखम्बा सीरिज
योगसू० व्यासभा०) काशी) १४२, १४६, १५५,
१६२.

योगभा० तत्त्ववै० } योगभाष्यतत्त्ववैशारदी (चौखम्बा
योगसू० तत्त्ववै०) सीरिज काशी) १४६, १६०

योगभा० भा० योगभाष्यभास्वती (चौखम्बा सीरिज
काशी) १४६.

रत्नाकराव० रत्नाकरावतारिका (यशोविजयग्रन्थ-
माला काशी) १४०, १५१.

राजवा० राजवार्तिकम् (जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी सत्या
कलकत्ता) १३४, १३५, १४३-१४७, १४९,
१५२, १५३, १५७, १७०, १७९

लघी० लघीयस्वयम् (सिची जैन सीरिज कलकत्ता)
१३२, १६२, १७०, १८०.

लघी० टि० लघीयस्वयटिप्पणम् (एतत्पुस्तकस्थम्)
१६०, १६१, १६७, १७०, १७२, १७३, १७५,
१७७, १८०.

बाबन्यायः (महाबोधि सोसाइटी सारनाथ) १३७,
१३९, १६६, १७५.

बाबन्यायटी० बाबन्यायटीका (महाबोधि सोसाइटी
सारनाथ) १३२, १३९, १४५, १५९, १७९

विश्वसि० विशिका } विश्वसिमात्रतासिद्धिः विश-
विश्वसिमात्र० विशातिका } तिका (By सिल्वनलेवी
मेरिस) १५८, १६०.

विधिवि० विधिविवेकः (लाजरसकम्पनी काशी) १३७.

विधिवि० न्यायकणि० } विधिविवेकन्यायकणि-
न्यायकणि० } टीका (लाजरस कम्पनी
काशी) १३७, १६०.

बादविधिः (प्रमाणमीमांसाभाषाटिप्पणीलिखिता)
१६६

विशेषा० भा० विशेषावश्यकभाष्यम् (जैनधर्मप्रसा-
रकसभा भावनगर) १३२, १३४, १३५, १४३-
१४७, १५२, १५३, १६३, १६४, १६९.

वैशे०सू० वैशेषिकसूत्रम् (चौखम्बा सीरिज काशी)
१६५.

व्या० प्र० } व्याख्याप्रज्ञप्तिज्ञतकम् (पूनाभाई
भगवतीसू०) } ग्रन्थमाला अमदावाद) १४२, १५१.
शब्दकल्पद्रुमः कोशः (कलकत्ता) १६२.

शावरभा० शावरभाष्यम् (आनन्दाश्रम सीरिज
पूना) १४०

शावरभा० बृहती शावरभाष्यबृहतीटीका (मद्रास
युनि० सीरिज) १५६.

शावरभा० बृहतीप० शावरभाष्यबृहतीपञ्जिका
(मद्रास युनि० सीरिज) १६०, १६९.

शा० भा० भामती आङ्कुरभाष्यभामतीटीका (निर्णय-
सागर बर्हई) १३९, १४६, १६०

शास्त्रदी० शास्त्रदीपिका (विद्याविलाम प्रेस काशी)
१५५, १८२.

शास्त्रवा० शास्त्रवार्तिसमुच्चयः (आगमोदय समिति
सुरत) १३८, १६३, १६८.

शास्त्रवा० टी० शास्त्रवार्तिसमुच्चययशोविजयटीका
(यशोविजयग्रन्थमाला काशी) १३३, १४९,
१५०, १७०

शिक्षासमु० शिक्षासमुच्चयः (विन्डोपिका बुद्धिका
रसिया) १३१, १७५.

वद्द० वृह० वद्दवर्णनसमुच्चयवृहद्वृत्तिः (आत्मान-
न्दसभा भावनगर) १३३-१३५, १३९, १६२

वर्तितन्त्रशास्त्रम् (योगभा० तत्त्ववैशारद्यामुद्भूतम्)
१४६.

सम्पत्ति० सम्पत्तिकः (पुरातत्त्व मन्दिर अमदावाद)
१४२-१४४, १५२, १६९.

सम्पत्ति० टी० सम्पत्तिकटीका (पुरातत्त्व मन्दिर
अमदावाद) १३२, १४४, १३५, १३८-१४१,
१४५-१४८, १५०, १६०, १६६, १७०, १७९.

सप्तभित० सप्तभितरङ्गिणी (रामचन्द्रशास्त्रमाला
बर्हई) १४९, १५१, १७०

सर्वार्थसि० सर्वार्थसिद्धिः (कोल्हापुर) १३४, १४०,
१४३-१४८, १५२, १५३, १७०.

साख्यका० साख्यकारिका (चौखम्बा सीरिज काशी)
१५४.

साख्यका० माठरव० साख्यकारिकामाठरवृत्तिः
(चौखम्बा सीरिज काशी) १७७.

साख्यतत्त्वकी० साख्यतत्त्वकीमुवी (चौखम्बा सीरिज
काशी) १६५.

सिद्ध० द्वारि० सिद्धसेनद्वारिप्रसक्तिका (भावनगर)
१६१, १६७

सिद्धि० सिद्धिविनिश्चयः (सिद्धिविनिश्चयटीकात
उद्धृत.) १३३, १३६, १३९-१४५, १४८,
१५२, १५४, १५६, १५८, १५९, १६३-१७०,
१७३, १७४, १७७, १७८.

सिद्धि० टी० सिद्धिविनिश्चयटीका लिखिता (प०
सुखलालसत्का B. H. U. काशी) १३२,
१३४, १३५, १३७, १४० १४१, १४६,
१४८, १४९, १५६-१६०, १६३, १६४, १६७,
१७१, १७२, १७७, १७८.

सूत्रकृतागसी० } सूत्रकृतागसीलाङ्कटीका (आग-
मोदय समिति सुरत) १४६,
सूत्रकृतागटी० } १५२, १६४.

१७. टिप्पणनिर्दिष्टानां ग्रन्थानां सूचिः, सङ्केतविवरणञ्च.

बह्वयवजस्र० बह्वयवजस्रग्रह (गायकवाड गोरियटल सीरिख बडोवा) १३१

अनुयोग० } अनुयोगद्वारसूत्रम् (आगमोदय समिति
सू० } सूत्रत) १३२, १४४, १४३-१४७.
१५२-१५४

अनेकान्तबय० अनेकान्तबयपताका (यशोविजय ग्रन्थमाला काशी) १६३.

अन्ययोगव्य० } अन्ययोगव्यवच्छेदवृत्तिशतिका
स्वाहावय० का० } (रायचन्द्र शास्त्रमाला बवई)
१४२, १७०.

अभिधर्मको० अभिधर्मकोश. (काशीविद्यापीठ ग्रन्थ-माला) १६२, १६९, १७९.

अभिधर्मको० व्या० अभिधर्मकोशव्याख्या (काशी विद्यापीठ ग्रन्थमाला) १५६.

अभिसमयालकारालो० अभिसमयालकारालो० (गा० सीरिख बडोवा) १३१, १७२.

अमरकोष (निर्णयसागर बवई) १७५

अवधमिनिरा० अवधमिनिराकरणम् (एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता) १६०.

अष्टसह०, अष्टसह० अष्टसहो, अष्टसहस्र्यां मुद्रिता (निर्णयसागर बवई) १३४, १३७, १३९, १४०, १४२, १४५, १५९, १६०, १६८, १७०, १७२-१७५, १७७-१७९

अष्टसह० अष्टसहस्री (निर्णयसागर बवई) १३१, १३५, १३८, १४०, १४६, १५५, १५६, १५९, १७०, १७१, १७३

अष्टसह०वि० अष्टसहस्रीविवरणम् (जैनग्रन्थ प्रकाशक समा अमदावाद) १५०

आत्मतत्त्ववि० आत्मतत्त्वविवेक (जीवनानन्द कलकत्ता) १६८

आप्तप० आप्तपरीक्षा (जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी सस्था कलकत्ता) १३३, १५५, १५८, १७९.

आप्तमी० आप्तमीमांसा (जैनसिद्धान्तप्रका० सस्था कलकत्ता) १४२, १४३, १४५, १५१, १६८, १७०.

आराधनाकथाकोश (बवई) १६४.

आव० नि० आवश्यकनिर्मुक्ति. (आगमोदय समिति सूत्रत) १३४, १४४-१४७, १५१, १५२

आव० नि० मलय० आवश्यकनिर्मुक्तिमलयगिरिटीका (आगमोदय समिति सूत्रत) १४२, १४३, १४८, १४९, १५२, १५३.

इष्टोपदेशटी० इष्टोपदेशटीका (माणिकचन्द्र ग्रन्थ-माला बवई) १४८

उत्तरा० उत्तराध्ययनसूत्रम् (आगमोदय समिति सूत्रत) १६१.

उत्पादादिसि० उत्पादादिसिद्धि. (जैनानन्द पुस्तकालय सूत्रत) १८१.

उपायहृदयम् (गा० सीरिख बडोवा) १६६

कर्मग्र० कर्मग्रन्थाः (आत्मानन्द ग्रन्थमाला भावनगर) १५४

कर्मग्रन्थटी० कर्मग्रन्थटीका (आत्मानन्द ग्रन्थमाला भावनगर) १४८

क्षणवयसि० क्षणवयसिद्धि (एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता) १३७

गुह्यतत्त्ववि० गुह्यतत्त्वविनिश्चय (आत्मानन्द सभा भावनगर) १४९-१५१

बहुभासकम् (विष्णुभारती ग्रन्थमाला शान्तिनिकेतन) १६०

जीवकाण्डम् (रायचन्द्रशास्त्रमाला बवई) १५४.

जैनतर्कमा० जैनतर्कमाया (सिधी जैन सीरिख कलकत्ता) १३२-१३५, १३९, १४३-१५०, १५२, १५३, १६२, १६३, १७०, १७५, १७७

जैनतर्कवा० जैनतर्कवासिकम् (लाजरस कम्पनी काशी) १३२, १४७, १५५, १६१, १६४, १७१, १७२, १७५, १७७.

जैनतर्कवा०बु० जैनतर्कवासिकवृत्ति. (लाजरस कम्पनी काशी) १३३

जैनशिलालेखम० जैनशिलालेखसंग्रह (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बवई) १७१

तर्कमा०यो० तर्कमाया मोक्षाकरगुप्तीया लिखिता (मुनि पुण्यविजयसत्का पाटन) १३५, १४२, १६८.

तर्कशास्त्रम् (गा० सीरिख बडोवा) १६६.

तत्त्वस० तत्त्वसंग्रह (गा० सीरिख बडोवा) १३१, १३६-१३८, १४५, १४६, १५५, १५७, १५९-१६४, १६७-१६९.

§ ६. अकलङ्कप्रणीतत्वेनोक्तानां सधीयस्त्रयादिग्रन्थत्रयबाह्यानां कियतां गद्यपद्यानां सूचिः ।

§ १. सिद्धिविनिश्चयटीकायां लिखितायाम्—

पृ० ६६ A. “कथमन्यथा न्यायविनिश्चये ‘सहभूतो गुणा’ इत्यस्य ‘सुखमाह्लादनाकार
विज्ञान मेयबोधनम् । अक्षितं श्रियानुमेया स्यात्तूनं कान्तासमागमे ॥” इति निदर्शनं स्यात् ।”

[न्यायविनिश्चयविवरणे (पृ० २३० B.) ‘सुखमाह्लादनाकारम्’ इति श्लोक ‘तदुक्त
स्याद्वादमहार्णवे’ इति कृत्वा समुद्धृत । निम्नग्रन्थेष्वपि समुद्धृतोऽयम्—अष्टसह० पृ० ७८ । न्यायकुमु०
पृ० १२९ । सत्यति० टी० पृ० ४७८ । स्या० रत्ना० पृ० १७८ । प्रमेयरत्ना० ४।७]

पृ० १२० A. तदुक्तं न्यायविनिश्चये—“न चैतद्वहिरिव किं तर्हि ? वहिर्बहिरिव प्रतिभासते
कृत एतद् भ्रान्ते तदन्यत्र समानमिति ।”

§ २. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिके—

पृ० १८६. युक्तमुक्तञ्च कैश्चन—“अक्षानैरनुस्मृत्य प्रत्यभिज्ञाय चिन्तयेत् । आश्रित्युत्पेन
तद्भेदान् विनिश्चित्य प्रवर्तते ॥” [सिद्धिवि० पृ० ९७ B.]

[श्लोकोऽयं न्यायविनिश्चयविवरणे (पृ० ४२४ B. ४६३ B.) समुद्धृत]

पृ० २८१. तथोक्तम्—“स्वपक्षसिद्धिरैकस्य निग्रहोऽन्यस्य बाधिन । नासाधनाङ्गवचन
नाधोषोऽभावन इयो ॥”

[श्लोकोऽयम् अष्टसहस्रा (पृ० ८७) प्रमेयकमलमार्तण्डे च (पृ० २०३ A.) उद्धृत]

पृ० ४२४. तथा बाहुरकलङ्कदेवा—“अन्व. पुद्गलपर्यायं सत्त्वं. छायातपादिवत् ।”
[सिद्धिवि० पृ० ४६३ A.]

§ ३. प्रमाणापरीक्षायाम्—

पृ० ४४. तदुक्तम्—“व्यवसायात्मनो वृष्टे सत्कारः स्मृतिरेव वा ।

वृष्टे वृष्टसजातीये नान्यथा क्षणिकादिवत् ॥” [सिद्धिवि० पृ० २१]

[पूर्वाह्नं न्यायविनिश्चयविवरणेऽपि (पृ० ३६९ A.) उद्धृतम्]

§ ४. न्यायकुमुदचन्द्रे—

पृ० ३७०. “द्रव्यात् स्वस्मादभिज्ञाप्य व्यावृत्तादिव परस्परम् । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति
जलकल्लोलवज्जले ।” [सिद्धिवि० पृ० १७४]

§ ५. न्यायविनिश्चयविवरणे लिखिते—

पृ० २३ A. कथं तर्हि कथितम् “स्वपक्षसिद्धिरैकस्य निग्रहोऽन्यस्य बाधिन ।”

पृ० ३० A. ४० A. उक्तञ्च—“सिद्धं वक्ष्य परापेक्षं सिद्धौ स्वपररूपयो । तत्प्रमाणं ततो
नान्यदविकल्पमचेतनम् ॥” [सिद्धिवि० पृ० ८० A.]

पृ० ४६ B. तदुक्तं सिद्धिविनिश्चये—“पश्यन् स्वलक्षणाग्न्येकं स्पूलमक्षणिकं स्फुटम् ।
यद्वचयस्यति वैशद्यं तत्सिद्धयोऽद्विषदुष्यस्मृते (तद्विद्धि सदुष्यस्मृते) ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३२]

पृ० ८४ A. यद्वच्यति—“सकलाकारं वस्तु निर्विकल्पकमिति ।”

पृ० ८६ B. एतदेव स्वयं देवैरुक्तं सिद्धिविनिश्चये—“प्रत्यासत्तया ययैकं स्यात् भ्रान्तिप्रत्य-
क्षयोस्तथा । भागसद्वचनेऽपि ततस्तत्त्वं द्रव्यात्मकम् ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३१५]

पृ० ६२ B. तदुक्तम्—“जीवस्य सविवो भ्रान्तिनिमित्तं मदिरादिवत् । तत्कर्मणिनुक तस्य
प्रबन्धोऽजादिरप्यते ॥” [सिद्धिवि० पृ० ३७३]

[श्लोकोऽयं प्रमाणनिर्णयेऽपि (पृ० ७१) समुद्धृत]

न्यायवता० टी० न्यायवताटीका (श्वेताम्बर
कांफेस बर्द) १४३, १४५, १४६, १४८,
१४९

पञ्चास्ति० पञ्चास्तिकाय (गवचन्द्रशास्त्रमाला
पञ्चास्तिका०) बर्द) १४४, १६१, १६९

पत्रप० पत्रपरीक्षा (चैतन्यसिद्धान्तप्रकाशिनो सत्या
कलकत्ता) १३२, १५५, १७२.

परमात्मप्र० परमात्मप्रकाश (रायचन्द्रशास्त्रमाला
बर्द) १६१.

परीक्षामु० परीक्षामुखम् (प्रथममुद्रक काशी)
१३२, १३३, १३७, १३९, १४०, १४८,
१५२, १६२-१६६, १७०, १७२, १७३, १७५,
१७७

पात० महाभा० पातञ्जलसहस्रनाम्नम् (चौखम्बा
सीरिङ्ग काशी) १४२, १४४, १४७

पात० रह० पातञ्जलरहस्यम् (चौखम्बा सीरिङ्ग
काशी) १४६.

प्रमाणग्रन्थ० प्रमाणग्रन्थसत्त्वलोकाङ्कुर (यशोविजय
ग्रन्थमाला काशी) १३२-१३५, १३७, १३९,
१४०, १४२, १४४-१४९, १५२, १६२,
१६३, १६५, १६६, १७०, १७२, १७३, १७५,
१७७.

प्रमाणवि० प्रमाणविर्मय. (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
बर्द) १३२, १३३, १५६, १६२, १७७.

प्रमाणप० प्रमाणपरीक्षा (चैतन्यसिद्धान्तप्रकाशिनो
सत्या कलकत्ता) १३१, १३२, १३४, १३५,
१३९, १६२, १६४, १७५

प्रमाणमी० प्रमाणमीमांसा (सिधौ चैतन्य सीरिङ्ग कल-
कत्ता) १३२-१४०, १४८, १६२-१६४, १६६,
१६८, १७०

प्रमाणमी० भाषाटि० प्रमाणमीमांसाभाषाटिप्पणानि
(सिधौ चैतन्य सीरिङ्ग कलकत्ता) १६६, १७५

प्रमाणवा० प्रमाणवास्तिकम् (मिशुराहुलसाकृत्यायन-
नसक्त भूफणुस्तकम्) १३१-१३३, १३६-१३९
१४१, १४२, १४६, १४७, १५२, १५५-
१५७, १५९-१७०, १७९-१८१.

प्रमाणवास्तिकाल० प्रमाणवास्तिकालकार. (महानोषि
सोसाइटी सारलाय) १५७-१५९

प्रमाणवास्तिकालि० प्रमाणवास्तिकालकार. लिखित.
(मिशुराहुलसाकृत्यायनसक्त भूत्रणीयपुस्तकम्)
१३२-१३५, १३७, १३८, १४१, १४६,
१४८, १५८, १५९, १६२, १६५, १७०, १७२,
१७९, १८०

प्रमाणवा० मनोरथ० प्रमाणवास्तिकमनोरथमन्दिनी-
टीका (मिशुराहुलसाकृत्यायनसक्त भूफणुस्तकम्)
१३३, १३६, १४२.

प्रमाणवा० म्व० प्रमाणवास्तिकस्वोपमवृत्ति (मिश्र
राहुलसाकृत्यायनसक्त भूफणुस्तकम्) १८१, १८२.
प्रमाणवा० स्व० टी० प्रमाणवास्तिकस्ववृत्तिटीका
(मिश्रराहुलसाकृत्यायनसक्त भूफणुस्तकम्)
१८१, १८२.

प्रमाणस० प्रमाणसंग्रह. (सिधौ जैनमीरिङ्ग कलकत्ता)
१३२, १३४, १३९, १४८, १५५-१७२, १७७.
प्रमाणसमु० प्रमाणसमुच्चय. (मैमूर मुनि० मीरिङ्ग)
१३६, १५६, १५७, १६१, १६२, १६६
प्रमाणसमु० टी० प्रमाणसमुच्चयटीका (मैमूर मुनि०
सीरिङ्ग) १३७, १५५.

प्रमेयक० प्रमेयकमालासंग्रह. (निर्णयसागर बर्द)
१३३, १३८, १४३-१४७, १४९, १६०, १६६.

प्रमेयरत्नको० प्रमेयरत्नकोशः (जैनचर्मप्र० सभा
भावनगर) १७०.

प्रमेयरत्नमा० प्रमेयरत्नमाला (काशी विश्वाविद्यालय
प्रेस) १३४, १४०, १५३, १७०, १७८

प्रवचनसा० प्रवचनसारः (रायचन्द्रशास्त्रमाला बर्द)
१६९

प्रश्न० भा० प्रश्नस्तपाहनाभ्यासम् (चौखम्बा सीरिङ्ग
काशी) १६०, १६२.

प्रश्न० व्यो० प्रश्नस्तपाहनाभ्यासवृत्तिटीका (चौखम्बा
सीरिङ्ग काशी) १३९, १५४

बुद्धबोध० (पा० सीरिङ्ग बडोदा) १३१.

बोधिचर्या० बोधिचर्यावतार (एगियाटिक सोसा-
इटी कलकत्ता) १४५

बोधिचर्या० प० बोधिचर्यावतारपत्रिका (एगिया-
टिक सोसाइटी कलकत्ता) १३१, १३८.

बृहत्कल्पमा० बृहत्कल्पभाष्यम् (आत्मानन्द जैन-
ग्रन्थमाला भावनगर) १५२, १५३

ब्रह्मसू० ब्रह्मसूत्रम् (चौखम्बा मीरिङ्ग काशी) १६१
महोदय. (स्याद्वाररत्नाकर उद्धृतः) १३५.

भास्कर भा० ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्यम् (चौखम्बा
मीरिङ्ग काशी) १८२

भाष्यमिकका० भाष्यमिककारिका (विष्णोपिका-
बुद्धिका रघिया) १३२.

भाष्यमिकवृ० भाष्यमिकवृत्ति (विष्णोपिका बुद्धिका
रघिया) १५४.

मी० दन्तो० मीमांसादत्तकवास्तिकम् (चौखम्बा-
मीरिङ्ग काशी) १३३, १३९, १४०, १४२,
१५५, १५७, १६३, १६७, १६८.

मूलावा० मूलाचार (माणिकचन्द्रग्रन्थमाला बर्द)
१५२-१५४.

मुक्त्यनमा० मुक्त्यनुशासनम् (माणिकचन्द्रग्रन्थ-
माला बर्द) १३७, १४५, १६९.

योगनू० योगसूत्रम् (चौखम्बा सीरिङ्ग काशी) १६९.

पृ० ११४१. अकलकोऽप्यभ्यधात्—“विद्वद् हेतुमुद्भाव्य वादिन जयतीतर । आभासान्तर-
मुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते ॥”

[श्लोकोऽप्य तत्त्वार्थश्लोकात्तिके (पृ० २८०) सम्पत्ति० टीकाया (पृ० ७५९) न्यायवि०
विवरणे (पृ० ५२८ A.) प्रमाणमीमांसायाञ्च (पृ० ६५) उद्धृत]

§ ६. प्रमाणाभीमांसायाम्—

पृ० १२. यदाह—“वीर्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पूसा कुत पुन । अथोतिहानिाविसवाव श्रुतान्वेत्
साधनान्तरम् ॥ त्रिकालविषय तत्त्व कस्मै वैवो निवेदयेत् । अक्षय्यावरणकान्तास चेद्देद तथा नर. ॥”

[सिद्धिबि० पृ० ४१३, १४]

§ १०. सप्तभङ्गतरङ्गिण्याम्—

पृ० ७६. तदुक्त भट्टाकलङ्कदेवैः—“प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरविदात्ता विदात्मकः ।

ज्ञानदर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः ॥”

[श्लोकोऽप्य स्वल्पसम्बोधने मूलरूपेण निष्टङ्कित]



शुद्धयः पाठभेदाश्च

पृ० पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृ० पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
३. १०.	प्रमाप्य	प्रामाण्यम्	P. ४६. २८.	-द्वयार्थाभासेन	-द्वयार्थाभासेन
६. १७.	-रन्तवच प्रत्य-	-रन्तवचाप्रत्य-	P. ४७. १.	म्यावसमवतावा-	असमवतावा-
८. २२.	-विषय-	-विषय-	४८. ११.	-स्मनीस्त-	-स्मनीस्त-
९. ७.	अक्षधीःस्मृति-	अक्षधीःस्मृति-	५३. १६	सर्वस्तुसत्ता	सर्वस्तुसत्ता
१२. १७	-कालनियमा-	-कालस्वभावनियमा-	P. ५४. ९	प्रामाण्यमविस-	प्रामाण्यमविस-
१४. २१.	इति श्रुते । प्र-	इति । श्रुतेः प्र-	५४. १०.	क्षाभाप्र-	-क्षार्थेऽप्र-
१४. २३.	तदपि सूक्ष्मे-	तदपि सूक्ष्मे-	५४. २७.	केवल	केवल.
२०. ३.	भूमूर्धन्याम्	भूमूर्धन्याम्	५८. ३.	-मानतवि-	-मानववि-
२०. १३.	लक्षणत्वेन	लक्षणत्वेन	५९. ५.	मेवव-	मेविव-
२१. १९.	परिणामतो	परिणामतो	६०. १०.	चेदभि-	चेदत्राभि-
२२. ५.	-वैशवाक्येषु	-वैशादिव्याक्येषु	६०. ३०	तदनेकान्तात्मक	तदनेकान्तात्मक
P. २३. १६.	-प्रस्तावमूल-	-प्रस्तावमूल	६१. १४.	प्रसक्त	प्रसक्ता
		(न्यायकुमुदचन्द्रो)	६२. १२.	कार्यकरणयो	कार्यकारणयोः
२३. २३.	गुणीभूता सु-	गुणीभूता सु-	P. ६६. २७	वहिर्यत	बहिर्यत
२४. ११.	श्रुतज्ञानेन	श्रुतज्ञानेन	७१. २९.	क्षणज्ञोपि	क्षणमज्ञोपि
P. २५. ८.	-मेवकृत्	-मेवकः (न्याय- कुमुदचन्द्रो)	७२. २.	न च ते	न चते
P. २५. २७.	-निरूपणम्	-निरूपणप्रवणम् (न्यायकुमुदचन्द्रो)	७९. १७	गर्वाधन्यास-	सर्वाधन्यास-
३०. २४.	-यैकान्तात्म-	-यैकान्तात्म-	८२. १८.	सर्वथासदु-	सर्वथासदु-
P. ३२. १७	असिद्धिरि-	असिद्धिरि-	८२. २२.	करणीष्टमत्य-	करणीष्टमत्य-
३९. २०.	निश्चय	निश्चय	८४. ५	-लौकिकम्	-लौकिके
४१. १०.	-कानन्वयत्वत-	-कानन्वयत्वत.	८४. २६.	-मर्ध्यान्वे-	-मर्ध्यान्वे-
४२. २.	-कुर्यान्-	-कुर्यान्-	P. ८८. ५	सकलाध-	सकलाध-
P. ४३. ३०.	अनन्य-	अनन्य-	१०१. ३.	कुतको	कुतको
	अनर्थ-	अनर्थ-	१११. ४.	-चिन्तकरोज्ञात	-चिन्तकरोज्ञात
			२८. ८	१०५. १०६	परिशिष्टेपु
			३९. ३९.	४६. ८६.	

P. एतच्चिह्नाङ्कितः पाठभेदा ।



स्यामाङ्ग० } स्वाभाङ्गसूत्रम् (भागमोदय समिति
स्यामाङ्गसू०) सूत्र) १४२, १५२, १६९.
स्या० म० स्वाहादमञ्जरी (रायचन्द्रशास्त्रमाला
वर्षर् १४३-१४७, १५१.
स्या० रत्ना० स्वाहादरत्नाकरः (आर्हतप्रभाकर
कार्यालय पूना) १३३-१३५, १४०, १५१,
१६०, १६४, १७०, १७९.
हेतुवि० हेतुविन्तुः (P. तारकसमहासयेन हेतुविन्दुटी-
कात् उद्धृत) १३६, १७४, १७७, १७९.
हेतुवि० टी० हेतुविन्दुटीका अर्घटकृता सिलसि
पा० सुखलालसत्का B. H. U. काशी)
१३७, १३९, १४४, १७०, १७८.

ई० ईश्वरभण्डारीन्यायकुमुदचन्द्रस्य प्रती उपलब्धा
श्रुतिता विवृति ।
का० कारिका ।
गा० गाथा ।
ज० जयपुरीयपाठोदीमन्विरसत्का विवृतिप्रतिः ।
न्यायकु० न्यायकुमुदचन्द्र ।
पृ० पृष्ठम् ।
प० पद्धति ।
मु० लघी० मुद्रित लघीयस्त्रयम् (माणिकचन्द्रग्रन्थ-
माला वर्षर्)
दलो० दलोक ।
सम्पा० सम्पादक ।



§ ८. टिप्पणनिर्दिष्टानाम् आचार्याणां सूचिः.

अकलक	१३२, १४२, १५५, १६२, १६३, १७१.	प्रज्ञाकरगुप्त	१३२, १५८.
अकलकूटाध्याचार्य	१४९	प्रयाचन्द्र	१३८
अनन्तवीर्य	१३५	भदन्तयोगसेन	१३७.
आर्षरक्षिताचार्य	१३२	भदन्तशुभगुप्त	१५९
उ० यशोविजय	१५०, १५१.	मलयगिरि	१४३, १५०, १५१.
कुमारलन्दिमट्टारक	१६४.	मल्लवादिन्	१७९.
कुमारिल	१३३.	भातिकार	१६४.
जिनभद्रगणिश्लाभाभरण	१३२.	वार्पगण्य	१६२
जैनतर्कवातिककृत्	१७१	विद्यानन्द	१३८, १७१.
तत्त्वसप्रहकार	१३१.	सम्पत्तिटीकाकार	१३८.
देवनन्दिन्	१७८	समन्तभद्र	१५०, १५१, १६८, १७८, १७९.
धर्मकीर्ति	१३२, १३४, १४१, १६८.	सिद्धसेनगणिप्रभृति	१४९
नन्दिभूषणकार	१३२.	सिद्धनेमिवाकर	१५२, १७८, १७९.
नागार्जुनप्रभृति	१३२, १७२.	हेमचन्द्रादि	१५०.
पात्रस्वामिन्	१६४.		



पृ० ६३ B २०६ A २२५ A ४०५ A. तद्विवर्धनं वचनमनवद्यं देवस्य—“न पर्यायम्. क्वचित् किञ्चित् सामान्यं वा स्वलक्षणम् । जात्यन्तरं तु पर्यायम् ततोऽनेकान्तसाधनम् ॥” [सिद्धिचि० पृ० १२१]

[वल्लोकोऽयम् उत्पादादिसिद्धौ (पृ० ७१) समुद्भूतः]

पृ० ४६ A १०३ A. ४६५ A तथाच देवस्य अन्यत्र वचनम्—“व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षं स्वतः एव ते । अभिधानाद्यपेक्षया भवेदन्योन्यसम्बन्धः ॥”

पृ० १२२ B तदुक्तम्—“दृश्यदर्शनयोः मुक्तिरित्यव्यापकयोः कथम् । यतस्तापाद्विमुच्येत तदर्थं वा तपश्चरेत् ॥” [सिद्धिचि० पृ० ४५७ A.]

पृ० १६१ B तथा च सूक्तं चूर्णौ देवस्य वचनम्—“समारोपव्यवच्छेदात् प्रामाण्यमनुमानवत् । स्मृत्यादितर्कपर्यन्तं विधिज्ञानविवन्धनम् ॥”

पृ० २१६ A. तदुक्तम्—“स्वीकुर्वन्ति गुणानर्था यया शक्त्या गुणा न किम् ।” [सिद्धिचि० पृ० ५९१ A.]

पृ० २२२ B. उक्तञ्चैतत्—“स्वतोऽन्यतो विवर्तते क्रमादेतुफलरत्नम् ॥” [सिद्धिचि० पृ० १७३]

पृ० २३२ A. देवैर्निवेदितं चैतत्—“द्रव्यात् स्वस्मादभिल्लास्य व्यावृत्ताश्च परस्परम् । लक्ष्यन्ते गुणपर्याया वि (धी) विकल्पाविकल्पवत् ॥” [सिद्धिचि० पृ० १७४]

पृ० ३४६ B. देवैरुक्तम्—“भिष्यैकान्ते विशेषो वा क स्वपक्षविपक्षयोः ।”

पृ० ३६२ A देवैरुचितमुक्तम्—“अलण्डताण्डवारम्भविकटाटोपभूषणम् । शिल्पिष्ठमण्डलं वीक्ष्य काकोऽपि किल नृत्स्यति ॥”

पृ० ३८५ A उक्तञ्चैतत्—“अनेदात् सद्वस्तुस्यामर्थाकल्पविधया न किम् । सत्कारा विनियम्येरन् यथास्य सन्निकर्षमि ॥” [सिद्धिचि० पृ० २८]

पृ० ४१५ A देवैरन्योन्यतम्—“अद्वयानुपलम्भादेकैकान्ते यन्न लक्षयेत् । पिशाचो नाहम्-स्मीति दृश्यादृश्यविवेकधी ॥” [सिद्धिचि० पृ० ३४८]

पृ० ५०६ A देवैरन्यत्र भाषितम्—“तत्त्वादिकरणत्वात् सत्त्वान् अवबलेनो योजयेत् । बुद्धिमान्निश्चरं कस्मात् स्वयं द्रोहमजुर्वनं ॥” [सिद्धिचि० पृ० ३८०]

पृ० ५२६ A तदुक्तम्—“वादिनोऽनेकहेतुवृत्तौ निगूहीति किलेप्यते । नानेकद्रव्यस्योन्नीतौ वैतण्डिकविनिग्रहः ॥” [सिद्धिचि० पृ० २८७ A]

पृ० ५२६ A उक्तञ्च—“सर्वनाम्ना विना वाक्यं तद्वि तेन विना पदम् । सङ्क्षेप्तव्यं समानार्थं निग्रहस्थानमीक्षणा ॥” [सिद्धिचि० पृ० २८० A.]

पृ० ५३१ B. उक्तमेवेदम्—“स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः ।”

पृ० ५३६ A उक्तञ्च—“जीवानामसहायाक्षादशास्त्रार्थविद् क्रमात् । विज्ञानातिशये विद्वान् न विप्रतिपद्यते ॥” [सिद्धिचि० पृ० ४१५]

पृ० ५७१ A कथं तर्हि शास्त्रकारेण अन्यत्र प्रतिपादितम्—“योग्यं शब्दो विकल्पो वा सर्वं सर्वत्र चेत् स्वतः । मिथ्यात्वं परतस्तस्य चक्षुरादिधियामिव ॥” [सिद्धिचि० पृ० २९३ B.]

§ ६. प्रमाणनिर्णये—

पृ० २. अत एवोक्तम्—“प्रमाणस्य साक्षात्पत्नं (पर साक्षान्) मिद्वि स्वार्थविनिश्चयः ।” [सिद्धिचि० पृ० १२६ A.]

§ ७. स्याद्वाच्यकारे—

पृ० ६४१. यदाहाकलक सिद्धिविनिश्चये—“वर्णसमुदायं पदमिति प्रायिकमेतत् प्रत्येकमकारादेः कादाचित्कदर्शनात् ।”

§ ८. रत्नाकरावतारिकायाम्—

पृ० ११३७. प्रकटिततीर्थान्तरौषकलङ्कोऽकलङ्कोपि प्राह—“वादन्याये दोषमात्रेण यदि पराजयप्राप्तिं पुनरुक्तवत् द्युतिदुष्टार्थदुष्टकल्पनादुष्टादयोऽङ्गकारदोषाः पराजया कल्पेरतिमिति ।”

